कन्हैयालाल सहल

षष्टि-पूर्ति के अवसर पर प्रकाशित—

डॉ० कन्हैयालाल सहल

व्यक्तित्व

और

कृतित्व

डॉ० कन्हैयालाल सहल एवं श्रीमती कमला सहल
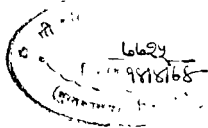
डॉ० कन्हैयालाल सहल
के
कर्तृत्व की
मूर्तिमती प्रेरणा
एवं
उनकी जीवन-संगिनी
श्रद्धेया कमलाजी
को
सा
द
र

—होतीलाल भारद्वाज

व्यक्तित्व–खण्ड

काव्य-समीक्षा-खण्ड

ललित निबंध एवं भाषा-शास्त्र खण्ड

समीक्षा-खण्ड

लोक-संस्कृति-खण्ड

कृति-परिचय-खण्ड

परिशिष्ट

ग—डॉ० सत्येन्द्र की विभिन्न कृतियों की भूमिकाएँ

भूमिका

□

—डॉ० रामधारीसिंह दिनकर

□

डा० कन्हैयालाल सहल देश के दुर्लभ रत्नों मे से हैं और हिन्दी में तो उनका व्यक्तित्व लगभग बेजोड़ है। जिन लोगों ने उनसे शिक्षा पायी है, वे उन्हे अत्यन्त उच्च कोटि का शिक्षक मानते हैं। जिन लोगों ने उनके मार्गदर्शन में शोध-कार्य किया

है, वे उन्हे विद्यारण्य का सुयोग्य मार्ग-दर्शक मानते हैं। जिन लोगों ने उनकी कविताएँ पढ़ी हैं, वे उन्हे आनन्ददायी कवि मानते हैं और जिन्होने सहलजी की आलोचनाएँ पढी हैं, वे उन्हे सफल आलोचक मानते है। मैं मित्रवर सहलजी के इन सभी रूपों से परिचित हूं, किन्तु उन पर मेरी सबसे अधिक श्रद्धा इसलिए है कि उन्होंने राजस्थानी भाषा के शब्दों, कहावतों, लोकगीतों और लोक-कथाओं पर जम कर काम किया है। उनके डाक्टरेट का विषय भी राजस्थानी कहावतें थीं। किन्तु उस ग्रंथ के अतिरिक्त सहलजी ने राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान, राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद, राजस्थानी वीर गाथाएँ, राजस्थानी लोककथाएँ, नटो तो कहो मत, लोक-कथाओं के मूल अभिप्राय आदि कोई १५ पुस्तकें और लिखी। इसके सिवा कोई १६ वर्ष से वे पिलानी से 'मरु-भारती' नामक त्रैमासिक पत्रिका निकाल रहे हैं जिसका प्रत्येक अंक राजस्थानी लोक-कथाओं, ऐतिहासिक शोधों और शब्द-चर्चाओं से भरा रहता है। राजस्थान की लोक-संस्कृति का जैसा उद्धार अकेले सहलजी ने किया है, देश के किसी अन्य जनपद की संस्कृति का वैसा उद्धार अभी तक हो पाया है या नही, यह बात विश्वासपूर्वक नहीं कही जा सकती। डॉ० कन्हैयालाल सहल का कार्य राजा भगीरथ के गंगोद्धार के समान अनुपम और महार्घ है और राजस्थान के इतिहास मे वे अपने इसी कार्य के लिए याद किये जायेंगे।

मैं जब सहलजी के व्यक्तित्व का ध्यान करता हूं, मेरे मन मे एक ऐसी प्रतिमा खड़ी हो जाती है जो एक साथ कोमल भी है और कठोर भी, जिसमें भावुकता भी है और व्यावहारिकता भी, जो कारयित्री और भावयित्री, दोनों प्रतिभाओं से पूर्ण है तथा जो आकाश को सुरभि लेती हुई भी, ठोस रूप से पृथ्वी पर खडी है। टाइप आव् द वाइज व्हू सोर बट नेवर रोम। टु द किंड्रेड प्वायट्स आव् हेवन एण्ड होम। सहलजी को देखते ही मन पर यह प्रभाव पडता है कि वह आदमी और कुछ होने के पहले ईमानदार होगा, कर्तव्यनिष्ठ और कार्य-तत्पर होगा।

जीनियस को लोग अक्सर बोहेमियन समझ लेते हैं, आलसी और गैर-जिम्मेवार समझ लेते हैं। मगर ऐसी बात नहीं है। एक प्रतिशत प्रतिभा और ६६ प्रतिशत पसीना, इन्ही के जोड को जीनियस कहते हैं। जिसमे धीरज नहीं है, अध्यवसाय नही है, लगन और सहनशीलता नहीं है, वह प्रतिभा पाकर भी कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। मैं जब कन्हैयालालजी के विशाल कार्य को देखता हूं, मुझे उस कठोर अनुशासन का अनुमान होता है, जिसमें सहलजी जीते आये

होंगे, उस प्रभूत प्रस्वेद का ख्याल आता है, जिसे सहलजी ने बहाया होगा, उस तपस्या का ध्यान आता है, जो उनकी चिर-संगिनी रही होगी। डॉ० कन्हैयालाल सहल के अभिनन्दन के लिए जो ग्रंथ-आयोजन है, उसे मैं उचित और योग्य मानता हूं तथा इस अवसर पर सहलजी को अपना हार्दिक अभिनन्दन भेंट करता हूं।

सहलजी हम लोगों की प्राचीन परम्परा के विद्वान् हैं, किन्तु अपने ढंग पर उन्होंने नवीनता का भी वरण किया है। इलियट और रिचर्ड्स के वे प्रेमी हैं। उनकी एक काव्य-पुस्तक का नाम ही 'प्रयाग' है। किन्तु उनकी दृष्टि में नवीनता का अर्थ प्राचीनता का सर्वथा त्याग नहीं है। राजा राममोहनराय से लेकर महात्मा गांधी तक भारत के सभी महापुरुषों ने एक ही बात पर जोर दिया है कि हमें अपनी परम्परा के सर्वोत्तम गुणों का समन्वय पाश्चात्य जगत् के सर्वोत्तम गुणों के साथ करना है, प्राचीनता और नवीनता दोनों के दोषों से बच कर उनके गुणों को ग्रहण करना है। इस शिक्षा का सार यह है कि नये भारत के एक हाथ में धर्म का कमल और दूसरे में विज्ञान की मशाल होनी चाहिए।

डॉ० कन्हैयालाल सहल की आत्मा में मैंने धर्म की ज्योति देखी है, अध्यात्म की बेचैनी देखी है और यह पाया है कि वे विज्ञान और अध्यात्म के बीच समन्वय बिठाना चाहते हैं। इस दृष्टि से वे उस नवीन भारत के प्रतिनिधि हैं, जिसका स्वप्न विवेकानन्द और महात्मा गांधी ने देखा था। मैं आशा करता हूं कि सहलजी के व्यक्तित्व की यह आध्यात्मिक सुरभि उनके किसी शिष्य में भी व्याप्त हुई होगी।

व्यक्ति के निर्माण में उसके परिवेश का बड़ा हाथ होता है। सहलजी के व्यक्तित्व के निर्माण में भी पिलानी के परिवेश का बड़ा हाथ है। पिलानी में भांति-भांति के विद्वान् रहते हैं, वहां समृद्ध पुस्तकालय उपलब्ध है और वहां का वातावरण भी विद्या का वातावरण है। कोई आश्चर्य नहीं कि वहां डॉ० कन्हैयालाल सहल तैयार हो गये।

कोरे ज्ञान को हम बहुत झुक कर प्रणाम नहीं करते। बहुत झुक कर प्रणाम उसे हम तब करते हैं, जब वह कर्म में ढल जाता है। वह मनुष्य धन्य है, जो अपने ज्ञान को कर्म का जामा पहना सकता है। इसी प्रकार वह व्यक्ति सतों का भी संत है, जो अपनी वैयक्तिक मुक्ति से संतोष नहीं करता, जो सबके मुक्त हो जाने के बाद

स्वयं मुक्त होना चाहता हूं। सहलजी ने इस भाव को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है।

मैं न यहां से तब तक जाऊंगा
जब तक इन दुनिया जीवों को
मुक्ति नरक से नहीं मिलेगी।

मेरी भगवान् से प्रार्थना है कि वे सहलजी को पूर्णायु करें।

प्रस्तावना

□
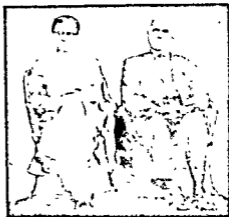
—डॉ० नगेन्द्र

अनवरत साहित्य-साधक, कर्मठ समाजसेवी, आदर्श शिक्षक, निष्ठावान् सम्पादक, सहृदय मित्र आदि विभिन्न रूपों में बन्धुवर कन्हैयालाल सहल राजस्थान के अत्यंत लोकप्रिय व्यक्ति हैं। इन विशेषताओं के कारण वे अपने परिवार, छात्र-वृन्द, सहकर्मियों और साहित्यानुरागियों में समान भाव से प्रशंसा और आदर पाते रहे हैं। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से मेरा परिचय भी बहुत पुराना है—प्रायः तीन दशक पूर्व 'साहित्य-सन्देश' में मेरे और उनके लेख प्रकाशित होते रहते थे। श्रद्धेय बाबू गुलाबराय का उन पर विशेष स्नेह था। इस अवधि में उन्होंने मेधावी अध्यापक, अधीत समीक्षक, प्रतिभावान् अनुसंधाता और सहृदय कवि के रूप में अपनी बहुमुखी कार्य-क्षमता का उत्तम विकास किया है। वे आरम्भ से ही विद्या-व्यसनी रहे हैं, फलस्वरूप हिन्दी-संस्कृत-साहित्य के गंभीर अनुशीलन के साथ ही उन्होंने भारतीय संस्कृति—विशेषतः कहावतों, लोकगीतों, लोकवार्ताओं आदि में प्रतिबिम्बित राजस्थान-क्षेत्र की संस्कृति का रुचिपूर्वक अध्ययन-अनुसंधान किया है। उनका अंग्रेजी साहित्य का ज्ञान भी पुष्ट है, इसलिए उनकी समीक्षात्मक कृतियों में भारतीय काव्यशास्त्र के साथ पाश्चात्य साहित्यालोचन का सम्यक् उपयोग लक्षित होता है।

डॉ० सहल का व्यक्तित्व कोरा गरिमामंडित नहीं है—सहज-संतुलित जीवन-दर्शन और निश्छल व्यवहार ने उन्हें क्षुद्र पूर्वाग्रहों और प्रलोभनों से दूर रखा है।

विड़ला आर्ट्स कॉलेज के उप-प्राचार्य और हिन्दी-संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष पद पर वे प्रायः पच्चीस वर्ष तक अधिष्ठित रहे। तदनन्तर दो वर्ष तक कॉलेज के प्राचार्य-पद के दायित्व का निर्वाह करने के अनन्तर सम्प्रति वे बिरला शिक्षा-न्यास के सचिव के रूप में कार्य-संलग्न हैं। कुछ वर्ष तक वे पिलानी नगरपालिका के मनोनीत अध्यक्ष भी रहे। इन विभिन्न पदों पर कार्य करते हुए उन्होंने जिस आन्तरिक सामंजस्य, कार्य-निष्ठा और प्रशासन-कौशल का परिचय दिया है, उसकी प्रशंसा उनके सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों से प्रायः सुनी जा सकती है। यह उल्लेखनीय है कि शिक्षा, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्रों में उनका योगदान केवल उन्हीं तक सीमित नहीं है, उनके अनुज तथा पुत्र भी इन्हीं दिशाओं में सक्रिय हैं। इसका श्रेय भी किसी सीमा तक डॉ० सहल को ही प्राप्त है।

सहलजी के कृतित्व के तीन रूप अत्यन्त मुखर हैं—अनुसंधाता, निबंधकार और आलोचक। यद्यपि उनके कवि-रूप की ओर हिन्दी-जगत् का अपेक्षाकृत कम ध्यान गया है, फिर भी उनकी प्रवृत्ति इस ओर अनवरत रही है। 'प्रयोग' (१९५६) से लेकर अद्यतन प्रकाशित 'समय की सीढ़ियाँ' तक की कविताएँ इस बात का प्रमाण हैं कि निबंध, आलोचना और अनुसंधान की सन्निधि में कविता का प्रणयन भी वे अत्यन्त सहज भाव और आत्मप्रेरणा से करते रहे हैं। वे कविता को परम्परागत रस-दृष्टि और भावुकता तक परिमित कर देने के पक्ष में नहीं हैं, इसीलिए उनकी कविताओं में सांस्कृतिक मूल्यों के साथ ही वर्तमान जीवन की विसंगतियों का चित्रण भी मिलता है। परिवेश के प्रति उनकी जागरूकता अनेक कविताओं में व्यक्त हुई है जो कहीं तो मानववादी स्वर से ओतप्रोत है और अन्यत्र यथार्थप्रेरित व्यंग्य से परिपुष्ट है। यद्यपि शिल्प की दृष्टि से उनकी किसी-किसी कविता में किंचित् विशृंखलता और अनपेक्षित विस्तार भी लक्षित होता है, तथापि भावों के ऊर्मिल प्रवाह और मौलिक अभिव्यक्ति की आकांक्षा के फलस्वरूप सामान्यतः उनकी कविताएँ पठनीय, सरस और प्रेरक बन पड़ी हैं। उनकी काव्य-भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है, किन्तु पदावली की व्यावहारिकता की उपेक्षा उन्होंने नहीं की है। छन्द-वैविध्य के सन्दर्भ में उन्होंने मुक्त छन्द का भी प्रयोग किया है। यदि बिम्ब-योजना की अनुरूपता और विविधता को कवि-कौशल का मापदण्ड स्वीकार किया जाय, तो इस दृष्टि से भी उन्हें सफल प्रयोगशील कवि कहा जा सकता है।

डॉ० सहल के कृतित्व का दूसरा उल्लेखनीय पक्ष उनका आलोचक-रूप है जिसके साहचर्य में उनका निबंधकार भी विकसित होता रहा है। उन्होंने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना को समान भाव से अपनाया है। 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' और 'कामायनी-दर्शन' जैसी स्वतंत्र समीक्षात्मक कृतियों के अतिरिक्त

उनके निबन्ध संग्रहों—'आलोचना के पथ पर', 'समीक्षायण', 'विवेचन', विमर्श और व्युत्पत्ति', 'मूल्यांकन', 'अनुसंधान और आलोचना' का अपना महत्व है। 'साकेत' और 'कामायनी' सम्बन्धी समीक्षा-ग्रंथों में व्याख्यात्मक समीक्षा की विशेषताओं का उत्तम निदर्शन मिलता है। अध्ययन की गंभीरता, तुलनात्मक दृष्टि, विवेचन की मौलिकता और शैली-सौष्ठव का इन कृतियों में सहज अन्तः प्रसार है। कृति की सम्यक् व्याख्या उत्तम आलोचना की पहली शर्त है, आलोचना की अन्य प्रणालियाँ इसके उपरान्त ही उभर पाती हैं। अतः मैथिलीशरण और प्रसाद की काव्य-गरिमा को उद्घाटित करने वाले ग्रंथों में डॉ० सहल की इन दोनों रचनाओं को प्रेरक भूमिका स्वीकार की जानी चाहिए।

डॉ० सहल वृत्ति से अध्यापक हैं, फलस्वरूप उनकी आलोचना-शैली में क्रमबद्धता और तत्त्वग्राहिता अनायास देखी जा सकती है। भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा की समान व्याप्ति के कारण उनकी समीक्षा-पद्धति में भावुकता और चिंतन की स्वच्छता का सहज समन्वय मिलता है। उनके आलोचनात्मक निबंध ज्ञान-युक्त नहीं हैं, अनुसंधान की मर्यादा, विवेचन की तटस्थता तथा प्रतिपादन की सरलता उनकी विशेषताएँ हैं। इस संदर्भ में उनका विषय-निर्वाचन भी वैविध्यपूर्ण है। काव्य, नाटक, साहित्यशास्त्र, भाषाविज्ञान आदि क्षेत्रों की मुख्य समस्याओं, प्रवृत्तियों और कृतियों का सर्वेक्षण एवं विवेचन उन्होंने मनोयोगपूर्वक किया है। इनमें से काव्यशास्त्र और भाषा-विज्ञान में उनकी समान गति विशेषरूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि एक तो इन दोनों पर समान अधिकार सबके वश की बात नहीं है और दूसरे व्यावहारिक आलोचना के मूल में भी इन दोनों की अनिवार्य सत्ता रहती है। सत्य तो यह है कि काव्य और गद्यविधाओं के संबंध में उनकी आलोचनात्मक सामग्री की विशदता का श्रेय इसी विशेषता को दिया जाना चाहिए।

काव्यशास्त्र की भारतीय परम्परा के साथ ही सहल जी पाश्चात्य मनीषा-दर्शन में भी भली-भांति परिचित हैं। उनके लेखों में काव्यशास्त्रीय विषयों पर लिखित निबंधों की संख्या ही अधिक है। भारतीय काव्य-सिद्धान्तों में उन्होंने रस-विवेचन में सर्वाधिक रुचि प्रदर्शित की है और मनोविज्ञान के संदर्भ में रस-सिद्धान्त के कतिपय पक्षों पर पुनर्विचार किया है। साधारणीकरण, रस-विघ्न, करुण रस की सुखात्मकता आदि के सम्बन्ध में उनकी जिज्ञासाएँ और उनका तर्कपुष्ट समाधान इसका प्रमाण है। परन्तु, लौंजिनुस आदि पाश्चात्य आचार्यों के काव्य-सिद्धान्तों के अनुशीलन में भी उनकी रुचि रही है। काव्यशास्त्रीय चिन्तन में उनकी सहज प्रवृत्ति को लक्षित कर यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि यदि उन्होंने राजस्थानी साहित्य और संस्कृति के विश्लेषण, विवेचन तथा मूल्यांकन को अपने जीवन का ध्येय न बनाया होता और

काव्यशास्त्रीय विवेचन को ही प्राथमिकता दी होती, तो इस क्षेत्र में उनका योगदान हिन्दी के किसी भी समालोचक के समकक्ष होता।

सहलजी की अनुसंधान-वृत्ति उनके शोध-प्रबन्ध 'राजस्थानी कहावतें: एक अध्ययन' में भिन्न आयामों में व्यक्त हुई है। यहाँ वे लोक-साहित्य के अध्येता और भाषावैज्ञानिक के रूप में प्रकट होते हैं। 'मूल्यांकन' तथा 'विमर्श और व्युत्पत्ति' में उन्होंने शब्दों के व्युत्पत्तिपरक अध्ययन में भी रुचि व्यक्त की है, स्वभावतः इस संदर्भ में उन्होंने राजस्थानी के विभिन्न क्षेत्रीय रूपों के अध्ययन को प्रधानता दी है। इसमें संदेह नहीं कि लोक-साहित्य और क्षेत्रीय बोलियों के अध्ययन की दिशा में उनका योगदान अनेक परवर्ती अनुसंधाताओं के लिए प्रेरक सिद्ध हुआ है।

साहित्येतर विषयों पर ललित निबंधों की रचना भी सहलजी की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। 'दृष्टिकोण' में उन्होंने व्यावहारिक मनोविज्ञान को लेकर अनेक सफल निबंधों की रचना की है। ऐतिहासिक प्रसंगों पर आधारित निबन्ध रचना भी उनका प्रिय विषय है—इस दिशा में उनकी विशिष्ट अभिरुचि उनके बहुचर्चित ग्रंथ 'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद' से भी प्रमाणित होती है। ललित निबन्धों में उन्होंने प्राध्यापक डॉ० सहल के स्थान पर भावुक कवि का बाना धारण कर लिया है—भाषा और प्रतिपादन-शैली का यह लोच सहजप्राप्त है, ऊपर से ओढ़ा हुआ नहीं। 'मरु-भारती' के सम्पादक के रूप में भी उन्होंने अपने शैली-वैशिष्ट्य और संयोजन-क्षमता के द्वारा विशेष ख्याति अर्जित की है। इसके माध्यम से उन्होंने स्वयं तो राजस्थानी साहित्य की मनोयोगपूर्वक सेवा की ही है, अन्य अनेक विद्वानों को भी इस ओर प्रवृत्त करने तथा अनुसंधान की नयी दिशाओं की ओर संकेत करने का गौरव भी उन्हें प्राप्त है।

अन्त में, यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि डॉ० सहल के साहित्यिक कर्तृत्व को केवल राजस्थानी साहित्य और राजस्थान प्रदेश तक सीमित करके देखना समीचीन नहीं है। यह ठीक है कि अपने शोध-प्रबन्ध और कुछ अन्य कृतियों एवं लेखों के द्वारा उन्होंने इन दिशाओं में प्रत्यक्ष योग दिया है; किन्तु यह उनके कृतित्व का केवल एक पक्ष है, और इसे भी क्षेत्रीय पूर्वाग्रह के रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि लोकसाहित्य अथवा भाषाविज्ञान के क्षेत्र के अनुसंधान एकदेशीय होने पर भी किसी सीमा तक सार्वभौमता की ओर अग्रसर रहते हैं। सहलजी के कृतित्व का बृहदंश निश्चय ही सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् के लिए अवदान है। प्रस्तुत अभिनन्दन-ग्रंथ में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को इसी अर्थ में ग्रहण करना उचित होगा।

• • •

आमुख

डॉ० कन्हैयालाल सहल—-हिन्दी तथा राजस्थानी का एक विशिष्ट नाम, जिसने अपनी साहित्य-साधना के बल पर राजस्थान की सीमाएँ लाघ अखिल-भारतीय स्तर पर कीर्ति अर्जित की है। पंडित कन्हैयालाल सहल——एक व्यक्तित्व का नाम जिनकी संरचना समरसता, प्रशान्तता, सहजता, सरलता, स्नेहशीलता, निरभिमानिता आदि ततुओं से हुई है। और भी आगे जाकर देखते हैं तो पाते हैं कि डॉ० कन्हैयालाल सहल एक संस्था का नाम है, जिसमे एक भाव-प्रवण, उदार तथा निर्विकार व्यक्ति, एक जनवत्सल प्रबधक, एक श्रद्धास्पद शिक्षक, एक भावुक कवि तथा ललित निबंध-कार, एक सफल सम्पादक, एक सरल व्याख्याकार, एक सुधी-समीक्षक, एक जिज्ञासु अन्वेषक, एक सही मार्ग-दर्शक-जैसे अनेक अन्तर्भाग एक साथ सक्रिय हैं।

यही डॉ० कन्हैयालाल सहल २३ नवम्बर, १९७१ को अपनी जीवन-साधना के ६० वर्ष पूरे कर रहे हैं। साहित्याकाश पर उनका उदय २०वीं शती के चौथे दशक में हुआ और तभी से वे विभिन्न रूपों में हिन्दी एवं राजस्थानी साहित्य की अनवरत सेवा कर रहे हैं। राजस्थान में ही नहीं, समस्त हिन्दी जगत् में उनके साहित्यिक योगदान के महत्त्व को स्वीकृति तो मिली है लेकिन उसे समग्र रूप मे मूल्यांकित करने की चेष्टा नही की गयी। कभी-कभी उनके विषय में कुछ परिचयात्मक लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपे भी। इसी क्रम में खण्डवा के प्रो० श्रीकांत जोशी का लेख 'अमर ज्योति' (साप्ताहिक) में छपा जिसमें उन्होंने डॉ० सहल के अभिनन्दन की बात उठायी।

मैंने डॉ० सहल को तब जाना था जब मैं एम० ए० (हिन्दी) की परीक्षा दे रहा था। मेरा परीक्षा-केन्द्र पिलानी ही था। उनके प्रति मेरी उत्सुकता तब और बढ़ी जब इसी दौरान डॉ० सहल के भतीजे स्व० सुरेश सहल के साथ मेरा सम्पर्क बढ़ा। जिन गुणों का सघात मुझे डॉ० सहल के व्यक्तित्व मे दिखायी दिया, उन्ही के कारण वे न केवल मेरी श्रद्धा के पात्र बने बल्कि मैंने मन ही मन उन्हे *अपना* 'साहित्यिक इष्ट' स्वीकार कर लिया। उस समय डॉ० सहल मुझे अच्छी तरह जानते भी नही थे, पर मैं निरन्तर उनके विषय मे जानकारी लेता रहा, उनकी कृतियाँ पढ़ता रहा तथा उनके प्रति मेरी श्रद्धा समस्त संचारियो के साथ निष्पन्न होती रही।

मुझे प्रो० श्रीकात जोशी की बात ठिकाने की लगी, लेकिन डॉ० कन्हैयालाल सहल जैसे बहुमुखी प्रतिभावान साहित्यकार के लिए अभिनंदन-ग्रन्थ की योजना सगत नही रहती। वस्तुतः अभिनदन-ग्रन्थ तो एक औपचारिकता का निर्वाह करते हैं, किसी रचनाकार के कृतित्व को आगे नही लाते। इसलिए मैंने एक ऐसे ग्रन्थ की योजना बनायी जो डॉ० सहल की साहित्यिक-उपलब्धियो को रेखाकित कर सके और यही से 'डॉ० कन्हैयालाल सहल . व्यक्तित्व और कृतित्व' ग्रन्थ की योजना का सूत्रपात हुआ। मैंने जब डॉ० सहल को इस योजना की सूचना दी तो उनका उत्तर आया 'यह कार्य प्रकारान्तर से प्रचार और प्रसार का कार्य ही होगा'। मुझे उनसे ऐसे ही उत्तर की आशा थी क्योकि उनकी समस्त साहित्य-साधना निस्पृह भाव से चली है। उन्होने अपने जीवन मे न तो कभी गलत तरीके से आगे आने की चेष्टा की है और न कभी ओछी बातो को लेकर ही जिए हैं।

डॉ० कन्हैयालाल सहल वैष्णव-आस्तिक हैं। उन्होने अपने जीवन मे कोई महत्वाकाक्षा नही की, कभी किसी से कुछ चाहा नहीं। उन्होंने सदा केवल कर्तव्य-पालन किया है, निष्ठा से जन-सेवा की है, साहित्य की साधना की है तथा इसके साथ ही ईश्वर के प्रति अपने विश्वास को अडिग रखा है। इस सबका परिणाम यह हुआ कि उन्हे अपने जीवन मे सभी कुछ मिला है—अर्थ, यश, मान, पद, परिवार-सुख आदि। वे कभी इन चीजो के पीछे भागे नहीं, वे तो सन्तोषपूर्वक अपनी साधना मे लीन रहे, इसलिए ये सभी चीजें उनके पीछे भागती आई हैं। उन्हे किसी प्रकार के अभाव ने नहीं सताया, कभी कोई परेशानी उनके समक्ष आई भी तो उन्होंने अपनी सम्पूर्ण शक्तियां उस परेशानी को दूर करने के प्रयत्न मे तथा अपनी भावना ईश्वर-भक्ति मे नि.शेष भाव से दे डाली। परिणाम यही हुआ कि शारीरिक, पारिवारिक, सामाजिक आदि किसी प्रकार के क्लेश से वे कभी आक्रान्त नहीं हो सके।

अपनी इस सारी सफलता का बहुत बड़ा श्रेय वे अपनी धर्मपत्नी श्रीमती कमला सहल को देते हैं क्योंकि अपनी जीवन-साधना में उन्हें अनवरत सहयोग तथा अटूट विश्वास अपनी धर्मपत्नी से मिला है। यह ग्रन्थ उनकी साधना की भागीदार श्रीमती कमला सहल को ही समर्पित है।

मैंने अपनी योजना हिन्दी के विद्वानों के समक्ष रखी तो समस्त हिन्दी जगत् ने इस योजना का स्वागत किया और अपना सहयोग देने का वचन दिया तो मुझे लगा कि निस्पृह भाव से की गयी सेवाओं का मूल्य लोग पहचानते हैं। कितनी उदारता से सुहृद्-विद्वानों ने मुझे अपना सहयोग प्रदान किया है, यह इस ग्रन्थ से स्पष्ट है।

डॉ० कन्हैयालाल सहल का व्यक्तित्व जितना निरभिमानी, शालीन तथा सौम्य है, उनका साहित्यकर्मी रूप उतना ही महत्त्वपूर्ण और विराट् है। २०वीं शती के चौथे दशक में हिन्दी जगत् को डॉ० कन्हैयालाल सहल का परिचय एक सुलझे हुए आलोचक के रूप में मिला। अध्यापक होने के कारण उनका आलोचक और उनका अध्यापक, परस्पर इतने अन्तर्भुक्त हो गये हैं कि उनकी आलोचना में उनके शिक्षक के दर्शन हो जाते हैं। वे अपने जीवन में अत्यंत सहज हैं, कहीं कोई बनावटीपन नहीं, कोई कटु भाव नहीं, कोई दुराग्रह नहीं, सर्वत्र एक सुलझापन, सीधापन और सरलता। उनके व्यक्ति के ये सारे गुण उनकी समीक्षा में भी विद्यमान हैं। वे अपने विषय को अच्छी तरह समझते हैं और उसे गहराई तक उरेह कर पाठक के समक्ष स्पष्ट शब्दों में रख देते हैं। विषय का स्पष्ट तथा सहज प्रतिपादन उनकी समीक्षा का आधार-स्तम्भ है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि वे हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी के प्रकाण्ड पंडित है तथा मराठी, गुजराती, बंगला आदि भाषाओं के अच्छे जानकार हैं। इसी ज्ञान-गरिमा के कारण उनके विवेचन के क्षेत्र व्यापक और विविध हैं—भारतीय-काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के संदर्भ में टी० एस० एलियट के वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता सिद्धान्त के विश्लेषण से लेकर भारतीय नाट्यशास्त्र तथा अरस्तू, क्रोचे, मार्क्स आदि के विवेचन तक; कबीर, सूर, तुलसी के काव्य की समीक्षा से प्रसाद के नियतिवाद पर विचार तक; हिन्दी-साहित्य के विविध वादों की चर्चा से नये

तक; शब्दों की व्युत्पत्तियों की खोज से 'मरु भारती' के माध्यम से दुर्लभ सामग्री के प्रस्तुतीकरण तक; आदि आदि ।

इससे स्पष्ट है कि डॉ० सहल-प्रणीत साहित्य अत्यन्त विशाल है लेकिन उसकी गरिमा परिमाणात्मक विपुलता में उतनी नहीं, जितनी गुणात्मक महत्ता में है। डॉ० सहल की समीक्षात्मक उपलब्धियों को संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं :—

—हिन्दी में अपने ढंग की व्याख्यात्मक समीक्षा या समीक्षात्मक व्याख्या का सूत्रपात करने का श्रेय डॉ० सहल को है। 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' तथा 'कामायनी-दर्शन' (डॉ० विजयेन्द्र स्नातक की सहकारिता में) कृतियाँ इसका प्रमाण हैं।

—डॉ० सहल ने सर्वप्रथम प्रसाद-साहित्य के संदर्भ में नियतिवाद का भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टियों से प्रचुरता एवं विशदता से विवेचन किया है।

—हिन्दी साहित्य में उदात्त-भावना (Sublimity) पर सर्व प्रथम लेख डॉ० सहल ने लिखा जिससे विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ।

—करुण रस की सुखात्मकता एवं ट्रेजडी पर अनेक लेख लिखकर उन्होंने अपना नूतन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

—रस-सिद्धान्त पर डॉ० सहल ने अपने दृष्टिकोण से विचार किया है। इस क्षेत्र में उनकी 'भावकत्व बनाम कल्पना' तथा 'रस अभिव्यक्त या अनुभूत' नवीन उद्भावनाएँ अपना विशेष महत्त्व रखती हैं।

—डॉ० सहल ने टी० एस० एलियट के 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता' सिद्धान्त की विवेचना भारतीय रस-सिद्धान्त, ध्वनि-सिद्धान्त आदि के संदर्भ में मौलिक ढंग से की है।

—हिन्दी में वक्रोक्ति पर संभवतः सर्वप्रथम लेख डॉ० सहल ने बंगला से अनुवाद करके विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया।

—वियोग में वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं : जैसे तथ्यों का उद्घाटन करते गुप्तजी के वियोग-वर्णन के वैशिष्ट्य का विवेचन सबसे पहले डॉ० सहल ने ही है।

ये तो कुछ संकेत मात्र हैं, लेकिन डॉ० सहल का शायद ही कोई ऐसा निबन्ध हो जिसमे उन्होंने अपना नूतन दृष्टिकोण प्रस्तुत न किया हो। 'प्रयोग' 'क्षणों के धागे' तथा 'समय की सीढ़ियाँ' संकलनों मे वे भावप्रवण प्रयोगशील कवि के रूप में सामने आते हैं तो 'बुड्ढे बच्चे' तथा 'वह क्षण भी धन्य है' जैसे ललित निबंधों में उनका एक अलग ही अन्दाज है।

डॉ० सहल एक चिंतक साहित्यकार हैं। चिंतक साहित्येतर भी सोचता है, जीवन की गुत्थियों पर विचार करता है। इस दृष्टि से डॉ० सहल के 'अर्जुन का विषाद-योग', 'गीता मे मानसिक स्वास्थ्य', 'नूतन आलोक मे वेदान्त' तथा 'गीता के प्रथम अध्याय का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण' लेख अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। डॉ० सहल ने बताया कि वे गीता के सभी अध्यायों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना चाहते हैं। निश्चय ही उनका यह कार्य अत्यन्त उपादेय होगा।

हिन्दी-साहित्य के साथ ही उनका साहित्यकर्मी रूप राजस्थान की लोक-संस्कृति की सेवा मे निरंतर रत रहा है। 'राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन' उनका शोध-प्रबंध है। उन्होंने मुझे बताया कि शोध के लिए उनका कोई निर्देशक नहीं था तथा लोग यह सोचते थे कि इस विषय पर क्या शोध हो सकती है? लेकिन डॉ० सहल ने इसी विषय पर शोध कार्य किया। उनके इस प्रबन्ध को उत्तर-प्रदेश सरकार ने पुरस्कृत भी किया। अपने ढंग का यह पहला प्रयास था। इस प्रयास की महत्ता तो इसी बात से प्रमाणित हो जाती है कि इस प्रबन्ध से प्रेरणा लेकर इसके बाद अन्य भाषाओं में भी एतद्विषयक शोध-प्रबन्ध लिखे गये। इसके साथ ही उन्होंने राजस्थानी कहावतों का एक संकलन भी तैयार किया जिसे बंगाल हिन्दी मण्डल ने पुरस्कृत किया था।

डॉ० सहल ने राजस्थान की लोक-कथाओं की प्ररूढ़ियों (Motifs) का सर्वप्रथम विवेचन किया। उन्होंने एक-एक प्ररूढ़ि को लेकर लेख लिखने की परम्परा का सूत्रपात किया, जो पश्चिम मे भी प्रचलित नहीं थी। अपने मौलिक विवेचन के कारण श्री राहुल सांकृत्यायन, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री पुष्कर चन्द्रवाकर जैसे लोक-संस्कृति के मनीषियों ने डॉ० सहल की प्रशंसा की है।

राजस्थान के ऐतिहासिक व सांस्कृतिक प्रवादों व उपाख्यानों (Anecdotes) का संकलन व विवेचन डॉ० सहल ने ही पहली बार किया, जिसके लिए डॉ० सुनीति-कुमार चाटुर्ज्या से उन्हें प्रशंसा मिला है। डॉ० सहल ने 'मरुभारती' त्रैमासिक के सम्पादन के माध्यम से राजस्थानी के नये-नये लेखक तैयार किए हैं, दुर्लभ सामग्री

को शोधार्थियों के लिए सुलभ बनाया है तथा 'व्युत्पत्ति' 'शब्द-चर्चा' जैसे स्तम्भों से नये तथ्य दिए हैं जिन्हें अन्य पत्रिकाओं ने भी अपनाया है। 'निहालदे-सुलतान' जैसी विशाल लोक-गाथा का राजस्थानी पाठ सकलित करने तथा उसको सरल हिन्दी में पाठकों के लिए प्रस्तुत करने का श्रेय डॉ० सहल को ही है।

डॉ० सहल की सभी उपलब्धियों का रेखांकन इस ग्रन्थ में हुआ है, मैंने तो सकेत मात्र दिए हैं। डॉ० ओमानन्द सारस्वत ने डॉ० सहल को 'शब्द-योगी' कहा है। निश्चय ही डॉ० सहल ने जीवन में शब्दों की साधना की है (केवल वैयाकरण के रूप में ही नहीं) और मां सरस्वती के भण्डार को भरा है और अभी वे अपनी इसी योग-साधना में लीन है।

इस शब्द-योगी की शब्द-साधना को उद्घाटित करने वाला यह ग्रंथ ६ खण्डों में विभक्त है। 'व्यक्तित्व-खण्ड' के सभी लेख उन आत्मीय जनों के हैं जिनका स्नेह, आदर, आत्मीय भाव, श्रद्धा भाव तथा प्रेम डॉ० सहल को मिला है। 'काव्य-समीक्षा-खण्ड' डॉ० सहल के कवि का विवेचन करता है तथा उनकी कविता की क्षमता तथा प्रयोगशीलता को रेखांकित करता है। 'ललित निबन्ध तथा भाषा-शास्त्र खण्ड' में डॉ० सहल के ललित निबंधों पर प्रकाश डाला गया है तथा उनकी भाषावैज्ञानिक उपलब्धियों की चर्चा की गई है। 'समीक्षा-खण्ड' के अन्तर्गत डॉ० सहल के समीक्षात्मक कृतित्व का विशद विवेचन है तथा उनकी समीक्षात्मक मान्यताओं, सिद्धान्तों, पद्धतियों आदि पर अधिकृत सामग्री है। 'लोक-संस्कृति-खण्ड' का सम्बन्ध डॉ० सहल के राजस्थानी भाषा और साहित्य पर किये गये कार्य से है। 'कृति-परिचय-खण्ड' में डॉ० सहल की लगभग सभी कृतियों की परिचयात्मक समीक्षाएं हैं। इनमें से अधिकांश समीक्षाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में पहले ही प्रकाशित हो चुकी हैं। ग्रंथ के अन्त में परिशिष्ट है जिसके तीन भाग हैं—अपने संपादन-काल में बाबू गुलाबराय 'साहित्य-संदेश' में प्रकाशित होने वाले लेखों पर अपनी टिप्पणियां दिया करते थे। डॉ० सहल के कतिपय निबंधों पर दी गई बाबू गुलाबराय की टिप्पणियां परिशिष्ट (क) में सकलित हैं। परिशिष्ट (ख) में डॉ० सहल की विभिन्न कृतियों पर मूर्धन्य विद्वानों द्वारा लिखी गयी भूमिकाएँ संकलित की गयी हैं। परिशिष्ट (ग) में डॉ० सहल के नाम विद्वानों तथा उनके आत्मीय जनों के कतिपय पत्र हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ डॉ० सहल के व्यक्तित्व का आकलन तथा कृतित्व का मूल्यांकन करने का एक प्रयास है। इसमें मुझे कहां तक सफलता मिली है, इसका निर्णय तो सुविज्ञ पाठक ही करेंगे।

ग्रंथ के सम्पादन में मुझे हिन्दी-जगत् का पूरा सहयोग मिला है। मेरी योजना लगभग ४०० पृष्ठ का ग्रंथ निकालने की थी। लेकिन लेखकीय सहयोग का

परिणाम यह हुआ कि ग्रंथ का आकार बढ़ता गया। आकार और भी बढ़ सकता था लेकिन मेरी तथा प्रकाशक दोनों की सीमाएँ थी, इसलिए काफी लेखकों को मुझे निराश करना पड़ा। सबसे पहले मैं इन लेखक-बन्धुओं से क्षमा चाहता हू। अपनी सीमाओं के कारण ही मैं उनके सहयोग का लाभ न उठा सका।

ग्रंथ की भूमिका 'डॉ० रामधारीसिंह दिनकर' ने तथा 'प्रस्तावना' डॉ० नगेन्द्र ने लिखी है। इसके लिए इन दोनों विद्वानों के प्रति मैं श्रद्धानत हूँ।

जिन लेखकों ने ग्रंथ के लिए सहृदयता तथा निष्ठा से लेख लिखे हैं, उनके प्रति मात्र शाब्दिक आभार व्यक्त कर अपने औपचारिक दायित्व से भले ही उऋण हो जाऊँ पर वास्तव में उनके ऋण से मुक्त होना मेरे लिये कठिन है, तथापि मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

मैं श्री रामनिवास जाजू का किन शब्दों मे आभार व्यक्त करू जिन्होंने इस विशाल ग्रंथ के प्रकाशन मे अपना उदार सहयोग दिया है। वस्तुत. श्री जाजूजी जैसे सहृदय ही ऐसा कर सकते हैं।

ग्रंथ का सम्पादन प्रारम्भ तो कर दिया लेकिन कई दिक्कतें पेश आई। डॉ० सहल की पुरानी कृतियां उपलब्ध नही थीं। उनके पास अपनी उपलब्धियों से सम्बन्धित जो भी सामग्री थी, वह व्यवस्थित नही थी। लेखक अनेक सूचनाएँ तथा पुस्तकें मांगने लगे। पुस्तकों की व्यवस्था तथा सूचनाओं के लिए मैंने डॉ० कन्हैयालाल सहल के सुपुत्र डॉ० कृष्णबिहारी सहल का द्वार खटखटाया। उन्होंने पिलानी, जयपुर, मुकुंदगढ़ आदि स्थानों के पुस्तकालयों से डॉ० कन्हैयालाल सहल की पुरानी कृतियाँ लाकर मुझे दी। डॉ० सहल के पुस्तकालय के तीनों कमरों से पत्रिकाओं की पुरानी फाइलों से उपयोगी सामग्री तथा उनके पत्रों के अव्यवस्थित अम्बार से उपयोगी पत्र छांट कर उन्होंने मुझे दिये। इस सारी व्यवस्था से लेकर सम्पादन तक मे मैंने उनका भरपूर प्रयोग किया है। असल मे डॉ० कृष्णबिहारी सहल मेरे अन्तरंग मित्र है, इस ग्रंथ के सम्पादन मे मैंने उनकी आत्मीयता का नाजायज फायदा उठाया है। इस सबके लिए मैं उनका ऋणी हू। पर उनके अलावा मेरी सहायता भी कौन करता? इसके लिए मै उन्हे धन्यवाद नही, (आयु मे बड़ा होने के कारण) अपनी शुभकामनाएं देता हूँ कि वे भी साहित्य-सर्जन मे तत्परता से लगे रहें तथा 'योग्य पिता के योग्य पुत्र' कहावत को चरितार्थ करें।

मैं मनीषा प्रकाशन का भी आभारी हूं जिसके द्वारा ग्रंथ का प्रकाशन बड़ी तत्परता तथा सुरुचि से किया गया है।

यह ग्रन्थ डॉ० कन्हैयालाल सहल की षष्टिपूर्ति के अवसर पर निकल रहा है। इसमें डॉ. सहल के कृतित्व को मूल्यांकित करने की चेष्टा की गयी है लेकिन मैं यह दावा नहीं कर सकता कि यह ग्रंथ उनके कृतित्व के सभी आयामों को रेखांकित कर सका है। अनेक आयाम ऐसे हो सकते हैं जिनकी ओर लेखक बंधु ध्यान देंगे तथा उनके कृतित्व के मूल्यांकन की प्रक्रिया को जारी रखेंगे। वैसे भी डॉ० सहल अभी साहित्य-साधना में रत हैं। हिन्दी एवं राजस्थानी साहित्य को अभी उनसे बहुत आशाएं हैं। इस दृष्टि से भी उनके मूल्यांकन का कार्य यहां से प्रारम्भ होता है। आवश्यकता है कि शोध की दृष्टि से भी इस ओर ध्यान दिया जाए।

स्वाधीनता दिवस, १९७१ — होतीलाल भारद्वाज

नीम का थाना (राज०)

गाँव के बाहर एक पेड़

• डॉ० परेश

कौन-सा पेड़ ? मन कहता है इसे अश्वत्थ अथवा वट कहूँ । वट ही ठीक है । वट में विशालता अधिक है और सम्भवतः अश्वत्थ की अपेक्षा पाताल से जीवन-रस खींचने की शक्ति भी । अश्वत्थ भी मरुभूमि में पर्याप्त पनपता है, किन्तु वह सुकुमार अधिक होता है और मेरे मन के भाव को ठीक-ठीक व्यक्त नहीं करेगा । यद्यपि मैं चाहता हूँ कि अश्वत्थ के नाम से जो पवित्रता इसके लिए उमड़ती है, उसे समेटकर इस पाताल-रस भेदी वट की ही बात करूँ ।

जब मैं इस वट और अपने गाँव के बारे में सोचता हूँ तो 'जहाँ तक दृष्टि जाती है, सरकन्डों, सत्यानासियों और कन्टकारियों के विरल गुल्मों के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई देता ... . मात्र एक सुदीर्घ दारु-कान्तार मध्याह्न के तप्त वायुमण्डल में भाय-भाय कर रहा होता है और ऐसा जान पड़ता है मानों समूचे विश्व की एक धृष्ट अवसन्नता यहीं केन्द्रित हो गयी है और देखने वाले को लगता है कि वह दिगन्त के एक छोर से दूसरे छोर तक दावलय निर्माण करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता..........।'

इस तप्त बालुका राशि पर पाँव रखना तो अलग, दृष्टिपात भी जहाँ दारुण है, यह वट पाताल तक अपनी जड़ें डाल-कर कैसे बैठा है ? भगवान् जाने । किन्तु बैठा है और वह गाँव का सबसे पुराना बरगद है, पुराना और पूज्य ।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' के दशम् उच्छ्‌वास के तुरन्त बाद ही जब मैं जलते हुए रेगिस्तान को बस में बैठकर पार कर रहा होता हूँ तो १५ वें उच्छ्‌वास की ये पंक्तियाँ मेरे साथ-साथ चलती हैं.. ......'भद्रेश्वर दुर्ग का समीपवर्ती दुर्गम दारुकान्तार दिखाई पड़ा । रजत पट्ट के समान दूर तक चमकते हुए बालुका प्रान्तर को आच्छादित करके वह सूना दारुकान्तार इस प्रकार झूम रहा था मानो ज्वलत

धरित्री की सहस्र-सहस्र जिह्वाएं आकाश तक फैल जाने की तैयारी कर रही हों। रह-रह कर वात्याकुंठित बालुका राशि उद्धूम अग्निकुंड की भांति चित्त को मथ भ्रान्त कर रही थी—नीचे से ऊपर तक कहीं शीतलता का नाम नहीं था। मैं कई दिनों से घोड़े की पीठ पर सवार भागा भा रहा हूँ। एक बार भट्टिनी का चिन्ताकातर मुख मन में उदय होता है, दूसरी बार सुचरिता का प्रसन्न रूप। एक भद्रेश्वर की ओर खींच रहा था, दूसरा स्थाण्वीश्वर की ओर...........'

जीवन में इन दो विकल्पों की खींचतान हमेशा ही रही है। किसको तजूँ—किसको गहूँ ? इसी अनिश्चय में एक जेब में 'गीता', दूसरी में 'बाणभट्ट की आत्म कथा' लिए व्यास के उद्गम स्थल व्यास-सरोवर तक पहुँच गया हूँ—रोहटांग पर्वत पर १४६०० फीट की ऊँचाई तक—रेगिस्तान से हिमालय के गिरिवर्त्म तक—रोहटाग से भी मीलों आगे लाहौल के तीर्थस्थान त्रिलोकनाथ तक.......... क्या और भी आगे जाऊँ—पागी घाटी को पार कर लेह, लद्दाख, तिब्बत या कि चाइना, मचूरिया...... .....कहां तक...........?

भीतर से हर बार जैसे कोई अवधूत इस मंत्र को कान में फूंकता है, 'त्रिपुर सुन्दरी ने जिस रूप में तेरे मन को लुभाया है, उसे साहसपूर्वक स्वीकार क्यों नहीं करता ? भुवन-मोहिनी का साक्षात्कार पाकर भी तू भटकता फिर रहा है, पागल।'

भटक ही तो रहा था... ....त्रिलोकनाथ से लौटते हुए कुलू मण्डी, शिमला होकर चण्डीगढ़ आया और बाबा (द्विवेदीजी) को सच-सच बता दिया कि 'मैं मोहिनी को बचाना चाहूँगा।'

कह कर भी, इस अवधूत गुरु के प्रथम साक्षात्कार के बाद भी जाने किस मायाविनी ने भरमाए रखा। जयपुर या चण्डीगढ........चण्डीगढ़ या जयपुर.... ... निर्णय नहीं हो पा रहा था।

कहते हैं, कोई नहीं बोलता तो गांव के बाहर का पेड़ बोल देता है। मैंने इस पेड़ को आते-जाते अनेक बार प्रणाम किया था—मौन दूर से। 'बस' आज भी सहलजी के घर के आगे से ही गुजरती है। दिल्ली की तरफ से आता हूँ तो जैसे पिलानी आते ही गांव की सीमा शुरू हो जाती है और यह घर मुझे मौन भाव से गाँव की सीमा में स्वीकार कर लेता है। पिलानी से मेरा घर २० मील दूर है, किन्तु यहां आते-आते हमेशा ऐसा-ऐसा लगा है कि घर आ गया है। इसी तरह दिल्ली की ओर बढ़ते हुए जब बस इस मकान के आगे गुजर जाती है तो लगता है कि अब गांव पीछे छूट गया है और सामने पार करने को बहुत-बहुत लम्बी-लम्बी यात्राएं हैं।

गाव के बाहर के इस पेड से वर्षों से मेरा यही रिश्ता है-मूक-मौन-ग्रौर ग्रात्मीयता से पूर्ण। मुझे इस पेड से हमेशा यही मूक-मौन प्रेरणा मिली है। इस पेड की ग्रपनी भाषा है—वह ग्रादमियों की तुच्छ भाषा का उपयोग नही करता।

\+ +		+ +

केवल एक बार जयपुर मे प्रत्यक्ष बातचीत की ग्रावश्यकता पडी। वह भी बिहारी के कहने से। बिहारी-जिसमे वट की ग्रपेक्षा बबूल के गुण ग्रधिक हैं माने resistance है दोनों ही रेगिस्तान की रेती के सहस्र वर्ष जीवी पाताल-रस भेदी वृक्ष—वहां से ग्रपना खाद्य बटोरते है—कोई नहीं जानता—लेकिन दोनों ही ग्रातप ग्रौर वात के विरुद्ध ग्रपनी-ग्रपनी गरिमा से ग्रडे है ग्रौर खडे है।

लाहौल, स्पित, रोहटाग ग्रौर त्रिलोकनाथ के बर्फीले प्रदेशो मे घूम कर मैं फिर एक बार जयपुर के पुराने G P. O. के बडे लेटर-बाक्स से टिककर खडा था। वहा ठेठ जयपुरी वातावरण गमगमाता है, सिंधी चाय की खुशबू उडती है—भवानी टाकीज के खत्म हो रहे 'शो' की 'फेयर जेन्ट्री' के बाहर निकलने की प्रतीक्षा रहती है। वही एक कॉलेज के ग्रहाते मे बिहारी का हॉस्टल है। लगता है जैसे कलकत्ते की कथा-स्थितियों के बीच खडा हूँ।

जयपुर मे सब कुछ मिलने की सम्भावना है। एक ग्रत्यन्त ग्रक्खड, ग्रात्मीय व्यक्ति का, जो हमेशा ग्रहेतुक स्नेह मुझ पर लुटाता है—पूरा ग्राश्वासन है कि जयपुर युनिवर्सिटी की जितनी सुविधाएं हैं, मुझे मिलेंगी, किन्तु हमेशा के 'बण्ड' को यह बात समझ मे नही ग्राई।

हमेशा ही तो प्राप्य को छोडकर भागता रहा हूँ। बस कोई निमित्त मिल जाए। बिहारी हिन्द होटल मे एक कमरे का नम्बर देता है—जहा सहलजी ठहरे हैं। पाव दूसरा मन का विकल्प सामने रखता हूँ। दूसरे ही क्षण निर्णय हो जाता है 'गुरु तुम्हे स्वय बुला रहे हैं, इसमें सोचने वाली कोई बात ही नहीं, चण्डीगढ़ जाग्रो ....'

गुरो! तुम यहां भी चले ग्राए। मै बार-बार भूलता हूँ—तुम बारम ग्रपने चरणों मे खींच लेते हो।

चण्डीगढ पहुँच जाता हूँ सीधा। ग्रभी तक के जीवन का श्रेष्ठतम समय गुरुदेव के चरणों मे साधना करते हुए कटता है। ग्रब शिमले मे हूँ। गाव-पर जब-जब ग्राता-जाता हूँ—इस 'बॉकड' पर के वट को ग्रर्घ्य चढ़ाता हूँ। ●

जीवन-क्रम

• डॉ० मशान्तलाल शर्मा

सागर की भांति प्रशान्त और गम्भीर स्वभाव वाले डॉ० कन्हैयालाल सहल भारत के उन चोटी के साहित्यकारों में से हैं जिन्होंने अपनी कारयित्री प्रतिभा के बल से हिन्दी तथा राजस्थानी के कोश को अपने सुचिन्तित और अमूल्य विचार-रत्न प्रदान कर पूर्ण किया है। डॉ० सहल की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उसका स्रोत साहित्य की किसी एक ही दिशा में प्रवाहित न होकर उसकी विभिन्न दिशाओं में अप्रतिहत गति से प्रवाहित हुआ है और डॉ० सहल के प्रशासकीय कार्यों में व्यस्त रहने पर भी वह अभी तक उसी अबाध गति से बह रहा है। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त करने के साथ ही उन्होंने साहित्य-सर्जना के अन्य क्षेत्रों में भी प्रतिष्ठा प्राप्त की ही है। वे एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि, तीक्ष्ण दृष्टि वाले शोध-कर्ता विद्वान् और अधिकार-सम्पन्न सम्पादक भी हैं। साहित्य-साधना में अपना सम्पूर्ण जीवन लगाने वाले डॉ० सहल एक कुशल अध्यापक और उच्चकोटि के प्रशासक भी हैं।

जन्म एवं शिक्षा

राजस्थान के शेखावाटी प्रदेश में नवलगढ़ नामक एक नगर है। इसमें अपनी धार्मिकता एवं विद्या के लिए सहल-परिवार प्रसिद्ध है। इसी सहल-परिवार में विक्रम सवत् १९६८ के मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की तृतीया को डॉ० सहल का जन्म हुआ था। उनके पिता स्वर्गीय पं० रामकुमारजी सहल संस्कृत के विद्वान्, कर्मकाण्ड-निष्णात एवं धार्मिक पुरुष थे। योग्य पिता के गुणों का अपने पुत्र पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। डॉ० सहल बचपन से ही बड़े मेधावी और अध्यवसायी रहे हैं। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा नवलगढ़ में ही हुई। उन दिनों शेखावाटी में उच्च शिक्षा की कहीं भी व्यवस्था नहीं थी, अतः जयपुर के महाराजा

कॉलेज मे उन्हे उच्च शिक्षा-ग्रहणार्थ जाना पड़ा और वहाँ से आपने बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की और वर्ग मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। इसके पश्चात् वे श्री कानोडिया महिला स्कूल (अब श्री शारदा सदन कॉलेज), मुकुन्दगढ मे प्रधानाध्यापक नियुक्त हो गये। जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है, डॉ० सहल बाल्यकाल से ही बड़े मेधावी और विद्याव्यसनी रहे हैं, अतः उन्होंने अध्यापन के साथ-साथ स्वाधीन अध्ययन भी जारी रखा और आगरा विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी मे हिन्दी मे एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करली। इसके बाद वे पिलानी के बिड़ला कॉलेज मे हिन्दी तथा संस्कृत विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने संस्कृत मे भी आगरा विश्वविद्यालय से एम० ए० परीक्षा प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण करली। वैसे आपका संस्कृत साहित्य पर प्रारम्भ से ही अधिकार था, अत: यह परीक्षा तो आपके लिए हस्तामलक ही थी। सन् १९५२ मे आर्ट्स विभाग को पृथक् कर जब बिड़ला आर्ट्स कॉलेज की स्थापना की गई तो आप उसमे वाइस प्रिंसिपल के पद पर नियुक्त कर दिये गये और सन् १९६४ की जुलाई तक उस पद पर सफलतापूर्वक आप कार्य करते रहे। इसी बीच आपको राजस्थान विश्वविद्यालय ने 'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' शीर्षक शोध प्रबन्ध पर पी-एच० डी० की उपाधि से अलंकृत किया। हिन्दी मे अपने ढंग का यह प्रथम शोध-प्रबन्ध था, जिसने शोध की एक नयी दिशा का मार्ग प्रशस्त किया।

प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व

डॉ० सहल शान्त और गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति हैं। वे बिना प्रयोजन [illegible] नही बोलते। सादगी, सरलता, मृदुभाषिता और मननशीलता आपके जीवन के प्रमुख सहचर हैं। आपको क्रोध सामान्यतः कभी नही आता। यदि कोई आपका अनिष्ट करने की भी सोचता है तो आप बदले मे उसका भी भला ही करने की सोचते हैं-यह आपके व्यक्तित्व की सर्वाधिक विशेषता है। अपने सम्पर्क मे आने वालों के साथ आपका व्यवहार सदा ही सौजन्यपूर्ण रहता है। आप अपने छात्रों को भी सदा आदरसूचक शब्दों से सम्बोधित करते हैं। दयालुता आप मे [illegible] है। आप अपने निर्धन छात्रों की हमेशा मदद करते रहे हैं। आप जब से बिड़ला एजूकेशन ट्रस्ट के सेक्रेटरी हो गये हैं तब से आपके पास निरन्तर [illegible] आते ही रहते हैं और आपने कोई भी निराशाजनक उत्तर नही दिया।

निरन्तर [illegible]

आप वर्षों ही बिड़ला आर्ट्स कॉलेज के हिन्दी व संस्कृत विभाग के अध्यक्ष और वाइस प्रिंसिपल रहे। एक बार [illegible] के रिटायर होने पर उनके स्थान पर आप प्रिंसिपल हो गये [illegible]

कालेज के प्रिंसिपल भी रहे। पिलानी के तीनों कालेजों को मिलाकर बिड़ला इंस्टीट्यूट की स्थापना होने पर आप उसमें हिन्दी-संस्कृत के प्रोफेसर और अध्यक्ष रहे। आप अपने इन सभी पदों पर कार्य करते हुए अपने सहयोगियों के साथ सदा निश्छल रहे। आपकी अध्यक्षता के कार्यकाल में कालेज ने बड़ी प्रगति की। आपने ही दर्शन एवं अंग्रेजी विषयों में कालेज में एम० ए० कक्षाएँ आरम्भ की। आपके कार्य-काल में कालेज की छात्र-संख्या भी बढ़ी। आपने कालेज की प्रगति के लिए सतत प्रयत्न किया। आजकल आप बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट के सेक्रेटरी के पद पर आसीन हैं और बड़ी ही लगन, निष्ठा एवं योग्यता के साथ ट्रस्ट का संचालन कर रहे हैं। जब से आपने यह गुरुतर कार्यभार संभाला है, तब से ट्रस्ट की संस्थाएँ दिन प्रति दिन प्रगति कर रही हैं। आपने संस्थाओं के प्रायः सभी अध्यापकों को प्रशिक्षित करवा दिया है जिससे संस्थाएँ सुचारु रूप से संचालित हो सकें। आप हमेशा संस्थाओं की प्रगति के लिए नई-नई योजनाएँ बनाकर उन्हें कार्यान्वित करते रहते हैं। आजकल छात्रों के गिरते हुए स्तर को सुधारने में आप निरन्तर यत्नशील हैं। आपने पिलानी में 'हिन्दी-भवन' की स्थापना करवा कर सराहनीय कार्य किया है। आप 'हिन्दी-भवन' के माध्यम से पिलानी के छात्रों एवं अध्यापकों में हिन्दी के प्रति रुचि जागृत कर रहे हैं। इससे पूर्व पिलानी के कॉलेजों के छात्रों में हिन्दी-अनुराग जागृत करने के लिए आपने 'हिन्दी-साहित्य-समिति' की स्थापना की थी और उसके माध्यम से आपने हिन्दी-प्रचार की दिशा में कार्य किया था। जब तक बिड़ला आर्ट्स कॉलेज एवं बिड़ला इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलोजी एवं साइन्स के हिन्दी-संस्कृत विभाग के आप अध्यक्ष रहे तब तक पूर्वोक्त समिति सक्रिय रूप से कार्य करती रही।

पिलानी के सार्वजनिक जीवन में भी आपका बड़ा योगदान रहा है। आप वर्षों ही पिलानी नगर पालिका के प्रशासक रहे तथा उस काल में पिलानी नगर के निर्माण में आपने बहुत कार्य किया। पिलानी के नागरिकों की भलाई के लिए आपने अनेक कार्य किये। आप करीब १३-१४ वर्षों तक पिलानी में ऑनरेरी मजिस्ट्रेट भी रहे। आप अपने निर्णयों में बड़े निष्पक्ष रहते थे जिससे सभी स्थानीय लोग आज तक भी आपके बड़े प्रशंसक हैं। राजस्थान साहित्य अकादमी के आप ...मान्य सदस्य तथा राजस्थान सरकार द्वारा नियुक्त पाठ्य-पुस्तक-राष्ट्रीयकरण ...ि के आप संयोजक रहे है। राजस्थान विश्वविद्यालय में 'फैकल्टी ऑफ ...्स', सीनेट, ऐकेडेमिक कौन्सिल के आप सदस्य तथा 'बोर्ड ऑफ स्टडीज' के वर्षों तक ...ोजक रहे हैं। राजस्थान के प्रायः सभी साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्य-क्रमों में आपका बराबर सहयोग रहता है। जयपुर के आकाशवाणी केन्द्र को आपका वरद-

स्थान प्राप्त है। वहाँ से आपके साहित्यिक प्रवचन अनेक बार प्रसारित होते रहते हैं। रेडियो सलाहकार समिति के भी आप कई वर्षों तक सदस्य रह चुके हैं।

कुशल अध्यापक

डॉ० सहल एक कुशल एवं अधिकार-सम्पन्न अध्यापक है। आपने हिन्दी-साहित्य के साथ-साथ संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा अंग्रेजी साहित्य का भी अच्छा अध्ययन किया है। अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य से भी आपका अच्छा परिचय है। भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों एवं मनोविज्ञान का भी आपने मन्थन किया है। ज्ञान के क्षेत्र में डॉ० सहल की जिज्ञासा निरन्तर बनी रहती है और अभी तक नियम से घंटों ही स्वाध्याय करते रहते हैं। आपका ज्ञान-भंडार जितना व्यापक है, आपकी व्याख्यान-शैली उतनी ही विशद एवं स्वच्छ है। बड़े-बड़े साहित्यिक सिद्धान्तों और दार्शनिक ग्रन्थियों का ऐसी स्पष्ट व्याख्यान शैली में आप स्पष्टीकरण करते थे कि छात्र-वर्ग तुरन्त ही विषय को हृदयंगम कर लेता था। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "आप बहु-अधीत पंडित हैं। संस्कृत साहित्य, काव्य-शास्त्र, हिन्दी साहित्य-शास्त्र और अंग्रेजी साहित्य का इन्होंने सम्यक् अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य-अन्य भाषाओं के साहित्य से भी परिचय है।" आपकी अध्यापन कला की आपके सभी भूतपूर्व छात्र मुक्त कंठ से प्रशंसा करते है। डॉ० सहल में किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं है—यह आपके अध्यापन की एक बहुत बड़ी विशेषता है। यदि कोई छात्र सही बात कहता है तो आप उसे स्वीकार करते हैं और कक्षा में उस छात्र की प्रशंसा कर अन्य छात्रों को भी अध्ययन के लिए प्रोत्साहित करते हैं। दुराग्रह अध्यापक का बहुत बड़ा दुर्गुण है, जिससे आप सर्वथा मुक्त है। केवल विवाद के लिए विवाद आपको पसन्द नहीं। अपने सहयोगियों से भी आप कभी मिथ्या विवाद में नहीं उलझे।

लब्ध-प्रतिष्ठ आलोचक

डॉ० सहल हिन्दी-साहित्य के एक सुपरिचित आलोचक हैं। आपकी आलोचना सम्बन्धी कृतियों तथा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले लेखों की एक लम्बी सूची है। 'समीक्षायण', 'आलोचना के पथ पर', 'समीक्षाञ्जलि', 'वाद-समीक्षा', 'विवेचन', 'विमर्श और व्युत्पत्ति' आदि प्रकाशित आलोचना-पुस्तकों के अतिरिक्त आपके कितने ही (करीब २५०) विविध साहित्यिक विषयों पर निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी आलोचनाओं का हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान है। आप डॉ० श्यामसुन्दरदास एवं बाबू गुलाबराय एम० ए० के समान समन्वयवादी आलोचक है। आपने निर्भीक होकर प्राच्य एवं पाश्चात्य सभी सिद्धान्तों का अपनी आलोचना में उपयोग किया है। डॉ० नगेन्द्र के

शब्दों में "आप भारतीय सिद्धान्तों में श्रद्धा रखते हुए भी नवीन से नवीन सिद्धान्त के प्रति जागरूक हैं तथा सारग्राही समीक्षक की दृष्टि से उसे ग्रहण करने में तनिक भी संकोच नहीं करते हैं।" इस प्रकार की आलोचना प्रस्तुत करने के लिए एक व्यापक अध्ययन अपेक्षित है जिसकी आपने अपने जीवन में पर्याप्त साधना कर रखी है और अब भी उसी में लीन हैं। आपकी आलोचना की परिधि अत्यन्त व्यापक है। विभिन्न विषयों के अगाध पाण्डित्य के साथ-साथ प्रकृति से आपको मिला है चिन्तनशील स्वभाव। इन दोनों के मेल से आपकी प्रतिभा ने हिन्दी आलोचना को पर्याप्त पल्लवित किया है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "कुशल अध्यापक होने के नाते उन्होंने (डॉ० सहल ने) अपने विस्तृत ज्ञान का यथोचित उपयोग किया है। अध्यापक-वृत्ति सार-ग्राहिता के अतिरिक्त एक और विशेषता की अपेक्षा रखती है, वह है स्वच्छ व्याख्यान-शक्ति। गृहीत सामग्री को स्वच्छता के साथ प्रस्तुत करना अध्यापक के लिए अनिवार्य है, अतएव अध्यापक-आलोचक की समीक्षा में व्याख्यान गुण स्वभावतः आ जाता है। सहलजी ने काव्य की सिद्धान्तगत अथवा व्यवहारगत विशेषताओं को स्वच्छ और सहजग्राह्य शैली में उपस्थित किया है। उनकी भाषा स्फीत और मँजी हुई है। वह विचार के भार से दबी हुई अथवा चिन्तन के भार से उलझी हुई नहीं जान पड़ती।" आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी एवं श्री सियाराम शरण गुप्त आदि अन्य विशिष्ट व्यक्तियों ने भी आपकी आलोचना की बड़ी प्रशंसा की है।

डॉ० सहल की आलोचना का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इनके समीक्षात्मक निबन्धों के विषय विविधता-पूर्ण हैं, अतः उनका वर्गीकरण अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होता है; फिर भी स्थूलतया इनके निबन्धों को पाँच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—(१) मनोवैज्ञानिक निबन्ध, (२) सिद्धान्त-समीक्षात्मक निबन्ध, (३) व्यावहारिक समीक्षात्मक निबन्ध, (४) दार्शनिक निबन्ध, (५) सांस्कृतिक निबन्ध। इनके अतिरिक्त आपके साहित्येतर विषयों पर भी 'बूढ़े बच्चे' आदि अनेक मार्मिक निबन्ध प्रकाशित हुए हैं जिनका संकलन 'दृष्टिकोण' नामक पुस्तक में हुआ है। 'अनुसंधान और आलोचना' नामक आपकी एक कृति अभी कुछ दिनों पूर्व प्रकाशित हुई है जिसमें आपके विविध निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। आपके निबन्धों की एक बड़ी विशेषता है उनकी मौलिकता। उनमें कहीं भी विचारों का पिष्ट-पेषण नहीं हुआ है। आपकी विचार-सरणी सर्वथा नूतन है।

व्याख्यात्मक आलोचना का सूत्रपात हिन्दी साहित्य में आपने ही किया और 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' तथा 'कामायनी दर्शन' में क्रमशः मैथिलीशरण गुप्त एवं प्रसाद के काव्यों की मार्मिक और वैदुष्यपूर्ण, व्याख्यात्मक आलोचना प्रस्तुत की। रस सिद्धान्त एवं अन्य साहित्यिक सिद्धान्तों की गूढ़ ग्रंथियों

का उद्घाटन अत्यन्त परिमार्जित भाषा में प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करना डॉ० महल जैसे मननशील विद्वान् के ही वश की बात थी। जहाँ एक ओर उनमें चिन्तनशील ऊर्जा समन्वित है, वहाँ दूसरी ओर इनके पास संवेदनशील हृदय भी है जिसके कारण वे कवियों की व्यावहारिक आलोचना करते हुए उनके काव्य-सौन्दर्य के मर्म का उद्घाटन करने में सफल हुए हैं। आपके विवेचनात्मक निबन्धों में मौलिकता के साथ विवेचना की गम्भीरता भी स्पष्ट परिलक्षित हो रही है।

अधिकार-पूर्ण व्याख्याकार

आप एक सफल आलोचक होने के साथ-साथ प्रौढ़ विद्वता-पूर्ण व्याख्याकार भी हैं। आपने 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' तथा 'कामायनी दर्शन'† नामक व्याख्या-ग्रन्थों की रचना करके हिन्दी में व्याख्यात्मक आलोचना का सूत्रपात किया। आपने वर्षों की साहित्यिक साधना के साथ-साथ भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा से सम्पन्न हृदय भी पाया है जिसके कारण आधुनिक युग के इन दो कलाकारों की अमर कृतियों के गूढ़ मर्म का उद्घाटन करने में आपने अच्छी सफलता प्राप्त की है। आपने इन दोनों के भाव व कल्पना-जगत् की तह में पहुँच कर उनका अत्यन्त विशद शैली में विवेचन प्रस्तुत किया है। भावों का विशद विश्लेषण, काव्य-सौष्ठव, गुण-दोष-विवेचन, अलंकार-छंद-प्रदर्शन, नूतन उद्भावनाएँ तथा अन्य कवियों के समान भाव वाले उद्धरणों से तुलना आपकी व्याख्या की प्रमुख विशेषताएँ हैं। गुप्त जी ने इस कार्य के लिए अपनी कृतज्ञता भी प्रकाशित की है। आपकी व्याख्या-शैली प्राचीन भाष्यकारों के समान बड़ी विवेचना-प्रधान है।

प्रतिभा-सम्पन्न कवि

प्रायः लक्ष्मी और सरस्वती की भाँति मस्तिष्क और हृदय में भी सौहार्द कम ही देखा जाता है। परन्तु डॉ० महल में इन दोनों ने नैसर्गिक विरोध का परित्याग कर परस्पर मेल कर लिया है। तभी जहाँ विचार के क्षेत्र में आपका मस्तिष्क अपनी अद्भुत शक्ति प्रदर्शित करने में व्यस्त है, वहाँ प्रयोग' (डॉ० महल की कविताओं का संकलन) में आपका कवि-हृदय बन्धन-मुक्त हो कल्पना की लम्बी-लम्बी चौकड़ी भरता हुआ न मालूम किन-किन अज्ञात लोकों का निरीक्षण करता फिरता है। 'प्रयोग' आपकी एक सुन्दर सृष्टि है। इसमें सगृहीत कविताओं में कुछ तो बड़ी ही उत्कृष्ट कोटि की हैं। श्री माखनलाल चतुर्वेदी को आपके ये अटपटे बोल (कविता) बड़े चित्ताकर्षक प्रतीत हुए और उन्होंने उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

---

† कामायनी-दर्शन डॉ० विजयेन्द्र स्नातक की सहकारिता में लिखा गया—समीक्षात्मक एवं व्याख्यात्मक ग्रन्थ है।

डॉ० रामविलास शर्मा ने डॉ० सहल की इस कृति को उस समय तक की प्रयोगवादी कविताओ मे सर्व-श्रेष्ठ घोषित किया था। वर्तमान युग की सामाजिक विषमताओं से क्षुब्ध कवि-हृदय उनको मिटाने ने के लिए छटपटा रहा है। भौतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा और जीवन की विवशताएँ कवि को व्यथित कर रही हैं। इन कविताओं के पाठक डॉ० सहल मे नैसर्गिक कवि-हृदय के दर्शन कर सकते हैं। 'क्षणो के धागे' तथा 'समय की सीढियाँ' डॉ० सहल के अन्य काव्य-संग्रह है।

हिन्दी और राजस्थानी साहित्य के शोध-कर्ता

हिन्दी तथा राजस्थानी के शोध के क्षेत्र मे भी आपने बहुत बडा कार्य किया है। बिडला एज्यूकेशन ट्रस्ट के राजस्थानी शोध-विभाग के आप वर्षों तक संचालक रहे है तथा राजस्थानी के कितने ही दुर्लभ ग्रंथों की खोज करके राजस्थानी साहित्य-सेवियो का आपने महान् उपकार किया है। *'राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान'* तथा 'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद' नामक ग्रन्थो मे राजस्थानी के आख्यानो की परम्परा तथा उद्गम का अनुसधान प्रस्तुत करते हुए आपने ही उन्हे सर्वप्रथम वैदिक साहित्य के ब्राह्मण ग्रन्थो मे खोज निकालने का स्तुत्य प्रयास किया है। वैदिक साहित्य से उद्भूत होकर ये आख्यान किस प्रकार विभिन्न प्राचीन भारतीय साहित्यो से होते हुए राजस्थानी साहित्य मे आये और राजस्थानी ने किस प्रकार इनको सुरक्षित रखा–इसकी खोज डॉ० सहल ने ही सर्वप्रथम की है। आपने अपने "राजस्थानी कहावतें-एक अध्ययन" नामक शोध-प्रबन्ध में राजस्थानी *कहावतों का जैसा* सुन्दर विवेचन और वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, वह सर्वथा मौलिक है। इससे पूर्व इस प्रकार किसी भी भाषा की कहावतो का वैज्ञानिक अध्ययन किसी ने प्रस्तुत नही किया था। आपके शोध-प्रबन्ध से अनेक लोगो को प्रेरणा मिली है। डॉ० सुनीतिकुमार चैटर्जी जैसे विद्वानो ने भी आपके इस नवीन प्रयास की भूरि-भूरि प्रशसा की है। इस कृति की उत्कृष्टता पर आपको उत्तर प्रदेश सरकार ने पुरस्कृत भी किया है।

लोक-कथाओं के मूल अभिप्रायो की खोज की दिशा मे भी आपका कार्य मौलिक है। आपने ही इस प्रकार की खोज का राजस्थानी साहित्य मे श्री गणेश किया है, यदि ऐसा कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। विदेशी विद्वानों ने जरूर इस दिशा मे कुछ कार्य किया था परन्तु आपने जिस वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया वह अपने ढग की अनूठी है। कितने ही नूतन अभिप्रायों को आपने खोज निकाला है। 'लोक-कथाओ की कुछ प्रन्थियाँ', 'लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु', 'नटो तो कहो मत' आदि एतद्विषयक आपकी अनेक पुस्तकें भी निकल चुकी है। अभी तक आपकी मूल अभिप्रायो के विषय मे खोज जारी है।

राजस्थानी के सैकड़ों ही शब्दों की व्युत्पत्ति डॉ० महल ने खोज निकाली है। आपकी व्युत्पत्तियां केवल अनुमान या कल्पना पर आधारित, न होकर दृढ़ प्रमाणों से परिपुष्ट हैं। इस प्रकार का कार्य भी डॉ० महल ने ही सर्वप्रथम शुरू किया था और अभी तक जारी है।

डॉ० महल के निर्देशन में कितने ही विद्वान् शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर पी-एच डी. की उपाधियाँ प्राप्त कर चुके हैं। उनमें डॉ० मनोहर शर्मा, डॉ० नारायणसिंह भाटी, डॉ० ओमानन्द रू० सारस्वत, डॉ० महावीर प्रसाद दाधीच, डॉ० बसन्तलाल शर्मा आदि प्रमुख हैं। आप शोध-कार्य में इतने निष्णात हैं कि अपने निर्देशन में कार्य करने वाले गवेषक को आप व्यर्थ न भटका कर सही मार्ग से गन्तव्य स्थल तक पहुँचा देते हैं। आपके निर्देशन में लिखे गये शोध-प्रबन्धों का स्तर भी बहुत ऊंचा है और उनकी परीक्षकों द्वारा पर्याप्त प्रशंसा की गई है।

प्रेरणादायक सम्पादक

पिलानी से गत १८ वर्षों से डॉ० महल 'मरु-भारती' नाम की त्रैमासिक शोध-पत्रिका निकाल रहे हैं। इसकी देश-विदेश के विभिन्न विद्वानों ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। राजस्थानी की उच्च श्रेणी की कतिपय पत्रिकाओं में यह सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। इसमें राजस्थानी लोक-वार्ता, प्राचीन साहित्य, पुरातत्त्व तथा इतिहास से सम्बद्ध कितने ही अनुसन्धान-पूर्ण लेख प्रकाशित हो चुके हैं। इस पत्रिका के माध्यम से आपने कितने ही नवीन लेखक तैयार कर दिये हैं। डॉ० मनोहर शर्मा, श्री गोविन्द अग्रवाल एवं कितने ही अन्य लेखकों को इससे लिखने की विशेष प्रेरणा मिली। पत्रिका के 'शब्द-चर्चा' नामक स्तम्भ में राजस्थानी के प्रचलित शब्दों की व्युत्पत्ति पर आपकी विद्वत्ता-पूर्ण गवेषणाएँ रहती हैं। यह विवेचना आपके गंभीर व्याकरण-ज्ञान व भाषा-विज्ञान-वैदुष्य की परिचायिका है। इस प्रकार आप एक प्रवीण सम्पादक भी हैं। इस पत्रिका के माध्यम से आपके द्वारा राजस्थानी साहित्य की जो सेवा की जा रही है, वह चिरस्मरणीय रहेगी।

इस प्रकार डॉ० महल अपने विविध कार्यक्रमों द्वारा हिन्दी और राजस्थानी साहित्य भंडारों की अभिवृद्धि में एक महत्त्वपूर्ण योग देते रहे हैं और अब भी उनका योग पूर्ववत् बना हुआ है। आप एक गंभीर मननशील विद्वान् तो हैं ही किन्तु साथ ही प्रकृति ने आपको भावुक अनुभूति-सम्पन्न हृदय और सौन्दर्यनिरूपण-शक्ति भी प्रदान की है जिससे आपकी साहित्यिक साधना विविध रूपों में चलती रही है। आपकी शैली बड़ी गम्भीर और विश्लेषण-प्रधान है। मौलिकता उसकी अपनी विशेषता है। आपके विचार बड़े सुलझे हुए और उनके प्रतिपादन का ढंग अत्यन्त विशद और स्पष्ट है। आप अभी तक साहित्य-साधना में रत हैं और न मालूम

तने अमूल्य रत्न आपकी लेखनी से प्रसूत होकर हिन्दी तथा राजस्थानी साहित्य चमक को बढायेंगे। आपका साहित्यिक जीवन जितना प्रशस्त और गौरवमय है, ना ही आपका व्यक्तिगत जीवन भी आदर्श और अनुकरणीय है। आपका सौम्य र निश्छल स्वभाव और विनम्र एवं शिष्ट व्यवहार आपके हृदय की विशालता के रिचायक हैं। मानवीय गुणों की इतनी अधिक मात्रा में उपस्थिति विरल है। वर इस प्रकार के साहित्य-स्रष्टा को शतायु करे, यह इन पंक्तियो का लेखक दय से कामना करता है।

विरल व्यक्तित्व

श्रीयुत कन्हैयालाल सहल एम. ए. 'महाराजा कालेज जयपुर' मे मेरे पास पढे हैं। इनकी योग्यता, परिश्रम और चरित्र आदर्श रहा है। सब ही अध्यापक इनसे अत्यन्त प्रसन्न थे और कालेज भर में यह प्रशसनीय विद्यार्थी थे।

आरम्भ से ही इनकी रुचि साहित्य की तरफ रही है। हिन्दी साहित्य मे इनका ज्ञान परिपूर्ण है। कई अच्छे-अच्छे पत्रो मे इनके लेख मैंने पढ़े है और मुझे मालूम है कि कई निबन्धो के लिए तो इन्हे पुरस्कार भी मिला है। मेरे हृदय के अन्तस्तल मे हर्ष है कि मेरे शिष्यो मे हिन्दी साहित्य विषय मे यह सर्वोत्कृष्ट हैं। केवल रीति के अनुसार ही नहीं, सच्चे हृदय से बड़े संतोषपूर्वक यह लाइनें लिख कर विश्वास दिलाता हूँ कि बाबू कन्हैयालाल सहल एम. ए. के समान गुणोम्य, मार्मिक और सच्चरित्र अध्यापक आजकल बहुत विरल मिलेंगे।

—भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री

व्यक्तित्व की उपलब्धि

• श्रीकान्त जोशी

हिन्दी साहित्य के यशस्वी समीक्षक, राजस्थानी साहित्य के प्रकाण्ड आचार्य एवं व्याख्याता, सुप्रसिद्ध शिक्षाविद्, महान् शिक्षक, स्वतन्त्र-चेता साहित्यकार एवं सुकवि डॉ० कन्हैयालाल सहल एक ऐसी विभूति हैं जिन पर उनकी कर्मभूमि एवं जन्मभूमि राजस्थान को ही नहीं, समस्त हिन्दी जगत् को अभिमान है। मुझे इस बात का गर्व है कि मैं उन इने-गिने सौभाग्यशालियों में से हूँ जिन्हें अपने बचपन में डॉ० सहल के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जब छोटा था तो पिलानी में जिस स्थान पर मैं रहता था, उसके सामने ही, जरा-सा हटकर, डॉ० सहल का निवासस्थान था। मेरे पूज्य पिताजी, प० सोनीरामजी जोशी, से उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। कभी-कभी मैं, चोरी से, डॉ० सहल के अध्ययन-कक्ष में भी चला जाया करता था। वहाँ पुस्तकों, पत्रिकाओं और मासिक पत्रों का जो अम्बार लगा रहता था, उसे देखकर मैं विस्मय-विमुग्ध रह जाता। १०—११ वर्ष की अवस्था रही होगी। अपनी इनी-गिनी पुस्तकों के पढ़ने की विवशता की तुलना में अनगिनती पुस्तकों के फैलाव में अनवरत चिन्तनशील रहने वाले डॉक्टर सहल मेरे बाल-मन को एक पहेली-से लगते। पिताजी कहा करते थे, "क्या लिख-लिख कर काटा करते हो, सहलजी को देखो, एक बार जो शब्द लिख दिया सो लिख दिया, अब वाक्य चलेगा तो उसी शब्द को लेकर चलेगा जिसे लिखा जा चुका है, लिखने से पहले तुम्हें भी इतनी ही दृढ़ता से सोच-विचार कर लेना चाहिए।" सोच-विचार का तरीका तो आज भी सलीके से नहीं आया पर डॉ० सहल का जो प्रभाव तब पड़ा था, वह कभी भी मन्द न हो सका, वह बढ़ता ही गया और आज भी उनकी गतिशील प्रभविष्णुता जीवन के भावी विकास-पथ में एक प्रकाश-गृह की तरह महसूस होती रहती है।

सन् १९४९–५० में मैंने बी० ए० के प्रथम वर्ष के एक छात्र के रूप में बिरला कॉलेज पिलानी में दाखिला लिया था। जो लोग मेरे प्राध्यापक थे, उनमें डॉ० कन्हैयालाल सहल भी एक थे। वे हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे। इस समय का एक उत्प्रेरक प्रसंग आज भी ज्यों का त्यों याद है।

मेरे एक सहपाठी थे रमेश सक्सेना, उन्हें महाविद्यालय से स्कॉलरशिप मिलती थी, नियमानुसार यह स्कॉलरशिप छात्र के तिमाही, छः माही अथवा वार्षिक परीक्षा में असफल होने पर बन्द कर दी जाती थी अन्यथा मिलती रहती थी। रमेश का तिमाही परीक्षा में हिन्दी का वह प्रश्न-पत्र बिगड गया था जो डॉ० सहल पढ़ाया करते थे। उन्हें यह भली-भाँति विदित था कि मेरे डॉ० सहल के एवं उनके परिवार के साथ बहुत पुराने और पारिवारिक सम्बन्ध रहे हैं, अतः वे मेरे पास आये और कहने लगे "तुम यदि सहारा दो तो मैं पास हो सकता हूँ। तुम्हें केवल सहल जी से अनुशंसा करनी होगी कि स्कॉलरशिप का मामला है, अतः वे पास कर दें।" यह एक विचित्र-सी बात थी क्योंकि समस्त पारिवारिक घनिष्ठता के बावजूद डॉ० सहल का प्रशान्त व्यक्तित्व अपने आप में इतना दृढ़ था कि उनसे रमेश की अनुशंसा करना टुच्चापन प्रतीत होता था। मैं धर्म-संकट में पड गया था। रमेश को नाराज भी नहीं करना चाहता था और न यह चाहता था कि उसकी बात को लेकर मैं डॉ० सहल के पास जाऊं, पर मुझे जाना पडा। दूसरे ही दिन महाविद्यालय के पुराने भवन में लान में डॉ० सहल खडे हुए थे कि रमेश ने मुझे उनकी ओर धकेल दिया। मैं निकट पहुँचा तो सहलजी ने अपनी मद्धिम सौम्य वाणी में सहज हो पूछा—

"क्या है, श्रीकान्त ?"

मैंने कहा—"जी, बात यह है कि रमेश.........."

"कौन, रमेश सक्सेना, क्या है ?"

"उनका हिन्दी का प्रश्न-पत्र बिगड़ गया है और वे कहते हैं कि स्कॉलरशिप रुक जायेगा।"

"क्यों रुकेगा स्कॉलरशिप, वे तो नियमित छात्र हैं, कितना बिगड़ गया है उनका पेपर ?"

"वे कहते हैं, फेल हो जाएंगे ?"

"क्यों होंगे फेल, १०० नम्बर का प्रश्न-पत्र है तो २० नम्बर का बिगडा होगा, तो भी ८० नम्बर मिलेंगे, ३० का बिगडा होगा तो ७० मिलेंगे, ४० का बिगड़ा होगा तो भी ६० मिलेंगे। फेल क्यों होंगे वे ? वे तो नियमित छात्रों में से हैं न, तो ऐसा कितना बिगड़ गया उनका प्रश्न-पत्र ?"

"जी हाँ, आप ठीक कहते हैं, वे फेल नहीं होंगे, उन्हें फेल क्यों होना चाहिए ?"—यह कह कर मैं लौट आया। पता नहीं, लौटने पर रमेश को मेरा रिपोर्टिंग कैसा लगा होगा पर मुझ पर डॉ० सहल के इन प्रश्नोत्तरों का बहुत असर पड़ चुका था। मन में यही बात आती थी कि जो छात्र नियमित है, उसके सामने प्रश्न यह नहीं है कि वह फेल होगा या पास होगा, प्रश्न तो यह है (या होना चाहिए) कि वह ८० प्रतिशत अंक लायेगा या ६० प्रतिशत पर ही रुक जायेगा। सन् १९५३ में एम० ए० के उपरान्त जब मैं हिन्दी में व्याख्याता के रूप में कार्य करने लगा तो जाने कितने छात्रों को कितनी ही बार मैंने उपर्युक्त सस्मरण सुनाया है और उन्हें उत्प्रेरित किया है।

डॉ० सहल के प्राध्यापन की भी कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जिन्हें मैं भूल नहीं पाता। अपनी बात को छात्रों पर आरोपित करते रहना, उनके स्वभाव में नहीं है। यदि छात्र अपने अध्ययन के प्रति बिल्कुल ही लापरवाह है तो बात अलग है, अन्यथा हो नहीं सकता कि डॉ० सहल का कोई छात्र उन्हें अथवा अपने विषय को गम्भीरता से न ले। उनका प्राध्यापन प्रश्न-शैली पर आधारित है। अपने प्रश्नों का प्रत्येक छात्र से वे गलत या सही उत्तर लेते रहेंगे, जो सही है उसे वे स्वीकृति प्रदान करेंगे और जो सही नहीं है, उससे तब तक परम सौहार्द के साथ वे चर्चा करते रहेंगे जब तक वह स्वयं सही होने की सीमा का स्पर्श न कर ले।

जिन छात्रों को वे प्रतिभाशाली समझते हैं, उन्हें अतिरिक्त समय देने में वे कभी आगा-पीछा नहीं करेंगे। मेरी कविताओं में उनकी रुचि सदा ही रही और इस रुचि को प्रेरणा में बदल देने की कला में वे सदा ही निष्णात रहे। यदि वे कभी कोई मेरी मनपसन्द कविता पढ़ पाते, तो कक्षा में प्राध्यापन से पूर्व सभी छात्रों के सम्मुख बड़ी ही तटस्थता के साथ उसका उल्लेख करते। "आज श्रीकान्त की कविता 'हुंकार' में आयी है, अच्छा गीत लिखा है उन्होंने" यह एक पंक्ति मेरे लिए कई प्रशस्तियों से बढ़कर होती। छन्द का मेरा ज्ञान सदा ही कमजोर रहा है पर मैंने पाया है कि डॉ० सहल छन्द-शास्त्र में पूर्णतः दक्ष रहे हैं। मेरे मित्र डॉ० जगदीशचन्द्र जोशी अनेक बार मेरी कविताओं को (और मुझे भी) लेकर डॉ० सहल के पास जा पहुँचते होते और हम लोग देखते थे कि छन्द की अनेक त्रुटियाँ दूर कर दी गयी हैं। एक बार तो हम दोनों उस समय उनके पास जा पहुँचे थे जब वे कॉलेज के एडमिनिस्ट्रेशन ऑफिस में बहुत ही गम्भीरता से विचार-विमर्श कर रहे थे, पर हुआ यही, मेरी एक लम्बी तुकबन्दी को सवारने में वे तुरन्त ही लग गये, जैसे वह काम ही उनका काम हो और खास काम हो। जब लगभग एक डेढ़ घन्टे बाद हम लोग वहाँ से रवाना हुए तो जगदीश ने कहा था, "यार सत्येन्द्र तुम्हें, हम लोग थक रहे हैं और डॉ० सहल ने भोजन भी नहीं किया।" जगदीश ने तो मजाक मे

किया था, यह पाप-पुण्य में विश्वास नहीं कर पाता पर मुझे संकोच हो आया था।

कभी भी मैं बहुत अच्छा विद्यार्थी रहा होऊंगा, ऐसी बात कहना एक सरासर झूठ बोलने वाली बात होगी पर मैं सामान्येतर छात्र सदा ही रहा-कुछ कविताओं के कारण, कुछ नाटकों में किये जाने वाले अभिनयों के कारण, कुछ वाद-विवादों में पुरस्कार जीतते रहने के कारण और कुछ-कुछ शायद अपने अनुवाचनों के कारण। मैं मानता हूँ कि बिरला कॉलेज पिलानी से एम० ए० करने के पश्चात् मैं एक बहुत ही सामान्य द्वितीय श्रेणी का छात्र रह गया होता यदि वहां डॉ० सहल का वरद सम्पर्क मुझे प्राप्त न हो पाता। उन्होंने जो एक बहुत बड़ा काम किया है, वह यह है कि उन्होंने अपने छात्रों में सोचने की शक्ति उत्पन्न की है। 'अध्ययन का अर्थ आनयन ही नहीं, अनुचिन्तन भी है' यह तथ्य उनके व्यक्तित्व में प्रति क्षण प्रकाशित होता रहता है। मैं अपने 'सोचने की वृत्ति' को डॉ० सहल का सबसे बड़ा उपहार मानता हूँ और मैं नहीं मानता कि इससे बड़ा उपहार अपने सम्पूर्ण जीवन में मुझे कोई दूसरा प्राप्त हो सकेगा। सहस्रों छात्र होंगे जिन्होंने डॉ० सहल से अनुचिन्तन की दीक्षा प्राप्त की होगी। आज मैं मानता हूँ कि व्यक्तित्व-निर्माण की सबसे बड़ी सामर्थ्य मनुष्य की अनुचिन्तन-क्षमता में निहित है और यदि अपने चिन्तन को निर्भीक अभिव्यक्ति दे सकने की कला भी किसी को प्राप्त हो तो उससे बड़ा कोई नहीं हो सकता।

हिन्दी समीक्षा के वृत्त में डॉ० सहल अपनी इसी अनुचिन्तनशीलता के लिए विश्रुत हैं। 'आलोचना के पथ पर' डॉ० सहल की अप्रतिम समीक्षाकृति है। इस पुस्तक की भूमिका में हिन्दी के सुप्रसिद्ध सौष्ठववादी समीक्षक स्वर्गीय आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने डॉ० सहल के इसी गुण की ओर संकेत करते हुए कहा है, "सहलजी के निबन्धों में उनके स्वतन्त्र चिन्तन का पूरा परिचय मिलता है .... समीक्षा का कार्य विचारोत्तेजन और वैयक्तिक तथ्य-दर्शन का कार्य है और ये दोनों तत्त्व सहलजी के निबन्धों में प्रचुरता से प्राप्त हैं।"

स्वतन्त्र चिन्तन के उपरान्त डॉ० सहल के भव्य व्यक्तित्व में जो दूसरी बात मेरा ध्यान आकर्षित करती रही है, वह है उनकी समन्वय-वृत्ति। एक ओर जहां अपने 'मत' के प्रति वे स्पष्ट और दृढ़ रहते हैं, वहीं दूसरी ओर किसी रूढ़ि को अपने व्यक्तित्व पर आच्छादन बना लेने की अनुमति भी वे नहीं देते, 'ब्यौरों' में समन्वयशील होना उन्हें आता है। संभवतः वे कालिदास के इस सिद्धांत में पूरी आस्था रखते रहे हैं कि पुराना मात्र होने के कारण कोई (काव्य) अच्छा नहीं हो सकता और न नया होने के कारण उपेक्षणीय होता है। सन्त लोग परीक्षा के उपरान्त

हिन्दी समीक्षा की प्रगति से जो लोग सन्तुष्ट नहीं हैं, वे यह जानते हैं कि सन् १९[illegible] के बाद से हिन्दी समीक्षा समन्वय की उस [illegible] भूमि पर बढ़ता रही है जिसका संकेत डा० [illegible] ने 'आलोचना के पथ पर' नामक कृति में दिया था।[1] इस क्षेत्र में हम उन्हें प्रमुख नेतृत्व करने वाला स्वीकार कर सकते हैं।

रस की दृष्टि से नाटक के अतिरिक्त कहानी और उपन्यास आदि साहित्यिक विधाओं का विश्लेषण एवं अध्ययन करने की परम्परा की स्थापना में भी सहल जी का मौलिक योगदान रहा है। इस परम्परा ने एक ओर रस के धरातल पर समीक्षा के दृष्टिकोण को व्यापक बनाया है तथा दूसरी ओर (इन विधाओं पर आरोपित पाश्चात्य प्रभावों को देखते हुए) पाश्चात्य समीक्षा की एकांगिता से भी बचाने का प्रयास किया है। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि बा० गुलाबराय जैसे आचार्यों का ध्यान सहलजी की इस देन पर गया है।[2]

---

१. बिना समन्वय के सच्ची संस्कृति का निर्माण नहीं हो सकता।

डा० कन्हैयालाल सहल, विवेचन पृ० ६८

२. सिद्धान्त और अध्ययन—पृ० १२१

मैं जानता हूँ कि समीक्षा मेरा प्रमुख क्षेत्र नहीं है किन्तु एक अध्यापक के रूप में क्षेत्रेतर दखल देना मेरी विवशता है। मैंने अनुभव किया है कि हिन्दी समीक्षा के जिन ज्वलन्त प्रश्नों पर डॉ० सहल ध्यान आकर्षित करते रहे हैं, उन्हीं प्रश्नों पर दूसरे समीक्षकों ने उतना ध्यान नहीं दिया है। उदाहरण के लिए 'प्रसाद के नियतिवाद' जैसे गम्भीर विषय को लिया जा सकता है। 'नियति' का प्रसाद के लगभग सभी नाटकों में विशिष्ट स्थान और प्रभाव रहा है, यहाँ तक कि नियतिवाद के अनेक छाया-बिम्ब हमारे सामने उभरते हुए चले आते हैं। इन सभी बिम्बों का सूक्ष्म आकलन करते हुए जहा डॉ० सहल ने अपनी अधीतता का परिचय दिया है, वही अपनी नव-वस्तु-शोधिका समीक्षा-दृष्टि का भी। उनकी 'मूल्यांकन' समीक्षाकृति के ३३ पृष्ठ हिन्दी में प्रसाद-समीक्षा के विशेष पृष्ठ हैं।

इसी प्रकार 'समीक्षांजलि' नाम की उनकी लघु समीक्षा-कृति में कविवर सुमित्रानन्दन पन्त पर लिखे गये कुछ निबन्धों का, मेरी दृष्टि में, विशेष महत्त्व है। आज तो पन्त-साहित्य का बोलबाला है किन्तु जब ये निबन्ध लिखे गये थे, तब पन्त-साहित्य के इने-गिने समीक्षक ही थे।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि लगभग ११ विशिष्ट समीक्षाकृतियों की दृढ पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित इस विशिष्ट समन्वयवादी समीक्षक का अभी तक अपेक्षित मूल्यांकन नहीं हुआ है। हिन्दी में इधर समीक्षा विषय पर ही प्रकाशित कुछ बड़े-बड़े समीक्षा-ग्रन्थों को मैंने देखा है। किंतु मैंने पाया है कि ये ग्रन्थ समीक्षकोचित तटस्थता का परिचय देने में सामान्यतः असफल रहे हैं; इन ग्रन्थों में या तो उस व्यक्ति की समीक्षा, उपासना के बिन्दु को छूती-सी दिखाई देती है जिसके निर्देशन में ये रचे गये हैं अन्यथा कुछ विशिष्ट नामों की परिक्रमा करने में इनके लेखकों का इतना श्रम व्यय हो गया है कि अन्य समीक्षकों की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ तक को स्पर्श कर सकने की साधारण शक्ति भी उनमें नहीं रह गई है।

अक्सर एक प्रश्न उठाया जाता है कि क्या कारण है कि आचार्य शुक्ल के पश्चात् समीक्षा-धारा के निरन्तर गतिमान रहने पर भी, उन जैसा व्यक्तित्व समीक्षा-क्षेत्र में दिखलायी नहीं देता ? इसका एक स्पष्ट उत्तर यह हो सकता है कि आचार्य शुक्ल की समस्त समीक्षा (महाराजकुमार रघुवीरसिंह के शेष-स्मृतियां जैसे ग्रन्थों की भूमिकाओं को छोड़कर) 'सम्पर्क-जीवी-समीक्षा' नहीं है। आचार्य शुक्ल के पश्चात् की समस्त आधुनिक समीक्षा (अर्थात् आधुनिक साहित्य पर लिखी गयी ...ा) 'सम्पर्क-जीवी-समीक्षा' है। जिन आधुनिक कवियों पर समीक्षा-ग्रन्थ लिखे ... वर्षियों से उनके समीक्षकों के प्रगाढ़ सम्बन्ध रहे और वे समीक्षा करते ... । इन सम्बन्धों को भूल न सके। परिणाम यह रहा कि सम्पर्कशीलों के साथ

हो सहृदयता अपेक्षित थी, वह अपेक्षित ही रह गयी तथा गम्भीर कृतियों के प्रति जो तटस्थता, सहानुभूति या तादात्म्यता अपेक्षित थी, उसका भी अधिकतर टोटा रहा। पर दूसरी बात है कि उन्हें बहुत-सा इतर समीक्षा-कार्य या व्याख्या-कार्य पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकतानुसार अर्थ-लोभ-वश करना पड़ा।

डॉ० सहल के ग्रन्थों की विषय-सूची का अध्ययन करने पर मैं यह कह सकता हूँ कि उनके अधिकांश निबन्ध उनकी मूलभूत समीक्षा-वृत्ति का परिचय देते हैं, उनमें अर्थ-लोभ-वश निबन्ध लिखते रहने की वृत्ति का सदा ही सन्तुलन रहा है। यह अवश्य है कि अनेक बार छात्रोपयोगी पत्र 'साहित्य सन्देश' में प्रकाशित होते रहने के कारण उनकी इस वृत्ति को ठीक से समझा नहीं गया है।

जहाँ तक उनके छात्रों का सम्बन्ध है, डॉ० सहल ने जिस समीक्षा-दृष्टि को अपनी समीक्षा में व्यक्त किया है—वह एक विशेष अर्थ में उनकी जीवन-दृष्टि से असंपृक्त नहीं है। यह वह जीवन-दृष्टि है जो डॉ० सहल के सत्संग रूपी पारस को स्पर्श करने के कारण जीवन को हेममय बनाती रही है।

कोई भी समीक्षक अपने समीक्षा-कर्म का निर्वाह अपनी सरसता और राग-वृत्ति के अभाव में सफलता के साथ नहीं कर सकता। समीक्षाकार्य निरा बौद्धिक कार्य नहीं है यद्यपि बुद्धि की नीर-क्षीर सामर्थ्य की प्राप्ति उसकी प्रथम शर्त है। आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि हिन्दी के अधिकांश समीक्षक कवि भी रहे हैं। मिश्र बन्धु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, स्व० शान्तिप्रिय द्विवेदी और अज्ञेय, डॉ० जगदीश गुप्त तथा नामवर सिंह जैसे समीक्षक प्रकट या गुप्त रूप से कविता-पथ-पथी भी रहे हैं। कहना कठिन है कि इनमें से कितने समीक्षक असफल कवि होकर सफल समालोचक बने होंगे। जहाँ तक डॉ० सहल का प्रश्न है, वे एक सफल समालोचक की क्षमता का प्रमाण देकर ही कविता के क्षेत्र में आये हैं। कविता के क्षेत्र में भी डॉ० रामकुमार वर्मा जैसे सिद्ध कवियों ने उनके 'प्रयोग' नामक काव्य पर जो कहा है, वह किसी भी समीक्षक के लिए गौरव की बात होगी। उन्होंने कहा है, "आप सफल आलोचक भी हैं, अतः आपके काव्य में 'प्रयोग' की झलक बड़ी सुलझी हुई है। ये रचनाएँ प्रयोगवाद का मार्ग-दर्शन करेंगी, ऐसी आशा है।"

डॉ० सहल की कविताएँ उनकी चिन्तनशीलता की सरस अभिव्यक्ति हैं। हिन्दी कविता का प्रयोग-काव्य, प्रयोग की सीमा का अतिक्रमण कर चुका है किन्तु जिन 'बातों' को उसने प्रयोग का विषय बनाया था, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही थी कि चिन्तन-भूमि को काव्य-भूमि में समन्वित करके युग-संघर्ष को व्यक्त किया जाए। सहल जी की 'प्रयोग' काव्य-कृति में प्रकाशित 'ओ नवो मालम कोण

छे' जैसी कविताओं मे इस प्रकार का सफल समन्वय है। यह कविता बंबई जैसी औद्योगिक नगरी मे रहने वाले सहस्रो परिवारो के परिवारहीन जीवन की मर्मस्पर्शी किन्तु विचारपूर्ण झांकी प्रस्तुत करती है। मुझे स्मरण है कि इस संग्रह की अनेक कविताएं मैंने पूज्य दादा स्वर्गीय प० माखनलाल जी चतुर्वेदी को पढकर सुनायी थी और उन्होंने भी उपर्युक्त कविता की बहुत सराहना की थी। राग को बुद्धि की स्वीकृति देकर (या न देकर) लिखी जाने वाली कविताओं की परम्परा सहस्रो वर्ष की है किन्तु बुद्धि का राज-पथ पर सहमते-सहमते पैर रखने का प्रयास नई कविता का ही प्रयास है। माखनलालजी ने डाक्टर सहल के इन प्रयासो के 'विजय की आकांक्षा' की थी किन्तु वे यह भी चाहते थे कि ये कविताए "प्रगति और प्रयोग से परे हों", अर्थात् प्रगति और प्रयोग की वाद-बद्धता से मुक्त होकर जीवन की सहजता से युक्त हो। इसी काव्य-संकलन मे डॉ० सहल ने विज्ञान और भारतीय दर्शन के अविरोध की जो महत्त्वपूर्ण एव विचारोत्तेजक बात कही है (पृष्ठ ६, दूसरा संस्करण) वह उनके आधुनिक बोध की परिचायिका है।

समय की रफ्तार बहुत तेज है किन्तु इस तेजी के बावजूद छात्र-जीवन के बाद भी डॉ० सहल का सम्बन्ध अपने छात्रो से पूर्ववत ही बना रहता है। मै जब छात्र-जीवन के बाद के उनसे पाये गये पत्रो को पढता हूं तो अनुभव करता हूं, मै अभी भी उनका छात्र हूँ और मेरा अतीत अभी भी व्यतीत नही हुआ है। उनके अनेक पत्रों मे से कुछ चुने हुए पत्रो के सन्दर्भ और सारांश इस प्रकार हैं—

(१) 'प्रयोग' काव्य-संग्रह पढने के पश्चात् कुछ कविताओं के नीचे दी गयी टिप्पणियों पर आपत्ति व्यक्त करते हुए मैंने सभवतः उन्हे कुछ लिखा होगा। अपने ११-५-५६ के पत्रोत्तर मे डॉ० सहल ने मुझे लिखा—"गत वर्ष टी. एस. इलियट की Four quartets और Wasteland जैसी रचनाएं पढने पर लगा कि इस शैली पर कुछ रचनाएं मुझे करनी चाहिए—अजीब शीर्षक, कविताओं के बीच-बीच मे सुप्रसिद्ध लेखकों के उद्धरण, उपनिषद् और गीता तक की पंक्तिया-अपनी ही कविताओं पर व्याख्यात्मक टिप्पणियां ये सब ईलियट में है। किन्तु मै आपकी बात से सहमत हूँ—मुझे व्याख्यात्मक टिप्पणिया नही देनी चाहिए—ईलियट ने किया हो तो क्या जरूरी है कि हम भी अन्धानुकरण करें?"

(२) सन् १९५६ मे नई धारा में मेरी 'बह दो' शीर्षक रचना पर मुझे यह महत्त्वपूर्ण सम्मति उपलब्ध हुई—"नई धारा मे 'बह दो' रचना पसन्द आयी। 'किसी महर्षि की वाणी में' 'किसी महर्षी की वाणी' मे इस तरह पढने मे आता है। इस प्रकार के प्रमाद से भी यथासंभव बचना चाहिए। 'किसी महाकवि की वाणी मे, किसी पूज्य ऋषि की वाणी मे, किसी तपस्वी की वाणी मे, अथवा ऐसा ही कोई प्रयोग हो सकता था।"

(३) अपने २-८-५६ के कृपा-पत्र में डॉ० सहल ने कालिदास के एक श्लोक की व्याख्या दी है। अपने छात्रों को पढ़ाते समय यह श्लोक मुझे स्पष्ट नहीं हो सका था, अतः मैंने उनसे सहायता मांगी थी।

(४) मध्यप्रदेश के सुप्रसिद्ध गीतकार स्वर्गीय श्री विनयकुमार भारती के काव्य-संग्रह पर मेरी एक समीक्षा कर्मवीर में प्रकाशित हुई थी। अपनी प्रतिक्रिया देते हुए अपने १४-११-५६ के पत्र में डॉ० सहल ने लिखा, "श्री विनयकुमार भारती के सम्बन्ध में आपकी समीक्षा पढ़ कर चित्त प्रसन्न हुआ। काल को गिरफ्तार करने की कल्पना बड़ी रोमांचक है, मुझे बहुत भाती है। विनयकुमार भारती का गीत-संग्रह किस नाम से कहां से छपा है? पढ़ना चाहता था .. "

(५) सन् ५६ की ही ३० नवम्बर का एक और पत्र है। पूज्य दादा पं० माखनलालजी चतुर्वेदी ने मेरे सहलजी की सेवा में लिखे गये पत्र में एक वाक्य लिखवाया था, "विद्वद्वर सहलजी को हमारे भी प्रणाम कहना।" सहल जी ने लिखा है, "आपका कार्ड मिला। मेरे लिए यह सौभाग्य की बात है कि आपके कारण श्रद्धेय श्री चतुर्वेदी जी का स्नेह मुझे अनायास ही विधु के वरदान की तरह प्राप्त हो गया। जिस प्रकार की आत्मीयता उनमें मिलती है, वह सब दुर्लभ होती जा रही है ....घर पर हम सब आपको याद करते हैं।"

(६) ७-११-५८ को मुझे एक छपा हुआ दीपावली ग्रीटिंग का कार्ड डा० सहल से प्राप्त हुआ। मेरे आश्चर्य की सीमा न रही जब उक्त ग्रीटिंग कार्ड में भी यह छोटा-सा पत्र 'जड़ा' हुआ-सा मिला। पत्र (नहीं आशीर्वाद) सम्पूर्ण रूप में दे रहा हूं—

प्रिय श्री जोशी,

अपने छात्रों में जितनी साहित्यिक लगन मैंने आपमें देखी, उतनी अन्य किसी में नहीं। यह मेरे लिए गर्व की वस्तु है।

हितैषी

कन्हैयालाल

(७) सन् ६३ में मेरा एक लेख स्वर्गीय माखनलाल जी और विख्यात उपन्यासकार जैनेन्द्रकुमार की खण्डवा में हुई परस्पर वार्ताओं के नोट्स के आधार पर भारती (भारतीय विद्या-भवन, बम्बई की मुख पत्रिका) में प्रकाशित हुआ था। मेरे प्रेरणा-स्रोत ने मुझे लिखा—(पूरा पत्र)

निवाली

३/६ ६३

प्रिय जोशी,

"एक भारतीय आत्मा के साहित्य-मंथन में जैनेन्द्र", अभी भारती में रस पूर्वक

पढ गया। मिलन सलाप की यह शैली भी रमणीय लगी। पत्र-पत्रिकाओं मे इधर-उधर दृष्टि पड़ते ही आपकी रचनाए उत्सुकतावश पढ़ता रहता हूँ। यह देख कर हर्ष होता है कि पिलानी कॉलेज से निकले हुए छात्रों मे से आपका साहित्यकार सबसे अधिक सजग व सक्रिय है। पूज्य दादा से सादर अभिवादन कहे। "भारती" मे प्रकाशित वार्ता मे पूजनीय के स्थान पर पुज्यनीय छप गया है।"

हितैषी
क० सहल

(८) यह पत्र भी संभवतः ६३ का ही है। खण्डवा के विख्यात तुलसी-पुण्य-तिथि-उत्सव मे प्रमुख अतिथि के रूप मे उन्हे निमंत्रित किया गया था। औपचारिक पत्र के साथ एक विशेष आग्रह-पत्र मैंने भी स्वतन्त्ररूप से लिखा था। जो प्रत्युत्तर प्राप्त हुआ, उसकी उदात्त वाणी के सम्मुख मे चिरनत हूँ-(पूरा पत्र)

पिलानी
१७/७

प्रिय श्री जोशी,

विधिवत् निमत्रण-पत्र मुझे मिल गया था, किन्तु खण्डवा आने-जाने मे कम से कम चार दिन अपेक्षित हैं। इसलिए उत्तर में मैंने अपनी असमर्थता ही प्रकट की है। इन दिनो मे बिल्कुल स्वस्थ भी नही हूँ (ता. २०-२१ को राज. सा. एकाडमी के गवर्निंग बोर्ड की बैठक मे जा रहा हूँ।)

आप अच्छा काम कर रहे हैं, यही सबसे सुनता हूँ। मेरा तो यही सबसे बड़ा पुरस्कार है। औपचारिक निमत्रण के पीछे आपका सुझाव रहा होगा, यह तो ध्वनित था ही। पूज्य दादा के दर्शन हो जाते, इससे मेरा सोया हुआ भाग्य भी शायद जग उठता, किन्तु उन पुण्यश्लोक दादा के दर्शनों का लाभ अभी कहा।

यहाँ Technology की संस्था बन रही है। एम. ए. कक्षाएं या तो इस वर्ष रहे या आगामी वर्ष तक। आगामी वर्ष के बाद हिन्दी किस रूप में रहे, रहे भी या न रहे, यह सब भविष्य के गर्भ में है।

पूज्य दादा से सादर नमस्कार कहे।

सस्नेह
कन्हैयालाल

उपर्युक्त पत्र मे हिन्दी के प्रति डॉ० सहल की चिन्ता सत्य ही सिद्ध हुई ! पिलानी का कॉलेज टेक्नालाजिकल इन्स्टीट्यूट मे परिणत हो गया किन्तु 'भविष्य के गर्भ' मे डॉ० सहल के महान् मर्यादावादी जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि छुपी हुई थी। समस्त भारत मे ही नहीं, विदेशों मे भी विख्यात बिरला एजुकेशन ट्रस्ट का

सबसे बडा मंत्री पद उन्हे सौप कर सचालकों ने न सिर्फ अपनी सूझ-बूझ का प्रखर परिचय दिया है, मुझ जैसे सहस्रो छात्रों को चिर-ऋणी भी बना लिया है। हिन्दी साहित्य के प्रकाण्ड आचार्यो की जिस परम्परा के अन्तर्गत स्व० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० बाबूराम सक्सेना, श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', धीरेन्द्र वर्मा और डा० शिवमंगलसिंह 'सुमन' आदि दिग्गजो ने विभिन्न विश्वविद्यालयों के उपकुलपति के रूप मे अपनी सार्थकता को प्रमाणित किया है, उसी परम्परा मे डा० कन्हैयालाल सहल का नाम संभवत. कुछ अधिक चमक के साथ देदीप्यमान है, क्योंकि बिरला एज्यूकेशन ट्रस्ट २ या ३ विश्वविद्यालयों के समकक्ष माना जा सकता है। यही कारण था कि १४ जनवरी, १९६८ की 'अमरज्योति' मे मैंने ये पंक्तियां अपने समस्त पुण्यों का स्मरण करते हुए प्रकाशित करवायी थी, "डॉ० कन्हैयालाल सहल राजस्थान की ऐसी विभूति हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य की समीक्षा, काव्य व निबन्ध विधाओं और राजस्थानी साहित्य के उन्नयन मे अपना समस्त जीवन अर्पित कर दिया है . एक महान् शिक्षक के रूप मे भी आपकी सेवाएं मूल्यातीत है। उनके शिष्य आज उनके सामने प्रणत हैं और इस बात का गर्व अनुभव करते हैं कि वे उनके शिष्यत्व का सौभाग्य प्राप्त कर सके। व्यक्तिगत जीवन मे भी डॉ० सहल 'सादा जीवन, उच्च विचार' की प्रतिमूर्ति रहे है ....हमारा यह कर्तव्य है कि ऐसे अप्रतिम व्यक्तित्व का समुचित सम्मान करते हुए उनका अभिनन्दन करें।"

'प्रयोग' के यशस्वी कवि की ही निम्नलिखित पंक्तियां मे अपना आल्हाद व्यक्त करते हुए मैं अपने आचार्य, मार्ग-दर्शक और प्रकाशस्तम्भ श्रद्धेय डॉ० सहल के चरणों मे अपने प्रणाम अर्पित करता हूं–

मिल गया (है) स्वप्न मेरा,
पा गया (हूँ) मैं [illegible]

पिलानी का साहित्योपासक सन्त

• डॉ० दशरथ ओझा

डॉ० कन्हैयालाल सहल की कृतियों का अध्ययन करने पर उनसे मिलने की इच्छा हुई। मेरा पुत्र पिलानी के इंजिनियरिंग कालेज का जब छात्र बना तो मुझे वहाँ जाने का अवसर मिला। पिलानी जाने का मेरा यह भी उद्देश्य था कि डा० सहल से साहित्यिक विषयों पर चर्चा होगी। दिल्ली से छात्रों और अभिभावकों का एक दल रेल से स्टेशन पर पहुँचा और स्टेशन पर पिलानी जाने वाली बसों पर हम लोग सवार हुए। मार्ग बड़ा ही सुहावना था। हम लोग प्रातःकाल पिलानी पहुँचे। जुलाई में थोड़ी-थोड़ी वर्षा पिलानी में हो चुकी थी, अतः मरुभूमि की सन्तप्त रेत शीतल हो चली थी। रेत की सड़क इतनी पक्की हो गई थी कि बसों के पहिए सरकते और थिरकते हुए स्वतः आगे बढ़ते जा रहे थे, चारों ओर रेत के टीले और उनमें यत्र-तत्र कँटीली झाड़ियों की हरियाली मन को आकृष्ट करती रहती थी।

जब पिलानी के ऊँचे भव्य मन्दिर और नगर की धवल अट्टालिकाएँ दूर से दिखाई पड़ी, तभी विश्वास होने लगा कि हम लोग गन्तव्य-स्थान पर पहुँच गए। छात्रों को छात्रावास में स्थान मिल गया किन्तु अभिभावक अतिथिशाला में ठहरे। मैं भी बिड़ला अतिथिशाला में अपना सामान रख कर डा० सहल की खोज में निकला। उस नगर में डा० सहल के व्यक्तित्व से इतने अधिक व्यक्ति प्रभावित हैं कि मुझे उनके घर तक पहुंचने में कोई कठिनाई नहीं हुई। पिलानी आर्ट्स कालेज का एक छात्र मुझे अपने साथ लेकर उनके घर तक पहुँचा गया। मार्ग में उससे वार्तालाप करने से ज्ञात हुआ कि डा० सहल के प्रति छात्रों के हृदय में कितनी श्रद्धा है। उसी छात्र ने बताया कि डा० सहल विद्यार्थियों के साथ पुत्रवत् व्यवहार करते हैं। निर्धन छात्रों की स्वतः आर्थिक सहायता करते रहते हैं और उनका द्वार छात्रों के

लिए सदा खुला रहता है। अपने गुरु की गुण-गरिमा का गान गाते-गाते वह छात्र गलदश्रु हो गया।

जब मैं सहलजी के घर पहुँचा, वह एम० ए० के छात्रों को 'कामायनी' पढ़ा रहे थे। 'कामायनी' पर उनकी समीक्षा प्रकाशित हो चुकी थी। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में एम० ए० के छात्रों को ही नहीं, अपितु अध्यापकों को 'कामायनी' के रहस्यों के समझने में पर्याप्त सहायता मिली थी। सहलजी की रुचि प्राचीन एवं नवीन सभी प्रकार के साहित्य की ओर रही है जिसका विवरण आगे दिया जायगा।

सहलजी का विशाल आवास स्वच्छ और भारतीय शैली का बना हुआ है। उनकी एक आदर्श गृहस्थी है। भगवद्भक्त वैष्णव परिवार में धर्म-चर्चा चलती रहती है। विद्याव्यसनी यह धार्मिक परिवार पीढ़ियों से विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध रहा है। सहलजी के एक भ्राता सफल प्रिंसिपल और दूसरे जोधपुर-विश्वविद्यालय में अंग्रेजी-विभाग के अध्यक्ष हैं। इनका परिवार अध्यापकों का परिवार है जो ज्ञानार्जन करता और विद्या का दान देता है।

सहलजी ने डिंगल, पिंगल, प्राचीन साहित्य, नवीन साहित्य पर प्रचुर मात्रा में ग्रन्थों का निर्माण किया है। इनके साहित्य के एक-एक अंग पर विस्तार-पूर्वक लेख लिखा जा सकता है। राजस्थानी कहावतों पर इनका शोध-प्रबन्ध आज भी सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इनकी समीक्षा-पद्धति में एक नवीनता ऐसी पाई जाती है जो उन्हें अन्य समीक्षकों से पृथक् कर देती है। प्राचीन विद्वानों की तरह विषय के अन्दर प्रविष्ट हो करके सार को पकड़ने का इनका प्रयास इनके साहित्य का परिचय देता है। अपने मूल लक्ष्य की ओर वह क्रमशः आगे बढ़ते जाते हैं। इनकी चिन्तन-शैली की विशेषता यह है कि वह आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर प्राचीन विद्वानों के ज्ञान की सामग्री से लेख के भवन का निर्माण करती है। प्राचीन पंडितों की तरह विविध शास्त्रों के ज्ञान को नवीन शिल्प-शैली से सुसज्जित करके लेख के कलेवर को सजाना इनकी बहुत बड़ी विशेषता है।

पुस्तकों के अतिरिक्त "मरु-भारती" नामक शोध-पत्रिका इनकी विद्वत्ता की परिचायक है। विविध विद्वानों के शोधपूर्ण लेखों से सुसज्जित यह पत्रिका हिन्दी की शोध-पत्रिकाओं में अपना विशेष स्थान रखती है। यह पत्रिका शोध करने वाले छात्रों का पथ-प्रदर्शन करती है। इसके अनेक लेख हिन्दी साहित्य के नवनिर्माण में सहायक सिद्ध होंगे। इसमें प्रमुख ग्रन्थों की समीक्षाएँ निष्पक्ष भाव से लिखी हुई मिलती हैं। खेद इस बात का है कि एक तपस्वी साहित्यकार के श्रम का उचित मूल्यांकन हिन्दी जगत् ने अभी तक नहीं किया। इस पत्रिका का जितना प्रचार होना चाहिए, उतना

हो नही पाया। यह पत्रिका प्रत्येक विश्वविद्यालय के महाविद्यालयों के लिए उपयोगी है। इसके लेख शोधार्थियों के लिए बहुत ही लाभप्रद हैं। मेरा सुझाव है कि यदि प्राचीन साहित्य पर लिखे गए चुने हुए निबन्धों को संकलित कर उन्हे पुस्तकाकार रूप मे प्रकाशित किया जाय तो शोधार्थियों का बहुत बड़ा कल्याण हो।

दो शब्द सहलजी की संगठन-शक्ति पर लिखना आवश्यक है। एक बार जब मैं पिलानी गया तो वह प्रिंसिपल के रूप मे काम कर रहे थे। आर्ट्स कालेज का सारा दायित्व इनके ऊपर था। उन दिनों मैं पिलानी एक सप्ताह ठहरा था। कालेज के चपरासी से लेकर ऊंचे से ऊंचे प्रोफेसर तक इनकी संगठन-शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। मैं सोचता रहा कि सहलजी की इस सफलता का मूल रहस्य क्या है। कर्मचारियों से विचार-विमर्श करने पर ज्ञात हुआ कि उनका शासन स्नेह और सौहार्द पर अवलम्बित है, दंड और भय पर नही। प्रत्येक व्यक्ति उन्हे अपने परिवार का शुभचिन्तक समझ कर उनके आगे नतमस्तक रहता है। उनकी एक विशेषता है कि वयोवृद्ध को वह पूरा सम्मान देते हैं, समवयस्कों को अपनी योग्यता से जीतते है और छोटों पर स्नेह की वर्षा कर देते हैं। ऐसे सुयोग्य शासक को कभी कठिनाई का सामना करना ही क्यों पड़े? मुझे इनकी विशालता का एक बार प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। एक अध्यापक अस्पताल मे मृत्यु से प्रतिक्षण युद्ध कर रहे थे। सहलजी नियमित रूप से उस रोगी से मिलने कई बार अस्पताल जाते थे। जब जब मैं उनके साथ अस्पताल गया, मैंने देखा कि सहलजी की मुस्कराती आकृति देखकर रोगी को बड़ी सान्त्वना मिलती थी। रोगी को आभास होता था कि मेरे पिता, मेरे गुरु और मेरे चिकित्सक आ गए हैं, अब मैं मृत्यु को युद्ध मे जीत जाऊंगा। पिलानी का यह सन्त इसी प्रकार दुखी व्यक्तियों की पीडा का निवारण करता रहा है। उनकी सफलता का बड़ा रहस्य यह है कि विद्वत्ता के साथ निरभिमानता, शक्ति के साथ परहित-चिन्तन की भावना उनमे कूट-कूट कर भरी हुई है। प्राचीनता के साथ नवीनता को समझने का सतत प्रयास उन्हे युग-भावना से प्रेरित करता रहता है, अत: वह नवीन पीढी की मनोभावना को समझ कर साहित्य-सर्जन करने में सदा समर्थ रहते हैं।

अन्त मे मैं ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूँ कि पिलानी के इस सन्त साहित्यकार को वह दीर्घजीवी बनाए जिससे उच्चकोटि के साहित्य द्वारा देश, जाति और धर्म की रक्षा हो सके। ●

एक अद्भुत छात्र

• हनुमानप्रसाद वैश्य

लगभग १९२७-२८ की बात है जब कन्हैयालाल सहल मेरा विद्यार्थी था। पारीक हाई स्कूल में १० या ११ छात्रों का बैच था। मैं अंग्रेजी पढ़ाता था। इस बैच में कन्हैयालाल सहल एक विलक्षण छात्र था। उसी के साथ दुलीचन्द, शिवमोहन अच्छे छात्र थे पर जो तीक्ष्ण बुद्धि, काम की लगन, व्यवहार-योग्यता, आज्ञाकारिता कन्हैयालाल में थी, वह किसी में न थी, इसलिए मैं सबसे उसकी प्रशंसा किया करता था। अक्सर वह मकान पर आया करता था। अंग्रेजी में 'ऐसे' लिखने में उसका कोई सानी न था। मैं उसके 'ऐसे' की कापी सभी छात्रों को दिखाता। उसके लिखे 'ऐसे' अध्यापकों को सुनाता और बताता कि यह 'ऐसे' सहल ने लिखा है। मैं सभी को उसका उदाहरण देता था।

कन्हैयालाल सहल जो पहले था, वही अब भी है—उसमें कोई परिवर्तन नहीं। वही सादा कमीज और धोती—सीधी चाल बगैर झुके। शायद उसने जिन्दगी में झुकना नहीं सीखा। आज वह कितना बड़ा आदमी हो गया है। सारे भारत में उसका नाम है पर मिलता है तो विनम्रता से, आज भी इज्जत करता है। वैसा अद्भुत छात्र अब नहीं मिल सकता।

(श्री एल. सी. वैश्य के सौजन्य से प्राप्त)

मेरे छात्रालय का योग्यतम छात्र

• हीरालाल शास्त्री

चि० कन्हैयालाल १९२०-३० की दशाब्दी मे चलने वाले अपने राजस्थान छात्रालय में सबसे प्यारा छात्र था। विनीत था, सुशील था, कम बोलने वाला था। पढने मे तो तेज था ही। उसके स्वभाव में भी तेज़ी हो सकती है। पर उस तेज़ी को वह जब्त करना भी जानता था।

राजस्थान छात्रालय चलाने का मेरा उद्देश्य विद्यार्थियो के साथ निकट सम्पर्क मे रहते हुए उन्हे हो सके तो देश सेवा के लिए तैयार करना था। कन्हैयालाल मुझे सेवा के लिए तैयार होने वाला लगता रहा। एक बार यह बात सामने भी आई कि वह जीवन-कुटीर (वनस्थली) में पहुँचकर मेरे "फक्कड पन्थ" में शामिल हो जाए। पर वह बात आगे नही बढ सकी।

पिलानी मे रहकर कन्हैयालाल बडा हो गया, विद्वान हो गया। मेरे पास वह आता तो पता नही क्या होता। मुझे लगता है, वनस्थली के शिक्षा के काम का मालिक वह अवश्य हो सकता था। दूसरे सार्वजनिक क्षेत्र मे भी वह सम्भवत. कमाल हासिल कर सकता था। पर कन्हैयालाल तो आदमियो के जबर्दस्त पारखी भाई घनश्यामदासजी के चित्त चढ गया और उनकी छत्रछाया में विद्वत्ता और शिक्षा के क्षेत्र में अच्छी से अच्छी उन्नति उसने करली।

मेरा भूरि-भूरि आशीर्वाद चि० कन्हैयालाल के साथ रहा है। मै अपने छात्रालय के इस योग्यतम छात्र का अभिनन्दन करता हूँ।

●

मेरे सहपाठी

• शिवशंकर

डॉ० कन्हैयालाल जी सहल मेरे सहपाठी रहे हैं। हम चार वर्ष साथ रहे हैं जब हम महाराजा कॉलेज, जयपुर में इन्टर व बी. ए. में पढ़ते थे। यह बात सन् १९२८ से १९३२ की है। श्रीहीरालालजी शास्त्री द्वारा स्थापित व सचालित 'राजस्थान छात्रालय' में खजड़े के रास्ते में रहते थे, सहपाठी ही नहीं, सहवासी भी थे।

जैसा कि स्वाभाविक है अधिकतर बाल्यकाल ही भावी जीवन की रूप रेखा बनाता है। श्री कन्हैयालाल जी का जीवन बड़ा नियमित था। सादा व सरल था। वे बहुत कम बोलते थे, परन्तु जितना भी बोलते थे, वजनदार व सारगभित होता था। हम छात्रालयवासी अपने भोजन की व्यवस्था स्वयं करते थे। जब कभी कोई समस्या आती तो कन्हैयालालजी की राय सर्वमान्य हुआ करती। एक बार हम छात्रालयवासी राष्ट्रीय कांग्रेस का ४४ वा अधिवेशन देखने कलकत्ता गये। हम लगभग दस विद्यार्थी थे। सब का रेल टिकिट खरीदने का काम मेरे जिम्मे रखा गया। आगरा रेलवे-स्टेशन पर बड़ी भीड़ में मैंने टिकिट तो सब के खरीद लिये, परन्तु मेरी जेब से मेरी निजी रकम पीछे से किसी ने निकाल ली। कन्हैयालाल जी ने तय किया कि यह नुकसान सब को वहन करना चाहिए और मुझे इसे स्वीकार करने को राजी किया। सबने इस राय को सहर्ष माना।

श्री सहल जी का सरल स्वभाव होते हुए भी उनमें आत्मबल की कमी नहीं थी। एक घटना मुझे याद आती है जब हम छात्रालय-वासियों ने जयपुर से पन्द्रह मील दूर 'रामगढ बन्धे' की यात्रा की थी। वापसी के समय रात हो गई। रास्ते में शेर का भय था। सहल जी के सुझाव पर हमने पास ही गाव में तेल लेकर अपने पास की लाठियों की मशालें बना ली और उन्हें जला कर 'रघुपति राघव राजा राम' की धुनि के साथ निर्भय होकर चल पड़े। यह उपाय कारगर सिद्ध हुआ, अन्यथा

एक शेर जो उधर से गुजरा, हम पर कूद ही पड़ता। इस यात्रा से सम्बन्ध रखने वाली एक कविता भी सहलजी ने लिखी थी जो अफसोस है, अब मुझे याद नहीं रही, परन्तु यह कहा जा सकता है कि उसमें सहल जी की साहित्यिक क्षमता की झाँकी स्पष्ट थी।

हम अपने छात्रालय में एक हस्तलिखित पत्रिका प्रकाशित करते थे। उसका नाम 'विद्यार्थी-जीवन' था। यह कन्हैयालालजी की ही प्रेरणा का फल था। वैसे नियम यह था कि बारी-बारी से हर एक विद्यार्थी संपादक होता था, परन्तु कन्हैयालालजी की नियमितता, सुन्दर अक्षर व संपादन-शैली से प्रभावित होकर सबका आग्रह रहता था कि वे ही संपादक बने रहें। वे बड़ी तैयारी से उसमें लेख लिखा करते थे। बड़े विद्वत्तापूर्ण व विचारोत्पादक उनके लेख पढ़ने की हमको सदा इच्छा बनी रहती थी।

कन्हैयालालजी अच्छे विद्यार्थियों में से तो थे ही, परन्तु उससे अधिक वे स्वाध्यायी थे। किस गहराई से वे पाठ्य विषय को तैयार करते थे, उसका अन्दाज हमको तब हुआ करता जब कभी हम अपनी कठिनाई उनसे पूछा करते थे।

अब जब कभी सहल जी से मिलता हूं और उनका साहित्य पढ़ता हूं तो उनके विद्यार्थी-जीवन की साहित्यकारिता का लघुरूप मेरे सामने आ जाता है।

●

मेरी कल्पना के आदर्श शिक्षक

• डॉ० पुरुषोत्तम प्रसाद शर्मा

पूज्य गुरुवर डॉ० कन्हैयालाल सहल के प्रति संचित अपने हृदय की आदर भावनाओं को अभिव्यक्ति देने में मुझे अनिर्वच आनन्द की अनुभूति हो रही है। यह भी सम्भव है कि मेरे अचेतन मन में इस प्रकार का अवसर पाने के लिए मेरी इच्छा लम्बे अरसे से छटपटाती रही हो क्योंकि जाने कितनी बार मैं अपने एकान्त और अवकाश के क्षणों में ऐसा कर चुका हूँ। इतना ही नहीं, अपने आत्मीय जनों और अन्तरंग मित्रों को भी अप्रत्यक्ष रूप में डॉक्टर सहल के व्यक्तित्व से परिचित कराने के लोभ का संवरण नहीं करने पाता रहा हूँ। मैं उस भावना को सहज ही समझ सकता हूँ जो कवियों को अपने आदर्श पुरुष का सविस्तार वर्णन करने की प्रेरणा देती है।

डॉक्टर सहल की विद्वत्ता, उनके मौलिक अनुसन्धान, राजस्थानी साहित्य को उनकी अनूठी देन, आदि के विषय में अधिकारी समीक्षकों के निबन्ध आप इस ग्रन्थ में अन्यत्र पढ़ेंगे। मैं तो केवल उनके शिक्षक के रूप में कुछ निवेदन करूँगा क्योंकि मेरा अपना मत है कि वे मूलतः शिक्षक हैं। उनके संस्कार, उनकी शिक्षा-दीक्षा, उनकी सहज मनोवृत्ति, उनकी दिनचर्या, उनकी सम्पूर्ण जीवन-पद्धति सभी उसी दिशा में हैं। यह उनके व्यक्तित्व की सबलता का परिचायक है कि उन्होंने अपने आपको नाना परिस्थितियों के अनुकूल समय-समय पर ढाला है। उनमें उच्चकोटि के व्यवस्थापक, प्रबन्धक, आलोचक और परामर्शदाता होने की अद्भुत क्षमताएँ हैं। किसी भी उत्तरदायित्वपूर्ण पद का, वे सार्वजनिक और गरिमा से, दुर्दिनों में और निस्पृह आदर्शों का पालन करते हुए, बारंबार निर्वाह करते हैं किन्तु इनमें कोई 'बड़ी व्यापार' होड़ नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर डॉक्टर सहल सरीखा व्यक्ति किसी भी ऊँचाई तक पहुँच सकता है, किसी भी स्तर का स्पर्श कर सकता है, किन्तु इस सब दायित्व के साथ उनकी इच्छा अपने अध्यापक रूप के गौरव की

होगी। मुझको पूरा सन्देह है कि डॉक्टर सहल इस समय जो भी महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं, वे बीच-बीच में इस रूप में अवश्य लौटते हैं। लोगों की जानकारी के परे वे निश्चय ही ऐसा कर रहे होंगे— रात्रि में देर तक जागते हुए किसी का शोध-प्रबन्ध देखना, कष्ट में पड़े हुए किसी जिज्ञासु की कठिनाई का समाधान करना, अपने अध्ययन और चिन्तन को निरन्तर सक्रिय रखना और सृजन-कार्य के लिए आतुर और तत्पर रहना, ज्ञान का परिश्रम के साथ क्षण-क्षण को उपयोग करते हुए सचय करना और मुक्तहस्त से उसका वितरण करना—ऐसे कार्य हैं जिन्हें वे प्रयत्न करने पर भी रोक नहीं सकते।

आदरणीय सहल जी से मेरा प्रथम साक्षात्कार १९४१ की जुलाई में बिड़ला कालिज, पिलानी में हुआ था। मैं इण्टरमीडियेट के प्रथम वर्ष का छात्र था और 'प्रभाकर' परीक्षा पास कर चुका था। हिन्दी की 'साहित्य रत्न' परीक्षा देने का इरादा था। लगता था कि हिन्दी साहित्य को काफी पार कर लिया है। कुछ नवार्जित ज्ञान का अभिमान हो चला था। देखा कि कक्षा में साधारण कद के एक अध्यापक हिन्दी पढ़ाने को आये हैं। उनके आकार-प्रकार, चाल-ढाल, वेशभूषा में कोई भी तो ऐसी बात नहीं जो उन्हें साहित्यिक घोषित करती। बोलने लगे तो प्रतीत हुआ कि उनकी वाणी पाण्डित्य-द॑ से दृप्त नहीं और भाषा-शैली को प्रभावकर मान लेने का अर्थ होता कि जो कुछ मैंने चमत्कार उत्पन्न करने की लालसा से सीखा है, वह व्यर्थ है। कहना न होगा कि आरंभ में सहलजी ने मेरी हिन्दी-शिक्षक की पुरानी कल्पना को ठेस पहुँचाई; एक प्रकार से उसको झकझोर-सा दिया। कविता पढ़ाते समय स्वर के उतार-चढ़ाव से नाटकीय वातावरण बनाना और क्लिष्ट-तत्सम शब्दावली-बहुल दुरूह वाक्य बोलना—न जाने कहाँ से मेरी दृष्टि में हिन्दी शिक्षक के अविभाज्य अंग बने हुए थे और जब सहल जी में उन्हें न पाया तो लगा कि खरे न उतरने वाले का दोष है, न कि कसौटी का। किन्तु यह धारणा कुछ ही दिनों में शिथिल पड़ने लग गई। कुछ और समय व्यतीत हुआ और मुझ को ऐसा प्रतीत होने लगा कि साहित्य के अध्यापन के लिए उनकी शैली में बड़ी शक्ति है और एक शताब्दी के चतुर्थांश निकल जाने पर भी मेरी धारणा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

मुझको स्मरण आ रहा है कि वे कक्षा में किस प्रकार बिना आहट किये हुए सहसा प्रकट हो जाते थे और किस प्रकार प्रत्येक क्षण का भरसक उपयोग . ते थे। भर्ती की बातों का उन्हें अवकाश ही न होता था। ऐसा लगता था कि कुछ उन्हें कहना होता था, वे उसको पहले से 'प्लॅन' कर लेते थे। किन्तु इसका अर्थ नहीं समझना चाहिए कि उनके विवेचन में कहीं भी शुष्कता या यान्त्रिक

जटना के लिए स्थान होता था। विचारों के आदान-प्रदान के समय उनकी प्रतिभा का नवोन्मेष सदा ही झलकता रहता था। अपने शिक्षक-जीवन के प्रारम्भ में ही डॉक्टर सहल ने कदाचित् यह तथ्य हृदयगम कर लिया था कि विद्यार्थियों की सुकुमार बुद्धि को अपने पाण्डित्य से आतंकित नहीं करना चाहिए। समय की इतनी दूरी से देखने पर कह सकता हूँ कि सहल जी पाठ्य वस्तु को इतना आत्मसात् करके हम लोगों के सम्मुख प्रस्तुत करते थे कि कहीं कोई प्रयत्न-सा न दीखता था। अनावश्यक वाग्जाल में विषय-वस्तु के खोने का कोई भय न था।

मुझको यह कहने में कोई संकोच नहीं कि सहल जी की कक्षा में मैंने और मेरे साथियों ने इस बात का अनुभव किया कि साहित्यानुशीलन में आलोचनात्मक दृष्टि का क्या अर्थ है। पश्चिमी आलोचना-सिद्धान्त और संस्कृत साहित्य-शास्त्र का गम्भीर अध्ययन और विश्लेषण सहल जी कर चुके थे और उपयुक्त अवसर पर संक्षेप में चर्चित विषय से सबद्ध सामग्री देते भी चलते थे किन्तु वे अपना प्रथम कर्तव्य उस लेखक या कवि के प्रति समझते थे जिसकी रचना वे पढ़ाते थे। उस रचना की सर्वोपरि प्राथमिकता रहती थी और सब बातें बाद में आती थीं। बाद के वर्षों में मैं अमरीका की 'नयी आलोचना' से कुछ परिचित हुआ। किन्तु जब इस नयी आलोचना का हमारे देश में या अन्यत्र भी चलन नहीं हुआ था, तब सहलजी पन्तजी के 'गुंजन' को पढ़ाते समय इसका भरपूर प्रयोग करते थे। किसी भी कलाकृति को उसकी गहराई में देखना, कौन सा शब्द या प्रतीक कहाँ आया है और उसकी सार्थकता क्या है, आदि प्रश्नों के प्रति सहल जी ने हम में से एकाधिक लोगों को छोटी अवस्था में ही जागरूक कर दिया था।

सहल जी के 'कॅथलिक टेस्ट' के विषय में इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि यदि वे एक ओर तुलसी और सूर को पढ़ाते समय रस-निमग्न स्वयं होते और हम लोगों को करते थे तो दूसरी ओर नवीनतम साहित्यिक विधा-एकांकी नाटक के प्रबल समर्थक भी थे। जो भी वे पढ़ाते होते, निबन्ध, कहानी, एकांकी, भक्ति काल की कविता अथवा श्री सियारामशरण गुप्त का 'बापू'—उस समय तो ऐसा आभास होता कि सहल जी को इससे रुचिकर और कोई वस्तु नहीं है। पढ़ाई जाने वाली रचना के प्रति उनके पक्षपात का हम छात्रों पर भी वैसा ही प्रभाव पड़ता। मुझे ऐसा एक बार का भी स्मरण नहीं जब सहल जी ने कोई वस्तु अन्यमनस्कता से या बिना मनोयोग के पढ़ाई हो। पढ़ाते समय स्वयं आनन्द-विभोर होने वाला शिक्षक ही अपने छात्रों में उदार, स्वस्थ साहित्यिक रुचि का निर्माण कर सकता है।

सहल जी का पहला प्रयत्न रचना के मर्म को टटोलना होता था। बिना किसी हठ या दुराग्रह के वे अपने आपको उसके केन्द्रीय प्रभाव के प्रति अर्पित कर

ते थे। हम लोग इस प्रक्रिया मे उनके साथ-साथ चल सकें, इस उद्देश्य से वे छोटे-छोटे वाक्यो से हम लोगों का सही दिशा में नेतृत्व करते चलते थे। कही भी ध्यान को बँटाने वाली अलंकृत शैली या 'ग्रैण्डीलोक्वेंट' शब्द नही आने पाते थे। नन्ददास कृत 'भँवर गीत' को इस ढग से पढ़ाना कि आजकल के छात्र गोपियों के विरह को अतिरंजित न मान बैठें, साधारण कार्य नही है। किन्तु इस सब में अध्यापक का कौशल चाहिए। सहल जी की परिष्कृत परिहास-वृत्ति सभी परिस्थितियों में उनकी सहायता करती थी। कक्षा मे वे नितान्त वैयक्तिक रहते थे। ग्रामोफोन रिकार्ड की तरह बजने वाले अध्यापक विभिन्न इकाइयों से और उनकी प्रतिक्रियाओं से अचेत रहते हुए स्वय अपने द्वारा उत्पन्न ध्वनि पर मुग्ध रहते हैं। किन्तु सहल जी की कक्षा में 'सेट पीस' का स्थान नही होता था। अपनी विचित्र अन्तरदृष्टि से उन्हे यह भाँपने में कठिनाई न होती थी कि कौन-सी बात गले उतर गई है और कहाँ शका या सन्देह है। तुरन्त उसी विन्दु पर वे प्रहार करते।

सहलजी के कक्षा के भीतर और बाहर के रूपों मे मैंने अधिक अन्तर नहीं पाया। अपने घर पर भी वे प्रायः पुस्तकों से घिरे रहते थे। जिन समस्याओं को वे कक्षा मे उठाते, उनके साथ वे लम्बे समय तक रह चुके होते थे। वास्तविक ज्ञान ऐसा ही होता है। अध्यापन-कार्य जादूगर का काम नही है कि बस थोडी देर के लिए इन्द्रजाल के कृत्रिम जगत् की रचना कर दी। सहलजी के निष्कर्ष चिन्तन और अध्यवसाय से प्राप्त किये गये होते थे, न कि आकस्मिक दैव-संयोग से। बौद्धिक वातावरण मे अपना अधिकाश समय व्यतीत करने के फलस्वरूप सहल जी किसी कवि या लेखक की एक रचना पर बात करते हुए उसकी लगभग सभी प्रमुख रचनाओं मे किसी विशेष प्रवृत्ति को ओर इंगित कर देते थे जिससे हम में से कुछ लोगों को यह पता लग जाता था कि पाठ्य-क्रम के सकुचित दायरे के बाहर भी प्रचुर सम्पदा फैली हुई है।

मिल्टन ने एक स्थान पर लिखा है कि उच्च कोटि के काव्य की रचना करने वाले के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वय एक अच्छा व्यक्ति हो। सफल शिक्षक के लिए भी मैं इसको सही मानता हूँ। सहल जी इस तथ्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं। किसी भी निजी सकट मे हम लोग निस्सकोच उन से सहायता या परामर्श लेने का अपना अधिकार समझते थे। योग्य छात्रों को वे अपने निजी नोट्स और प्रकाशित आलोचना और निवन्धों की प्रतियाँ भी दे देते थे। वाद-विवाद प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए मैंने केवल दो-एक दिन पूर्व उनसे कुछ 'पाइंट्स' माँगे तो रात्रि को नौ या दस बजे एक व्यक्ति के द्वारा मुझको भिजवाये। विद्यालय तो संपर्क स्थापित करने का माध्यम मात्र था। मुझको ज्ञात है कि उनके अनेक छात्र उनसे अपने भावी

जीवन मे भी परामर्श मागते रहे हैं और पाते रहे हैं। आजकल विद्यार्थियो के बीच बढ़ती हुई अनुशासनहीनता के सबध मे अनेक ऊँचे दर्जे के सुझाव रखे जाते हैं किन्तु उन सबके अतिरिक्त एक बात जो सर्वाधिक महत्त्व की है, वह प्राय. गौण रह जाती है। वह है शिक्षक का स्वय का चरित्र और आचरण। सहल जी सरीखे शिक्षक के साथ अनुशासनहीनता सरीखे प्रश्न की कल्पना ही नही की जा सकती।

अध्ययनशील शिक्षक समय के स्वभावत. लोभी होते है और छात्रो के निबन्धादि पर कम ही समय देना चाहते हैं। किन्तु यह सशोधन-कार्य किसी भी शिक्षा-पद्धति का कितना महत्त्वपूर्ण अग है, यह बतलाने की आवश्यकता नही। सहल जी खूब लिखने का काम देते थे और बडी तत्परता से, बारीकी से जाँचने के बाद, वापस करते थे। मजाल नही, कही अनुस्वार की भी त्रुटि छूट जाय। इससे जहाँ लेख की अशुद्धियाँ दूर होती थी, वहाँ यह भी सीखने को मिलता था कि कर्तव्य-परायणता सक्रामक होती है। शिक्षको के अनेक तौर-तरीके जिन्हे वे स्वय सम्भवत. नही जानते, अनेक विद्यार्थियो को स्थायी रूप से प्रभावित करते है। इसी सदर्भ मे *सहल जी की एक विशेषता का स्मरण हो रहा है। वे अपने सहयोगियो की शक्तियो* का ही अवसर आने पर उल्लेख करते थे, उनकी दुर्बलताओ का नही।

अतीत का सिंहावलोकन करते समय मैं प्राय. विस्मय करने लगता हूँ कि ग्यारहवीं और बारहवी कक्षाओ को पढाते समय भी सहल जी ऐसा नहीं समझते थे कि उन्हे अपनी सारी शक्तियाँ नही लगानी चाहिए, इसम सन्देह नही कि वे उनका काफी अश बचाकर भी काम चलाते रह सकते थे। किन्तु शिक्षक का काम वणिक् बुद्धि मे सचालित नही होता, नही होना चाहिए। चाहे कक्षा नीची हो या ऊँची, अच्छा शिक्षक वही है जो सर्वात्मना अपने आपको कर्तव्य के प्रति अर्पित कर दे। सहल जी के आचरण से मैंने यह सिद्धान्त निकाला है। जहा तक मुझे स्मरण है, मै उनकी कक्षा मे गांधी-दर्शन, 'गीता-ज्ञान,' 'फ्रायड,' 'मार्क्स,' 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' आदि से सर्वप्रथम परिचित हुआ था। जैनेन्द्र जी के 'त्याग पत्र' को लेकर उन्होने हमारे सम्मुख मनोवैज्ञानिक चिन्तन और आलोचना के नये द्वार खोल दिये थे। उनकी क्लास के समाप्त होने पर कालेज लाइब्रेरी की और दौड पडना अनिवार्य-सा हो जाता था। 'त्याग पत्र' मे जब इतनी विचारोत्तेजक सामग्री है तो अवश्य ही 'परख' 'फाँसी', 'सुनीता' आदि को पढना चाहिए और जैनेन्द्र के निबन्धो को भी, उनकी कहानियों को भी। पन्त जी का गुंजन पढाते समय उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती काव्यों की चर्चा करके सहल जी ने हम मे से अनेकों को उनके 'पल्लव,' 'ज्योत्स्ना' 'ग्रन्थि' 'ग्राम्या' आदि को पढने के लिए अधीर कर दिया। इससे अधिक किसी भी शिक्षक की क्या सफलता हो सकती है, मै नहीं जानता।

सहल जी के शिक्षक रूप में बहुत कुछ लिखा जा सकता है और निस्सन्देह उससे बहुत बड़ा लाभ भी हो सकता है। उपसंहार में मैं केवल यही कहना चाहूँगा कि यदि हमारे देश में सहल जी सरीखे शिक्षकों की संख्या कुछ बढ़ जाय तो हमारे राष्ट्रीय जीवन के अनेक संकट अपने आप टल जाँय। आदरणीय सहल जी के अभिनन्दन में जहाँ एक ओर उनके महान् व्यक्तित्व की वन्दना है, वहाँ दूसरी ओर शिक्षा-जगत की उन अन्य विभूतियों के प्रति भी नमस्कार है जो प्रचार के चकाचौंध से दूर देश के भावी नागरिकों का निर्माण करने में अपनी सारी शक्तियाँ लगा रहे है। सहल जी दीर्घजीवी हो, यही मंगल कामना है।

○

एक लोकप्रिय व्यक्तित्व

गत दशक मे अनेक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के दौरान मुझे डॉ० कन्हैयालाल सहल की क्षमताओं को समझने का अवसर मिला है। मैं डॉ० सहल के भारतीय-शास्त्रों के गहन अध्ययन तथा आधुनिक युग मे उनके महत्व को स्वीकार करने के संदर्भ में उनके विशाल दृष्टिकोण से बहुत प्रभावित हुआ हूं।

उनकी विद्वत्ता मात्र बौद्धिक अथवा कल्पनालोक की नहीं है। मैंने उन्हे जीवन के सभी नागरिकों के बीच—ग्रामीणों से लेकर आचार्यों तक पूर्ण रूप से लोकप्रिय पाया है। इसके साथ ही डॉ. सहल मे एक कुशल प्रशासक तथा विद्वान का अपूर्व समन्वय है।

—डॉ० अमरजीत सिंह

○○

कर्तव्य-परायण और सरस्वती के साधक

• पद्मश्री शुकदेव पाण्डे

डॉ० सहल से मैं कई वर्षों से परिचित हूँ। पहिले पहल मैंने इनका गुणगान मुकुन्दगढ़ में शारदा सदन कॉलेज के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए कुछ मित्रों से सुना था। संस्था के संचालन तथा विकास में प्रारंभिक वर्षों में जो भाग सहलजी ने लिया, वे उनकी प्रशंसा कर रहे थे। श्री भागीरथजी कानोडिया भी संस्था के उत्थान का श्रेय सदा सहलजी को ही देते थे। मुझे भी एक बार संस्था देखने का अवसर मिला और मैं वहाँ की सुव्यवस्था देखकर बड़ा प्रभावित हुआ।

जब बिरला इण्टर कॉलेज पिलानी में श्री सूर्यकरण पारीक के, जिन्होंने हिन्दी तथा राजस्थानी की अपूर्व सेवा की थी, देहावसान के उपरान्त हिन्दी विभाग के अध्यक्ष का पद रिक्त हुआ, बिरला कॉलेज ऐसे विद्वान की खोज में था जो इस क्षति को पूरा कर सके। सौभाग्यवश संस्था ने प्रो० सहल को नियुक्त किया और उन्होंने अपने चयन पर संस्था के संचालकों की सब आशाएँ पूर्ण रूप से पूर्ण कीं। हिन्दी पठन-पाठन के अतिरिक्त बिरला शिक्षण संस्थान यह भी प्रयत्न कर रहा था कि राजस्थानी साहित्य के पठन-पाठन को प्रोत्साहन देने के अतिरिक्त संस्थान में लोक-गीतों व लोक-कथाओं तथा कहावतों का संग्रह हो व राजस्थानी साहित्य पर खोज तथा शोध प्रारम्भ हो। इस ध्येय की पूर्ति में डॉ० सहल ने जो प्रयत्न किया, उसके लिए हिन्दी तथा राजस्थानी समाज उनका सदा आभारी रहेगा।

राजस्थानी मे शोध-कार्य की सहायतार्थ एक शोध-पत्रिका 'मरु-भारती' भी बिरला एजूकेशन ट्रस्ट, पिलानी के तत्वावधान मे प्रकाशित होनी आरम्भ हुई जो अब १८ वें वर्ष मे है। इस पत्रिका का विद्वत-ससार मे बड़ा आदर है और अब यह बहुत कुछ अपने पैरो पर खड़े होने मे समर्थ हो चली है। यह पत्रिका बहुमुखी है। इतिहास, शिलालेख, कथा-कहानियाँ, शब्द-चर्चा, कहावतें, पवाड़े इत्यादि सब ही विषय इस पत्रिका मे स्थान पाते है। केवल एक यही कार्य भी डॉ० सहल का नाम उन व्यक्तियों मे रखने मे समर्थ है जिन्होने अपना जीवन सरस्वती की निष्काम वन्दना मे लगाया।

डॉ० सहल ने हिन्दी साहित्य समिति, पिलानी के सस्थापन मे महत्वपूर्ण भाग लिया। इस संस्था के द्वारा विद्यार्थियो मे हिन्दी पठन-पाठन व लेखन मे विशेष प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। सस्था थोडे ही काल मे पुस्तका, समाचार-पत्रों व पत्रिकाओं का अच्छा सग्रह बन गयी। समिति के सभा भवन मे हिन्दी के सुविख्यात लेखकों के तैल चित्र हिन्दी प्रेमी विद्यार्थियो को प्रोत्साहित करने मे बडा योगदान देते थे इस समिति द्वारा प्रति वर्ष विशेषाक निकाला जाता था जिसका सम्पादन विद्यार्थियों द्वारा किया जाता था। इस विशेषाक की शिक्षण-संस्थाओं मे सदा बडी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाती थी। यह समिति समय-समय पर हिन्दी के सम्मानित विद्वानों तथा कवियो के व्याख्यान तथा कविता-पाठ का आयोजन कर सदस्यों को प्रतिष्ठित विद्वानो के सम्पर्क मे आने का अवसर देती थी। समिति के तत्वावधान मे 'हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ' नामक पुस्तक भी प्रकाशित की गई। यह मौलिक पुस्तक बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है।

डॉ० सहल के बी० आई० टी० एस० के हिन्दी विभाग की अध्यक्षता छोड़ने पर तथा बिरला एजूकेशन ट्रस्ट के स्कूलो के निदेशक होने के उपरान्त उन्होंने स्कूलों के लाभार्थ 'हिन्दी-भवन' 'हिन्दी-भवन' की स्थापना मे योगदान दिया। इस भवन के उद्देश्य हिन्दी साहित्य समिति के समान ही है।

डॉ० सहल का शिक्षा मे सदा प्रेम रहा और वे शिक्षण-सस्थाओं तथा विद्यार्थियों के उत्थान मे सदा रस लेते आये है। बिरला शिक्षण संस्थान के पहिले निदेशक, फिर १९६८ मे मंत्री के पद का भार सँभालने पर वे तन्मयता के साथ एक सुलझे हुए शिक्षा-शास्त्री होने के कारण अपने कार्य मे जुट गये हैं और बड़ी योग्यता से सस्थाओं का सचालन कर रहे हैं और इसमें कोई सदेह नहीं कि वे शिक्षा-प्रचार व प्रसार मे तथा विद्यार्थियो व अध्यापकों के स्तर को ऊँचा करने मे समर्थ होगे।

डॉ० सहल बड़े प्रबुद्ध लेखक हैं। थोड़े से काल में ही विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। वे ख्यातिनाम समालोचक भी हैं। अपने पठन-पाठन तथा शिक्षण-संस्था के कार्य में रत होने पर भी लेखन से उन्होंने ग्रन्थ, शोधन ग्रन्थ, समालोचना, राजस्थानी साहित्य इत्यादि पर प्रकाशित किये हैं जिनका साहित्य समाज में बड़ा आदर हुआ है।

प्रकृति में जिस प्रकार एक बीज उपजाऊ भूमि में पनप कर अंकुर के रूप में एक बड़ा सा रूप लेता है, परिपक्व होने पर अनेक बीजों को विकसित कर अनेक नये अंकुरों का उत्पादन करता है उसी प्रकार डॉ० सहल ने भी प्रति दिन निद्रा देवी को अपने को सौंपने से पूर्व कुछ न कुछ नियमपूर्वक लिखा है चाहे एक या दो पृष्ठ ही क्यों न हों। लिखा भी इतना विचारपूर्वक कि फिर उन्हें दूसरी बार लिखने की आवश्यकता नहीं पड़ी। वे बूंद-बूंद से घट भरते गये और हिन्दी-साहित्य कोष बढ़ता गया। यह प्रयोग उनके जीवन की सफलता का एक विशिष्ट साधन सिद्ध हुआ। हिन्दी तथा राजस्थानी के लेखकों तथा विचारकों में उन्हें सम्मानित स्थान प्राप्त है।

डॉ० सहल को मुझे निकट से देखने का अवसर मिला। उनका जीवन नियमित तथा सदा सादगी से परिपूर्ण रहा। जो भी कार्य उन्होंने उठाया, उसमें सर्वदा वे सफल हुए। गम्भीर से गम्भीर परिस्थिति में सन्तुलन रखने से वे संस्थाओं के कार्यभार को निष्पक्ष रूप से निभाने में सफल हुए। ये विनम्र तथा धैर्यवान हैं। मुद्रा गम्भीर भले ही दीखती हो पर वे सहृदय हैं। वे अपने स्वकीय गुण तथा विशिष्टता से अपने सम्पर्क में आने वाले अध्यापक तथा छात्र-वर्ग को प्रभावित करने में समर्थ हुए हैं। उनकी लगन ही उनकी सफलता की कुंजी है। उनकी हिन्दी-राजस्थानी सेवा के लिए शिक्षित समाज सदा उनका ऋणी रहेगा।

□□□

एक सहकर्मी का साक्ष्य

• गुरुदेव त्रिपाठी

१९५६ से लेकर आज तक के अध्यापक जीवन की अनेक यादें डा० साहब के साथ वाबस्ता हैं और इस नैकट्य में अनेक बार अनेक कोणों से उनके व्यक्तित्व को देखने, परखने, समझने और आस्वादित करने का अवसर मिला है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्यार्थी-जीवन में डा० सहल का परिचय उनकी विद्वत्ता-पूर्ण पुस्तकों के माध्यम से हुआ था और तभी एक पूज्य भावना उनके विराट व्यक्तित्व के प्रति बन गई थी।

कामायनी-दर्शन का लेखक, राजस्थानी साहित्य का मर्मी विवेचक और नये साहित्य में गहरी अभिरुचि रखने वाला विद्वान् एक विराट आकृति।

फिर एक नितान्त दूसरी दास्तान, सहकर्मी के रूप में परिचय, फिर परिचय में प्रगाढ़ता और प्रगाढ़ परिचय का आत्मीयता के रूप में परिवर्तित हो जाना। सूर्य की ऊष्मा में विशाल हिम-खंड विगलित हो जाता है, तरल हो जाता है और वैसे ही आत्मीयता की ऊष्मा ने डॉ० साहब को तरल कर दिया। वह विराट आकृति, जिसकी कभी कल्पना थी, विगलित होने लगी, गढ़-खंड टूटने लगे— विभागीय अध्यक्ष, अभिभावक, शुभैषी और आत्मीयता के वेष्टन में वेष्टित एक मूर्ति।

फिर तो विगत दशक में वे अनेक रूपों में सामने आये। कहीं तो वे सदा अध्यापक की भांति विद्यार्थियों के मध्य साहित्यिक चर्चा में व्यस्त नजर आ रहे हैं, कहीं सहकर्मियों को श्रम करने और सुचारु अध्यापन करने का उपदेश दे रहे हैं; कहीं सभा के बीच समस्त सभासदों के रूप में हाथ फैला-फैला कर बोलते दिखाई दे रहे हैं, कहीं गम्भीर दार्शनिक साहित्यिक विषयों पर सारपूर्ण विद्वानों की गोष्ठी में विचार-विनिमय कर रहे हैं तो कहीं एकदम सहज रूप से बच्चों

की पारिवारिक चर्चाओं मे बेतकल्लुफी से उलझे हैं और अनेक प्रकार की रायें दे रहे है और सहयोग के वायदे, तो कही याराना तर्ज मे एक शिगूफा छोड कर हँस रहे हैं और अपनी कही हुई बात के लिए समर्थन मांग रहे हैं—"अच्छा, आप ही बताइए ठीक है न ?"

डा० के० एल० सहल और पं० कन्हैयालाल सहल एक ही व्यक्तित्व के दो अभिन्न रूप हैं।

अच्छा, तो मिलिए डा० के० एल० सहल से एक अपटुडेट व्यक्तित्व। कभी पेंट बुशर्ट मे, कभी कमीज पेंट मे, कभी सूट मे मय टाई। आप न केवल अच्छी अंग्रेजी बोल-लिख लेते हैं बल्कि अंग्रेजी भाषा पर अच्छा अधिकार है। आप घंटों धारा-प्रवाह गम्भीर से गम्भीर विषय पर अंग्रेजी माध्यम से भाषण दे सकते हैं।

और अध्ययन का क्या कहना ?

प्लेटो, अरस्तू, रिचर्ड्स, टी० एस० इलियट और अंग्रेजी साहित्य के कृती व्यक्तित्वों का आपका गहरा अध्ययन है; यही कारण है कि साहित्य शास्त्र की पश्चिमी धारा से लेकर नये काव्य पर पश्चिमी प्रभाव की हर खूबियों और खराबियों को आप भली-भांति पहचानते हैं और अपने समीक्षात्मक निबन्धों मे इस ज्ञान का भरपूर उपयोग भी करते हैं।

माफ कीजिएगा डा० सहल साहब, मुझे आपका अंग्रेजीपन कभी-कभी बहुत अखरता है, जब आप हिन्दी के धुरन्धर विद्वान् होकर भी यदा-कदा अनावश्यक रूप से अंग्रेजी का प्रयोग करते हैं।

यह क्या ? आप कुछ गम्भीर लग रहे हैं। मैंने तो महज एक छोटी-सी बात कही थी और उसे आपने गम्भीरता से ले लिया। खैर, मैंने कहा भी जान-बूझ कर ही था। मुझे आपके स्वभाव की सफाई मालूम है कि औचित्य को स्वीकार करने में आपको संकोच नहीं होता है।

मेरे कहने को अन्यथा मत लीजिएगा।

और आप हैं प० कन्हैयालाल सहल, राजस्थानी के उद्भट विद्वान्, हिन्दी के ख्यातिप्राप्त समीक्षक और कृती व्यक्तित्व।

मूलत. आप प्राचीन संस्कारों और अभिरुचियों से सम्पन्न सनातनी ब्राह्मण है। संस्कृत साहित्य आपका प्रिय विषय है और प्राचीन धर्म-दर्शन के आलोडन विलोडन मे आपकी रुचि भी अधिक है। भाषणों मे तो शायद ही कोई आपका भाषण है जो संस्कृत के किसी श्लोक से सम्पृक्त न हो। साधारण बातचीत मे शाम को टहलते समय भी आप सहज रूप से अपनी संस्कृत ज्ञान-गंगा का जल बिखेरते

चलते हैं और होता कभी यह है कि जब अचानक बात करते-करते संस्कृत का कोई श्लोक उठने से बाज आ जाता है तब आप अपने अभिन्न और वरिष्ठ सखा आचार्य जी (प० अनन्तदेवजी त्रिपाठी प्रिंसिपल संस्कृत कॉलेज) से पूछ बैठते हैं—"क्यों आचार्य जी, यह प्रसग कैसे है अथवा इस श्लोक का आधा चरण स्मरण है क्या ?" और फिर बातचीत की गाड़ी आगे चल पडती है।

घर के भीतर आप कट्टर पुराण पथी है। प्राचीन रूढियो और मान्यताओ मे आपकी घोर आस्था है। यही कारण है कभी किसी ने आपको नए अन्दाज मे मान्यताओ के विरोध मे आचरण करते और विचार प्रकट करते नही देखा होगा। पारिवारिक शिष्टाचार, शालीनता पर आपका काफी ध्यान है।

नियमित रूप से न केवल आप सध्याकाल टहलते ही है बल्कि नियमित सध्यावन्दन भी आपके क्रियाकलाप का अभिन्न अग है।

अरे वाह, धोती कुर्ते मे देखकर आप भडकिए नही। ये सहलजी ही है।

यार, धोती कुर्ते मे तो ये काफी फबते है तो क्यो नही यही परिधान धारण करते है ?

छोडो भी, क्या बकवास शुरु कर दिया। अपनी-अपनी रुचि की बात है। कोई कैसे भी रहे। जनाब आपसे क्या मतलब ?

और फिर एक लम्बा अर्सा गुजर गया डा० सहल के साथ काम करते और प० कन्हैयालाल सहल को देखते। बार-बार मन मे प्रश्न उठता है, क्या एकत्र इन दो व्यक्तित्वो का मिलन-बिन्दु भी है।

कई वर्ष नजरो के सामने देखते-देखते एक-एक कर फिसल गए लेकिन उनके मीठे कडुवे स्वादो की यादगार बाकी है। उन दिनो जब मैं आया ही आया था डा० सहल बिडला आर्ट्स कॉलेज के संस्कृत-हिन्दी विभागाध्यक्ष और उपाचार्य थे। मेरा सम्बन्ध उन दिनो बिडला कालेज से था लेकिन हिन्दी का होने के नाते हरदम तो नही, यदा कदा हम लोग मिल ही लेते थे या यो कहिए, मैं मिल ही लेता था। उस समय भी डा० साहब मुझे अत्यन्त मृदुभाषी लगे। मैं यह नहीं कहना चाहता हूँ कि कोई व्यक्ति नितान्त पूर्ण होता है अथवा खामियो से एकदम न्यारा होता है लेकिन इतना जरूर है कि वह किसी के साथ व्यवहार मे कितना मीठा है, उसके व्यक्तित्व की अच्छाई और सफलता की यह पहली शर्त होती है। मुझे मालूम है डॉ० साहब हर परिस्थिति मे संयत रहने के अभ्यासी हैं और व्यवहार मे अत्यन्त मृदु।

एक दिन आया जब बिड़ला संस्थान के सारे कॉलेज मिल कर इन्स्टीट्यूट बन गए। तब से डॉ० साहब से मेरा सीधा वास्ता और साबका पड़ने लगा। ऐसा नहीं है कि इस दौरान में हम लोग कभी कटु दौर से न गुजरे हो। ऐसे उन समस्त अवसरों पर जब बिगाड़ की सम्भावनाएं आई हैं, डॉ० साहब ने उन्हें बनाया है। अपने बनियाटिक स्वभाववश मैं यदा-कदा रोष में भी आ गया हूँ लेकिन डॉ० साहब ने स्वयं ही नीचे आकर मुझे समेटा है और व्यवहार की मिठास को कायम रखा है। साधारण व्यवहार में तो मुझे कभी उन्होंने यह सोचने का अवसर भी नहीं दिया कि कभी किसी समय हम में मतभेद भी हो गया था अथवा किसी वर्तमान बात को लेकर तनाव भी बढ़ गया था। अतीत को भूल जाना और नए को सवारना, यह मनुष्य का दुर्लभ गुण है और यह मुझे डॉ० साहब के स्वभाव में प्रचुर मात्रा में मिलता है।

अनुसंधित्सु विद्यार्थियों के बीच जब मैंने डॉ० साहब को देखा तो उन्हें कुछ और ही पाया। उन्होंने कभी किसी विद्यार्थी पर अपने विचारों को बलात् लादने की चेष्टा नहीं की। विद्यार्थियों को पूरी छूट रही है कि वे अपनी बातें कहें, डॉ० साहब की दलीलों को काटें। लेकिन डॉ० साहब भी कम नहीं हैं। हाँ, हाँ करते-करते ही वे अपनी सारी बातें विद्यार्थियों से सहज मनवा लेते हैं। आज जहाँ साधारण लोग भी अवसर पाकर अपनी गुरुता का रौब गालिब करना नहीं चूकते, वहाँ डॉ० साहब की सहज व्यवहार-पद्धति कितनी अनुसार लगती है।

आज डॉ० साहब वयस की छोर के निकट पहुँच चुके हैं लेकिन उनकी कार्य-शक्ति में किसी को किसी प्रकार की कमी कभी परिलक्षित नहीं हुई। जब वे हिन्दी विभागाध्यक्ष थे तो सम्भवतः हिन्दी सम्बन्धी सारे कार्य-कलापों के स्वतः ही केन्द्र-बिन्दु थे। हिन्दी वाद-विवाद, रंगमंच, समिति, भाषण, गोष्ठियाँ आदि सब के संयोजन व्यवस्थादि में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में उनका हाथ रहता था। सब को स्मरण में रखना, सबको समान रूप से महत्त्व देना, साधारण कार्य नहीं है।

पुआल की आग की तरह जलना और भभक कर शान्त हो जाने में व्यक्तित्व की शोभा नहीं होती है, शोभा होती है स्थायित्व में। इस सन्दर्भ में मुझे कहना यही है कि जब मैं पिलानी आया तो आने के साथ ही पता चला डॉ० साहब हिन्दी 'साहित्य समिति' और 'मरुभारती' के जनक हैं। हिन्दी 'साहित्य समिति' यहाँ की साहित्यिक संस्था है और 'मरुभारती' एक मात्र शोध-पत्रिका। इन दो बड़े उत्तरदायित्वों को बखूबी ढोते हुए भी डॉ० साहब निखरे बने रहे, यह उनकी कार्य-शक्ति, श्रम-शक्ति और संयोजन-शक्ति का परिचायक है।

फिर 'हिन्दी-भवन' के रूप मे डा० साहब ने अपने नगर और शिक्षा-संस्थानो को एक अनुपम भेंट प्रस्तुत की है। अपने अल्प वयस मे ही भवन प्रगति की सारी संभावनाएं समेट रहा है।

आज डा० सहल अपनी योग्यता और सेवा के बल पर उपलब्धि की सीमा पर पहुँच चुके है। आज वे बिड़ला शिक्षा संस्थान के सचिव हैं। आज उनका दिन व्यवस्था, अनुशासन की कार्यवाहियो मे व्यतीत होता है तो रातें संस्थान की प्रगति के ख्वाबो मे। आज डा० सहल के पास सब कुछ उपलब्ध है लेकिन फुर्सत के क्षण नहीं—अपने क्षण नहीं। पुराने स्नेही, श्रद्धालु और याराना तर्ज के अन्य लोग जब उनसे वही पुरानी बेतकल्लुफी चाहते हैं तो उन्हे कभी-कभी निराशा भी हाथ लग जाती है।

आज पुनः मेरा भावुक मन एक विद्वान् कर्मठ डा० सहल का चित्र संजोने बैठता है तो वह चित्र सहसा फिसल जाता है और सामने खड़ा हो जाता है बिड़ला शिक्षा संस्थान के मंत्री का चित्र—सूट मे लकधक कार से उतरते हुए। फिर एक अनावश्यक आशंका से मन भर जाता है, कही फूल-मालाओ, सुख-सुविधाओ के बीच वह तस्वीर दब न जाए जो विद्वत्ता की गरिमा से विराट है और शील-सौजन्य की आभा से शुभ्र

□□□

एक बहुमुखी व्यक्तित्व

• डॉ० मूलचन्द सेठिया

डॉ० सहल को जो केवल आलोचक के रूप में जानते हैं, वे डॉ० सहल को नहीं जानते। उनका एक सहज सन्तुलित और बहु-आयामी व्यक्तित्व है, जिसमें कई धाराओं का सङ्गम है। वे एक आस्थावान व्यक्ति हैं, जिनकी प्रथम आस्था जीवन के प्रति है। इस मूल आस्था में ही उनके जीवन की विविध प्रवृत्तियों को प्रेरणा प्राप्त होती है। जीवन के प्रति, उसके विविध रूपों में व्यक्त होने वाली गरिमा और महिमा के प्रति उनका सहज अनुराग है। अपने व्यक्तित्व के विविध आयामों का सम्यक् रूप से विकास करते हुए उन्होंने समृद्ध और सन्तुलित जीवन जीने का प्रयास किया है। एक रसग्राही आलोचक, भावविदग्ध कवि, स्वतन्त्रचेता निबन्धकार, चिन्तनशील अध्यापक और कुशल प्रशासक के रूप में उन्होंने अपने व्यक्तित्व के जिन विविध पक्षों का अभिव्यंजन किया है, उनमें परस्पर अन्तर्विरोध नहीं, एक आन्तरिक सामञ्जस्य है। डॉ० सहल अध्ययन, चिन्तन और लेखन को स्वतःसिद्ध नहीं मानते, उनके लिए इन बौद्धिक और मानसिक प्रवृत्तियों का महत्त्व जीवन को लेकर ही है। यही कारण है कि साहित्य उनकी दृष्टि में कोरा कल्पना-व्यापार या बौद्धिक विजृम्भण नहीं है। साहित्य का आलोचन और विवेचन उन्होंने जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में ही किया है और उनका चिन्तन जीवन के मूलाधार को छोड़कर अमूर्तता की दिक्-दाशाओं में प्रचलित नहीं होता है। व्यक्ति का जीवन केवल अध्ययन, चिन्तन और लेखन तक ही सीमित नहीं है, उसमें लोक-व्यवहार का भी एक अपरिहार्य अंश सदा विद्यमान रहता है। अपनी इसी मान्यता के कारण डॉ० सहल अपने जीवन में प्रशासकीय दायित्वों को भी सफलतापूर्वक संभालने से कभी पराङ्मुख नहीं हुए हैं।

आलोचक के रूप में डॉ० सहल का उदय 'साहित्य सन्देश' के पृष्ठों पर हुआ था। आज 'साहित्य सन्देश' भले ही विस्मृति के उदधि का एक गह्वर बना हो,

परन्तु हिन्दी आलोचना-जगत को डॉ० सत्येन्द्र, डॉ० नगेन्द्र और डॉ० कन्हैयालाल सहल आदि कई लब्ध-प्रतिष्ठ आलोचकों को प्रविष्ट कराने का श्रेय इसी पत्र को है। अपने प्रारम्भिक निबन्धों के द्वारा ही डॉ० सहल ने हिन्दी जगत का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था। उनके समीक्षात्मक निबन्धों का प्रथम सकलन समीक्षाञ्जलि के नाम से प्रकाशित हुआ था, जिसमें पूर्वीय और पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त गुंजन और बापू आदि कृतियों का विशद विवेचन किया गया था। साहित्य-सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए डॉ० सहल की नीर-क्षीर-विवेकी दृष्टि प्राचीन और अर्वाचीन तथा पूर्वीय एव पाश्चात्य की सीमा–रेखाओं में नहीं उलझती। अगर पाश्चात्य मनोविज्ञान के सिद्धान्त कृति एवं कृतिकार की अन्तःप्रेरणाओं और रचना-प्रक्रिया को समझने में सहायक होते हैं, तो डॉ० सहल उनको प्रयोग करने में रंच मात्र भी सकोच नहीं करते। पूर्वीय सिद्धान्तों की व्याख्या करने में भी आपने गतानुगतिकता का परिचय नहीं दिया है। उनके निकट, आलोचना का उपयोग साहित्य के सम्यक् अनुशीलन मे सहायक होना है और साहित्य स्वय जीवन के सरल किन्तु चिरगूढ़ सत्यों को समझने और समझाने का एक प्रयास मात्र है। इसलिए डॉ० सहल का साहित्यालोचन शुष्क शास्त्रीयता और पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त एक स्वतंत्र और मौलिक प्रक्रिया है। इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान और अन्य शास्त्रों के द्वारा साहित्य पर अगर कोई विशेष प्रकाश पड़ता है, तो उनका ग्रहण स्वीकार करने के लिए भी आप चिरतत्पर रहते हैं।

साहित्यालोचन के क्षेत्र में डॉ० सहल का प्रदेय विविध रूपों में है। उन्होंने हिन्दी साहित्य के साथ ही राजस्थानी के लोक-साहित्य का भी आधिकारिक रूप से विवेचन किया है। राजस्थानी कहावतें आपके साहित्यिक शोध का प्रमुख विषय रही हैं। कविवर सूर्यमल्ल मिश्रण के अमर काव्य वीर सतसई की भूमिका में आपने राजस्थानी साहित्यिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए उक्त काव्य का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। राजस्थानी लोक-कथाओं का एक सकलन चौबोली नाम से श्री पतराम गौड़ के साथ सम्पादित कर प्रकाशित कर चुके हैं। राजस्थानी साहित्य का आपने जो गहन अध्ययन किया है, उसका प्रस्तुतीकरण अभी तक नहीं हो सका है। भविष्य में, राजस्थानी साहित्य-प्रेमी आप से अगर इस दिशा में विशेष रूप से अग्रसर होने की आशा करते हों, तो यह स्वाभाविक ही है। हिन्दी की आधुनिक कविता आपकी विशेष रूप से विवेच्य रही है। कविवर सुमित्रानन्दन पंत, सियाराम शरण गुप्त, हरिकृष्ण प्रेमी आदि कवियों का विशेष अध्ययन प्रस्तुत करने के अतिरिक्त आधुनिक खड़ी बोली के प्रमुख प्रबन्ध काव्यों—'साकेत' और 'कामायनी' 'प्रमायनी' पर आपके स्वतंत्र ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। "साकेत के नवम् सर्ग का

काव्य वैभव" की पाण्डुलिपि पढ़ कर साकेतकार श्री मैथिलीशरण गुप्त ने स्वयं उसे प्रकाशित करने का संकल्प व्यक्त किया था।

डॉ० सहल ने साहित्यालोचन-सम्बन्धी निबन्धों के अतिरिक्त कुछ वैयक्तिक निबन्ध भी लिखे हैं। आपके वैयक्तिक निबन्धों में एक गम्भीर चिन्तनशील व्यक्तित्व का साक्षात्कार होता है। जीवन के अपेक्षाकृत प्रसन्न और अगम्भीर क्षणों में लिखे गए 'बूढ़े बच्चे' जैसे निबन्ध विशेष रूप से आस्वाद्य हैं, जिनमें मधुर हास्य और हलके व्यंग्य के साथ जीवन की प्रच्छन्न वास्तविकताओं को उद्घाटित किया गया है। डॉ० सहल में हास्य का एक तीखा 'मर्म' है और उनसे यह आशा की जा सकती है कि वे अपने और दूसरों पर हसने-हसाने वाले वैयक्तिक निबन्धों के लेखन की ओर विशेष रूप से प्रवृत्त हों। राजस्थान की सांस्कृतिक परम्पराओं और जन-जीवन से सम्बन्धित निबन्धों की संख्या कहीं अधिक है और उनमें राजस्थान के साथ अपने घनिष्ठ परिचय के आधार पर डॉ० सहल कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों को प्रकट करने में सफल हुए हैं। कतिपय निबन्धों का सम्बन्ध चिकित्सात्मक मनोविज्ञान और व्यावहारिक अध्यात्म से भी है। आपके निबन्ध चाहे किसी भी कोटि के क्यों न हों, उनमें एक प्रकार की सहजता और सुबोधता अवश्य पाई जाती है। जटिल से जटिल विषय का आप सरल से सरल प्रतिपादन करने का प्रयास करते हैं। विचार-प्रतिपादन में एक तार्किक क्रम और सङ्गति होती है, यदा-कदा उदाहरणों के द्वारा भी अपने वक्तव्य का स्पष्टीकरण करते चलते हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक बार कहा था कि "एक सहज व्यक्ति ही सहज साहित्य की सृष्टि कर सकता है।" डॉ० सहल के निबन्ध इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं।

काव्य-सृजन डॉ० सहल के जीवन में केवल प्रासंगिक महत्त्व रखता है। कृती कवियों के काव्य का रसास्वादन करते-करते डॉ० सहल की सरस्वती कब मुखरित हो गई, यह स्वयं उनके लिए भी एक सुखद आश्चर्य का विषय रहा होगा। जिस प्रकार एक विशाल भूधर की ऊँचाई पर कुछ हरित तृण अनायास प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार आपके बौद्धिक और चिन्तनशील व्यक्तित्व की सरल और प्रसन्न भाव-रेखाएँ कविता की पंक्तियों में अङ्कित हो गई हैं। स्वभावतः ये कविताएं राग-प्रधान नहीं हैं, उनमें भावनाओं का तीव्र उद्वेलन नहीं है और अभिव्यंजन में भी निर्बन्ध आवेग का अभाव है। भावनाओं की लघु-लघु ऊर्मियां हरी दूब पर शबनम की तरह अपनी ही सजलता में झिलमिलाती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। इन 'क्षणों के धागे' में अनुभूति से अधिक जीवन के अनुभवों को वाणी दी गई है। बौद्धिकता का एक बारीक तार सभी कविताओं में पिरोया हुआ है, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि डॉ० सहल की कविताएँ ज्ञान-गरिष्ठ हैं या उनमें भावना का

उष्ण स्पन्दन नहीं है। हाँ, भावना पर बुद्धि का अनुशासन अवश्य है, जो कवि को न भावावेग में बहने देता है और न बहकने देता है। सम्भवतः डॉ० सहल ने अपने अध्ययन, अध्यापन और लेखन की विश्रान्ति को इन लघु-लघु कविताओं में बिखराना चाहा है।

डॉ० सहल ने अध्यापन को केवल व्यवसाय के रूप में ही ग्रहण नहीं किया है, उनका अध्ययन, चिन्तन और लेखन मूलतः अध्यापन का अनुवर्ती रहा है। अध्यापन उनका जीवन-कर्म ही नहीं, जीवन-धर्म भी रहा है। एक निष्ठावान् अध्यापक अपने विद्यार्थियों को कुछ घिसी-पिटी बातें बतलाकर कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। डॉ० सहल ने अपने विद्यार्थियों को नये-नये मोती लाकर देने के लिए ही ज्ञान के समुद्र में गहरी से गहरी डुबकियाँ लगाई। केवल हिन्दी की विद्वत्ता से ही सन्तुष्ट न होकर संस्कृत एवं अंग्रेजी साहित्य का भी गहन अध्ययन किया। हिन्दी काव्य का अध्यापन करते हुए भी उनकी दृष्टि विश्व-काव्य पर केन्द्रित रहती है। उर्दू, अंग्रेजी और संस्कृत के समानान्तर उद्धरणों के द्वारा वे विद्यार्थियों को भी अन्य भाषाओं के अध्ययन की ओर आकृष्ट करते हैं। उनके अध्यापन की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि वे अपने निर्णयों को विद्यार्थियों पर लादते नहीं हैं, प्रत्युत विद्यार्थियों को स्वतन्त्र निर्णय लेने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। वे विद्यार्थियों के सम्मुख केवल अपना निर्णय ही नहीं प्रस्तुत करते हैं, उस निर्णय तक पहुँचने की पूरी प्रक्रिया भी प्रस्तुत कर देते हैं। एक रिसर्च गाइड के रूप में भी डॉ० सहल का यही दृष्टिकोण रहा है। वे अपने शोध-छात्रों को अपने स्वतन्त्र मत का प्रतिपादन करने के लिए प्रेरित करते हैं, भले ही उनका मत अपने घोषित मत के प्रतिकूल ही क्यों न पड़ता हो। डॉ० सहल भारत की एक प्रमुख शिक्षण संस्था—बिड़ला आर्ट्स कॉलिज में प्रायः २५ वर्षों तक हिन्दी-संस्कृत विभाग के अध्यक्ष रहे हैं। मुझे भी तीन वर्ष तक उनके तत्वावधान में कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे अपने सहयोगियों से भी यही अपेक्षा करते हैं कि वे अध्यापन को अपना मिशन समझ कर कार्य करें।

पिलानी के साथ डॉ० सहल का नाम घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हो गया है। साहित्य-जगत् में डॉ० सहल ही पिलानी के विद्याविहार के पर्याय बन गए हैं। प्रायः पच्चीस वर्षों में सहस्रों विद्यार्थी आपके घनिष्ठ सम्पर्क में आए और आज उनमें से अनेक उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित हैं। मैं पिलानी में देखता था कि उनके अनेक भूतपूर्व विद्यार्थी केवल उनका आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए ही पिलानी आते थे। अपने विद्यार्थियों के प्रति डॉ० सहल का वैसा ही सहज स्नेह है, जैसा विद्यार्थियों का डॉ० सहल के प्रति सहज समादर। आपने विद्यार्थियों की भावयित्री प्रतिभा को

ही विकसित करने का प्रयास नहीं किया, उनकी कारयित्री प्रतिभा को भी प्रेरित और प्रोत्साहित करने के लिए सदा सचेष्ट रहे हैं। पिलानी के विद्यार्थी जीवन में ही अनेक प्रतिभाओं ने अपनी पहली उड़ान लेनी प्रारम्भ कर दी थी। क्या आश्चर्य है कि आपके भूतपूर्व विद्यार्थियों में से आज अनेक उच्चकोटि के कवि, कहानीकार, आलोचक और विचारक हैं।

प्राय: अध्ययनशील व्यक्ति प्रशासकीय दायित्वों से कोसों दूर रहते हैं। डॉ० सहल इसे एक प्रकार की कायरता और उत्तरदायित्व-हीनता मानते हैं। उन्होंने समय-समय पर प्रशासकीय दायित्वों को न केवल स्वीकार किया है, बल्कि उनका सफल निर्वाह भी किया है। सन् १९६४ में पिलानी नगर पालिका से विद्या विहार का पृथक्करण कर पिलानी में दो नगरपालिकाएँ स्थापित कर दी गई थीं। इससे पिलानी के नागरिक काफी क्षुब्ध हुए थे। शहर में विशाल वटवृक्ष की छाया में प्रायः प्रति संध्या को विरोध-सभाएँ आयोजित की जाती थीं। इस विक्षुब्ध वातावरण में डॉ० सहल को पिलानी नगरपालिका का अध्यक्ष मनोनीत किया गया। वे स्वयं जानते थे कि यह 'काँटों का ताज' पहनाया गया है, परन्तु काँटों की चुनौती को वे अस्वीकार नहीं कर सके। मैंने अनुभव किया है कि डॉ० सहल ने स्वयं निरुद्विग्न रह कर दूसरों के उद्वेग को भी शान्त कर दिया। क्रमशः जब विरोधियों ने यह अनुभव किया कि आप किसी के इंगित से परिचालित नहीं हो रहे हैं और न्याय-बुद्धि से कार्य करने का प्रयास कर रहे हैं, तो सारा विरोध शान्त हो गया। उस वातावरण में अपने मानसिक सन्तुलन को स्थिर रखना दुःसाध्य था और इस बात की पूरी आशंका थी कि एक पक्ष ही नहीं, दोनों पक्षों की गलतफहमी का शिकार बनना पड़ सकता है। डॉ० सहल की प्रशासकीय योग्यता का यह प्रमाण है कि उन्होंने बिना डगमगाए हुए तलवार की धार पर चलकर दिखला दिया। अन्ततः, दोनों ही पक्ष आपकी सदाशयता और निष्पक्षता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके।

सम्प्रति डॉ० सहल बिड़ला एजूकेशन ट्रस्ट के सेक्रेटरी हैं। पद्मश्री शुकदेव पाण्डे का गौरवपूर्ण उत्तराधिकार उन्हें प्राप्त हुआ है। आपकी प्रशासकीय क्षमता से परिचित होने के कारण मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप इस पद के गौरव को और भी अभिवृद्धि करेंगे। भारत के विभिन्न प्रदेशों में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में 'ट्रस्ट' ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। अनेक शिक्षण-संस्थाएं इस 'ट्रस्ट' के द्वारा सञ्चालित होती हैं। इस महत्त्वपूर्ण पद पर कार्य करते हुए डॉ० सहल उच्च शिक्षा के प्रचार-प्रसार में अपना स्पृहणीय योग-दान कर सकते हैं। परन्तु, मेरे मन में एक लम्बा प्रश्नचिह्न भी लगा हुआ है—क्या आलोचक-प्रवर डॉ० सहल अब अपनी व्यापक साहित्यिक गति-विधियों से अलग हटकर केवल प्रशासन ही करते रहेंगे? क्या कविता

और निबन्धों के स्थान पर वे फाइलो पर हस्ताक्षर ही किया करेंगे ? मैं अपने को आश्वस्त करता हूं कि ऐसा नही होगा । डॉ० सहल के जीवन में अध्ययन-आहार की भांति अपरिहार्य है । अद्युनातन ग्रंथो और पत्र–पत्रिकाओ को पढे बिना वे कदापि नही रह सकेंगे । जब वे अध्यापन करते थे तो वह भी आत्माभिव्यक्ति का एक माध्यम था । लेकिन, अब अध्यापन स्थगित होने के बाद केवल लेखन के द्वारा ही वे अपने आपको अभिव्यक्त कर पाएँगे । इसलिए हमे आशा करनी चाहिए कि वे भविष्य मे अधिकतर और श्रेष्ठतर ग्रंथो की रचना करेंगे और हम यह कह सकेंगे कि अब तक उन्होने जो कुछ लिखा है, वह तो उनके वास्तविक लेखन की तैयारी ही थी । स्वस्थ-तन और स्वस्थ मन डॉ० सहल हमारी इस शुभाकांक्षा को चरितार्थ करने के लिए शतवर्षों तक जीवित रहे और अपने बहु-मुखी व्यक्तित्व मे नये–नये आयाम जोडते रहे, यही मेरी मङ्गल-कामना है ।

□□□

मै नही जानता था कि आप इतने उच्च कोटि के कवि भी है और आपकी Sensibility (अनुभूति प्रवणता) इतनी modern है·········आपकी कविता मे बडी चोट है और आपकी अभिव्यक्ति में बडी स्वाभाविक प्रेरणा और परिणति है ।········ आपने एक नये विद्रोह का सूत्रपात किया है और प्रयोगवाद का अभिनव रूप ।

डॉ० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

महागुरु और अप्रतिम साहित्य-साधक

• डॉ० एल० डी० जोशी

डॉ० कन्हैयालाल सहल एक चलती-फिरती संस्था के समान हैं। उनका व्यक्तित्व आज एक ऐसे स्रोत के समान है जिसमें से अनेक जल-प्रवाहों का उद्गम हुआ है या एक ऐसे वटवृक्ष के समान हैं जिसमें से अनेक शाखा-प्रशाखाएं प्रस्फुटित हुई हैं। सौम्यमूर्ति डॉ० सहल का मानवतावादी दृष्टिकोण विशेष द्रष्टव्य है। उनकी महानुभूति, दूरदर्शिता तथा परिश्रमशीलता ने अनेक विद्वानों तथा व्यक्तित्वों का निर्माण किया है। इनके व्यक्तित्व में से अनेक व्यक्तित्व बनकर बाहर आये हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। डॉ० साहब के मार्ग-दर्शन में अनेक अध्ययनशील युवक शोध के द्वारा न केवल पंडित (पी-एच० डी०) ही बने हैं, अपितु उनकी दृष्टि को ऐसी सूझ मिली है कि उन्होंने भी अनेक पंडित पैदा किये हैं। डॉ० सहल कई पीढ़ियों के गुरु हैं और इसीलिए तो मैं उन्हें संस्था के रूप में देखता हूँ। वे स्वयं एक गुरुकुल या आश्रम के समान हैं जिनमें से आज अनेक विद्वान उत्पन्न होकर माँ सरस्वती का भण्डार भरने में सक्षम हैं। डॉ० सहल एक ऐसे मनिष्ठ, तपे हुए विद्वान हैं कि उनके विद्वान शिष्यों के नेतृत्व में विद्वान बनकर विद्यार्थी बाहर आ रहे हैं। विद्या नगर के मेरे एक मित्र तथा विद्वान प्रोफेसर (भूतपूर्व) डॉ० ओमानंद सारस्वत जिन्होंने डॉ० सहल साहब के मार्ग-दर्शन में ही शोध करके पी-एच. डी. प्राप्त की है) के मार्ग-दर्शन में गुजरात के अनेक उदीयमान युवक अध्यापक सुन्दर शोध-कार्य के उपरांत प्रगतिशील तथा नये विचारों को व्यक्त करने वाली लेखन-प्रवृत्ति में रत हैं। इन सब गुरु-शिष्यों को महागुरु डॉ० सहल का आशीर्वाद ही नहीं, उनकी दी हुई दृष्टि कार्य करा रही है, ऐसा मैं देख रहा हूँ। राजस्थान के पिलानी स्थान में वर्षों से साधना कर डॉ० साहब ने जो कार्य

मूल रूप में किया है, उनकी धाराएँ गुजरात और समग्र देश में किस प्रकार विकसित हुई हैं, यह कहना ही मेरा अभीष्ट है। डॉ० साहब की सेवा-निष्ठा तथा सरस्वती की साधना—आराधना का सारस्वत-यज्ञ आज फलीभूत हो रहा है, यह परम प्रसन्नता की बात है।

डॉ० सहल की नीर-क्षीर विवेक दृष्टि का मैं कायल हूं। 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य वैभव' जब पहली बार मैंने पढ़ा था, तभी इनकी तटस्थ तथा पूर्वग्रह से मुक्त विवेचन-शक्ति तथा पद्धति का मैं प्रशंसक बना था। उनका अध्ययन, सशोधन, संग्रह, सम्पादन, प्रकाशन तथा विवेचन विशिष्ट रहा है और इनकी निजी सूझ ने शोध-कर्त्ताओं का जो मार्ग-दर्शन किया है, यह उन ग्रंथों को देखने से स्पष्ट विदित होता है। यही सब तो सहल साहब के विशाल व्यक्तित्व का रूप है। राजस्थानी तथा हिन्दी की जो सेवा डॉ० सहल ने की है, वह अपूर्व तथा अद्वितीय है, ऐसा मैं निःसंकोच कह सकता हूँ। 'मरुभारती' के सपादन द्वारा उन्होंने अनेक लेखकों को प्रोत्साहन तथा मार्ग-दर्शन दिया है और अनेक अलभ्य परन्तु उपेक्षित सत्यों तथा मूल्यों को प्रकाश में लाने का पुण्य कार्य किया है। मुझे तो लगता है कि राजस्थान तथा भारत सरकार ने आज तक डॉ० सहल की इस महती सेवा की कोई कदर क्यों नहीं की? हम विद्यार्थियों के डॉ० सहल बुजुर्ग नेता हैं। 'वागड़ी बोली की कहावतें' शीर्षक मेरा लेख डॉ० साहब ने मरुभारती में छापा था, उस सदर्भ मे उनका प्यार-भरा एक पत्र मिला था, जिसे मैंने गर्वपूर्वक कई प्राध्यापकों को पढाया तो सभी प्रसन्न हुए थे। सरकारी स्तर पर डॉ० सहल की चाहे कदर नहीं हुई हो, इन अध्यापकों के मन में इनकी कदर दो दशाब्द से है ही और डॉ० सहल दूसरों की कदर करते हैं यह तो सबसे बडी बात है। डॉ० सहल जैसे कद्रदाँ कम ही होते है। शिक्षक तथा शिक्षा-शास्त्री एवं आचार्य के रूप मे डॉ० सहल का आज एक विशिष्ट स्थान तो है ही परन्तु इनकी काव्य-दृष्टि के कारण तो ये हमारे साहित्य-क्षेत्र मे अमर रहेंगे ही। नई कविता और इससे भी आगे 'अगली कविता' के ये प्रणेता हैं। प्रयोगवाद की कविता, नई कविता, अगली कविता इन सब को नजर में रखकर हिन्दी काव्य-धारा का अवगाहन करने वालों को डॉ० सहल की कविता का अवगाहन करना होगा तथा 'क्षणों के धागे' के परिप्रेक्ष्य मे मूल्यांकन करना होगा।

डॉ० सहल का काव्य उनके प्राचीन काव्यादर्श तथा इनकी नई नजर के निरूपण मे परखना होगा। एक पीढ़ी की प्रगति तथा परिवर्तन के प्रति इनका अभिगम तभी स्पष्ट होगा। देश, काल, परिस्थिति तथा प्रवाह के परिप्रेक्ष्य मे सहल का कवि सतत चिन्तन, विचार, विवेचन, अनुभूति तथा आगे की नजर मे किस प्रकार

ताने बाने बुनता रहा है, यह देखना ही इनका अध्ययन तथा मूल्यांकन करना है। इनके दृष्टिकोण का अनुशीलन व्यापक फलक पर ही हो सकता है। 'विद्वानेव विजानाति विदुषो विशिष्टताम्' 'कवि: करोति काव्यानि, रस जानति पंडिता' इन सूत्रो के अनुसार डॉ० सहल कवि, विद्वान, पंडित सब कुछ है अतः इनके व्यक्तित्व को परखने के लिए भी ऐसे ही गुणो का होना जरूरी है।

कवि, विवेचक, आलोचक और चिन्तक सभी जब शामिल होते है, तब व्यक्तित्व का विवेचन करना कुछ कठिन बन जाता है, परन्तु डॉ० सहल के व्यक्तित्व के पहलू इतने स्पष्ट हैं कि कोई कठिनाई मालूम नही होती है। डॉ० सहल का चिन्तक, समीक्षक, शिक्षक और शिक्षा-शास्त्री, प्रशासक तथा समाज सेवी और सबसे बढ़कर कवि एवं भाषावैज्ञानिक का स्वरूप—इनके निबधो मे देख सकते है। उनमे भाषा, शैली, वस्तु-विवेचन, गाभीर्य, व्यग्य, कटाक्ष, सस्कारिता तथा दूरदर्शिता आदि दिखाई देते है। मानववादिता मुखरित करने वाले इनके निबध हमारी परम्परा तथा सस्कृति आदि तत्त्व के सर्वथा अनुरूप है। इनके निबंधो में गवेषणात्मकता खास देखने की बात है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी वाला रूप इनमे मै देखता हूँ। इनकी दृष्टि, शैली, सभी मे गभीरता, परम्परा, सस्कृति, साहित्य-लालित्य तथा सरलता, व्यग्य तथा हास्य का अद्भुत मेल मिलता है। एक मूर्धन्य मनीषी के ही बूते की ये बातें हैं, सामान्य लेखक का काम नहीं।

हिन्दी, हिन्दी-साहित्य तथा लोक-साहित्य के क्षेत्र मे डॉ० सहल का जो अनुदान है, वह कोई छोटी चीज नही है। कहावतें हो या प्रसाद साहित्य हो, भाषा की गवेषणा हो या विचार-प्रधान निबध हो, आलोचना हो या काव्य हो, सभी पर समान काबू (पकड़) के साथ कलम चलाना 'कन्हैयालाल' का ही काम है। भाषा-वैज्ञानिक उपलब्धियाँ, लोक-साहित्य को प्राप्ति-प्रसिद्धि, पत्रकारिता की कला, आलोचना की सिद्धि और समीक्षा की नई पद्धतियाँ और काव्य मे परम्परा तथा प्रगति का मेल—यह सब डॉ० सहल के विशिष्ट व्यक्तित्व के सिवाय अन्य मे सभव नही, ऐसा मेरा नम्र मत है। इन सब क्षेत्रो पर इनका अधिकार मैंने अनुभव किया है, इसीलिए तो मै इन्हे 'महागुरु' विशेषण से विभूषित करता हूं।

काव्य, निबध, समीक्षा, भाषा-विज्ञान, लोक-साहित्य के क्षेत्रो के अलावा शिक्षक-गुरु, शिक्षा-शास्त्री तथा मार्ग-दर्शक (Guide) सशोधक, सपादक, प्रशासक, उपासक तथा समाज-सेवी के रूप म डॉ० सहल की सेवाए चिरस्मरणीय रहेगी। 'राजस्थानी कहावतें – एक अध्ययन' डॉ० सहल की विशिष्ट देन है। मैने भी इस क्षेत्र मे (वागड का लोक-साहित्य) कुछ काम किया है, अतः मै इसका प्रशंसक हूँ। लोक-कथाओ तथा वीर गाथाओ पर इन्होंने लिखकर अन्य शोधको का मार्ग-दर्शन किया है। इनकी

जाते हैं जहाँ पर उनका अध्ययन शुरू हो जाता है। मुझे लगता है—मां का यह कहना कि पिताजी, हमारे नहीं बाहर वालों के हैं, सही है। यह शिकायत तो मां को उनकी व्यस्तता के कारण हमेशा बनी रहेगी।

यद्यपि पिताजी बहुत व्यस्त हैं, गंभीर हैं पर उनके चेहरे पर कभी झुंझलाहट या चिड़चिड़ेपन की रेखा तक नहीं उभरती। हमेशा उनका चेहरा सौम्य व शांत रहता है। यदि यह कहा जाए कि चेहरे पर एक स्वाभाविक मुस्कान रहती है तो कोई गलत बात न होगी। आज भी जब वे ऑफिस से आते हैं तो जो भी उन्हें सामने दिखता है, उससे मुस्करा कर पूछते हैं 'क्यों, क्या हाल है?' कहने का अर्थ यह है कि ऑफिस में से थके-मांदे आने पर भी कभी उनके माथे पर एक शिकन तक नहीं रहती।

पिताजी से बातें तो बहुत सीखीं पर जिन्हें मैंने अपने जीवन में उतारने का भरसक प्रयत्न किया है, वे दो हैं—आत्मनिर्भर बनना और किसी से किसी भी बात की आशा न करना। वे कहा करते हैं 'तुम स्वयं में इतनी शक्ति पैदा करो कि तुम स्वयं ही कुछ उपार्जन कर सको जिससे किसी के समक्ष हाथ न फैलाना पड़े'। यह बात मैंने ही अपने जीवन में नहीं उतारी, मेरे चारों भाइयों का भी यही दृष्टिकोण बन गया है। आज वे किसी से यह आशा नहीं रखते कि कोई व्यक्ति उनका कुछ कार्य करेगा।

पिताजी बहुत ही सहनशील हैं—इतने कि जिसके लिए शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। बहुत ही कम व्यक्ति इतने सहनशील होते हैं। मेरे होश संभालने के बाद इनके जीवन में इतनी घटनाएं घटी हैं कि यदि साधारण व्यक्ति होता तो ज्वालामुखी की तरह फूट पड़ता। पर ये तो असाधारण प्रवृत्ति वाले हैं ना। अतः ऐसे समय में भी शांत ही बने रहे। इन्होंने बहुत से लोगों के लिए बहुत कुछ किया पर प्रतिदान में इन्हें उतना कुछ क्या, उसका सुई की नोक के बराबर का अंश भी नहीं मिला पर ऐसे व्यक्तियों के प्रति भी उनके मन में कभी भी बुरी भावना नहीं आई। दुश्मन का भी बुरा हो, यह इन्होंने कभी नहीं चाहा। यह मैं महज इसीलिए नहीं लिख रही कि वे मेरे पिताजी हैं बल्कि सचमुच उन्होंने किसी का बुरा नहीं चाहा। ऐसा लगता है मानो पिताजी इन सबसे दूर उसी प्रकार निर्लिप्त रहते हैं जिस प्रकार कमल पानी में रह कर भी पानी से ऊपर रहता है। पिताजी ने कभी भी इन बातों को तूल नहीं दिया पर इसके साथ ही एक अजीब-सी बात होते भी मैंने स्वयं ने देखी है कि जिस भी व्यक्ति ने पिताजी का अपमान करना चाहा है, वह स्वतः दैविक कोप से आक्रान्त हुआ है। नहीं कहा जा सकता कि यह मां दुर्गा की देन है या मेरी मां की पूजा का फल?

रात ६ बजते ही पिताजी बिस्तर पर चले जाते हैं और सुबह जल्दी ही उठ जाते हैं। शाम को नियमित रूप से भ्रमण के लिए जाते ही हैं। पिताजी दोनों

की सफाई पर बहुत ही जोर देते है। एक घटना अनायास ही याद आ जाती है कि मेरे भाई डॉ० कृष्णबिहारी ने एक चित्रकार से पिताजी की तस्वीर बनवाई। उसमे दाँतो पर चमकीलापन न होकर कुछ कालापन-सा था। पिताजी ने देखते ही कहा कि यह क्या ! इसमे तो मेरे दाँत ही काले कर दिये। हम सब यह सुनकर बहुत हँसे, फिर तो वे स्वयं भी हँस पडे पर आज भी वह बात जब याद आती है तो होठो पर अनायास ही मुस्कान उभर आती है।

पिताजी सब कुछ सह लेते है पर रात की नीद हराम हो, वे सहन नही कर सकते। गर्मी मे कितनी ही बार उठकर तो मच्छरदानी मे फ्लिट छिडकते हैं। फिर भी एकाध मच्छर पिताजी की मच्छरदानी मे से निकलते या घुसते उसमे घुस जाए और उन्हे काट खाए तो कितनी ही देर तक उसी का भ्रम लिए रहते है या जब बहुत ही परेशान हो जाते हैं तो मच्छर की गुनगुन मे गीतो की लय का आभास पा कह देते हैं कि यह गा रहा है।

तू भी सो जा सो गया चमन चमन

आखिर साहित्यकार ठहरे ना, तो मच्छर की आवाज मे भी लय ढूंढ ही लेते है।

पिताजी के बारे मे और क्या लिखू ? इतना ही कहना पर्याप्त है कि ऐसे देवता-तुल्य पिता बहुत ही कम लोगो के नसीब मे होते हैं।

यदि इनके जीवन के बारे मे कुछ कहा जा सकता है तो केवल इतना ही कि ये समुद्र की भाति विशाल व गंभीर है। जिस प्रकार एक समुद्र के जल की गहराई मे कितने ही जीव-जन्तु आश्रय पाते है, पनपते है और चल देते हैं, उसी प्रकार पिताजी के ज्ञान मे कितने ही व्यक्तियो ने जीवन पाया है, रोजी पाई है, जीवन-क्षेत्र मे सफलता के सोपान पर चढना सीखा है। पर जिस तरह समुद्र किसी से बदले की चाह नही रखता, आशा नही रखता, वह यह ध्यान ही नही देता कि कौन-सा जीव आ रहा है या जा रहा है, ठीक वैसे ही पिताजी ने कभी भी यह नही सोचा कि जो व्यक्ति उनके आश्रय मे पनप रहा है, वह कल उन्हे क्या देगा। बस वे तो अपना कर्म करते है, सागर की-सी गरिमा लिए अपने कर्त्तव्यपथ पर निरन्तर चलते जा रहे हैं।

●●

एक प्रेरक और स्वस्थ व्यक्तित्व

• डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल 'तरुण'

पुष्प के पूर्ण विकास के साथ उसका मधु-किञ्जल्क व उन्मादकर सौरभ उसके प्रति भावुक सहृदयों के मन में सहज आकर्षण उत्पन्न करते ही हैं। प्रतिभा-सम्पन्न व सहृदय विद्वान् की नियति भी उससे भिन्न क्यों हो? प्रजातांत्रिक युग में तो प्रत्येक पुष्प की तरह प्रत्येक प्रतिभा अपने विकास के चरम बिन्दु पर अर्चना-स्तवन व अभ्यर्थना की सहज अधिकारिणी हो, यह परम आवश्यक है और स्वाभाविक भी। अभिनंदन किसी विशिष्ट, महामहिम, असाधारण का ही विशेषाधिकार या बपौती नहीं, जीवन की परिणति पर विविध रूपों में यह तो प्रत्येक का सहजाधिकार है। फिर सहृदय विद्वान् की तो बात ही क्या! जीवन की परिप्लुति को विज्ञित करने वाले एक मुखर, प्रकाशगर्भ, रस-सान्द्र, चरम क्षण की अनुभूति का आनन्द-भोग इस मर्त्य-जगत् में मानव की गौरवमय नियति का वाचक ही कहा जायगा। स्नेही, प्रशंसक, मित्र व बन्धु-बान्धव इस चरम आनन्द के क्षण की अनुभूति, अभिनन्दनीय के आजीवन श्रम व निष्ठापूर्ण कृतित्व के पुरस्कार-स्वरूप, कृतज्ञता-स्वरूप या आभार-स्वरूप सुलभ करें, यह सर्वथा उचित है। व्यक्ति के अभिनंदन को विशेषतः प्रजातंत्र के युग में—मैं इसी दृष्टि से देखता हूँ। विकसित पुष्प, पराग की चहल-पहल, रसार्द्र पुष्प-गर्भ और चतुर्दिक भ्रमर-भीर—बस इसी का प्रतिरूप हो सहृदय विद्वान् का अभिनंदन। नेत्र तृप्त हों प्रतिभा की पूजा के क्षण।

मेरे पिलानी के अध्ययन-काल (१९३७-३९ ई०) में आदरणीय प्रो० सूर्यकरणजी पारीक का मुझे बहुमूल्य सम्पर्क-लाभ हुआ था। वे स्मृतियाँ कितनी मधुर हैं! पर शोक, उन्हीं दिनों पारीक जी प्रकाश-लीन हो गये। सहल जी का नाम उन दिनों सुनते रहते थे हम लोग, पर वे पिलानी से बाहर अन्यत्र कहीं अध्ययन या अध्यापन-कार्य कर रहे थे। इण्टर की परीक्षा देकर पिलानी छोड़ने के बाद सुना कि सहल जी की नियुक्ति बिड़ला कॉलेज में हो गई है। बहुत प्रसन्नता हुई। साथ ही

उनसे मिलने की इच्छा भी प्रबल हुई। 'साहित्य-सन्देश' (आगरा) में उनके कई लेख भी मैं पढ़ता आ रहा था, ऐसा कुछ याद पड़ता है—'साहित्य-सन्देश' सन् '३७ में निकलने लगा था, जब मैंने इन्दौर से मैट्रिक की परीक्षा दी थी। हाँ तो सन् '४४ में मुझे पिलानी जाने का एक सुखद संयोग मिल ही गया और तब मैं आदरणीय सहल जी से मिलने गया। कॉलेज के स्टाफ रूम में उनसे भेंट हुई—उस समय वे क्लास लेने जा रहे थे। सुपुष्ट देह, प्रसन्न-प्रवाही सहज व्यवहार, उन्मुक्त भाव—व्यक्तित्व खुलासा-सा लगा। सफेद सूट पहने थे शायद, बन्द गले वाला कोट था, मन हुआ फिर से मिलने का। हाँ, याद आया—मैं एम. ए. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से कर चुका था और संयोगवश मेरे सन्दूक में उस समय एम. ए. की परीक्षा में, आठवें पत्र के विकल्प में प्रस्तुत 'हिन्दी कविता में प्रकृति-चित्रण' नामक लघु प्रबन्ध (Dissertation) की पाण्डुलिपि और मेरी तब तक की प्रायः सभी कविताओं का हस्त-लिखित संग्रह आदि चीजें मेरे साथ ही थी। तब तक मैं पारीक जी के स्थान पर आये सहलजी के प्रति भी अपना समानान्तर सम्मान सुस्थापित-सा कर चुका था, (मैं उस कॉलेज का भूतपूर्व छात्र ही तो ठहरा!), अतः उनके पास विद्यार्थी-भाव से ही उनके घर पहुँचा। मकान के ऊपर से वे नीचे अपने स्वाध्याय-कक्ष में आये। बातचीत हुई। मैंने उक्त, दोनों चीजें उनके अवलोकनार्थ सम्मुख प्रस्तुत की। मुझे उसी दिन शाम को लौटना था। सामग्री उनके पास ही छोड़ जाने में मुझे कुछ संकोच-सा हुआ पर उन्होंने स्वयं ही कहा—मैं शाम को पढ़कर लौटा दूँगा। मुझे आश्चर्य हुआ—लगभग १०० पृष्ठों का प्रबन्ध और इतनी कविताएँ, कैसे देख—पढ़ लेंगे वे शाम तक! और शाम को मैं फिर घर पहुँचा। कहा—मैं आपका पूरा प्रबन्ध पढ़ गया हूँ। बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की और प्रेरणाप्रद शब्द कहे। कविताओं को पढ़कर तो उन्होंने एक पृष्ठ की अपनी सम्मति भी मेरी नोट बुक में लिख दी। आज भी पूरे ३५ वर्ष पुरानी, मेरे जीवन की ऐतिहासिक नोट बुक मेरे पास सुरक्षित है। कितने सहज-प्रवाही, स्वच्छ व सहरों से बहते मोतियों से हस्तलेख में बड़े उदार भाव से उन्होंने लिखा—

"श्री [illegible] के इस संग्रह को मैं रुचिपूर्वक देख गया। कुछ कविताएँ उनके मुख से सुनने का सौभाग्य भी मुझे मिला। आप बड़े सहृदय और भावुक कवि हैं और आपके व्यक्तित्व की छाप आपके काव्य में भी परिलक्षित होती है। कल्पना और अनुभूति का सुन्दर सामञ्जस्य आपकी अधिकांश कविताओं में है। कुछ कविताएँ भावना-प्रधान होने के कारण अत्यन्त मार्मिक बन पड़ी हैं। प्रकृति-वर्णन-सम्बन्धी कविताओं में आपने संश्लिष्ट चित्रण द्वारा जो बिम्ब-ग्रहण कराया है, वह वास्तव में प्रशंसनीय है। छायावादी युग में रहस्यात्मकता के प्राचुर्य के कारण इस प्रकार का प्रकृति-वर्णन उपेक्षित हो गया था। आपने इस प्रकार की कविताएँ [illegible]

एवं प्रभाव को पूरा करती है, वहाँ उनसे आपके प्रकृति-पर्यवेक्षण का भी परिचय मिलता है क्योंकि बिना सम्यक् पर्यवेक्षण के इस प्रकार के चित्र उपस्थित नहीं किये जा सकते। मैं इस उदीयमान कवि के संग्रह को पुस्तकाकार में देखने के लिए उत्सुक हूँ। मुझे आशा है कि आपकी कृतियों से हमारे साहित्य की श्रीवृद्धि होगी।

कन्हैयालाल सहल
२८-८-४४ प्रो० बिड़ला कॉलेज पिलानी

फिर तो सम्बन्ध-सूत्र गुँथते ही चले गए। मुझे उन्होंने कृपापूर्वक अपनी कई रचनाएँ छपते ही भेजी—'समीक्षाञ्जलि', 'आलोचना के पथ पर', 'प्रयोग' आदि। मेरे अल्प-विनम्र प्रयास भी जब-जब प्रकाशित होते, उनके पास पहुँचते, स्वेच्छा से वे उन्मुक्त भाव से उन पर अपना प्रेरक अभिमत भी भेजने की यदा-कदा कृपा करते। बिड़ला कॉलेज की पत्रिका के लिए उन्होंने मुझसे एक लेख भी मँगवाया था। 'पिलानी के वे दिन' नामक मेरा लेख उन्होंने छापा भी।

सम्भवतः सन् ५० या ५१ में एक बार बीकानेर में अनायास ही फिर उनसे भेंट हो गई। जहाँ मैं ठहरा था (जेल के कुएँ के पास), उस स्थान के पास ही उनका आवास था। तब तक मेरी 'प्रथम किरण' (सन् १९४९ में प्रकाशित) छप चुकी थी। उस पर उन्होंने अपना स्नेह बिखराया और मुझे याद है कि विस्तार से उन्होंने एक लेख-रूप में अपने विचार भी व्यक्त किये थे।

सम्भवतः तीन वर्ष पूर्व (५-६ नवम्बर, १९६७) आचार्य डॉ० नगेन्द्र जी, डॉ० स्नातक जी तथा मैं—तीनों पिलानी एक विशेष आयोजन पर पहुँचे थे। डॉ० सहल जी का उन्मुक्त भाव तब और भी देखने को मिला। भोजन की मेज पर हम सब की न जाने किन-किन विषयों पर बातें चलीं। स्वास्थ्य की चर्चा केन्द्र पर आ गई। सहल जी ने अपने सुस्वास्थ्य के कई गुर बताये। प्रभात-भ्रमण और फल खाने की बात का उन्होंने विशेष उल्लेख किया। उन्होंने अपने दाँतों की मजबूती का विशेष इजहार किया। आँतों की बात तो फिर समझ ही लीजिए। डॉक्टर नगेन्द्र जी विशेष प्रभावित हुए जान पड़े। रसशास्त्र के आचार्य ने मुक्तकंठ से कहा—भई, जिसका पेट साफ है, सारा सुख और आनन्द उसी के पास है। (ठीक शब्द तो याद नहीं, पर हाँ यह कथन मूल आशय के निकटतम है) स्नातक जी और मैं, पेट और स्वास्थ्य की बातें ध्यान से सुनने के सिवाय और करते ही क्या! खैर, मेरा तो यह क्षेत्र ही नहीं, स्नातक जी की वे जानें या उनका राम जाने!

हाँ तो इन १॥ दिनों के पिलानी-निवास में हम सहल जी के और निकट हुए। उनके यहाँ के रस गुल्ले मुझे अभी भी याद हैं—और क्या-क्या खाया, यह तो भूल चला।

हाँ, एक बात और कह दूँ। डॉ० सहल जी के अनुज श्री नागरमल जी सहल (जो १९३९ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय बी० ए० में फाइनल की परीक्षा दे रहे थे, मैं प्रीवियस में था) के सान्निध्य के माध्यम से मैं डॉ० सहल जी की सहजता, विद्वत्ता व सहृदयता के प्रति अपना आकर्षण विशेष पुष्ट करता रहा था। 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य वैभव' के विद्वान् लेखक के अनुज श्री नागरमल जी सन् '४४ में एक दिन प्रातः मुझे श्री रायकृष्णदास जी के यहाँ कविवर गुप्तजी से साक्षात्कार के लिए ले गये थे, यह सब कुछ अभी भी कितना साफ याद है। ज्येष्ठ भ्राता के अन्तः संस्कार ही उस दिन प्रातः अनुज (नागरमल जी) में पलुहा उठे थे, जीवन्त हो उठे थे, ऐसा जान पड़ा। लगे हाथों मुझे भी सौभाग्य-लाभ हो गया। उस दिन कविवर गुप्तजी को, २-३ मिनट उनके साथ रह चुकने पर भी, गुप्तजी के रूप में कैसे हमने नहीं चीन्हा, यह चर्चा तो एक स्वतन्त्र ही चीज है। कितने सादे थे वे।

डॉ० सहल जी एक गंभीर अध्येता, निष्ठावान् अध्यापक, प्रौढ समीक्षक, अनेक भाषाओं के विद्वान्, राजस्थानी भाषा और साहित्य के मर्मज्ञ पण्डित व शोधक भावुक कवि, कुशल प्रशासक व हृदयवान् व्यक्ति हैं। अपनी छोटी सीमाओं में, कुछ बिन्दुओं से, भाग-दौड़ के जीवन के क्षणों के बीच व लघु-विस्तृत सम्पर्कों के बीच वे मुझे इतने और इसी रूप में दिखाई पड़े हैं और मैं उनका इतना ही गवाक्ष-दर्शन कर सका हूँ। उन्होंने पिछले चालीस वर्षों में भाषा और साहित्य की गहरी सेवा की है। मैं उनके अभिनंदन के समय अपनी भावभरी प्रणति अर्पित करके हार्दिक आनन्द का अनुभव करता हूँ। वे स्वस्थ-सुखी रहें और साहित्य व समाज की अधिकाधिक सेवा करके हमें प्रेरणा प्रदान करते रहें, यही इस क्षण मेरी मधुरतम कामना है।

□□□

पाठकों, दोनों की ही कमी रही है, ऐसा कार्य सफलतापूर्वक कर लेना तो और भी बड़ी बात है। 'मरु-भारती' यों बिड़ला एजुकेशन ट्रस्ट के राजस्थानी शोध-विभाग की मुख पत्रिका है परन्तु इसके प्रकाशन-सम्पादन के लिए सभी प्रकार से सहलजी को ही प्रयत्नशील रहना पड़ा है, यह भी शायद बहुत कम लोगों को मालूम है। आज से ८-१० वर्ष पहले की बात मुझे याद है। सहलजी इस पत्रिका के अस्तित्व की समस्या को लेकर बड़े चिन्तित हो गए थे। इसकी ग्राहक संख्या इतनी कम हो गई थी कि पत्रिका को चलाना कठिन हो गया। तब उन्होंने अपने व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा मित्रों का सहयोग प्राप्त कर ग्राहक संख्या बढ़ाई और उस स्थिति में से पत्रिका को निकाला। इस कार्य में कुछ हाथ बटाने का अवसर उन्होंने कृपापूर्वक मुझे भी दिया, तब मुझे पता लगा कि सहलजी अपने निजी प्रयत्नों के द्वारा किस प्रकार इस साहित्यिक अनुष्ठान में कृतसंकल्प हैं।

पिलानी ने आजकल विश्वविद्यालय का रूप ले लिया है परन्तु पहले से ही वह एक बड़ा शिक्षण-केन्द्र रहा है। बिड़ला बन्धुओं के प्रभाव से अनेकानेक बड़े व्यक्ति वहाँ आते रहे हैं तथा अनेक प्रकार की सांस्कृतिक गतिविधियाँ भी वहाँ चलती रहती हैं। सहलजी का उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। परन्तु 'मरुभारती' को उन्होंने इन सब गतिविधियों से अलग रखकर, इसके विशुद्ध साहित्यिक स्वरूप की रक्षा की है। यह बात वैसे बड़ी साधारण लगती है, परन्तु है बड़ी कठिन क्योंकि इसमें एक ओर निजी प्रचार के मोह को सर्वथा त्यागना पड़ता है और दूसरी ओर प्रबन्धकों के अनावश्यक हस्तक्षेप से (उन्हें बिना नाराज किए) बचाना पड़ता है।

इस पत्रिका के सम्पादन-कार्य के सिलसिले में उन्होंने राजस्थान की अन्य साहित्यिक पत्रिकाओं से भी निरन्तर जीवन्त सम्पर्क रखा है तथा समय-समय पर उन्हें भी लेख आदि भेजकर व सत्परामर्श देकर मूल्यवान सहयोग दिया है।

सहलजी राजस्थानी और हिन्दी के ही नहीं, संस्कृत और प्राचीन भारतीय संस्कृति के भी गंभीर विद्वान हैं। यह तथ्य उनके कुछ निबंधों से स्वतः प्रमाणित है और तीनों ही विषयों के शोध-विद्यार्थी उनके निर्देशन में कार्य कर चुके हैं। परन्तु इस क्षेत्र में भी उनकी सर्वाधिक देन राजस्थानी साहित्य को है। मुझे भी उनके निर्देशन में 'डिंगल-गीत साहित्य' पर शोध-प्रबन्ध लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अतः इस कार्य के दौरान उनके निकट सान्निध्य का भी सुअवसर मिला। आजकल विश्वविद्यालयीय शोध-कार्य एक फैशन का रूप धारण करता जा रहा है और जो हल्की-फुल्की चीजें, शोध-प्रबंधों के नाम पर प्रचारित हो रही हैं, इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति की बहुत-सी जिम्मेदारी विश्वविद्यालयों के निर्देशकों पर है क्योंकि वे अपने कर्त्तव्य का निर्वाह अपेक्षित जिम्मेदारी और आस्था के साथ नहीं करते। परन्तु डॉ० सहलजी में मैंने एक आदर्श निर्देशक के सभी गुण पाये। वे अपने अधीन शोध-कार्य

करने वाले शोध-विद्यार्थी की पात्रता का पूरा ख्याल रखकर ही उसे अपने निर्देशन में कार्य करने की स्वीकृति देते हैं तथा उसका इस कार्य में पथ-प्रदर्शन ही नहीं करते, उसे पूरी तरह प्रोत्साहित भी करते है। शोध-विद्यार्थी को आज के विकट युग में अनेक परिस्थितियों में होकर निकलना पड़ता है। इस बात को महसूस करते हुए वे उसे हर परिस्थिति में सभालने और निबाहने को तत्पर रहते है। यह कार्य प्रत्येक के बस का नहीं, केवल सहृदयी व्यवहार-कुशल, एवम् उदार व्यक्ति को ही यह श्रेय प्राप्त हो सकता है। शोध-विद्यार्थी से कार्य करवाने का उनका ढग भी बड़ा निराला है। वे कभी भी विद्यार्थी को इस हीन भावना से ग्रस्त नहीं होने देते कि वह अमुक बात नहीं जानता। अपनी ओर से बहुत कुछ देते हुए भी वे शोध-विद्यार्थी का पथ इस प्रकार प्रशस्त करते हैं कि वह स्वयं प्रयत्नशील होकर समस्याका हल ढूंढ निकालने में सफलता प्राप्त कर लेता है। वास्तव में एक आदर्श गाइड की यही तो विशेषता होनी चाहिए। शोध-कार्य के सम्बन्ध में उनका यह पक्का सिद्धान्त है कि शोध-विद्यार्थी को अपनी ओर से पूरा श्रम करके अच्छे से अच्छा कार्य करना चाहिए। इसमें वे किसी का लिहाज भी नहीं करते और अपने विद्यार्थी का शोध-प्रबन्ध स्वीकृत न हो, इसे अपमानजनक समझते है। वे प्रायः कहा करते हैं कि जब तक शोध-विद्यार्थी स्वयं जानता है कि मेरे कार्य में कुछ कमियां हैं, उसे यह आग्रह नहीं करना चाहिए कि उसका प्रबन्ध विश्वविद्यालय को फॉरवर्ड कर दिया जाय और न निर्देशक को पूर्ण सतोष हुए बिना ऐसा करना ही चाहिए।

मैंने उनमें जैसा आत्म, विश्वास पाया-वैसा बहुत कम विद्वानों में मिलेगा। यदि शोध-कार्य सतोषजनक रूप से कर दिया गया है तो वे बड़े विश्वास के साथ अपने विद्यार्थी से कहेंगे—"चाहे कोई परीक्षक हो, उसे यह प्रबंध पास करना पड़ेगा। यदि नहीं करेगा तो किस कारण से ? विचार-भेद हो सकता है परन्तु हमने भी तो सभी बातें सप्रमाण कही हैं, फिर कोई चिन्ता नहीं। कोई परीक्षक हठधर्मी नहीं कर सकता और करेगा तो मैं भी आपत्तियों के निराकरण के लिए सर्वथा तैयार हूं।"

परन्तु यह विचारने की बात है कि यह विश्वास अर्जित करना कितना कठिन है, यह सहलजी जैसे विद्वान ही कर सकते हैं,—जिनके पास लगभग १० हजार पुस्तकों का निजी पुस्तकालय है। अपने घर में उनका वह एक अलग घर है जहां कोई दूसरा व्यक्ति प्रवेश नहीं पा सकता और जो अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गँवाते; पढना और लिखना जिनके जीवन के अनिवार्य अंग हो गये हैं, जो साहित्य-जगत की नवीनतम गतिविधियों से पूर्ण तया परिचित रहने के लिए सैकड़ों रुपयों की पुस्तकें मंगवाकर अपने पुस्तकालय की वृद्धि करने में सतोष का अनुभव करते हैं तथा सरस्वती की सेवा ही जिनके जीवन का सहज लक्ष्य बन गया है।

□□□

बहुमुखी प्रतिभा के धनी

• यशपाल जैन

बन्धुवर कन्हैयालाल सहल के प्रति मेरे हृदय मे बड़ा मान और सम्मान रहा है; इसलिए नही कि उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण सेवा की है, इसलिए भी नही कि उन्होंने साहित्य की अभिवृद्धि में योग दिया है, इसलिए भी नहीं कि वे विद्वान हैं, बल्कि इसलिए कि इन सब गुणो के होते हुए भी उन्हे अभिमान छू तक नही गया है और उनमे ऐसी सरलता और सुजनता है, जो आज के युग मे दुर्लभ है।

सहलजी बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति है। यद्यपि उनका क्षेत्र मुख्यतः शिक्षा रहा है, तथापि मूलतः वे साहित्यकार है, उन्होने साहित्य की अनेक विधाओ को समृद्ध किया है।

आरम्भ से ही वे विद्याव्यसनी रहे हैं: जयपुर से स्नातक होने के उपरान्त वे कानोडिया मिडिल स्कूल, मुकुन्दगढ़ (राज०) के प्रधानाध्यापक बने। पर अध्यापन के साथ-साथ उनका अध्ययन कार्य भी चलता रहा। वही रह कर उन्होंने हिन्दी तथा संस्कृत मे एम. ए. की परीक्षाएँ पास की। अनन्तर वे पिलानी के बिड़ला कॉलेज मे हिन्दी तथा संस्कृत विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। वहीं आर्ट्स कॉलेज की स्थापना होने पर उसके उप-प्राचार्य पद का कार्य-भार सम्हाला। दो वर्ष तक इसी कॉलेज के प्राचार्य पद पर भी उन्होने स्थानापन्न रूप से कार्य किया। अब वे 'बिड़ला शिक्षा न्यास' के सचिव हैं। राजस्थानी कहावतों पर उनका महत्त्वपूर्ण शोधकार्य है।

शिक्षा के क्षेत्र मे, अध्यापन के अतिरिक्त, वे राजस्थान विश्वविद्यालय में [illegible] आर्ट्स', 'सीनेट' तथा 'एकेडेमिक कौंसिल' के सदस्य तथा 'बोर्ड ऑफ [illegible] संयोजक रहे है। राजस्थान साहित्य अकादमी के साथ उनका निकट का

सम्बन्ध रहा है और राजस्थान सरकार ने पाठ्य पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण के लिए जो कमेटी बनाई थी, उसका उन्हें संयोजक नियुक्त किया था। हिन्दी के एक समालोचक का यह कथन बड़ा यथार्थ है, "सहलजी बहुश्रुत पंडित हैं। संस्कृत साहित्य, काव्य-शास्त्र, हिन्दी साहित्य-शास्त्र और अंग्रेजी साहित्य का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया है और अन्य भाषाओं के साहित्य से भी उनका परिचय है।"

सहलजी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने ज्ञान को आत्मसात किया है। यही कारण है कि वे पांडित्य के भार से दबे नहीं हैं और विद्वत्ता उनके लिए सहज रही है।

सहलजी से मेरा परोक्ष परिचय बहुत पहले से रहा है, लेकिन साक्षात्कार हुआ सन् १९६० में, जब मैं अपने पुत्र सुधीर का इञ्जीनियरिंग कॉलेज में प्रवेश कराने पिलानी गया। सहलजी इतनी आत्मीयता से मिले मानो हम वर्षों के साथी हों। वे भोजन पर हमें अपने घर ले गये और राजस्थान के लोक-साहित्य के विषय में उन्होंने विस्तार से चर्चा की। बातचीत में मैंने पाया कि वे [illegible] हैं, साधिकार बोलते हैं, लेकिन अपने मत के प्रति इतने आग्रही नहीं रहते कि दूसरे की सुनी-अनसुनी कर दें। वे दूसरे की बात को उतना ही मान देते हैं, जितना अपनी बात को। अच्छा श्रोता बनने के लिए बड़े धीरज की आवश्यकता होती है। मैं कह सकता हूँ कि यह धीरज सहलजी के स्वभाव का अभिन्न अंग है।

जिसमें धीरज होता है, वह प्राय: आवेश अथवा उत्तेजना से बचा रहता है। सहलजी को मैंने निमिषभर के लिए भी, किसी प्रसंग पर, उत्तेजित नहीं पाया। सम्भवत: उनकी सफलता का रहस्य इस बात में है कि वे धीर हैं, गम्भीर हैं और क्षमाशील हैं। इसी से वे अपने छात्रों के बीच ही नहीं, [illegible] में बहुत लोकप्रिय हैं।

साहित्य को सहलजी ने खूब दिया है—आलोचक और [illegible] के रूप में। समीक्षक के लिए आवश्यक है कि उसका [illegible] आँखों से परे हो। वे दोनों ही गुण सहलजी की [illegible] में [illegible] हैं। उनकी 'समीक्षायण', 'आलोचना के पथ पर', [illegible] [illegible], 'निबंध और सुभाषित', [illegible] और [illegible] [illegible] का पुष्ट करती है। उनके [illegible] की [illegible] हृदय की [illegible] उनके [illegible] साहित्य को [illegible] प्रदान करती है। [illegible] हिन्दी के [illegible] [illegible] [illegible] दर्शन होते हैं।

सृजनात्मक-साहित्य के क्षेत्र में सहलजी कवि रूप में हमारे सामने आते हैं। नैतिक-मूल्यों में उनकी अटूट आस्था है। जब वे समाज को भौतिकता की उपासना में अनैतिक-मार्ग का अनुसरण करते देखते हैं, तो उनकी आत्मा गहरी व्यथा अनुभव करती है और तब उनका कवि मुखर हो उठता है, सत्य, शिव, सुन्दरम् की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करता है। उनकी कल्पना नये बिम्ब प्रस्तुत करती है और बताती है कि नीति का मार्ग ही मानव के लिए स्पृहणीय है। उनकी कविताओं के तीन संग्रह-प्रकाशित हो चुके हैं। 'प्रयोग' संग्रह को हिन्दी के एक प्रतिष्ठित आलोचक ने प्रयोगवादी कविताओं की 'सर्वश्रेष्ठ कृति' कहा है।

राजस्थानी साहित्य की शोध के लिए सहलजी ने जो कार्य किया है, वह वास्तव मे प्रशसनीय है। बिड़ला शिक्षा न्यास के शोध–विभाग के सचालक के नाते उन्होंने न केवल अनेक दुर्लभ ग्रन्थों की खोज की है, अपितु विस्मृति के गर्त मे पड़ी बहुत-सी मूल्यवान सामग्री को भी वे प्रकाश मे लाए है। 'राजस्थान के सास्कृतिक उपाख्यान', 'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद', 'राजस्थानी कहावतें', 'चौबोली' 'वीर सतसई' आदि का प्रकाशन उसी दिशा का प्रयास है। 'मरु भारती' कार्यालय से तीन खण्डो मे प्रकाशित 'निहालदे सुलतान' की कथा को मैं आद्योपात पढ चुका हूँ। उसको प्रकाश मे लाकर, सहलजी ने राजस्थान के लोक-जीवन और लोक-साहित्य की जो सेवा की है, वह अपने ढग की निराली है। लोक-साहित्य के मर्मज्ञ स्व० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इस रचना की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

सम्पादक के रूप मे सहलजी की प्रतिभा की साक्षी त्रैमासिक शोध-पत्रिका 'मरु भारती' देती है। उसमे राजस्थान के पुरातन साहित्य, पुरातत्व, इतिहास, लोक-वार्ता आदि के विषय मे शोधपूर्ण लेख प्रकाशित होते है। उन्हे देखने से पता चलता है कि सहलजी की दृष्टि कितनी पैनी है और कितने परिश्रम और कितनी सूझ-बूझ से वे पत्रिका के अनुरूप सामग्री का सकलन करते हे।

सहलजी के विचार बड़े सुलझे हुए हैं। उनके जीवन मे कही भी जटिलता दिखाई नही देती और न उनके साहित्य मे शब्दाडंबर दीख पड़ता है। उन्हे जो कहना होता है, साफ़-सुथरे शब्दो मे कह देते है। वे उलझी भाषा से दूसरे को भ्रम मे डालने का प्रयत्न नही करते। उनकी बोलचाल की भाषा जितनी सरल है, उतनी ही उनकी लेखन-शैली प्राञ्जल है।

सहलजी की बाह्याकृति को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे बहुत ही सामान्य व्यक्ति हैं। उनके चेहरे से सरलता टपकती है तथा उनकी पोशाक मे किसी प्रकार की तड़क-भड़क नही है। लेकिन जब हम उनके सम्पर्क मे आते हैं, तो मालूम

होता है, उनमें कितनी गहराई है। उन्होंने जिस क्षेत्र में भी प्रवेश किया है, चाहे वह शिक्षा का हो, साहित्य का हो, आलोचना का या अनुसंधान का, उसी पर अपने मधुर व्यक्तित्व, गंभीर विद्वत्ता, अनोखी सूझ-बूझ तथा अथक परिश्रमशीलता की छाप डाली है। उनकी खूबी यह है कि दूसरे की कठिनाई को समझने का पूरा प्रयत्न करते है, जो दूसरे की कठिनाई के प्रति उदार रहता है, वह कभी कठोर नहीं हो सकता। किसी महापुरुष ने ठीक ही कहा है कि किसी की वास्तविक स्थिति को जानकर हम उसके प्रति क्षमाशील ही हो सकते है।

सहलजी में गुण है, तो उनकी कुछ मर्यादाए भी हैं। वे अल्प सतोषी है। आज देखने में यह आता है कि व्यक्ति थोडी-सी पूँजी के आधार पर कही से कही पहुँच जाता है, लेकिन सहलजी के पास बडी से बडी पूँजी होने पर भी वे जो है उसमें इतने सतुष्ट है कि व्यापक क्षेत्र की उपलब्धियो, कीर्ति तथा लोकप्रियता से आकृष्ट नहीं होते। यह अच्छा भी है कि व्यक्ति छोटे क्षेत्र मे रह कर सघन कार्य करे, लेकिन यह भी ठीक है कि सीमित स्थान की सीमाएँ होती है और समुद्र में तैरने का आनन्द छोटे से तालाब मे तैरकर अनुभव नही किया जा सकता।

हर्ष की बात है कि आज सहलजी ऐसे स्थान पर है जहाँ शिक्षा के क्षेत्र में वे बहुत कुछ कर सकते है। बिडला शिक्षा न्यास ने शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए जो किया है, वह सर्व-विदित है। नई-पीढी के बीच चरित्र-निर्माण की दिशा में उसका चिन्तन और प्रयास सराहनीय है, पर आज जब देश मूल्यो के भारी सकट से गुजर रहा है, शिक्षा-सस्थानो की जिम्मेदारी बहुत बढ जाती है। कारण, कि नई-पीढी पर देश का भविष्य निर्भर करता है। अपने साधनों तथा प्रभाव से सहलजी अपनी सस्थाओं के माध्यम से आज के किकर्त्तव्यविमूढ शिक्षा-शास्त्रियो के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करें, ऐसी कामना है।

साहित्य के भण्डार की अभिवृद्धि के लिए तो सहलजी को अभी बहुत कुछ करना है। राजस्थान में जाने कितना लोक-साहित्य भूगर्भ में छिपा पडा है, जिसके कालान्तर में लुप्त हो जाने की आशंका है। उस बहुमूल्य साहित्य को प्रकाश में लाना है, उसका वैज्ञानिक अध्ययन करना है और उसके प्रति लोक-रुचि जाग्रत करनी है। जानता हूँ, सहलजी यह सब करेंगे।

□□

मानवता के धनी तथा मूक साधना के स्वरूप

• मुरलीधर शर्मा

चालीस वर्ष पहले की बात है। जुलाई १६३० मे जब मैंने महाराजा कॉलेज
यपुर मे बी० ए० के प्रथम वर्ष मे प्रवेश लिया तो श्री कन्हैयालाल सहल से मेरा
थम परिचय एक सहपाठी के रूप मे हुआ। वे विशुद्ध खद्दरधारी, प्रशान्त-गम्भीर
द्रायुक्त, सरल, विनीत, परिश्रमी, अध्यवसायी, अध्ययनशील तथा 'सादा जीवन
च्च विचार' के प्रतीक थे। खेजड़े का रास्ता, जयपुर मे सुप्रसिद्ध कर्मठ नेता
ी हीरालाल शास्त्री के मकान मे रहने वाले कॉलेज छात्रो मे वे सबके स्नेह-सम्मान-
ाजन थे। ब्राह्म-मुहूर्त मे उठकर पढने वाले और स्नान करने वाले छात्रों मे वे
ग्रगण्य थे तथा हाथ से अपना काम करने मे वे गौरव का अनुभव करते थे। सद्-
यवहार, कर्त्तव्यपरायणता, स्वाध्याय, हितकारिता, सगठन-शक्ति, गाधी विचारानु-
ीलन आदि सद्गुणो के कारण सहलजी शास्त्री जी के बड़े स्नेह-पात्र थे। उन
मय श्री शास्त्रीजी राजकीय नौकरी छोड तत्कालीन जयपुर राज्य के निवाई
टेशन के समीपवर्ती गाव बनथली मे (जिसको उन्होंने ही बाद मे सस्कृत नाम
नस्थली दिया) जीवन कुटीर की स्थापना कर ग्रामोत्थान के काम मे अद्वितीय श्रद्धा
ीर निष्टा के साथ सलग्न हो गये थे और अपने उक्त जयपुरीय मकान को स्वदेशी
वचारो वाले छात्रों के लिए छात्रावास के रूप मे दे दिया था। श्री सहलजी उस
मय के छात्रों के प्रधान थे तथा अपने उज्ज्वल कार्य-कलापो और आदर्श आदतों के
ारा सबको प्रेरणा देते थे। उस पारिवारिक और आत्मीयतापूर्ण जीवन को याद
र आज भी प्रसन्नता होती है।

सहलजी और मैं दो वर्ष तक (जुलाई, ३० से अप्रैल, ३२ तक) बी० ए० के
िकटतम सहपाठी रहे है। हम दोनों के विषय समान ही थे—अंग्रेजी साहित्य,
स्कृत और अर्थ-शास्त्र। हम कॉलेज की वार्षिक तथा अर्द्ध वार्षिक परीक्षाओं मे प्राय

स्थान क्रम पर ही रहते थे यहाँ तक कि आगरा विश्वविद्यालय की बी. ए. परीक्षा १९३८ में भी हम दोनों के बिल्कुल बराबर अंक थे। पर कॉलेज के अधिकारियों ने सहलजी को प्रथम पुरस्कार दिया और मुझे द्वितीय। स्नातकोत्तर कक्षाओं के अध्ययनार्थ हम दोनों के लिए ही राजकीय छात्रवृत्ति देने की घोषणा हुई थी पर दोनों ही अपनी-अपनी परिस्थितियों के कारण उसका लाभ न उठा सके।

कॉलेज में सहलजी का अध्ययन बड़ा विस्तृत और साथ ही साथ गम्भीर था। विषय-सम्बन्धी सभी प्राप्य पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं का पठन की उनमें असाधारण आदत थी। सभी पाठ्य-पुस्तकों का अध्ययन कर वे कई बार उनकी पुनरावृत्ति भी कर लेते थे। शेक्सपियर का 'हैमलेट' नाटक उन्हें प्रायः कण्ठस्थ था और इसी तरह संस्कृत साहित्य की पुस्तकों पर उनका पूर्ण अधिकार था। अपने कथित विषय को स्पष्ट करने की उनकी शैली इतनी प्रांजल तथा भाषा इतनी सरल व सरस होती थी कि उनके उत्तर से परीक्षक सदा ही असाधारण रूप से प्रभावित होते थे।

सहलजी के जीवन की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने छात्र-जीवन में अर्जित गुणों को आज तक निरन्तर रूप से अपने अधिकार में रखा है तथा उन्हें बढ़ाया है। प्रतिकूल परिस्थितियाँ उन्हें विचलित नहीं कर सकी हैं। एम. ए. (हिन्दी तथा संस्कृत) परीक्षा उन्होंने प्राइवेट रूप से की, पर प्रथम श्रेणी में। इस वाणी-पुत्र की सरस्वती-आराधना अविच्छिन्न रूप से बड़ी साधना के रूप में चालू रही है। इसी के फलस्वरूप उन्होंने शोधकार्य किया, अनेक ग्रंथ लिखे तथा हिन्दी-जगत में यश अर्जित किया। प्रातःकाल जल्दी उठकर, दैनिक क्रियाकलापों से निवृत्त होकर तथा चाय-नाश्ता लेकर वे अध्ययन-कक्ष में पहुँच जाते हैं तथा प्रतिदिन की स्वाध्याय एवं लेखन-साधना में लग जाते हैं। लोगों से बातें करने का लोभ त्यागकर इस साधना में ही अबाध रूप से लगे रहने के कारण ही वे विशाल-साहित्य का प्रणयन कर सके हैं। उन्होंने यश-प्राप्ति के लिए कभी राग-द्वेष और दुर्नीति का सहारा नहीं लिया। केवल शुद्ध साधना के बल पर ही उन्होंने वह सिद्धि प्राप्त की है जो हमारे समक्ष है। आत्मश्लाघा एवं परनिन्दा से वे बहुत दूर हैं। साधना का अनुपम माहात्म्य ही है कि सहलजी कभी सिद्धि के पास नहीं गये, सिद्धि ही उनके पास आई है। चाहे हिन्दी-संस्कृत विभाग के अध्यक्ष का पद हो, चाहे वर्तमान प्रशासनिक पद—उन्होंने इनके लिए किसी के साथ संघर्ष नहीं किया, किसी प्रकार की सिफारिश की सहायता नहीं ली। अधिकारियों ने स्वयं ही उनका चयन या वरण किया है। उन्होंने इन पदों के लिए कभी दौड़-धूप नहीं की। उनके जीवन का सबसे बड़ा आकर्षण ही यही है कि उन्होंने शान्त और अनुशासनपूर्ण जीवन की मूक-साधना के द्वारा सुन्दर सिद्धि की गरिमा घर बैठे प्राप्त की। क्या यह जीवन प्रेरणाप्रद नहीं है? निश्चय ही यह जीवन आज के दिग्भ्रमित-मानव को एक आस्थापूर्ण दिशा दिखा सकता है।

छात्र-जीवन के साथी एवं अभिन्न मित्र के अतिरिक्त सहलजी मेरे सबंधी भी हैं। उनके अनुज श्री मदनलाल सहल (अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, डूंगर कॉलेज, बीकानेर) मेरे बहनोई हैं। डॉ० सहल के दूसरे पुत्र डॉ० कृष्णबिहारी सहल मेरे दामाद हैं। लेकिन इन निकट के सम्बन्धों मे भी मेरे उनके बीच हमारी व्यक्तिगत मित्रता का नाता ही प्रबल रहा है। सम्बन्धी होने के नाते मुझे सहलजी को एक भिन्न दृष्टिकोण से देखने का अवसर भी मिला है। एक विकट अवसर पर तो मैं यह देखकर अवाक् रह गया कि इस व्यक्ति मे विद्वत्ता की अपेक्षा मानवता और भी अधिक गहरी है। विपरीत परिस्थितियो मे भी उन्होने अपने स्वभाव की मधुरता को नहीं छोडा। वे इतने शान्त, गम्भीर तथा कर्त्तव्यनिष्ठ है कि उन्होंने अपने स्वभाव मे क्रोध या अक्षमा को कभी जन्मने ही नही दिया। उनके शान्त और गम्भीर स्वभाव की तह मे विनोदप्रियता भी कम नही है। यह वस्तुतः एक महान् व्यक्ति के लक्षण हैं—वे वास्तव मे आत्मनिर्मित महामानव हैं। धन एवं विद्या दोनो मे ही उन्होने 'कण-कण' द्वारा 'मन' संचित किया है। विद्या के अतिरिक्त वे अब स्थावर-जगम सम्पत्ति की दृष्टि से भी धनी-मानी सज्जनो मे प्रतिष्ठित है, पर इसके प्रति उनके मन मे लोभ नही है।

मेरी बेटी सौ० सन्तोष सदा ही मुक्तकण्ठ से अपने पूज्य श्वसुर के विषय मे कहती रहती है कि 'वे क्षमा और स्नेह की मूर्ति हैं। इतनी शान्ति के साथ घर मे आते हैं या घर से बाहर चले जाते है कि पता तक नही चलता। कभी उनके मुख से घर के किसी सदस्य के प्रति कोई कटु शब्द नही निकलता। व्यवहार की कटुता तो उनके स्वभाव से परे की वस्तु है। बेटी और बहू दोनो पर उनका समान स्नेह है।'

ईश्वर उन्हे चिरायु करे ताकि वे अपनी गुण-गरिमा तथा आदर्श व्यवहार से वर्तमान और भावी पीढी को प्रेरणा देते रहें। 'मानवता के धनी तथा मूक साधना के स्वरूप' डॉ० कन्हैयालाल सहल के विषय मे जो कुछ लिखा जाए-थोडा रहेगा।

मेरे आदि गुरु और संरक्षक

• घनश्याम शर्मा

बचपन का जीवन-कितना मृदुल ! कितना मधुर !! चिन्ताओं से मुक्त उल्लास और आह्लाद से पूर्ण ! किन्तु मेरा दुर्भाग्य कि ऐसे जीवन-काल में ही मुझे माता के स्नेह और उसकी ममता से वंचित होना पड़ा, 'चूल्हे और चक्की' का काम सम्हालना पड़ा। गाय और ऊँटों को चराते-चराते जैसे-तैसे गाँव की प्राथमिक पाठशाला में पढ़ने का अवसर मिल गया। गाँव में मुकुन्दगढ़ के सेठ कानोड़ियाजी का चौथी कक्षा तक का स्कूल था। कुछ तो गाँव की स्थिति, कुछ मेरी आर्थिक व घरेलू परिस्थितियाँ—मैं चौथी कक्षा से आगे पढ़ने की कल्पना भी न कर सकता था। सम्भवतः मैं आगे पढ़ भी न पाता यदि प्रातःस्मरणीय परम आदरणीय गुरु डॉ० कन्हैयालाल सहल की प्रेरणा से जीवन में एक नया मोड़ न आता।

मैं चौथी कक्षा में था। उन दिनों वे मुकुन्दगढ़ में मिडिल स्कूल के प्रधानाध्यापक थे। वे उन्हीं सेठों की स्कूल के प्रधानाध्यापक थे जिनका स्कूल हमारे गाँव में था। इस नाते वे शायद १९३८ में हमारे स्कूल का निरीक्षण करने के लिए हमारे गाँव पधारे। उस समय गाँव के सभी प्रतिष्ठित व्यक्ति स्कूल में उपस्थित थे। निरीक्षण प्रारम्भ हुआ। चौथी कक्षा में हम नौ विद्यार्थी थे। राजस्थान का नक्शा सामने टँगा था। निरीक्षक महोदय (डॉ. कन्हैयालाल सहल) ने पूछा 'जैसलमेर कहाँ है ?' प्रश्न सीधा था। कक्षा में एक छात्र मुझसे होशियार था, पर उत्तर देते समय वह घबरा गया। मैं कुछ निर्भीक तथा नटखट था। मैंने प्रश्न के उत्तर में जैसलमेर नक्शे की स्थिति बताने के साथ ही जैसलमेर रियासत तथा उसकी सीमाओं के बारे में बताना प्रारम्भ कर दिया। निरीक्षक प्रसन्न हुए, उन्होंने मेरी पीठ थपथपाई, वही स्पर्श मेरी जिन्दगी का मोड़ बनेगा, किसी को भी पता न था। पता था केवल उस पारखी निरीक्षक के हृदय को।

उन्होंने एकत्रित जन-समूह से पूछा "यह लड़का किसका है ?" पिताजी वहीं थे। वे कुछ आगे बढ़ आए। गुरुदेव ने कहा "यह लड़का होशियार है। पण्डितजी, इसे आगे पढ़ने मुकुन्दगढ़ भेजना।" पिताजी के हृदय को उस वक्त की खुशी को वही आंक सकता है जिसे पिता का हृदय मिला हो। उनके कुछ भी कहने से पूर्व एक अन्य व्यक्ति ने कहा, "इसकी आर्थिक और घरेलू परिस्थिति ठीक नहीं है। घरवालों को रोटी बनाकर यही देना है। लम्बी-चौड़ी खेती है। आदि ......आदि।" पिताजी ने भी हां में हां मिलायी। पर आदर्श गुरु जैसे कुछ और ही ठान बैठे थे। अतः उनके बार-बार कहने पर जब पिताजी राजी न हुए तो उन्होंने मुझसे कहा, "बच्चे, स्कूल खुलते ही तुम मुकुन्दगढ़ आ जाना। वहीं मुझसे मिलना। तुम्हें कोई दिक्कत नहीं होगी।" ग्रीष्मावकाश आया पर उस गुरु के प्रेरणा-शब्द बराबर गूंजते रहे। पिताजी स्वयं इस उधेड़-बुन में थे कि मुझे पढ़ने भेजें या नहीं।

एक जुलाई को प्रातः चार बजे उठ कर दो अन्य साथियों के साथ मैं मुकुन्दगढ़ की ओर चल पड़ा। गुरु के स्वर बराबर प्रेरणा दे रहे थे। मुकुन्दगढ़ पहुँचा। छात्रावास में भारी भीड़ थी। मैंने यज्ञोपवीत उन्हीं दिनों लिया था। अतः जैसे-तैसे प्याऊ की तलाश कर पानी पिया। काफी बड़ा स्कूल था। गुरुदेव अन्दर दफ्तर में बैठे थे। कुछ देर मैंने बाहर प्रतीक्षा की; फिर हिम्मत कर अन्दर गया। गुरुदेव मुझे पहचान नहीं पाए। फिर मैंने अपनी टूटी-फूटी भाषा में निरीक्षण के समय का किस्सा उन्हें सुनाया। वे एकदम प्रसन्न हो गये। उन्होंने अपने एक सहयोगी को बुलाकर कहा "इसे मैंने बुलाया है।" तथा साथ ही उन्होंने डेढ़ रुपया छात्रवृत्ति तथा कुछ पुस्तकें देने की बात कह छात्रावास में रहने का आदेश दे दिया।

स्थानाभाव के कारण छात्रावास में एक छात्र को कोई डेढ़ फुट जगह मिलती थी। मैंने उसी जगह में अपने आपको अभ्यस्त किया। मेरे साथ आए दोनों साथी तो दस-पन्द्रह दिन बाद ही पढ़ाई छोड़ कर गांव चले गये थे। रह गया था मैं अकेला-छोटा-सा बालक। कई बार मुझे अन्य छात्रों की मार का शिकार भी होना पड़ा। निर्धारित जगह में थोड़ा-सा हेर-फेर होने पर ही झगड़ा होने की सम्भावना बनी रहती थी।

एक दिन फिर मेरे लिए खुशी का दिन आया। गुरुदेव छात्रावास का निरीक्षण कर रहे थे। मैं पहले से ही बाहर के दरवाजे पर आकर बैठ गया और सिसकियां भरने लगा। गुरुदेव जब जाने लगे तो उनकी दृष्टि मुझ पर पड़ी। उन्होंने पास आकर मुझे पुचकारा, बड़े प्यार से मेरे रोने का कारण पूछा। पर मेरी सिसकियां बढ़ती ही गयीं और मैं कुछ कह ही न सका। शायद उन्होंने मेरी 'नेकु कही बैनन, अनेक कही नैनन सों, रही सही सोऊ कहि दीन हिचकीन सों'

समझ लो और वार्डन महोदय को मेरी सहायता करने का आदेश देकर चले गये। वार्डन साहब ने पूछा "क्यों मुमरा, रो क्यों रहा है?" मैंने रहने के कमरे में जगह की कठिनाई उन्हें बताई। वे बोले "कल तुम और हमारा लल्लू दफ्तर वाले कमरे में रहने लग जाओ। दो चारपाई हैं, लालटेन है और मेज कुर्सियां भी। दोनों एक कक्षा में हो। मिलकर खूब पढ़ना।" मैं जानता था, यह सब कुछ गुरु की कृपा का फल था। मैं मौन भाव से उनके प्रति नतमस्तक था।

एक वर्ष बाद—ठीक एक वर्ष बाद। छात्रावास-अधीक्षक बदले। इसलिए रातों रात मुझे उसी दरवाजे से, जहाँ बैठकर मैं रोया था, सामान सहित रहने के लिए जाना पड़ा क्योंकि वार्डन साहब को दफ्तर वाले कमरे में ही रहना था। दरवाजे पर पर्दे लगे तथा मैं एक और साथी के साथ वहां रहने लगा।

कुछ दिनों बाद गुरु फिर निरीक्षण के लिए आए। उनके आगमन की सूचना पर कुछ तरकीब सोचने लगा। अपने आटे के पीपे को ताक से उतारा। उसमें कुछ पानी छिड़का। ज्योंही गुरुदेव उधर से निकलने लगे, मैं गीले आटे को फेंकने लगा। वे निकट आए। उन्होंने आटा फेंकने का कारण पूछा। मैंने कहा कि कुत्ता आटे में मुँह डाल गया है, अतः गन्दे आटे को फेंक रहा हूँ। वे रुके, वे वार्डन साहब से कुछ पूछने लगे। फिर मुझसे बोले "बच्चे, यहाँ जगह कम है। तुम मेरे घर पर रहने लग जाओ। वहाँ बैठक में दसवीं कक्षा के छात्र रहते हैं, तुम उनकी [illegible] पर रहना। आवश्यकता पड़ने पर मुझसे पूछ भी लिया करना।" यह गुरु की अहैतुकी कृपा। क्या ऐसी ही कृपा से गुरु और गोविन्द एक श्रेणी में नहीं आ जाते? पर ऐसे तो विरले ही होते हैं।

इस समय तक मेरी छात्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते तीन रुपये तक हो गयी थी। कुछ पुस्तकें भी मिलने लग गयी थीं। हर तरह से गुरु मुझ पर प्रसन्न थे। उनके घर रह कर मैं बड़ी लगन से पढ़ने लगा। एक बार स्कूल का वार्षिकोत्सव था। श्री रामेश्वरी नेहरू व अन्य गण्यमान्य नेता आने वाले थे। सांस्कृतिक समारोह में एक मारवाड़ी प्रहसन के अभिनय की योजना थी। मुझे गुरुदेव ने बुलाया और कहा 'तुम्हारी आवाज ठीक है। मारवाड़ी भी ठीक बोल लेते हो, अतः तुम इस नाटक में भाग ले लो।" मैं नासमझीवश उस पारखी की परख दृष्टि को न समझ सका। मैंने इन्कार किया। पर अपने अध्यापक बनने से अब तक लगभग १६ नाटकों का निर्देशन व मार्ग-दर्शन कर चुका हूँ। अब भी किसी नाटक को हाथ में लेता हूँ तो मुझे बरबस उस गुरु की याद आती है जिन्होंने नाटक में भाग लेने को कहा था। काश! मैं उस दिन भी नाटक में अभिनय कर लेता।

Shri Kanhaiya Lal Sahal has been my student in the High School classes. I was incharge of Mathematics and in this subject I found him the best student. He rather proved the best of all students who appeared at the High School Examination before and after him. He was specially intelligent in Mathematics and took a keen interest in the Subject.

—Godey Lal Maharwal

पंडित कन्हैयालालजी

• भागीरथ कानोडिया

श्री कन्हैयालालजी सहल से मेरा परिचय करीब ३५ वर्षों का है। उन दिनों वे २५ वर्ष के नवयुवक थे और मुकुन्दगढ़-स्थित शारदा सदन में अध्यापन-कार्य करते थे। लोक-कथाओं और कहावतों की ओर उनकी रुचि उस वक्त भी थी। शेखावाटी में प्रचलित कुछ कहानियाँ और कुछ मुहावरे तथा कहावतें मुझे भी याद हैं; अतः जब-जब मैं अपने गाँव जाता, वे मुझसे आग्रहपूर्वक कुछ न कुछ सुनते रहते थे। जो कुछ सुनते थे, उसमें काफी रस लेते थे।

डाक्टरेट की उपाधि भी उन्होंने राजस्थानी कहावतों पर ही प्राप्त की है। हिन्दी और राजस्थानी के अलावा पं० कन्हैयालालजी का संस्कृत भाषा का ज्ञान भी काफी अच्छा है। वे 'मरुभारती' के हर अंक में एक स्वरचित श्लोक देते हैं। जिस तरह अनुकूल वायु और पर्याप्त खाद और जल पाकर छोटा-सा पौधा बड़ा वटवृक्ष बन जाता है और अपनी शीतल छाया से पथिकों को तथा पके हुए फलों से पक्षियों को तृप्त करता है, वही बात पं० कन्हैयालालजी के साथ घटित हुई। पिलानी में उन्हें सब तरह की अनुकूलता मिली, विद्वानों का सत्संग, समृद्ध पुस्तकालय और साहित्यिक वातावरण मिला। आज पं० कन्हैयालालजी हिन्दी और राजस्थानी के मर्मज्ञ विद्वान के रूप में जाने-पहचाने जाते हैं। स्वभाव से सरल, निश्छल और निरभिमानी हैं। मितभाषी हैं। उनके ज्ञान और उनकी विद्वत्ता का पता उनकी पुस्तकों से ही लगता है। मां सरस्वती की सेवा में वे अथक प्रयत्नशील हैं। राजस्थानी के जो भक्त हैं, उन्हें पं० कन्हैयालाल सहल द्वारा काफी मसाला मिलता रहता है। ईश्वर करे, उनकी यह प्रतिभा अधिकाधिक विकसित होती रहे तथा जनता-जनार्दन इससे लाभान्वित होती रहे।

•••

ज्ञानी और ज्ञानदानी

[illegible]
वाणी, वपु, विद्या, वेष और वैभव। आन्तरिक वैभवशाली वाणी के बाद पुन डॉ० सहल वेष में सरल, वपु में वामन और महान् विद्वान् हैं। प्राचीन साहित्य से लेकर अर्वाचीन साहित्य तक उनका रचना-क्षेत्र रहा है और दोनों पर उनका विशेष अधिकार है। शिष्ट साहित्य के साथ-साथ लोक-साहित्य पर भी उन्होंने मौलिक कार्य और गवेषणाएँ प्रस्तुत की हैं। राजस्थानी कहावतों पर किये गये उनके कार्य पथ-प्रदर्शक भी हैं और पाथेय भी। राजस्थानी भाषा और साहित्य के बहुमूल्य ग्रंथों की उन्होंने जो विवेचनाएँ प्रस्तुत की हैं, वे हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन के नये क्षेत्र खोलती हैं। एक ओर उन्होंने 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य वैभव' स्पष्ट किया है तो दूसरी ओर सूर्यमल्ल के 'वंश भास्कर' और 'वीर सतसई' की ओजस्विता प्रतिपादित की है। आधुनिक युग में राजस्थान के जिन साहित्यकारों ने हिन्दी भाषा और साहित्य को सबल और सम्पुष्ट बनाने का भगीरथ प्रयत्न किया है, उनमें डॉ० सहल का नाम सिरमौर है।

व्यक्तित्व और वक्तृत्व के साथ अध्यापक की दृष्टि से भी डॉ० सहल अत्यंत लोकप्रिय रहे हैं। राजस्थान से आए हुए कई विद्यार्थियों ने मुझे बताया कि उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण की पुष्ट पीठिका डॉ० सहल ने ही निर्मित की है। आन्द्रे जिद ने अपनी आत्म कथा 'वान नो मैन हैवी' में अपने प्रिय अध्यापक की स्मृति में यह बताया है कि सफल अध्यापक वही है जो विद्यार्थियों के 'समग्र व्यक्तित्व का सम्यक् विकास' कर सके। डॉ० सहल के अनेक शिष्य इस कथन के प्रमाण हैं। साहित्य के अध्यापक का दायित्व तो और अधिक बढ़ जाता है। व्यक्तित्व के साथ-साथ वह मानवीय उच्चता, संवेदना और ऊर्जस्विता का प्रतिष्ठापक है। डॉ० सहल साहित्य के अध्यापक होने के नाते इस दायित्व को सदैव निभाते रहे हैं। कालिदास ने 'मालविकाग्नि मित्र' में शिक्षक के दो आवश्यक गुण माने हैं।

> श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था सङ्क्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
> यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।
> लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
> यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।

उसकी सफलता और सिद्धि इन्हीं दो बातों में निहित है—वह कितना जानता है और जो जानता है उसे किस-प्रकार देने की योग्यता रखता है। डॉ० सहल ज्ञान और ज्ञानदान दोनों ही दृष्टियों से पूर्ण सफल अध्यापक रहे हैं।

श्रेष्ठ व्यक्तित्व, प्रतिभा-सम्पन्न महान् विद्वान् और अत्यंत लोकप्रिय अध्यापक के संगम है डॉ० सहल। उनका वास्तविक अभिनन्दन तो उन असंख्य विद्यार्थियों और साहित्य-प्रेमियों के द्वारा अनवरत भाव से अहर्निश होता है और होता रहेगा। ऐसे वर्चस्वी, तेजस्वी और ऊर्जस्वी व्यक्ति-विद्वान्-अध्यापक की वन्दना के अनेक स्वरों में मेरा यह एक स्वर भी सम्मिलित है।

शब्दयोगी

गुजरात विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० अम्बाशंकर नागर ने सुप्रसिद्ध गांधीवादी विचारक एवं गुजरात-विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति स्वर्गीय श्री मगन भाई देसाई के लिए 'वरिष्ठ बुद्धियोगी' शब्द का प्रयोग किया है।[2] उसी प्रकार मैं शोध-विचार की आराधना में डॉ० कन्हैयालाल जी सहल के प्रति 'शब्दयोगी' शब्द का उपयोग कर रहा हूँ। साहित्य, वस्तुतः, 'योग' की भांति एक व्यसन है। जो व्यक्ति इस योग में पड़ जाता है, वह मौन तपस्वी की भांति इसी में लीन रहता है। फिर उसे तिरस्कार और आलोचनाओं की कटुवाहट नहीं सताती।

१. वाक्यपदीय, १ १२५, (भर्तृहरि)।

२. गुजरात के सन्तों की हिन्दी-वाणी (समर्पण-पृष्ठ)।

शब्द और अर्थ की समन्वयात्मक सृष्टि को ही साहित्य कहते हैं। 'शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या'।[1] "मनुष्य का मन पूर्व-स्मृतियां विचार धाराओं, भावनाओं तथा अनेक सदसत् प्रवृत्तियों का पुंजीभूत समूह है। शब्दों का स्पर्श प्राप्त होते ही मनुष्य का व्यक्तित्व अभिव्यक्त हुए बिना नहीं रहता।"[2] मूल अभिप्रायों, लोककथाओं, कहावतों, राजस्थानी, अंग्रेजी, संस्कृत व हिन्दी साहित्य के विविध पक्षों आदि पर विचार करने वाले शब्दयोगी डॉ० सहल के जीवन में नाना शब्द इधर से उधर गुजरे होंगे, और उनके सम्पर्क से इनका व्यक्तित्व जिस प्रतिमा में निर्मित हुआ होगा, इसकी कल्पना 'शब्दयोगी' शब्द सहज ही दे देता है।

डाक्टर सा'ब से जब-जब मिलने का सौभाग्य-प्रसंग प्राप्त हुआ, मुझे यही लगता तब-तब, कि मैं एक ऐसे जीवन-मुक्त योगी से मिल रहा हूँ जो शब्दों के ज्ञान भण्डार में अमर है, अमृतमय है।[3] हर नि:सृत शब्द 'क्रिस्टल क्लियर', और ध्वनि पूर्ण व साभिप्राय होता है। बाइबिल में भी कहा गया है कि 'प्रारम्भ में शब्द था और शब्द परमात्मा के साथ था और वह शब्द परमात्मा था।' इसी शब्द रूपी ब्रह्म को, या शब्द की आत्मा को समझने की परिपाटी प्राचीन-काल से प्रचलित हुए चली आ रही है। यास्क ने वेदों के शब्दों को समझने का प्रयत्न किया। पाणिनि और पतंजलि भी शब्द के ही साधक थे। इसी परम्परा में डॉ० सहल भी शब्दयोगी के रूप में आते हैं। प्राचीनकाल में आर्यों ने 'मेधा' (बुद्धि) को जीवन में उच्च स्थान दिया है। गायत्री-मंत्र में भी बुद्धि को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।' 'शब्द' भी बुद्धि का ही प्रतीक है। बुद्धि के सजीव रूप का दर्शन डॉ० सा० के हर मिलन में किसी को भी हो सकता है।

भाषा के कबीरी डिक्टेटर डॉ० सहल में मैंने निराला का महाप्राण और प्रसाद की गंभीरता का समन्वित त्रिवेणी रूप पाया है। बौद्धिकता के साथ [illegible] की अटूट श्रद्धा, सैद्धान्तिक शुष्कता के साथ हृदय की कलकल तरलता, [illegible] ममता के साथ कबीरी कौन-सी विरक्ति, विवेक के साथ विनय, [illegible] करनी के सामंजस्य से निर्मित इनका व्यक्तित्व अद्भुत आकर्षक है।

विराट मस्तक, ललाट के नीचे [illegible], [illegible] सुडौल व सुदृढ़ शरीर, श्यामल रंग, [illegible] दृष्टि, सिर पर [illegible] हिमाच्छादित [illegible] से दूर। दूर से ही [illegible] जब कोई निकट से निहारता है तो [illegible]

1. काव्यमीमांसा (राजशेखर)।
2. [illegible] (डॉ० कन्हैयालाल सहल) सन् [illegible], पृष्ठ [illegible]।
3. Learning entitles to immortality.

है। आपका आत्मजीवन सीधा-सादा और भोला-भाला है, 'और 'मन निर्मल एवं पवित्र है। अपने सादेपन के कारण ही हिन्दी-जगत् में आपका कोई 'मठ' नहीं बन पाया और मठाधीशों ने भी इनकी विद्वत्ता की योग्य कदर बहुत बाद में जाकर की। झूठी चापलूसियों और निम्नस्तरीय चालबाजियों से दूर रहने वाला ही सच्चा शब्द-योगी सिद्ध होता है।

इस साहित्यिक सन्त के व्यक्तित्व में एक चुम्बकत्व है। इस चुम्बकत्व का अनुभव निकट जाने वाले ही अनुभव कर पाते हैं। विशाल वट-वृक्ष की हरी पत्तियां, लम्बी जटाएँ और मोटी डालियों को देखकर मानव का मन जिस संतुष्टि को प्राप्त कर पाता है, वही संतोष मुझे डॉ० सहल के दर्शनों पर होता है। इससे अधिक तोष मुझे तब-तब होता है, जब-जब मैं इस वट-वृक्ष की गहरी जड़ों को देखने की उत्कण्ठा को पूर्ण कर पाता हूँ। बड़ी गहरी और उदात्त जड़ें हैं। डाक्टर साहब ने हमेशा यही चेतना प्रमुख रखी है कि महत्त्व इसका नहीं कि हम कितने अधिक जीवित रहते हैं, अपितु महत्त्व इस बात का है कि हम कैसे जीवित रहते हैं। सत्य और कर्त्तव्य का ऐसा समन्वय विरल व्यक्तियों के भाग्य में ही लिपिबद्ध होता है।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने विश्वगुरु कालिदास को सम्बोधित करके एक कविता लिखी है। इस कविता में यही प्रतिपादित किया गया है कि कालिदास के जीवन में भी ईर्ष्या, द्वेष, संघर्ष, छल आदि आये होंगे, किन्तु उन्होंने वे सब विष स्वयं पान कर जगत् को सद्-भाव ही प्रदान किये हैं। मैं समझता हूँ, शब्दयोगी डाक्टर साहब ने इस कविता को अपने जीवन में बहुत कुछ अंश तक आचरित किया है। श्री मान्टेस्की के शब्दों में 'अध्ययन व्यक्तियों को जीवन में आने वाले विषाद और क्लान्ति के क्षणों को आनन्द और प्रसन्नता के क्षणों में परिणत करने में सक्षम बनाता है।' यही सक्षमता डॉ० सहल के पास अर्जित, सम्पत्ति है।

स्वानुभव के लिए बुद्धि और हृदय के विवेकपूर्ण ऐक्य में आपका जबरदस्त विश्वास है। यही कारण है कि आपमें ज्ञान और प्रेम का समन्वय प्राप्त होता है। आपके अक्षरों की लिखावट जितनी सुन्दर है, आपके समझाने का ढग भी उतना ही सुन्दर है। मैंने कभी भी आपके मुख से किसी की कटु आलोचना नहीं सुनी। पिछले दिनों किसी एक सभा में डॉक्टर साहेब की अध्यक्षता में मैंने 'कृष्णजन्माष्टमी' के शुभ अवसर पर भाषण देते हुए असली और नकली कृष्ण का अस्पष्ट संकेत किया था। यद्यपि उस बाल-सभा में मुझे स्वयं अपनी भूल बाद में अनुभव हुई थी, पर मैं उसे बेईमानी से पचा गया था। लगभग २-२½ माह के बाद एक दिन बातों के प्रसंग में डाक्टर साहेब ने मुझे वह पुरानी बात याद कराकर 'कान्तासम्मितउपदेश' दिया। मुझे लगा, यह व्यक्तित्व कितना उपयोगी है समाज के लिए। दूसरा कोई

ज्ञान इतने ऊँचे पद पर होता तो दूसरे ही दिन बुलाकर कह देता। परन्तु डॉ० हेब ने बड़ी स्पष्टता से कृष्ण के बिम्ब की रक्षा करते हुए लोक-मर्यादा के आदर्श रूप को प्रस्तुत करने की मीठी सलाह दी।

वर्षों पहले मैंने आपसे हिन्दी की सुप्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' पढ़ी थी, र बड़े ही तन्मय भाव से कहानी की आत्मा को आत्मसात् किया था। इसके बाद पने डेढ़-दशक के प्राध्यापकीय जीवन में जब-जब यह कहानी मैंने अपने बी० ए० र एम० ए० के छात्र-छात्राओं को पढ़ाई तो सदैव घर आकर एकान्त होने ही झे यही अनुभव हुआ कि मैं डॉ० सहलजी जैसी समझ अपने विद्यार्थियों को देने असमर्थ रहा हूँ।

आपके मूलभाव की प्रक्रिया समुचित सम्प्रेषण पर आधारित रहती है। फ़ेसर तथा पी० एच-डी० निर्देशक के रूप में मैंने आपसे पढ़ा है, और मैं दावे कह सकता हूँ कि आई० ए० रिचर्ड्स ने सम्प्रेषण के जिन तीन प्रचलित गलत र्थों का उल्लेख किया है, उनसे हटकर रिचर्ड्स की सकुल-प्रक्रिया के अनुसार डाक्टर ाहब की सम्प्रेषणीयता सफल है। जगत् में मानव का मन अलग-अलग है, और नुभूतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। "जब एक मन अपने परिवेश के प्रति इस प्रकार से तिक्रिया व्यक्त करता है कि दूसरा मन उससे प्रभावित हो जाता है और उस दूसरे न में ऐसी अनुभूति उत्पन्न होती है जो प्रथम मन की अनुभूति के समान और शतः उसके कारण उत्पन्न होती है।"[१] सम्प्रेषणीयता का यह गुण डॉ० सहल के भाषण में कहीं भी देखा जा सकता है। आपकी बातचीत या भाषण या कक्षा-विवरण में हृदय की प्रामाणिकता, शब्दार्थ-लालित्य और भाव-गाम्भीर्य सहज ही दर्शित हो जाते हैं। संस्कृत और अंग्रेजी के उच्चतर अध्ययन के कारण प्राय. आपके शब्द बड़े ही सम्यक् रूपेण प्रयुक्त होते हैं।

भाषा-विज्ञान की कक्षाओं को जब भी मैं स्मरण करता हूँ तो मुझे कामायनी का-सा आस्वाद पाने की अनुभूति होती है। शुष्क विषय को भी रसमय करके अपने छात्रों की नाभि तक स्थापित करने की ऐसी अद्भुत क्षमता मैंने अपने स्कूल या कॉलेज के अन्य अध्यापकों में नहीं महसूसी। सरल, सदय, सहृदय और विद्याव्यसनी आपका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। इसके परिणामस्वरूप आपका शिष्यवर्ग सदैव आपकी शिक्षा-दीक्षा-प्रणाली से प्रेरणा लेता रहा है।

इस प्रभावक व्यक्तित्व का एक कारण मुझे यह भी लगता है कि गुरुवर के जीवन में पुस्तकों का विशेष महत्त्व है। आपकी दिनचर्या में अध्ययन और टहलना दो बड़े जरूरी कार्य हैं। कभी-कभी आप बड़े सवेरे जगकर अध्ययनशील हो जाते हैं। रात को देर तक ऊपर वाले कमरे की बिजली जलती हुई भी लोगों ने देखी

१. रिचर्ड्स के आलोचना-सिद्धान्त (डा० शम्भुदत्त झा), पृ० ८६

है। इसी प्रकार प्रायः हर शाम आचार्य अनन्तदेव जी के साथ लुहारू-रोड पर टहलते-टहलते दूर तक जाते हैं, साथ ही शब्द और अर्थ के अनेक क्षितिज भी स्पर्श किये जाते हैं।

विचार-बोध का यह गुण आपमें इतना सम्पन्न है कि हर नये विषय और हर नयी पुस्तक का आपके यहां हमेशा स्वागत होता है। मुझे गौरव है कि मैं उनका सर्वप्रथम शोध-छात्र हूँ। मैं जानता हूँ कि वे अपने शोधार्थी-छात्रों के लिए मौखिक टाल-माल नहीं करते, अपितु स्वयं पढ़कर उस नये विषय से तादात्म्य स्थापित करते हैं। कुछ दिनों पूर्व 'नयी कहानी' विषय रजिस्टर्ड हुआ, इसके लिए राजेन्द्र यादव से लेकर हेतु भारद्वाज तक की नयी कहानियों का पढ़ना आपके 'विचार-बोध' का प्रमाण है।

साहित्य के माध्यम से आनन्दोपलब्धि आपके जीवन का एक प्रमुख लक्ष्य रहा है। यह आनन्द सस्ते 'प्लेज़र' से भिन्न और 'हिडोनिस्ट' सम्प्रदाय की कट्टरता से अलग है—'भारतीय आनन्द', जिसे कामायनीकार ने इन शब्दों में बाधा है :—

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।

आनन्द के वेग की सारणी बहुमुखी है। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के निरन्तर सम्पर्क में रहने के कारण प्राचीन और आधुनिक साहित्य पर आपका समान अधिकार है। इसी स्वाध्याय का परिणाम है कि आपका लेखक-जीवन और प्रवक्ता-जीवन 'गागर में सागर' की भांति शब्द-प्रतिष्ठा के लिए विख्यात है।

शब्द का प्रयोग करते समय बहुत ही कम लोग इस बात का ध्यान रखते हैं कि उन शब्दों से ठीक अर्थ या भाव प्रकट होता है या नहीं। प्रायः लोगों की यही आदत होती है कि जो भी शब्द सामने आ जाता है, उसी से काम निकाल लेते हैं, चाहे श्रोता या पाठक उस शब्द का समुचित अभिप्राय निकाल पाये या नहीं। डाक्टर साहब हर शब्द को सुनियोजित करके साभिप्राय प्रस्तुत करते हैं। उनके व्याख्यानों या ग्रंथों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि उनके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द, किसी अर्थ को पूर्ण कौशल अभिव्यक्त करने में समर्थ है। भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के लिए अनेक शब्दों का ज्ञान आवश्यक है, साथ ही शब्द के अर्थ का ज्ञान भी जरूरी है। श्रेष्ठ लेखक वही होता है जो शब्द और उसके अर्थ की आत्मा को जानता है, और प्रसंगानुकूल शब्द का प्रयोग करता है।

डॉ० सहल जी के साहित्य में साभिप्राय शब्द-प्रयोग पग-पग पर दृष्टिगोचर होता है—यहाँ तक कि उनके पारिवारिक और सामाजिक जीवन में भी [illegible]

शब्दों का व्यवहार द्रष्टव्य है। उनके चार पुत्रों में से दो-दो के शब्द-युगल ध्वन्यात्मकतापूर्ण हैं। बड़े पुत्र श्यामबिहारी और उनसे छोटे कृष्णबिहारी के नामों मे 'श्याम' और 'कृष्ण' समानार्थी हैं। "श्याम" शब्द बहुअर्थी है, अत. बड़े पुत्र का नाम रखा गया है। 'कृष्ण' शब्द रूढ और संकुचित हो गया है, अत छोटे के लिए उपयुक्त है। इसी प्रकार 'प्रभाकर' और 'सुधाकर' नामकरण भी छोटे-बड़े के सार्थक नामकरण है। 'प्रभाकर' का अर्थ भी 'चन्द्रमा' है, और 'सुधाकर' का अर्थ भी 'चन्द्रमा' है, किन्तु 'प्रभाकर' में 'चन्द्रमा' के साथ-साथ 'सूर्य', 'शिव' आदि अर्थों की व्यापकता है, इसीलिए बड़े का 'प्रभाकर' और छोटे का 'सुधाकर' नाम रखा गया।

मैं कभी-कभी सोचा करता हूँ कि गुरुवर ने अपनी सतानों के नामकरण अनायास ही नहीं रख दिये होंगे, बल्कि एकान्त में अपने अध्ययन-कक्ष में बैठकर घण्टों या दिनों तक शब्द-योग की प्रक्रिया में उन पर विचार करके ही रखे होंगे। 'माजो' का नाम 'कमला' होने के कारण पुत्री का नाम 'गायत्री' भी समुचित है। ऋग्वेद में कमला (लक्ष्मी) का अर्थ सौभाग्यवती है, और वैदिक छंद का एक नाम 'गायत्री' है। 'कमला' विष्णु की पत्नी और 'गायत्री', विष्णु की एक शक्ति ब्रह्मा की पत्नी है। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार प्रजापति से 'कमला' और 'गायत्री' दोनों सम्बद्ध हैं। 'गायत्री' पर गुरुवर का स्नेह भी अगाध है। क्यों न हो ? गायत्री ही तो वेद-माता है, सबसे अधिक पुनीत-पावन है। गुरुवर भी वैदिक संस्कृति में अगाध विश्वास का साम लेते हैं और आचरण में पुनीतता सफेद कपड़ों को भी मात देती है। अकार, उकार और मकार (अर्थात् ओम्) का, तीन व्याहृतियां और तीन पादों में त्रिवेदों का यथाक्रम गायत्री में है। मन और बुद्धि को प्रकाशमान करने की उपासना का इतना हिमालयी मंत्र विश्व-साहित्य में ढूंढ पाना दुष्कर है, अतः शब्दयोगी के यथार्थ भाव का ही यह प्रतीक है।

इस प्रकार मुझे डॉक्टर सा'ब भारतीय साधकों की परम्परा में ही सम्बद्ध एक कड़ी नजराते हैं। गांधी, टैगोर और अरविन्द इनके सत्य, काव्यत्व और चिन्तन में कहीं भी देखे जा सकते हैं। 'कवि' शब्द अपने उदात्त रूप में डॉक्टर साहब के लिए प्रयोग किया जा सकता है। 'एक कवि निर्माता भी इसीलिए कहलाता है कि वह अपने जीवनानुभवों का सम्प्रेषण करने के लिए उसे माध्यम चुनता है।'[1] डॉक्टर साहब का जीवन भी कितने ही शिष्यों, मित्रों और पारिवारिक लोगों के जीवन-निर्माण में प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रेरक रहा है। यदि मैं यहाँ नाम-परिगणन-पद्धति का आश्रय लूँ, तो मुझे पन्द्रह-बीस टीम पेजों की और आवश्यकता पड़ सकती है। किन्तु, यहाँ मैं उनके सुपुत्र डॉ० कृष्णबिहारी सहल के नाम का उल्लेख किये

1. The Process of Literature (Mackenzie) पृष्ठ ३५।

है। इसी प्रकार प्रायः हर शाम आचार्य अनन्तदेव जी के साथ लुहारू-रोड पर टहलते-टहलते दूर तक जाते हैं, साथ ही शब्द और अर्थ के अनेक क्षितिज भी स्पर्श किये जाते हैं।

विचार-बोध का यह गुण आपमें इतना सम्पन्न है कि हर नये विषय और हर नयी पुस्तक का आपके यहां हमेशा स्वागत होता है। मुझे गौरव है कि मैं उनका सर्वप्रथम शोध-छात्र हूँ। मैं जानता हूँ कि वे अपने शोधार्थी-छात्रों के लिए मौखिक टाल-माल नहीं करते, अपितु स्वयं पढ़कर उस नये विषय से तादात्म्य स्थापित करते हैं। कुछ दिनों पूर्व 'नयी कहानी' विषय रजिस्टर्ड हुआ, इसके लिए राजेन्द्र यादव से लेकर हेतु भारद्वाज तक की नयी कहानियों का पढना आपके 'विचार-बोध' का प्रमाण है।

साहित्य के माध्यम से आनन्दोपलब्धि आपके जीवन का एक प्रमुख लक्ष्य रहा है। यह आनन्द सस्ते 'प्लेजर' से भिन्न और 'हिडोनिष्ट' सम्प्रदाय की कट्टरता से अलग है—'भारतीय आनन्द', जिसे कामायनीकार ने इन शब्दों में बांधा है :—

समरस थे जड या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।

आनन्द के वेग की सारणी बहुमुखी है। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के निरन्तर सम्पर्क में रहने के कारण प्राचीन और आधुनिक साहित्य पर आपका समान अधिकार है। इसी स्वाध्याय का परिणाम है कि आपका शिक्षक-जीवन और [illegible]-जीवन 'गागर में सागर' की भांति शब्द-प्रतिष्ठा के लिए विख्यात है।

शब्द का प्रयोग करते समय बहुत ही कम लोग इस बात का ध्यान रखते हैं कि उन शब्दों से ठीक अर्थ या भाव प्रकट होता है या नहीं। प्रायः लोगों की यही आदत होती है कि जो भी शब्द सामने आ जाता है, उसी से काम निकाल लेते हैं, चाहे श्रोता या पाठक उस शब्द का समुचित अभिप्राय निकाल पाये या नहीं। डाक्टर साहब हर शब्द को सुनियोजित करके साभिप्राय प्रस्तुत करते हैं। उनके व्याख्यानों या ग्रंथों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि उनके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द, किसी अर्थ को पूर्ण रूपेण अभिव्यक्त करने में समर्थ है। भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के लिए अनेक शब्दों का ज्ञान आवश्यक है, साथ ही शब्द के अर्थ का ज्ञान भी जरूरी है। श्रेष्ठ लेखक वही होता है जो शब्द और उसके अर्थ की क्षमता को जानता है, और प्रसंगानुकूल शब्द का प्रयोग करता है।

डॉ० सहल जी के साहित्य में साभिप्राय शब्द-प्रयोग पद-पद पर दृष्टिगोचर —[illegible] कि उनके पारिवारिक और सामाजिक जीवन में भी [illegible]

शब्दों का व्यवहार द्रष्टव्य है। उनके चार पुत्रों में से दो-दो के शब्द-युगल ध्वन्यात्मकतापूर्ण हैं। बड़े पुत्र श्यामविहारी और उनसे छोटे कृष्णविहारी के नामों में 'श्याम' और 'कृष्ण' समानार्थी हैं। "श्याम' शब्द बहुअर्थी है, अतः बड़े पुत्र का नाम रखा गया है। 'कृष्ण' शब्द रूढ़ और संकुचित हो गया है, अतः छोटे के लिए उपयुक्त है। इसी प्रकार 'प्रभाकर' और 'सुधाकर' नामकरण भी छोटे-बड़े के सार्थक नामकरण हैं। 'प्रभाकर' का अर्थ भी 'चन्द्रमा' है, और 'सुधाकर' का अर्थ भी 'चन्द्रमा' है, किन्तु 'प्रभाकर' में 'चन्द्रमा' के साथ-साथ 'सूर्य', 'शिव' आदि अर्थों की व्यापकता है, इसीलिए बड़े का 'प्रभाकर' और छोटे का 'सुधाकर' नाम रखा गया।

मैं कभी-कभी सोचा करता हूँ कि गुरुवर ने अपनी संतानों के नामकरण अनायास ही नहीं रख दिये होंगे, बल्कि एकान्त में अपने अध्ययन-कक्ष में बैठकर घण्टों या दिनों तक शब्द-योग की प्रक्रिया में उन पर विचार करके ही रखे होंगे। 'माजी' का नाम 'कमला' होने के कारण पुत्री का नाम 'गायत्री' भी समुचित है। ऋग्वेद में कमला (लक्ष्मी) का अर्थ सौभाग्यवती है, और वैदिक छंद का एक नाम 'गायत्री' है। 'कमला' विष्णु की पत्नी और 'गायत्री', विष्णु की एक शक्ति ब्रह्मा की पत्नी है। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार प्रजापति से 'कमला' और 'गायत्री' दोनों सम्बद्ध हैं। 'गायत्री' पर गुरुवर का स्नेह भी अगाध है। क्यों न हो? गायत्री ही तो वेदमाता है, सबसे अधिक पुनीत-पावन है। गुरुवर भी वैदिक संस्कृति में अगाध विश्वास का नाम लेते हैं और आचरण में पुनीतता सफेद कपड़ों को भी मात देती है। अकार, उकार और मकार (अर्थात् ओम्) का, तीन व्याहृतियों और तीन पादों में त्रिवेदों का यथाक्रम गायत्री में है। मन और बुद्धि को प्रकाशमान करने की उपासना का इतना हिमालयी मंत्र विश्व-साहित्य में ढूंढ़ पाना दुष्कर है, अतः शब्दयोगी के यथार्थ भाव का ही यह प्रतीक है।

इस प्रकार मुझे डॉक्टर सा'ब भारतीय साधकों की परम्परा में ही सम्बद्ध एक कड़ी नजर आते हैं। गांधी, टैगोर और अरविन्द इनके सत्य, काव्यत्व और चिन्तन में कहीं भी देखे जा सकते हैं। 'कवि' शब्द अपने उदात्त रूप में डॉक्टर साहब के लिए प्रयोग किया जा सकता है। 'एक कवि निर्माता भी इसीलिए कहलाता है कि वह अपने जीवनानुभवों का सम्प्रेषण करने के लिए उसे माध्यम चुनना है।'[1] डॉक्टर साहब का जीवन भी कितने ही शिष्यों, मित्रों और पारिवारिक लोगों के जीवन-निर्माण में प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रेरक रहा है। यदि मैं यहाँ नाम-परिगणन-पद्धति का आश्रय लूँ, तो मुझे पन्द्रह-बीस ठोस पेजों की और आवश्यकता पड़ सकती है। किन्तु, यहाँ मैं उनके सुपुत्र डॉ० कृष्णविहारी सहल के नाम का उल्लेख किये

1. The Process of Literature (Mackenzie) पृष्ठ ३५।

है। इसी प्रकार प्रायः हर शाम आचार्य अनन्तदेव जी के साथ सुहाने-शौक प
टहलते-टहलते दूर तक जाते हैं, साथ ही शब्द और अर्थ के अनेक क्षितिज भी स्प
किये जाते हैं।

विचार-बोध का यह गुण आपमें इतना सम्पन्न है कि हर नये विषय की
हर नयी पुस्तक का आपके यहां हमेशा स्वागत होता है। मुझे गौरव है कि मैं उनका
सर्वप्रथम शोध-छात्र हूँ। मैं जानता हूँ कि वे अपने शोधार्थी-छात्रों के लिए मौखिक
टाल-मात नहीं करते, अपितु स्वयं पढ़कर उस नये विषय में तादात्म्य स्थापित करते
हैं। कुछ दिनों पूर्व 'नयी कहानी' विषय रजिस्टर्ड हुआ, इसके लिए राजेन्द्र यादव
से लेकर हेतु भारद्वाज तक की नयी कहानियों का पढ़ना आपके 'विचार-बोध' का
प्रमाण है।

साहित्य के माध्यम से आनन्दोपलब्धि आपके जीवन का एक प्रमुख ला
रहा है। यह आनन्द सस्ते 'प्लेजर' से भिन्न और 'हिडोनिस्ट' सम्प्रदाय की कल्पना
से अलग है—'भारतीय आनन्द', जिसे कामायनीकार ने इन शब्दों में बांधा है :—

> समरस थे जड़ या चेतन
> सुन्दर साकार बना था,
> चेतनता एक विलसती
> आनन्द अखण्ड घना था।

such meeting that I plucked up courage to plod through Premchand's 'Godan'. But it is a measure of the difference between Prof. Sahal and me that while Prof Sahal soon acquired a working knowledge of Bengali to read Rabindranath in the original, my desire to read Tulsidas has been a mere bubble of a vague dream.

Prof. Sahal's reputation as a scholar and teacher has now spread beyond the bounds of a particular institution or a particular geographical region. He is widely respected for his learning and holds an honoured place among the exponents and critics of literature in Hindi. During the period of my association with him at Pilani, I saw how carefully and solidly the foundations of that scholarship and that reputation had been laid. He has the true scholar's 'infinite capacity for taking pains', and as a teacher, he has tried to make that capacity attractive to his students What higher praise can a teacher have ?

I re-visited Pilani after twenty-one years in May last, and was happy to find in Prof. Sahal the same vigour and alertness of mind as had impressed me when I worked with him at Pilani.

Prof. Sahal is a big educational administrator now as Secretary of the mighty Birla Education Trust. I know he will bring to bear in his administrative task the same sobriety, sincerity, steadiness and sympathy which have marked his conduct in his long career as a teacher.

I wish Prof. Sahal a long, happy life devoted, in health of body and mind, to the pursuit of noble endeavours.

•••

uch meeting that I plucked up courage to plod through Premchand's 'Godan'. But it is a measure of the difference between Prof. Sahal and me that while Prof. Sahal soon acquired a working knowledge of Bengali to read Rabindranath in the original, my desire to read Tulsidas has been a mere bubble of a vague dream.

Prof Sahal's reputation as a scholar and teacher has now spread beyond the bounds of a particular institution or a particular geographical region. He is widely respected for his learning and holds an honoured place among the exponents and critics of literature in Hindi. During the period of my association with him at Pilani, I saw how carefully and solidly the foundations of that scholarship and that reputation had been laid He has the true scholar's 'infinite capacity for taking pains', and as a teacher, he has tried to make that capacity attractive to his students What higher praise can a teacher have ?

I re-visited Pilani after twenty-one years in May last, and was happy to find in Prof. Sahal the same vigour and alertness of mind as had impressed me when I worked with him at Pilani.

Prof. Sahal is a big educational administrator now as Secretary of the mighty Birla Education Trust. I know he will bring to bear in his administrative task the same sobriety, sincerity, steadiness and sympathy which have marked his conduct in his long career as a teacher.

I wish Prof. Sahal a long, happy life devoted, in health of body and mind, to the pursuit of noble endeavours.

•••

फोन : ४४-२२४१
१९, लार्ड सिन्हा रोड (कलकत्ता-१६)
ता० ५-७-७०

प्रिय कन्हैयालालजी,

तुम्हारा पत्र जब कभी मिलता है या जब कभी मैं लिखता हूँ तो कितने ही संस्मरण और अपनेपन की बात मन में आती है। मैंने तुम्हारे नाम के साथ 'जी' शिष्टाचारिक ढंग से लगा दिया। अब तुम उम्र में भी काफी बड़े हो गये हो और पद में और योग्यता में भी। इसलिए सम्मानसूचक लिखना अच्छा है, तब भी यह ठीक है कि हम लोगों का जो सम्बन्ध रहा है और है, उसमें तुम्हारी उम्र, पद, योग्यता और यश आदि से मुझे हार्दिक प्रसन्नता होना स्वाभाविक है न कि सम्मान-सूचकता।

तुम्हारी पुस्तक 'अनुसंधान और आलोचना' मुझे प्रकाशक ने तुम्हारे आदेशानुसार भेजी थी और भाई भागीरथजी को भी। शायद उन्होंने तुम्हें पहुँच लिखी होगी। मैं सोचता रहा, उसको पढ़कर लिखूं। कुछ-कुछ पढ़ता रहा हूँ। तुम्हारे सभी प्रकाशन प्रायः मुझे मिलते रहे हैं। और वे अच्छे तो हैं ही, पर मुझे विशेष अच्छे इसलिए भी लगते हैं कि वे तुम्हारे लिखे हुए हैं। हिन्दी जगत में खासकर कहावतों, मुहावरों, राजस्थानी साहित्य आदि में तुम्हारा स्थान बहुत ही अच्छा बन गया है।

मैं समझता हूँ कि कुल मिलाकर तुम्हारी पुस्तकों की संख्या काफी हो गयी होगी। अच्छा है कि सब भाइयों में इस दिशा में तुमने बहुत उन्नति की। यों तो सभी भाई शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में ही काम कर रहे हैं। अब तो शायद १-२ लड़के बिजनेस में भी हैं न? शायद बैजनाथ के लड़के। तुम्हारे लड़के भी बहुत ही अच्छे और योग्य हैं। उन्होंने भी अपने-अपने क्षेत्र में अच्छा स्थान प्राप्त किया है, पर मैं उनके परिचय में नहीं आ सका, इसका दुःख है जब कि मेरा मानस तुम्हारे सारे परिवार के साथ जुड़ा हुआ है। भाई रामकुमारजी की मुझ पर बहुत कृपा रही और हम लोगों का बहुत स्नेह रहा। उस समय की यादों का तांता है जब हम रोज ही ५-५, ६-६ घण्टे साथ रहते। तुम्हारा पत्र मिलने पर मेरे मन में अनेक बातें आ जाती हैं। और वह ऊलजलूल तुम्हें लिख देता हूँ।

आशा है, तुम सब लोग अच्छी तरह हो। सब खुश रहो।

मेरी एक छोटी-सी पुस्तक 'बीता युग-नयी याद' सस्ता साहित्य मंडल से प्रकाशित हुई है, वह तुम को भिजवा रहा हूँ।

शुभेच्छु
सीताराम सेकसरिया

डॉ. कन्हैयालाल सहल :

व्यक्तित्व

और

कृतित्व

□

काव्य समीक्षा खण्ड

आधुनिक हिन्दी-काव्य में एक नूतन प्रयोग

• (स्व०) आचार्य रामकृष्ण शुक्ल

पिछले मास की कुछ नई कृतियों में डॉ० कन्हैयालाल सहल की काव्य-
ुस्तिका 'प्रयोग' की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट हुआ है। डॉ० सहल का मन्तव्य है
क जन-संकुलता और जीवन की व्यस्तता से अपने चित्त को कुछ क्षणों के लिए समेट
र प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र चिन्तन द्वारा सोचना चाहिए कि आज हम किधर जा
हे हैं। डॉ० सहल चिन्तन को कोरी बौद्धिक क्रिया ही नहीं समझते। अपने आमुख
 वह लिखते हैं—"आज बुद्धि का अधिक विकास हो रहा है। हृदय आज सिकुड़
हा है, बुद्धि और हृदय, ज्ञान और भक्ति दोनों का सन्तुलन आज अपेक्षित है।"
प्रयोग' में सहल जी ने अपने चिन्तन के कुछ क्षणों को पद्यों में बाँध देने का प्रयास
किया है, जिनमें 'हम किधर जा रहे हैं' के साथ-साथ लेखक ने इस पर भी चिन्तन
किया है कि हमें किधर जाना चाहिए।

अपने इन छोटे-छोटे पद्यों में सहलजी ने अपने आमुख की प्रतिज्ञा को निभाया
। जीवन के कुछ विचारोत्तेजक और मर्मस्पर्शी तथ्यों पर दृष्टिपात करते हुए
उन्होंने बुद्धि और हृदय में समन्वय स्थापित किया है और 'हम किधर जा रहे हैं' के
ौतूहल को लेकर आधुनिक जीवन की विषम विभीषिकामयी कृत्रिमता पर मार्मिक
ंग्य किया है। प्राचीन भारतीय संस्कृति को सहलजी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं
और आस्तिकवाद तथा अध्यात्मवाद में उनकी दृढ़ आस्था है। आधुनिक भौतिकवाद
के साथ वास्तविक सुखशान्ति की प्राप्ति किस प्रकार हो? कवि की जिज्ञासा
है कि —

"सब पर शासन की इच्छा क्यों,
यह क्या नित्य चिरन्तन ?

छिन्न भिन्न शासन करता हो,
[illegible] का बढ़ा [illegible] [illegible] ?
[illegible] का परिलक्षित नया युग,
ज्ञान और [illegible] का [illegible] ।
कहीं मिलेंगे एक साथ सब,
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।"

एक कविता में प्रकृति के उपादानों द्वारा मानवता की महिमा का भी वर्णन किया गया है। दार्शनिकता के भार बोझिल तर्क-जाल के रूप में नहीं, बल्कि कौतुहलमयी भावुकता के साथ अनेक स्थानों में मिलता है। रेडियो पर गाना ही रिकार्ड [illegible] के बाद [illegible] [illegible] [illegible] दर्शित हुई, उसका वह इस प्रकार उल्लेख करते हैं:—

"आज भी मैं सोचता हूँ, क्या यह [illegible] ही [illegible] पर नाम अपना मुँह छिपाता, [illegible] मैं [illegible] [illegible], [illegible], अब न जाने ही [illegible] को मैं [illegible] पहचान पाता !"

वर्तमान युग ने हमें अणु की शक्ति का परिचय कराया है। एक छोटा-सा पार्थिव अणु अपने विस्फोट से [illegible] विनाश [illegible] को क्षण भर में आत्मसात कर लेता है। तब यदि काल का एक क्षण या अणु कहीं बिखर जाए, तो क्या हो। सहलजी वाल्मीकि अथवा बुद्ध के जीवन के उस क्षण की याद करते हैं जिसने रामायण की रचना करवाकर या ज्ञान का आलोक फैला कर युगों-युगों को आत्मसात् कर लिया। पार्थिव अणु तो बिखर कर विध्वंस करता है, परन्तु काल का ऐसा अणु ठीक उसके विपरीत करता है। इसलिए—

"एक क्षण की बाहुओं में
अमरता जब बन्दिनी हो,
धन्य है वह एक ही क्षण ।"
"काल का अणु एक ही क्षण,
बिखर जो यदि जाय जग में,
व्याप्त उसकी परिधि में हो,
काल सीमाहीन बन कर ।"

देश-प्रेम की भावना भी 'प्रयोग' में यत्र-तत्र मिलती है। देश-गौरव और आत्म-गौरव से उल्लसित होकर कवि प्राचीन भारतीय शूरवीर का स्तोत्र-गान करता है—

"जब था यह नभ गिरने लगता,
वह अपना स्कन्ध लगा देता ।
उसका यह अनुपम शौर्य सैन्य में
जीवन-ज्योति जगा देता ।।

रोप अंगदी चरण युद्ध में,
प्रभु को भी ललकार लगाना ।
अगर भगाना हाथ ईश के,
देखूँ कैसे मुझे भगाना ।"

परन्तु प्रयोग में सबसे अधिक प्रभावशाली रचनाएँ वे है, जिनमे सहलजी ने मानव में से मानवता के निकल जाने पर दुःख प्रकट किया है या आधुनिक जीवन की एक तरफ दिखाई देने वाली दयनीयता तथा दूसरी तरफ दिखाई देने वाली भयङ्कर प्रवञ्चना और कुटिलता पर मार्मिक व्यंग्य किया है। अपने आमुख में भी वे लिखते हैं—"जन-रव और कानों को बहरा कर देने वाले कोलाहल में आज सत्य के स्वर डूब रहे हैं, छल और प्रवञ्चना का साम्राज्य है। शब्द आज अपना अर्थ खो बैठे हैं ...... निरन्तर डसना, दाँव लगाना, अहमहमिका से आक्रान्त होकर ईर्ष्या और द्वेष की आग में जलते रहना, उन्नति के शिखर पर चढते हुए किसी सदाशय व्यक्ति की टाँग खींचकर उसे धड़ाम से नीचे पटक देना, यही हमारे जीवन का नियम बन गया है। प्रेस, रङ्गमंच, साहित्य, रेडियो और बुलेटिनों के द्वारा हर शब्द को एक जनसंहारकारी विषम युद्ध का साधन बनाने के लिए विषाक्त कर दिया गया है। 'सत्य' जैसा महत्त्वपूर्ण शब्द आज भयाकुल और मूर्छित होकर कोने में जाकर अचेत सो गया है। अपने इसी आक्रोश को 'डबल थिंकिंग' नामक कविता में सहलजी मृदुता के साथ इस प्रकार प्रकट करते हैं—

"ऊपर से तो बात अमृत की, अन्दर विष घुलता है।
मुँह है एक, जीभ हैं दो-दो, यही बहुत खलता है।

यहाँ 'डबल थिंकिंग' चलता है।।"

जीभ के प्रसंग पर से सहलजी की एक अन्य कविता पर भी दृष्टि जाती है जिसमें जीभ के बारे में उन्होंने नए ढंग से सोचा है। जीभ बोलने वाले की भी सगी नहीं है। अपने कपट भाव में वह औपचारिक ढङ्ग से दाँतों से "दस्तबस्ता अर्ज" करती है कि आपके बीच रहती हुई कहीं मैं पिस न जाऊँ। पर भुक्तभोगी दाँत इसके स्वभाव से डरते हुए उत्तर देते हैं.—

"तू लचक जाती इधर, तू लचक जाती उधर,
कौनसा तेरा भरोसा जीभ है?
डर हमें लगता यही, बोलने जो तू लगी,
तू तुड़ाएगी हमें ।"

दोनों की दृष्टि से, ऐसा लगता है कि आजकल की नई मानवता की भाँति आधुनिक प्रयोगवादी नई कविता की ओर भी सहलजी का कुतूहल जागृत हुआ है। इसीलिए उन्होंने अपनी पुस्तिका का 'प्रयोग' नाम रखा है। परन्तु वह स्वयं इन रचनाओं को प्रयोगवाद कहते हुए झिझकते हैं। हमें भी पूरी पुस्तक में एक रचना "पुरानी बोतल में नई शराब" प्रयोगवादी-जैसी मिली है। प्रयोगवादी नई कविता में प्राय अर्थ-गाम्भीर्य कम देखने में आता है। परन्तु 'प्रयोग' की कविताएँ अत्यन्त अर्थ-गर्भ हैं। नई कविता में प्रायः यह भी देखते हैं कि उसमें एक गद्य-वाक्य को खण्ड खण्ड करके बहुत सी पंक्तियों में बिखरा कर उस गद्य का रूप देने की चेष्टा की जाती है, इसके विपरीत 'प्रयोग' पुस्तिका में पद्यात्मक पंक्तियों के टुकड़े करके उन्हें कई-कई पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है।

***

'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' पुस्तक की महती सामग्री देख कर चित्त प्रसन्न हुआ। लेखक ने इस विषय के अध्ययन को आधार-शिला रख दी है। लोक-साहित्य के तत्त्वों की छानबीन के लिए यह—मूल्यवान् कृति है। कहावतें प्रत्येक भाषा में स्वतः उत्पन्न हो जाने वाले वक्रोक्ति और व्यंजना से भरे हुए अनुभव-सूत्र हैं। राजस्थानी भाषा में उनके इतिहास और महत्त्व की खोज करते हुए डॉ० सहल ने नई और पुरानी बहुविध सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन किया है। मेरा विचार है कि इस आकर-ग्रन्थ से प्रेरणा पाकर अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के कार्य-कर्त्ता भी अपनी प्रादेशिक सामग्री को इसी पद्धति से छापने का प्रयत्न करेंगे। लोक-साहित्य के वर्धमान वाङ्मय में यह ग्रन्थ सर्वथा स्वागत के योग्य है।

—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' में कहावतों के बारे में बड़ी छान-बीन की गई है। पुस्तक विद्वत्तापूर्ण तो है ही, उपयोगी भी है।

—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

पी-एच.डी. उपाधये हिन्दी भाषया प्रस्तुतानामधिनिबन्धाना चूडामणिरय डॉ० कन्हैयालालसहलमहोदयाना 'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' नामा ग्रन्थराजः।

इति मनुते विदुषां वशंवदो

—डॉ० दशरथ शर्मा।

अम्लान काव्य-प्रभा

• डॉ० रामकुमार वर्मा

प्रभात का मनोहर काल। पूर्व में उषा ने सूर्य के आगमन के लिए विविध रंगों के फूलों की श्रद्धांजलि सजा ली। वायु के मन्द प्रवाह से आकाश के बादलों ने अपनी दिशाएँ बदल लीं और एक अरुणाभा प्रकृति के अधरों पर खिल उठी।

मन ने सोचा कि कुछ इसी तरह डॉ० सहल का साहित्य वैभव है। विविध रंगों के फूलों की तरह उनके काव्य, निबंध और आलोचना का रूप है जो साहित्य-देवता पर समर्पित होने जा रहा है और जो प्रकृति के अधरों पर अरुणाभा है, वही उनकी काव्य-प्रभा है जो उनकी प्रतिभा से फूट निकली है।

यह काव्य-प्रभा कभी मलीन न हो।

•••

आप सफल आलोचक भी हैं, अतः आपके काव्य में 'प्रयोग' की झलक बड़ी सुलभी हुई है। ये रचनाएँ 'प्रयोगवाद' का मार्ग-प्रदर्शन करेंगी, ऐसी आशा है।

—डॉ० रामकुमार वर्मा

डॉ० कन्हैयालाल सहल का काव्य

• डॉ० इन्द्रपालसिंह 'इन्द्र'

हिन्दी साहित्य मे डॉ० सहल का अवतरण एक सुधी, मननशील, चिन्तक एवं सरसमालोचक के रूप मे हुआ था। शुक्लोत्तर समीक्षा के विकास मे, जिन कतिपय समालोचकों का प्रदेय महत्त्वपूर्ण माना जाता है, उनमें डॉ० सहल का नाम भी समादर के साथ लिया जाता है। उनकी आलोचनात्मक कृतियाँ तथा समीक्षात्मक निबन्ध ही उनके यश-सौरभ को विकीर्ण करने में सक्षम हैं। सरसमालोचक के लिए जहाँ चिन्तन की गहनता, विचारों की स्पष्टता एवं शैली की गुम्फुता अपेक्षित है, वहाँ हृदय की सरसता भी वाञ्छनीय है। भावयित्री प्रतिभा के बिना कवि या साहित्यकार के भावाम्बुधि मे अवगाहन कर रत्नों को निकालना सम्भव नही है। डॉ० सहल इन गुणों से विभूषित है। कवि उत्पन्न होते हैं, बनाये नही जाते, उसी प्रकार सरसमालोचक भी उत्पन्न ही होते हैं, बनाये नही जाते। डॉ० सहल ऐसे ही समालोचक हैं। जब समालोचक मे भावयित्री प्रतिभा के साथ कारयित्री प्रतिभा भी हो, तो उसकी समालोचना मे अपने 'स्व' का वैशिष्ट्य भी समाहित हो जाता है, क्योंकि वह कवि के मानस में प्रविष्ट होकर उसकी अनुभूति के साथ सहजता से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और उसका स्वाभाविक रूप से उद्घाटन करने मे समर्थ होता है। डॉ० सहल का समालोचक ऐसा ही है। जब-जब उनका आलोचक मचल उठा है, विचारों पर भावना छा गई है तथा भावयित्री प्रतिभा को कारयित्री प्रतिभा ने अभिभूत कर लिया है, तब-तब उनका कवि मुखर हो उठा है और उनकी हृदय-वीणा से कविता के स्वर फूट पड़े है, जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है :—"क्षणों गे मे लय अनायास आ गई है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि लय ने धागों से काव्य-पट बुनने मे मुझे सहायता पहुँचाई है।"[1] तथा "चिन्तन

[1] क्षणों के धागे, ताना-बाना पृ० ६।

हम अपने अतीत से ही प्रकाश ग्रहण कर अपने भविष्य का निर्माण कर सकते
वस्तुतः मानव अपनी परम्परा का ही विकास है। उसका जीवन अनन्त काल
महा धारा में प्रकाश-स्तम्भ-सा है। वह अपनी परम्परा से ग्रहण करता है
अनागत को उसे और भी प्रभविष्णु बनाकर समर्पित कर देता है। इसीलिए
ने कहा है कि :—

"मैं न मात्र आगामी वर्ष का
मुखरित मेरा अहं हो रहा
मैं हूँ पाँच हजार वर्ष का।"[1]

उसे अपने इस महत्त्व को पहचानना चाहिए। छोटे से छोटा कहा जाने वाला व्य
भी महत्त्वपूर्ण है। सच पूछा जाय तो समाज की नींव का आधार वही व्यक्ति
जिसके श्रम के आधार पर यह समाज खड़ा है। यदि नींव का पत्थर विद्रोह क
उठे तो भवन क्षण में ध्वस्त हो जायेगा। कवि इसी प्रतीक के माध्यम से श्रमि
को जागरूक करता हुआ कहता है :—

"निकल पड़े बाहर
नींव के प्रस्तर सभी
और गिर पड़ा
प्रासाद भी
जमीन पर।"[2]

साथ ही उन व्यक्तियों को भी चेतावनी देता है, जो श्रमिकों अर्थात् समाज के इन
आधार-स्तम्भों को हीन समझकर अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं। राजनैतिक
प्रचारात्मक तथाकथित प्रयोगवादी कविताओं में उतनी शक्ति नहीं दिखाई देती, जो
इन क्तियों में दिखाई देती है। कवि ने बड़े सधे एवं विचारपूर्ण ढंग से अपने कथ्य
को मर्म तक पहुँचाने का सफल प्रयत्न किया है। विद्रोही के लिए साहस एवं दृढ़ता
अपेक्षित है, क्योंकि उसे अपने पथ से डिगाने के लिए वज्राघात भी किया जा सकता
है, उसे क्षुधा-पिपासा सम्बन्धिनी यातनाएँ भी दी जा सकती हैं, किन्तु सच्चा
विद्रोही और वीर अडिग रहकर अपने अधिकारों के लिए शान्ति तथा सहनशीलता
के साथ संघर्ष करता ही रहता है। मृत्यु का भय भी उसे अपने पथ से विचलित नहीं
कर सकता। कवि ने नीलकण्ठ मयूर के प्रतीक द्वारा यही सन्देश दिया है।—

---

१. क्षणों के धागे, पृ० २४।
२. समय की सीढ़ियाँ, पृ० २२।

"चौदह वर्षों तक मयूर वह
केवल कंकड़-पत्थर खाकर
रहा धरा पर जीवित अविचल,
संघर्षों में गिरते-पड़ते
जिसे देखकर
नभ के बादल बोल उठे थे—
'अरे भानजे ! अरे मोरिये !'
तू तो सचमुच, नीलकण्ठ है
तू जीता, हम हारे।"[1]

जो नीलकण्ठ की भाँति विषपायी होकर अविचल, अस्थिर एवं दृढ़ रहता है, सफलता उसके चरण चूमती है और विरोधी शक्तिसम्पन्न होकर भी उसके समक्ष नत होने को विवश हो जाते हैं। ऐसा धीर-वीर व्यक्ति ही जीवन को जीता है।

डॉ० सहल वस्तुतः जीवन के कवि हैं। जैसा कि हमने देखा है, उन्होंने व्यंग्यों एवं प्रतीकों के माध्यम से जीवन की विकृतियों पर आघात करते हुए सन्देश दिये हैं। पलायनवादी प्रवृत्ति से उन्हें सहज वितृष्णा है। जीवन का जीवनत्व उसकी गतिशीलता में ही है और यह गतिशीलता तभी रह सकती है, जब जीवन के प्रति अनुराग हो, आस्था हो। इसी कारण कवि अपने आराध्य से निवेदन करते हुए कहता है :—

"नाथ ! कि चाहे
बीच भँवर में नैया मेरी
डगमग-डगमग करती होवे
कभी न मैं निज हिम्मत हारूँ।
जीवन के प्रति आस्था मेरी
बनी रहे अविचल, पल-प्रतिपल।"[2]

कठिनाइयाँ और बाधाएँ तो वे कसौटियाँ हैं, जिनके कारण जीवन में और भी चमक आता है, स्फूर्ति एवं शक्ति का अभिनव संचार होता है। बिना साधना और तपस्या के सिद्धि प्राप्त नहीं होती। कष्ट-कसौटी पर कसा हुआ त्याग-तपस्यापूर्ण जीवन ही अन्धकार के लिए ज्योति विकीर्ण कर सकता है। अतः कवि कहता है —

---

१. धरती के धागे, पृ० १५।
२. धरती के धागे, पृ० २१।

"दीप–वर्तिका जली नहीं
सिर न कटाया यदि उसने तो
क्या प्रकाश बढ़ सका कहीं।"[१]

चन्द्रमा क्षीण होते-होते लुप्त हो जाता है, किन्तु वह पुनः नवीन उत्साह के साथ बढ़ता है, धीरे-धीरे अपनी कलाओं को संचित कर तम के महादानव को परास्त कर नभ-मण्डल में अपनी स्निग्ध मुसकान बिकीर्ण कर देता है। इसी प्रकार जीवन को जीवन मानने वाला वीर पराभूत होना नहीं जानता। वह "एक बार देकर प्राणों को सौ-सौ बार जिया करता है।"[२] मृत्यु भी ऐसे दुर्धर्ष वीरों से आतंकित रहती है और अमरता उसके साथ परिणय करने को समुत्सुका रहती है। कवि अपनी ओजस्विनी वाणी में इसी भावना को व्यक्त करते हुए कहता है :—

"जहाँ मौत भी आतंकित थी
वीरों के बलिदानों से
वहाँ अमरता मुसकायेगी
जीवन-ध्वज फहरायेगा
रात भले लम्बी हो कितनी
ध्रुव प्रभात तो आयेगा।"[3]

आशा और अमरता का कितना भव्य सन्देश भरा हुआ है इन पंक्तियों में। कवि ने अपनी 'शूरवीर', तपस्या, मैंने कब कहा कि '''स्वर्ग समान करेंगे धरती, बहुजन हिताय, उत्थातव्य जागृतव्य, इत्यादि कविताओं में जीवन के लिए इसी प्रकार की प्रेरणा दी है। मरमिट कर जीने की भावना तभी आ सकती है, जबकि शरीर के साथ आत्मा भी बलवती हो और आत्मा बलवती हो सकती है स्वावलम्बन एवं अपनी त्रुटियों को स्वीकार करने से। कवि इतने से ही संतोष नहीं करता, वह तो इतना महान् है कि संसार की समस्त त्रुटियों से अपने मानस को भर लेना चाहता है। वह अपने इष्ट से प्रार्थना करता है :—

"हे करुणामय! हे विश्वम्भर!
दुनिया की जितनी त्रुटियाँ हैं
मेरे मानस में सब भर दो।"[४]

१. प्रयोग, पृ० ३६।
२. समय की सीढ़ियाँ, पृ० ५।
३ वही, पृ० ५।
४. प्रयोग, पृ० १०।

महात्मा गांधी जी भी इतने ही महान् थे। अतः कवि ने उनके प्रति अपनी श्रद्धा के पुष्प समर्पित करते हुए कई कविताएँ लिखी हैं। गांधी जी सत्य-पुरुष थे, जो "दोष हिमालय-सा करके भी आत्मा के नगराज बन गये थे।"[1] वे सत्य के बल से ही वर्तमान में ही भविष्य को ले आये थे और उन्होंने अपने कृतित्व से समय के ऐसे बाँध बाँधे हैं, जिनको काल कभी भी ध्वंस नहीं कर सकता और उन बाँधों में :—

"ऊसर मानवता का मरुथल
सदा सिक्त होकर नित नूतन
हरियाली में परिणत होगा।"[2]

गांधीजी ने शाश्वत जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। दरिद्रनारायण के प्रतिनिधि बनकर मानवता का जो आलोक उन्होंने विकीर्ण किया है, उससे आगामी युग प्रकाशित होते रहेंगे। अतः गांधी जी चिर-चिर नवीन हैं। आज विनोबा जी उन्हीं के चरण-चिह्नों पर चलकर भूदान-यज्ञ का सत्कार्य कर रहे हैं, जो आत्मा की कारा को खोलकर विपन्न मानवता को उत्कर्ष की ओर प्रेरित करता है। कवि ने उनकी वाणी को भी मुखरित किया है।

भारतीय संस्कृति के चिरन्तन आदर्शों की प्रतिष्ठा करने के साथ ही कवि ने नवयुग की उपलब्धियों का भी उत्साह से स्वागत किया है। चन्द्र-विजय का जो अभियान रूस ने किया था, उसकी कवि ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है।[3] राष्ट्र-सेवी वीरों के प्रति भी आस्था व्यक्त की है। स्वतन्त्रता के बाद जैसी आशा और आकांक्षा थी, उसकी पूर्ति न होने से आज कुण्ठाओं को ही जन्म मिला है जिनकी अभिव्यक्ति आज के अनेक कवियों ने की है, किन्तु डॉ० सहल का कवि इन परिस्थितियों से निराश नहीं है, उसे तो ज्योति के दर्शन होते हैं। अतः वह कहता है :—"रात भले लम्बी हो कितनी ध्रुव प्रभात तो आवेगा।"[4] आज पुनः ऐसी ही रचनाओं की आवश्यकता है। निराशा और कुण्ठा मात्र को ही चित्रित करना कवि-कर्तव्य नहीं है।

कवि ने प्रकृति के प्रति भी अपना प्रेम प्रदर्शित किया है। सौन्दर्य और निर्लोभता के प्रतीक कमल, नवोन्मेष एवं स्फूर्ति के प्रेरक वसन्त का प्रशस्ति-गान

१. प्रयोग, पृ० ८-९।
२. क्षणों के धागे, पृ० ६।
३. क्षणों के धागे, पृ० १०।
४. समय की सीढ़ियाँ, पृ० १०।

कविताएँ इसी कोटि की हैं। छायावादी कवियों की भाँति कवि ने प्रकृति का
मानवीकरण भी किया है। वर्षा को उसने नवेली वधू बनाकर उसका स्वागत
किया है। यही नहीं, अपितु अमूर्त वृत्तियों का भी मूर्तीकरण या मानवीकरण
करके उनको गवाक्षों से झाँकते देखकर वह उनकी नोकी-मीठी चितवन से मुग्ध भी
हुआ है।[1] कवि का नव्य अप्रस्तुत-विधान बड़ा सशक्त एवं अर्थगर्भित है। यथा–
'जनता-में किसी जन को कोष्ठक की तरह अथवा वाक्य के ब्याज पैरेन्थेटिकल-सा
दर में दबा', अनुभव की दुहिताएँ (नोकोशियाँ) बार को दीमक से अछूता फर्नीचर
'इस ब्लॉटिंग पेपर-से वे, स्याही-सोख बना बेकार', 'दिमाग का फर्नीचर जर्जरित,
दीमक लग गई है उसे, पाउडराइज करो उसे', इत्यादि अनेक नवीन अप्रस्तुत कवि के
अभीप्सित भाव को प्रेषणीय बनाने में पूर्णतः सक्षम हैं, यही काव्य की परम सिद्धि
है, जो सहल जी के काव्य में मिलती है। उनका भाषा के प्रति किसी प्रकार का
आग्रह नहीं है। भाषा भावों की वाहिनी होती है। कवि ने भावों के अनुकूल भाषा
का प्रयोग किया है। उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग हुआ
है, उनने तद्भव शब्द भी अपनाये हैं, सामान्यजन की भाषा में प्रयुक्त होने वाले
शब्दों को भी स्थान दिया है तथा अंग्रेजी के शब्दों ने भी स्वाभाविक प्रवाह में
आकर अपना स्थान बना लिया है। कवि का मुख्य लक्ष्य अपने कथ्य पर है और
उसने इस बात का ध्यान रखा है कि वह जिस उद्देश्य से लिखा जा रहा है, उसमें
समर्थ हो। यही उसकी विशेषता है।

इस विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि डॉ० सहल केवल अपने
लोक के कवि नहीं हैं, अपितु इस लोक के कवि हैं। इसी से उन्होंने अपने भावों
को विचारों के साथ गूँथ दिया है। उन्होंने अपनी काव्य-सरिता में हमें डुबाकर
बहाया नहीं है, अपितु अवगाहन करा कर कल्मष को धोने का प्रयत्न किया है।
अतः उनका प्रदेय एक विचारक तथा चिन्तक कवि के ही अनुरूप है।

•••

1. प्रयोग, पृ० ६।

नए काव्य के परिप्रेक्ष्य में डॉ॰ कन्हैयालाल सहल का काव्य

• डॉ॰ नत्थनसिंह

छायावादोत्तर हिन्दी-काव्य की परिधि से, यदि प्रगतिशील कविता एव आधुनिक गीति काव्य को पृथक् कर दिया जाय, तो जो कुछ बच रहता है, वह बहुत हलका, असाहित्यिक एवं घिनौना है। इस साहित्य के स्रष्टा तथा समीक्षक के लम्बे-चौडे दावे तथा व्याख्या-विश्लेषण के उपरान्त भी, इस बात को असत्य सिद्ध नही किया जा सकता कि वह स्वय आरोपित कुण्ठित हृदय की अस्पष्ट अनुभूति की असफल व्यजना है। वह संकीर्ण हृदय की एकागी, रुग्ण एव समाज-निरपेक्ष तथाकथित अभिव्यक्ति है। यही अभिव्यक्ति, नयी कविता के नाम से अभिहित की गई।

नयी कविता को सास्कृतिक, आध्यात्मिक तथा कलात्मक सिद्ध करने के लिए कला की नवीन कसौटियाँ तैयार की गई। उसका उद्देश्य नए सत्य का उद्घाटन करना बताया गया। उनको नए सत्य का अनुसधान मिला-'लघुमानव' मे और 'लघुमानव' दीख पडा—आत्मपीडन तथा अनास्था मे। नए काव्य के साथ नवीन सौन्दर्याभिरुचि की भी सगति बैठाई गई, वह निकली जडीभूत, जिसका मूल आधार उच्चवर्गीय मध्यवर्ग है। इसी वर्ग के, कुण्ठित व्यक्ति के अवचेतन की निराशा, अनास्था और घुटन को प्रकट करना कला का सत्य और नए काव्यकार का उद्देश्य माना गया। इस उद्देश्य की दिशा मे, नयी कविता लडखडाई, गिरी और फिर घिसटने लगी।

कुछ काल की अपनी यात्रा मे, नयी कविता ने व्यक्ति-सत्य, व्यक्ति-चिन्तन और व्यक्ति-यथार्थ के विविध स्तरो के उद्घाटन का प्रयास किया। कही-कही, व्यक्तिहित तथा समाजहित के सामंजस्य का विफल प्रयास भी दृष्टिगत हुआ।

अन्ततः नयी-कविता में भाव-बोध के नाम पर व्यक्तिवादी बौद्धिकता ही उभर कर आई। परम्परागत विश्वासो के प्रति अविश्वास, मानव की सृजनात्मकता के प्रति संदेह, मानव के सुन्दर भविष्य के प्रति शंका और मानवीय पौरुष के प्रति हीन-भावना आदि व्यक्तिवादी बौद्धिकता के ज्वलन्त पहलू रहे। नयी कविता मे शिल्प-बोध के नाम पर नवीन भाषा, नवीन प्रतीक, नए छन्द और योनि-बिम्ब को स्वीकार किया गया। भाषा में खण्डित गद्यमयता का समावेश हुआ।

नयी-कविता को स्थापित मूल्यों और परम्परागत विश्वास-विरोधी आन्दोलन भी कहा जा सकता है। इसके व्याख्याताओं ने रसानुभूति या साधारणीकरण के विपरीत बौद्धिकता, अनुभूति के विपरीत अनुभव और समाज के विपरीत व्यक्ति को महत्ता प्रदान की। उन्होंने, शब्द की लय के स्थान पर, अर्थ की लय का भी नारा दिया! इस प्रकार, नयी कविता का समस्त स्वरूप, साहित्यिक जगत से लोकमंगल की भावना का निर्मूलन और वैचारिक क्षेत्र में समाजवादी चिन्तन का विरोध करना सिद्ध हुआ।

डॉ० सहल का काव्य, नयी कविता की उक्त कसौटी पर खरा नही उतरता। यही उसकी श्रेष्ठता और सफलता का प्रमाण है।

डॉ० सहल के काव्य में, नए काव्य के समान प्रयोग मिलते हैं, किन्तु साहित्यिक तथा सामाजिक परम्पराओं से आस्थाहीन भटकाव नही मिलता। इनके काव्य में, प्रयोग की सीमा शिल्प तक निहित है और परम्परा के अन्तर्गत विशुद्ध देश-प्रेम, ठोस सामाजिकता, मानवता के विकास में अविचल आस्था, गांधीवादी जीवन-दर्शन के प्रति अनुराग, युद्ध-विरोधी भावना और अज्ञात शक्ति में विश्वास आदि की गणना की जा सकती है।

डॉ० सहल ने, अपने समस्त काव्य-जीवन मे, परम्परा की उपयोगिता को तुला पर तोला है। अनुपयोगी और मानव-विकास में बाधक परम्पराओं को इनके काव्य में स्थान नही मिला।

अब, डॉ० सहल के काव्य की राह से गुजर कर उक्त मान्यता की प्रामाणिकता सिद्ध करना आवश्यक है। अब तक, डॉ० सहल के दो काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए है—'प्रयोग' (1956) और 'धरणी के धागे' (1960 ई०)।[1]

देश-प्रेम की दृष्टि से 'धरणी के धागे' की 'देश, मेरे देश' एवं 'अभिनन्दन' और 'प्रयोग' की 'ज्योति भूमि यह देश हमारा' नामक कविताएँ उल्लेखनीय हैं।

1. हाल ही में 'समय की सीढ़ियाँ' नामक तीसरा काव्य-संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है।—सम्पादक

आज, प्रान्तीयता का दानव समूचे राष्ट्र की आत्मा को खाये जा रहा है। यह संकीर्ण चिन्तन कवि को व्यथित करता है। अतः कवि, उत्तर-प्रदेश मे प्रवाहित पुण्यसलिला गगा के सास्कृतिक महत्त्व और राजस्थान की वीर भूमि के गौरव को, केवल इन प्रदेशो का ही न मानकर, समूचे राष्ट्र का सिद्ध करता है।

'अभिनन्दन' मे, कवि ने, भारत के स्वाधीनता दिवस—पन्द्रह अगस्त का स्तवन करके अपने राष्ट्र-प्रेम का परिचय दिया है। 'प्रयोग' की 'ज्योति भूमि यह देश हमारा' नामक रचना देश के सास्कृतिक गौरव, शान्ति-कामना, सह-अस्तित्व, समाजवादी चेतना और मानवतामूलक स्वरो की अभिव्यक्ति करती है। कवि को, भारत भूमि की जन-जागृति और समाजोन्मुखी चेतना मानव-स्वाधीनता का सहज मार्ग प्रतीत होती है। अतः कवि गर्व के साथ गा उठता है—

नव-जागृति की अँगडाई ले, जग को एक चुनौती देकर,
भारत हृदय एशिया का यह, जाग उठा अब सारा।

मैंने, प्रारम्भ मे, निवेदन किया है कि डॉ० सहल को चिन्तन-पद्धति वैयक्तिक न होकर समष्टिमूलक है। इसका प्रमाण है—'क्षणो के धागे' की 'बहु जन हिताय' नामक कविता। कुछ समय के लिए नरक मे गए धर्मवत्सल राजा द्वारा शक्र तथा यमराज से कहे गए शब्द विचारणीय हैं—

"मैं न यहाँ से तब तक जाऊँगा
जब तक इन दुखिया जीवो को
मुक्ति नरक से
नही मिलेगी।"

स्पष्ट है, कवि का आदर्श राजा, अपने सुख का परित्याग करके, नरक-वासी अनेक जीवो की मुक्ति की कामना करता है। नयी-कविता की वैयक्तिक कुण्ठा की तुलना में यह दृष्टिकोण कितना स्वस्थ और समाज-सापेक्ष है।

कवि का यही दृष्टिकोण, प्रयोग की 'ओ नवो माणस कोण छे' और 'कोई सुन न ले' नामक दो-रचनाओ मे देखा जा सकता है। बम्बई जैसे व्यावसायिक शहरों में, ऐसे अनेक माता-पिता रहते है, जो प्रातः अँधेरे मे ही, बच्चो के जगने से पूर्व काम पर चले जाते है और रात को, बच्चो के सो जाने के बाद, अँधेरे मे, घर लौटते हैं। छुट्टी के दिन, नए व्यक्ति को घर मे देखकर, बालक अपनी माता से पूछते हैं—घर मे यह नया व्यक्ति कौन है? जीविकोपार्जन के लिए, रात और दिन, इस मृत्युगामी संघर्ष मे रत, मानवता के लिए, कवि-हृदय में कितना प्रेम है, यह इस कविता मे ज्ञात होता है। वैयक्तिक कुण्ठा और अनास्था की रेतीली भूमि में

दर्शहित, नयी कविता की शुष्क धारा में इस मानवता-प्रेम का रस नहीं मिलता। इसके विपरीत, मानवता-प्रेम, डॉ० सहल के काव्य की सहज उपलब्धि है। कवि, अपने हृदय की सचित निधियों व्यथित मानवता के लिए बाँटने को सहज सन्नद्ध है। 'कोई सुन न ले' कविता इसका प्रमाण है। यही स्वर, प्रयोग की 'चान यह नाटक एडें' नामक रचना में सुना जा सकता है।

कवि को, मनुष्य में मनुष्यता के बहिर्गमन पर अत्यन्त दुःख है। अत वह जन की सारी त्रुटियाँ स्वय लेकर अपनी चिरसचित निधियाँ वितरित करने का अभिलाषी है। वह देखता है कि आस्थाहीनता, वैयक्तिक स्वार्थोन्मुखता, जीवन के उदात्त मूल्यों के प्रति विश्वासहीनता, पूँजीगत अमानवीय प्रतिद्वन्द्विता और बडे राष्ट्रों की युद्धलोलुपता ने मानव में मर्यादाहीनता का सचार किया है। वह देखता है कि आज का मनुष्य, मानव न रहकर स्वार्थ-पूर्ति की मशीन का एक पुर्जा बन गया है। कवि को, मानव के इस पतन पर दुःख है, किन्तु वह नयी-कविता के कवि के समान पतन और ह्रास के गीत नहीं गाता और न उसको वकालत करता है। उसे, मनुष्य की सृजन-शक्ति में विश्वास है। अत वह, लोकहितार्थ आस्था और विश्वास के गीत गाता है। 'विडम्बना' नामक रचना इसका प्रमाण है।

इस रचना में, कवि ने, असमंजसतामूलक आधुनिक जीवन का जो प्रात जगते ही चायपान, दैनिक पत्र के हेडिंग-पाठ, रेडियो-श्रवण, सिगरेट-पान और दफ्तर-गमन से प्रारम्भ होकर सन्ध्याकालीन खेल-कूद, क्लब में गप-शप, सिनेमा-दर्शन तथा गान तानों करने मात्र तक सीमित है, कठोर विरोध किया है और सघर्ष तथा साहसशीलता का 'तू जीता हम हारे' नामक रचना में समर्थन।

मयूर की दृढता, सघर्षशीलता और जीवन-विश्वास कायम रखने की क्षमता मानव के इन्हीं गुणों का प्रतीक है। मयूर, साहसशील और दृढव्रती मनुष्य का प्रतीक है। नयी कविता के मनगढ़ प्रतीकों की अपेक्षा यह प्रतीक सार्थक एव सुन्दर है।

नयी-कविता के कवि को न तो मनुष्य के जीवन में विश्वास है और न उसके जीवन-मूल्यों में। वह वर्तमान के प्रति-कुण्ठाग्रसित और भविष्य के प्रति निराशामय है। दूसरी ओर, डॉ० सहल को मानव के सुन्दर भविष्य में विश्वास है, देखिए—

> "तीस मार्च-सा दिवस
> एकता का जो स्मारक
> हमको प्रेरित सदा करेगा
> उन्नति-पथ पर।
> धरा उर्वरा सभी बनेगी

नये-नये आयोजन होंगे
खानें रत्न राजियां उगलें
प्रगति-पंथ अवरुद्ध न होगे
तीस मार्च यह
काल-खण्ड है।"

उक्त पंक्तियां, इस बात की प्रमाण है कि नयी-कविता के कवि के समान, डॉ० सहल का कवि न तो आत्महीनता का शिकार है और न अनास्था का, वह न नैतिक संकल्प के अभाव से आक्रान्त है और न तज्जन्य क्षोभ तथा उन्मादी भावना से। नयी-कविता के रचयिता के समान वह आन्तरिक रिक्तता से भी पीडित नही है। उसकी अपनी निश्चित दिशा है और दिशा मे अग्रसर होने का शारीरिक तथा नैतिक साहस भी है। उसकी प्रतिज्ञा है,

"स्वर्ग समान करेंगे धरती
इस धरती के लाल
सभी वे इस धरती के लाल"

सहलजी की आस्था के स्वर उनकी व्यंग्यात्मक कविताओं में भी देखे जा सकते है। 'क्षणो के धागे' की 'तनिक सरक जा अरी धरित्री' मे तथाकथित यशस्वी तथा गर्व से आक्रान्त वर्ग पर व्यग्य है और 'आओ, हम रोडा अटकावें' मे 'मुँह पर राम बगल मे छुरी वाली' मनोवृत्ति वाले समाज पर। 'क्या ये पलकें भी कृत्रिम हैं' कविता मे मर्यादा का उल्लघन करने वाला समाज व्यग्य का शिकार हुआ है। 'प्रयोग' की 'पुरानी बोतल मे नई शराब' और 'डबल थिंकिंग' कविताएँ-व्यग्य प्रधान है। इनका व्यग्य सोद्देश्य और सामाजिकतापरक है। कवि सम्यक्-दृष्टि का आराधक है। 'साइकिल मेरा जीवन दर्शन' कविता इसका प्रमाण है।

नये-काव्य की प्रेरणा के स्रोत न तो भारतीय समाज मे थे और न भारतीय इतिहास तथा सस्कृति के गौरवपूर्ण अन्तराल मे। फलतः उसकी समस्त बौद्धिकता तथा दार्शनिकता कृत्रिम और स्वय आरोपित सिद्ध हुई। उसकी प्रेरणा के आधार थे, टी० एस० इलियट के 'वेस्टलैण्ड' तथा 'दि हॉलो मैन' जैसी कुण्ठित कृतियां। उसको 'ज्यां पाल सार्त्र' जैसे अस्तित्ववादी एवं कोलिन विल्सन, गुन्यर, ब्लॉकर और एन्द्रे मालराक्स जैसे अनास्थावादी विचारकों से भी प्रेरणा मिली। इसके विपरीत, सहल जी की प्रेरणा के स्रोत हैं, शान्तिकामी एवं मानवता के उपासक महात्मा गांधी एवं विनोबा। 'प्रयोग' की 'सत्य-पुरुष' तथा 'क्षणों के धागे' की 'हे अमर ज्योति' नामक रचनाएँ गांधी-दर्शन का प्रभाव सिद्ध करती है और 'प्रयोग' की 'धरती धन्य-धन्य हम जानी' विनोबा का।

पुराकाव्य और पुनःस्थापनावादी के समान कवि भी मानव के सुन्दर भविष्य के प्रति आस्थावान है। 'समर का वीर' कविता की पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

"ऊसर मानवता का मरु-थल
उससे सदा सिक्त होकर नव
हरियाली में परिणत होगा
नयी-नयी आशाएँ जिससे
कुसुमों-सी हो होकर
विकसित
जगती के विस्तृत आँगन को
सुरभित पुलकित सदा करेंगी।"

निष्कर्ष यह है कि डॉ० सहल स्वस्थ परम्परा के अनुयायी कवि है। काव्य-रचना उनका अभिप्रेत नही। उनका अभीष्ट है, अन्त तथा बाह्य परिस्थितिजन्य संघर्षात्मक अनुभूति की व्यंजना। कविता, उनके लिए निहित उद्देश्य की पूरक शक्ति है। नयी कविता का कवि एक रहस्यमय आत्मपीडन से भी आक्रान्त है, जिसके बीज स्वच्छन्दतावादी कवि में खोजे जा सकते है। डॉ० सहल इस व्यक्ति-मूलक आत्मपीडन से मुक्त है। उनमें जहाँ-कही पीडा का अस्तित्व है, वह सामाजिक वैषम्य का परिणाम है।

वह सामाजिक पीडा से दुःखी है, किन्तु इसके निर्मूलन की वह क्रान्तिकारी साहसशीलता, जो निराला जी की विशेषता है, इनके काव्य का आभूषण नही बन पाई।

डॉ० सहल काव्य मे वजन, सयम अथवा ध्वनि-लहरियो के समर्थक है। वह नयी-कविता के पक्षधरो की भांति कविता को एक 'अन्दाज' या श्रमरहित रचना नही मानते। उनकी इस मान्यता के प्रमाण, उनके दोनो काव्य-संग्रह हैं। इनकी रचनाओं मे गतीतात्मक अभिव्यक्ति, रचना-गत सयमन, छन्द-लालित्य और अभि-व्यंजना की सरसता वर्तमान है।

सहलजी काव्य मे प्रयोगो के विरोधी कभी नही रहे। नये-नये प्रयोगो को, आपने, शुभ लक्षण माना है, किन्तु प्रयोग के पीछे वर्तमान अनुकरण-वृत्ति का वह विरोध करते हैं। पश्चिमी काव्यकारो की अधी नकल को वह हेय मानते है। नव्यतम यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए नूतन छन्द की उद्भावना उनको ग्राह्य है। 'प्रयोग' की 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे', 'पुरानी बोतल मे नई शराब' और 'काल का

अणु' तथा 'क्षणों के धागे' को 'नमस्कार', 'समय का बोध', 'तू जीता हम हारे', 'फिर भी वह तो मात्र द्विपद है', और 'मैंने कब यह कहा कि' आदि रचनाएँ छन्द के प्रयोगों की साक्षी देती हैं। इसके अतिरिक्त, सहलजी ने लोकगीतों की ध्वनि पर 'स्वर्ग समान करेंगे धरती' और सहगानमूलक 'धरती धन्य-धन्य हम जानी' जैसे प्रयोग भी किए हैं। इनकी विशेषता यह है कि ये केवल प्रयोग मात्र नहीं, कुशल अभिव्यंजना के उपादान भी हैं।

कई कविताओं में, आपने, भाषा के प्रयोग भी किए हैं। राजस्थानी भाषा की कई पंक्तियों को कविताओं में रखकर अभिव्यक्ति को तीव्र बनाया है। 'मोरिया', 'लौह', 'तणी', 'माणस', 'छै' आदि राजस्थानी भाषा के प्रयोग से प्रेषणीयता का प्रभाव गहराया है।

साराश यह है कि डॉ० सहल स्वस्थ परम्परा के प्रयोगशील कवि हैं। उनका काव्य वाद और परम्पराओं की सीमित राहों से आगे निकलकर स्वस्थ राहों का अन्वेषण करता है।

•••

आपका नया 'प्रयोग' स्वागत-योग्य है। इसे आगे भी चलाते रहिए।

साधारण बात कहते-कहते आप कुछ ऐसा कर देते हैं कि जिससे चौंक जाना पड़ता है।

—(स्व०) मैथिलीशरण गुप्त

आपके 'क्षणों के धागे' स्थायी होते दीखते हैं। यह आपकी सफलता है।....

सुन्दर भूमिका और सूचनाओं से पुस्तक और भी सज गई है।

—(स्व०) मैथिलीशरण गुप्त

'प्रयोग' से 'क्षणों के धागे' तक

• डॉ० हरिचरण शर्मा

परिवर्तन का चक्र बड़ी तेजी से घूम रहा है। दुनिया अपने आप में सिमटती जा रही है। सर्वत्र एक दौड़ हो रही है। हर आदमी दम छोड़ कर भाग रहा है, उसे न तो पीछे मुड़कर देखने की फुर्सत है और न आगे के गड्ढे की परवाह। वह समझता है 'दौड़' ही मूल्यवान है, उसके पीछे छुपी भावना बेमानी और गैरजरूरी है। उसे यह भी मालूम नहीं कि वह कहाँ जा रहा है? क्यों जा रहा है? अपने से ही अजनबी और अपरिचित आज का मानव दूसरों की परवाह करे भी तो कैसे? जीवन इतना व्यस्त और सीमित है कि दूसरों के लिए सोचना तो दूर, वह अपने लिए ही नहीं सोच पा रहा है। रुचियों के मेले में स्वार्थ और संकीर्णता की दुकान सजा कर दुनिया 'सोना बाजार' बन गई है और साहित्य-जगत् भी इससे अछूता नहीं रहा है। आज साहित्य और कला ही नहीं, ज्ञान और विज्ञान भी जीवन के बदलते मान-दण्डों के आधार पर कसे जा रहे हैं। समालोचना के इस युग में कविता भी सम्प्रदायों में बंट गई है और गुटों में कैद होकर जैसे वह अवश भिखारिन की भाँति जगह-जगह घूमती हुई हर कवि से सत्य की भिक्षा माँग रही है।

कविता का सत्य कवि की आत्मा की उस भीतरी परत पर अंकित है, जहाँ इस भाग-दौड़ का न तो कोई औचित्य है और न कोई अर्थ। जन-संकुल वातावरण में कविता चीख-चीख कर कह रही है, कि अरे भारती के सपूतो! अपने आपको न तो आगे से काटो और न पीछे से। केवल वर्तमान की विसंगतियों और रुचियों की बैसाखियों के सहारे चलने में ही जीवन की सार्थकता नहीं है, अपितु चिन्तन और व्यवस्था ही हमें सही मार्ग दिखा सकती है। हम परिस्थितियों से नहीं बदलते बल्कि हमसे परिस्थितियाँ बदलती हैं। डॉ० सहल एक ऐसे ही कवि हैं जिनकी कविता में एक व्यवस्था है, एक सन्तुलन है, लय है और उनकी कविता परिस्थितियों

की डायरी नहीं है, अपितु जीवन के क्षणों से कुछ समय निकाल कर लिखी गई ऐसी यथार्थ डायरी है जो मानवता की सुरक्षा-व्यवस्था के लिए भी निहायत जरूरी है और मानव-जीवन की स्वस्थ गतिशीलता के लिए भी। साथ ही उसमें कर्म, प्रयत्न, भावना और बुद्धि व हृदय का अनुपातिक मिश्रण है। इतना ही क्यों, उसमें निर्दिष्ट दोस्ती और प्यार पर करारे व्यंग्य है और आधुनिक विसंगतियों की भयावहता से उबरने का मार्ग भी। 'आलोचना के पथ पर' चलते-चलते जब कभी उनकी दृष्टि जीवन के उपेक्षित सत्यों और सहज विरलता पर जाकर टिक गई है, तभी वे कविता के पास और कविता उनके पास चली आई है।

आलोचना बाह्य अनुसंधान है और कविता दर्शन-व्यापी भीतरी खोज। उनका हृदय अपने अन्तर्जगत् में जिस भाव-सत्य को नहीं पा सका है, वही उन्होंने कविता के माध्यम से पा लिया है। सहलजी का कवि-मानस कितनी ही ऐसी स्थितियों के चित्रों से सजा 'एलबम' है, जो जीवन की स्वार्थपरता, संकीर्णता और विषमता की काली रील पर उतारे गये दैनन्दिन-जीवन की साफ-सुथरी तस्वीरों से भरा पड़ा है। हम कहीं से भी पलट कर देखें, उसमें हमारी सांस्कृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक छवियाँ तो मिलेंगी ही, साथ ही नये मानवीय मूल्यों के रंगों में मानव-जीवन की विविध तस्वीरें भी मिलेंगी। ये कविताएँ एक ऐसे कलाकार की चित्रावलि है, जिसमें परम्परा और प्रयोग, वर्तमान और अतीत मिलकर भविष्य की मूल्यवान निधि बन गये हैं। सहलजी के दो कविता संग्रह मेरे सामने हैं—'प्रयोग' और 'क्षण के धागे'। इनके अतिरिक्त उनकी करीब ७० छोटी-बड़ी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में सुरक्षित हैं।

'प्रयोग' में कई संदर्भ हैं, कहीं जीवन की विषमता पर व्यंग्य है तो कहीं वादों और गुटों में कैद जिन्दगी की निरर्थकता और असहायता पर, किन्तु इन सबके ऊपर मानवता का संदेश है। कवि ने परम्परा को एकदम भुलाया नहीं है, उसने तो जैसे परम्पराओं को नये संदेश संदर्भ दिए हैं और कुछेक नये प्रयोग भी किये हैं। यही कारण है कि 'प्रयोग' प्रयोग भी है और कवि के चिन्तन का भावमूलक विश्लेषण भी। उसमें सत्य भी है, संदेह भी है और इन सबकी छाँह में पलता मानव-जीवन भी है। 'प्रयोग' की कविताओं में चिन्तन प्रधान है। कवि विचारक के रूप में सामने आया है। यही कारण है कि कवि ने कविताओं के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों, ईर्ष्या और द्वेष की अग्नि में जलते और स्वार्थ व संकीर्णता की गलियों से गुजरते मानव की स्थिति से संत्रस्त होकर कर्म का संदेश दिया है। वह भाग्यवादी नहीं, कर्मवादी है। इसी से कविताओं में यह भाव बार-बार आया है कि मनुष्य परिस्थितियों की कठपुतली नहीं है, वरन् उसमें

'शवत्व' रह जाता है, किन्तु मनुष्य से मनुष्यता निकल जाने पर भी उसके रूपाकार और नाम में कोई अन्तर नहीं आता है। कितना बड़ा सत्य है, कितनी मर्म को छूने वाली बात है और उसे कितनी साधारण शैली में ऐसे कह दिया गया है जैसे कोई चित्रकार बड़ा चित्र बनाने के बाद उसे चुपके से रखकर कहीं चला जाय और देखने वाला विस्मय में उसे ढूँढता रह जाये। वस्तुतः सहलजी की कविताओं का यह बहुत बड़ा गुण है कि वे साधारण बात असाधारण शैली में इस तरह रख देते हैं कि पाठक चमत्कृत हो उठता है। यही साधारण की असाधारणता है, जो नयी कविता की बहुत बड़ी उपलब्धि है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सहलजी की कविताओं को इसी प्रकार की बहुतसी विशेषताओं के आधार पर नयी कविता की पंक्ति में बिठाया जा सकता है। यह शैली निर्जीपन और आत्मीयता के दो ऐसे छोरों का स्पर्श करती है, जिससे कवितागत सत्य सहज और महत्त्वपूर्ण ढंग से सम्प्रेषित हो जाता है।

'ओ नवो माणस कोण छे', 'बात यह खटक गई', 'नहीं पहचान पाया मैं अरे आवाज अपनी ही' और 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' जैसी कविताओं में साधारण शैली की यही असाधारणता देखने योग्य है। 'ओ नवो माणस कोण छे' में एक ओर जीवन की व्यस्तता से उत्पन्न अप्रत्याशित और अनचाहे संदर्भ की कड़वी और दर्द-भरी दुनिया है तो दूसरी ओर 'बड़े शहरों की भीड़ में खोये मानव-सम्बन्धों' का हवाला है। बड़े शहरों के अंधेरे बंद कमरों में जैसे मानव सड़ रहा है, वैसे ही उसके सम्बन्ध जुड़कर भी टूट गये हैं। कवि ने नयी कविता की शैली में अपनी बात को पूरी वफादारी के साथ पाठकों के सामने रख दिया है। 'नहीं पहचान पाया मैं अरे आवाज अपनी ही' कविता में भी यही बात है। कवि की 'एप्रोच' नयी है! बात साधारण है कि यंत्र से प्रसारित होने पर मनुष्य की आवाज बदल जाती है, किन्तु व्यंजना कितनी असाधारण और विशिष्ट है। आज विज्ञान के बढ़ते हुए चरणों ने मनुष्य की मनुष्यता तो छीन ही ली है, उसकी स्वाभाविकता और सहजता को भी छीन लिया है। फलतः उसको अपनी आवाज ही उसके लिये अपरिचित और अजनबी बन गई है। विज्ञान ने मानव-सम्बन्धों में दरार पैदा कर दी है। आज उसकी आवाज भी उसकी नहीं रही है। कैसी विषमता है कि यांत्रिक जीवन की चक्की की घरघराहट में वह अपने व्यक्तित्व से ही नहीं, अपनी आवाज से-अपनी आत्मा की शक्ति से ही अपरिचित हो गया है। इस ट्रेजेडी को व्यक्त करने के लिए सहलजी ने जिस शैली का प्रयोग किया है, वह कविता के इतिहास में अपना सानी नहीं रखती। बात यों भी सच है, कि मनुष्य सब करता है, किन्तु अपने आप को ही नहीं पहचान पाता है। आत्मान्वेषण की प्रक्रिया से न गुजरने के कारण ही जीवन

'शवत्व' रह जाता है, किन्तु मनुष्य से मनुष्यता निकल जाने पर भी उसके रूपाकार और नाम मे कोई अन्तर नहीं आता है। कितना बडा सत्य है, कितनी मर्म को छूने वाली बात है और उसे कितनी साधारण शैली मे ऐसे कह दिया गया है जैसे कोई चित्रकार बडा चित्र बनाने के बाद उसे चुपके से रखकर कही चला जाय और देखने वाला विस्मय से उसे ढूँढता रह जाये। वस्तुतः सहलजी की कविताओ का यह बहुत बडा गुण है कि वे साधारण बात असाधारण शैली मे इस तरह रख देते हैं कि पाठक चमत्कृत हो उठता है। यही साधारण की असाधारणता है, जो नयी कविता की बहुत बडी उपलब्धि है। कहने की आवश्यकता नही कि सहलजी की कविताओं को इसी प्रकार की बहुतसी विशेषताओं के आधार पर नयी कविता की पंक्ति मे बिठाया जा सकता है। यह शैली निर्जीपन और आत्मीयता के दो ऐसे छोरों का स्पर्श करती है, जिससे कवितागत सत्य सहज और महत्त्वपूर्ण ढंग से सम्प्रेषित हो जाता है।

'ओ नवो माणस कोण छे', 'बात यह खटक गई', 'नहीं पहचान पाया मैं अरे आवाज अपनी ही' और 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' जैसी कविताओ मे साधारण शैली की यही असाधारणता देखने योग्य है। 'ओ नवो माणस कोण छे' मे एक ओर जीवन की व्यस्तता से उत्पन्न अप्रत्याशित और अनचाहे संदर्भ की कडवी और दर्द-भरी दुनिया है तो दूसरी ओर 'बडे शहरो की भीड़ मे खोये मानव-सम्बन्धों' का हवाला है। बडे शहरों के अंधेरे बंद कमरो मे जैसे मानव सड रहा है, वैसे ही उसके सम्बन्ध जुड़कर भी टूट गये हैं। कवि ने नयी कविता की शैली मे अपनी बात को पूरी वफादारी के साथ पाठकों के सामने रख दिया है। 'नहीं पहचान पाया मैं अरे आवाज अपनी ही' कविता मे भी यही बात है। कवि की 'एप्रोच' नयी है! बात साधारण है कि यंत्र से प्रसारित होने पर मनुष्य की आवाज बदल जाती है, किन्तु व्यंजना कितनी असाधारण और विशिष्ट है। आज विज्ञान के बढते हुए चरणों ने मनुष्य की मनुष्यता तो छीन ही ली है, उसकी स्वाभाविकता और सहजता को भी छीन लिया है। फलतः उसकी अपनी आवाज ही उसके लिये अपरिचित और अजनबी बन गई है। विज्ञान ने मानव-सम्बन्धों मे दरार पैदा कर दी है। आज उसकी आवाज भी उसकी नही रही है। कैसी विषमता है कि यांत्रिक जीवन की चक्की की घरघराहट मे वह अपने व्यक्तित्व से ही नहीं, अपनी आवाज से-अपनी आत्मा की शक्ति से ही अपरिचित हो गया है। इस ट्रेजेडी को व्यक्त करने के लिए सहलजी ने जिस शैली का प्रयोग किया है, वह कविता के इतिहास मे अपना सानी नही रखती। बात यों भी सच है, कि मनुष्य सब करता है, किन्तु अपने आप को ही नही पहचान पाता है। आत्मान्वेषण की प्रक्रिया से न गुजरने के कारण ही जीवन

में विषमता व्याप्त है और कवि इसी विषमता से पीड़ित होकर स्वस्थ जीवन-पद्धति का संदेश देता है।

आज उपदेशों का युग नहीं है, भारी भरकम बात कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि कोई उसे सुनना नहीं चाहता है, लेकिन न सुनने से काम तो चलने वाला नहीं। जाहिर है कि सत्य प्रेषित होना ही चाहिए, फिर एक आस्थावादी कवि इस सत्यप्रेषण से कैसे विलग रह सकता है? यही वजह है कि वैषम्य, अराजकता, अविश्वास और स्वार्थान्धता के युग में ममता और ज्ञान का दीपक हो प्रकाश-किरण फैला सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि सहलजी ने इतने बड़े सत्य की प्रतिष्ठा और मानवता के विधान के लिए ही यह असाधारण, किन्तु सहज और विशिष्ट शैली अपनायी है। यह वह शैली है जो आज के युग में मनुष्य को सबसे अधिक अपनी और आत्मीय प्रतीत होती है। सहलजी ने जन-मानस की इस चेतना को पहचाना है और बड़ी से बड़ी बात कहने का यह सहज तरीका निकाला है।

संकलन की अन्य कविताओं में कवि की साधना-मूलक दृष्टि और मानव-जीवन की विविध स्थितियों का अंकन है। आंसू और हंसी के संवेदनात्मक व्यापारों से बना मानव-जीवन असहाय और विवश तो है ही, त्रस्त और विपन्न भी हो गया है। जीवन में नियंत्रण और संतुलन की परम आवश्यकता है। मनुष्य को जिह्वा पर नियन्त्रण रखना चाहिए, नहीं तो महाभारत होने में देर नहीं लगती है। शांति के पुजारी कवि ने इसके माध्यम से शांति की कामना की है। शांति और सुख दोनों ही जीवन की बहुत बड़ी आवश्यकताएँ है, किन्तु विवशता इनके बीच में मुँह बाये खड़ी है। वह पुराने तराने तो गाने नहीं देती और नयों का गाया जाना संभव नहीं है। फलतः मनुष्य अपनी पुरानी संस्कृति को भी भुला बैठा है और वह जीर्ण कह कर छोड़ दी गई है। रही नयी संस्कृति, वह गले नहीं उतर रही है। यही विडम्बना है, विवशता है, तो क्या मनुष्य पीड़ा से छटपटाता रहे? नहीं। कवि ने तपस्या को श्रेष्ठ बतलाया है, क्योंकि कर्म के मार्ग में आये कष्टों को सहकर ही सुख और शांति उपलब्ध हो सकती है। तप की अग्नि में तपने से ही मानव-मन कोमल बनता है। दुनिया गवाह है कि कष्ट सहे बिना कोई मानवता विकसित नहीं हुई है, किसी भी इतिहास का निर्माण नहीं हुआ है। कवि का निम्नलिखित कथन देखिए, जिसमें यही संदेश निहित है—

"कुम्भ आग में पका नहीं
कच्चा घट क्या ललनाओं का

'शवत्व' रह जाता है, किन्तु मनुष्य मे मनुष्यता निकल जाने पर भी उसके रूपाकार और नाम मे कोई अन्तर नही आता है। कितना बड़ा सत्य है, कितनी मर्म को छूने वाली बात है और उसे कितनी साधारण शैली मे ऐसे कह दिया गया है जैसे कोई चित्रकार बड़ा चित्र बनाने के बाद उसे चुपके से रखकर कहीं चला जाय और देखने वाला विस्मय मे उसे ढूँढता रह जाये। वस्तुतः सहलजी की कविताओं का यह बहुत बड़ा गुण है कि वे साधारण बात असाधारण शैली मे इस तरह रख देते हैं कि पाठक चमत्कृत हो उठता है। यही साधारण की असाधारणता है, जो नयी कविता की बहुत बडी उपलब्धि है। कहने की आवश्यकता नही कि सहलजी की कविताओं को इसी प्रकार की बहुतसी विशेषताओं के आधार पर नयी कविता की पंक्ति मे बिठाया जा सकता है। यह शैली निर्जीवन और आत्मीयता के दो ऐसे छोरों का स्पर्श करती है, जिससे कवितागत सत्य सहज और महत्त्वपूर्ण ढग से सम्प्रेषित हो जाता है।

'ओ नवो मारगम कोण छे', 'बात यह खटक गई', 'नहीं पहचान पाया मैं अरे आवाज अपनी ही' और 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' जैसी कविताओं मे साधारण शैली की यही असाधारणता देखने योग्य है। 'ओ नवो मारगम कोण छे' मे एक ओर जीवन की व्यस्तता से उत्पन्न अप्रत्याशित और अनचाहे संदर्भ की कडवी और दर्द-भरी दुनिया है तो दूसरी ओर 'बड़े शहरो की भीड मे खोये मानव-सम्बन्धो' का हवाला है। बड़े शहरो के अधेरे बद कमरो मे जैसे मानव सड रहा है, वैसे ही उसके सम्बन्ध जुड़कर भी टूट गये हैं। कवि ने नयी कविता की शैली मे अपनी बात को पूरी वफादारी के साथ पाठको के सामने रख दिया है। 'नही पहचान पाया मैं अरे आवाज अपनी ही' कविता मे भी यही बात है। कवि को 'एप्रोच' नयी है! बात साधारण है कि यत्र से प्रसारित होने पर मनुष्य की आवाज बदल जाती है, किन्तु व्यजना कितनी असाधारण और विशिष्ट है। आज विज्ञान के बढते हुए चरणो ने मनुष्य की मनुष्यता तो छीन ही ली है, उसकी स्वाभाविकता और सहजता को भी छीन लिया है। फलतः उसकी अपनी आवाज ही उसके लिये अपरिचित और अजनबी बन गई है। विज्ञान ने मानव-सम्बन्धो मे दरार पैदा कर दी है। आज उसकी आवाज भी उसकी नही रही है। कैसी विषमता है कि यांत्रिक जीवन की चक्की की घरघराहट मे वह अपने व्यक्तित्व से ही नही, अपनी आवाज से-अपनी आत्मा की शक्ति से ही अपरिचित हो गया है। इस ट्रेजेडी को व्यक्त करने के सहलजी ने जिस शैली का प्रयोग किया है, वह कविता के इतिहास मे नही रखती। बात यो भी सच है, कि मनुष्य सब करता है, ही नही पहचान पाता है। आत्मान्वेषण की प्रक्रिया से न

का सन्दर्भ देकर कवि ने अपनी मौलिकता का परिचय भी दिया है। दोनों कविताएँ प्रस्तुत हैं—

"साप तुम
सभ्य तो हुए नहीं
न होगे।
एक बात पूछूं ?
उत्तर दोगे ?
कहाँ सीखा डसना ?
विष कहाँ पाया ?"

महलजी की कविता इस प्रकार है—

"ओ रे मयूर !
सुन्दर मयूर !!
व्यमक मयूर !!!
एक बात पूछूं
उत्तर दोगे ?
शहरों में तुम रहे नहीं
फिर क्यों कर तुमने
बाहर से कमनीय कलेवर
अन्दर से छलिया
बनकर के
सीख लिया
विषधर का खाना !!!"

इस कविता में अज्ञेय की कविता की भाव-वस्तु तो है ही, शैली तक का अनुकरण है, फिर भी अज्ञेय की कविता में 'सर्जेस्टिविटी' अधिक है और महलजी की कविता में स्पष्टता और विशिष्टि। व्यंग्य दोनों का मारक है, किन्तु महलजी ने कविता के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते कथ्य को सहज संवेद्य बना दिया है, जबकि अज्ञेय ने अपनी ओर से कुछ न कहकर पाठक के लिए छोड़ दिया है।

'पुरानी बोतल में नयी शराब' कविता मुक्त अनुगम पद्धति पर लिखी गई है, जो यह सिद्ध करती है कि जीवन की व्यस्तता में निरन्तर आज "की विकिंग" कितना चल रहा है ? इस पद्धति पर नये कवियों ने अनेक कविताएँ लिखी हैं। महलजी में उन्हीं का प्रभाव प्रतीत होता है। 'चितेरा' और 'काल रात्रि' रहस्या-

भास देने वाली कविताएँ हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कवि कुछ क्षणों के लिए रहस्य और दर्शन की दुनिया मे चला गया है। वास्तव मे इन दोनो कविताओं मे कवि का जिज्ञासामूलक स्वर रहस्याभास से मिलकर एक अद्भुत मिश्रण तैयार करता है, जो कुछ स्थितियो मे हमे प्रभावित भी करता है और कतिपय संदर्भों मे गैरजरूरी भी प्रतीत होता है। कुछेक कविताओ मे राष्ट्रीयता और वीर-भावना का सदर्भ है, तो कुछेक कविताओ मे मातृभूमि की वदना की गई है। कुल मिलाकर 'प्रयोग' प्रयोग है, किन्तु ऐसा प्रयोग जो कितने ही सदर्भों मे परम्परा भी बन सकता है और अपने भविष्यधर्मी दृष्टिकोण से स्वस्थ मान-मूल्यो को विकसित करने मे सहायक भी। आस्था की उम्र लेकर जीने को तैयार इन कविताओ मे न तो रुग्ण मनोवृत्ति कही मिलेगी और न अतिरिक्त वैयक्तिकता व अतिरंजित जीवन-दृष्टि ही। यहाँ तो सभी कुछ साफ-सुथरा, धुला-धुलाया स्वस्थ जीवन-चेतना का प्रसार है, जो पाठक को सतुलित जीवन-पद्धति देगा और हिन्दी-कविता के इतिहास मे अपनी पहचान आप होगा। हाँ, शिल्प की दृष्टि से कविताएँ प्रारम्भिकता की सभी सीमाओ का स्पर्श करती हैं। कही-कही शब्द-प्रयोग मे हुई फिजूलखर्ची, भावान्विति का अभाव और शैलीगत एकरसता अखरती है, किन्तु अभिव्यक्तिगत सहजता, आत्मीयता और विचारो की मौलिक प्रस्तुति के साथ-साथ उपमानगत नवीनता, नव्यार्थयुक्त शब्द-प्रयोग, कथन-वक्रता और सरसता मे डूबी कविताओं की माला मे उपर्युक्त अभावों का रंग हल्का नीला है। आगे चलकर यही माला के मनके जब 'क्षणो के धागे' मे पिरोये जाते है, तो व भीतर से तो अधिक रंगीन हैं ही, इनकी बाहरी 'स्किन' भी टिकाऊ और स्थायी प्रतीत होती है।

जीवन मे अनेक क्षण ऐसे आते हैं, जबकि हम-हम नहीं होते, बल्कि अनुभूति और जीवन के धागो से ऐसा पट बुनते हैं कि खुद हम ही हैरान हो जाते हैं—अपनी सर्जना देखकर। डॉ० सहल की यह कृति एक ऐसी ही सर्जना है, जिसमे कितने ही क्षणों की जीवन्त अनुभूति कविता बनकर कागज पर उतर गई है। यह सग्रह 'प्रयोग' से आगे की ऐसी भूमिका प्रस्तुत करता है जिसमे कवि का चिन्तन स्वस्थ और संतुलित तो हुआ ही है, साथ ही शैली भी वैविध्यपूर्ण और नयी हो गई है। यह वह सग्रह है जिसकी कविताएँ डॉ० साहब के भावी कवि-रूप की स्वस्थ और जीवन-कल्पना को रेखांकित करती हैं। 'समय का बाँध', 'अंधकार को आग लगादो', 'नाम अंकित किया चन्द्रमा पर', 'मै हूँ पांच हजार वर्ष का', 'साइकिल मेरा जीवन दर्शन' और 'फिर भी वह तो मात्र द्विपद है' आदि कविताओ मे जो कथ्य है, वह कविता ही नही है, कवि के व्यक्तित्व का भी प्रतिरूप है। ये कविताएँ [illegible] की सर्वश्रेष्ठ और मौलिक कविताएँ हैं। इनकी शैली भी आत्मीयता और [illegible] से युक्त है।

सहलजी के मन मे गाधी के लिए विशेष आदर रहा है। उनकी विचार-पद्धति और योजना-प्रयोजना मे गाधी के चिन्तन का प्रभाव स्पष्ट है। यही कारण है कि 'प्रयोग' से लेकर आज तक की कविताओं मे कही न कही गाधीवादी विचारधारा का सम्यक् और अनिवार्य गुम्फन मिलता है। 'प्रयोग' की कविताओं मे जो चिन्तन है, वह समन्वयात्मक भावनाओ का प्रतीक है। 'क्षण के धागे' की 'हे अमर ज्योति' रचना एक प्रकार से गाधी के लिए वैचारिक श्रद्धाजलि है। उसमे एक ओर भौतिकवादी दुनिया के लोगो पर कटु व्यग्य है, तो दूसरी ओर गाधी की रीति-नीति की व्यावहारिकता और समकालीन उपयोगिता के साथ-साथ भावी औचित्य का निदर्शन भी है। यही कारण है कि समय भी उनके साथ नही चल सका। वे वर्तमान मे ही भविष्य का दीप जलाकर मानवता को सच्ची आँखें प्रदान कर गये और उस बीच दीप की लौ तले भौतिक-जन कीट-पतगो के रूप मे जलकर खाक हो गये। मानवता के सबसे बडे गवाह गाधी के सामने दुनिया के धुरी-राष्ट्र भी अपनी ही हिंसा की चट्टानो से टकरा कर चूर-चूर हो गये। प्रसग मे गाधी पर लिखी गई यह कविता केवल कविता नही है, वरन् एक ऐसा दस्तावेज है, जो आने वाले कितने ही युगो तक अपनी सच्चाई खुद होगा। 'समय का बाघ' रचना भी गाधी की विचार-पद्धति का ही जीवत रूप है। गाधी ने क्षण को बाँध कर मानवता के रेतीले मैदान मे नवीन आशा और आस्था के फूल खिलाये। यह कार्य गाधी ही कर सकता था क्योकि—

> "समय का बाँध जो बाँध जाते इस जगत मे
>
> काल के भीषण प्रहार से वे ही बचे है।"

समय की गति विचित्र है, उसकी सुई निरन्तर बिना रुके घूमती रहती है, किन्तु जो इस नैरन्तर्य मे अपने पैर टिका सकता है, वही सच्चा मानव है। कवि का यह सदर्भ और तज्जनित सदेश महान् ही नही, अनिवार्यत. अनुकरणीय भी है।

आज की विषम परिस्थितियो मे कर्मरत होना, आगे बढ़ना, जागृत रहना, स्वाभिमान की रक्षा करते हुए अस्तित्व के प्रति जागरूक बने रहना आवश्यक भी है और कठिन भी है। 'क्षणों के धागे' की अधिकाश कविताओं मे यही स्वर निनादित है। आज जबकि नयी पीढी के कितने ही कवि रुग्णता, कडिवाई, सकीर्णता, निराशा और हताश जिन्दगी की कविताएँ लिखकर स्वय तो थकते ही है, पाठको को भी थका देते है, वही डॉ० सहल की कविताओं मे कथ्य की नवीनता मादकता-पूर्ण शैली मे जीवन को जीवन मानकर जीने की प्रेरणा देती रहती है। इन कविताओं मे कही आस्था का दीप है, तो कही जीवन मे 'चरैवेति-चरैवेति' का सदेश है और

कहो ताजगी व स्फूर्ति से युक्त हो कर्म करने का आमंत्रण है। भावनाएँ नई जरूर हैं, किन्तु वे कितने ही तथाकथित नये कवियों की तरह चौंका कर समाप्त हो जाने वाली नहीं हैं। उनमे स्वस्थ दर्शन है। 'साइकिल मेरा जीवन दर्शन' कविता को ही लें, तो स्पष्ट होता है कि जीवन में संतुलन बहुत आवश्यक है। कारण सम्यक् दृष्टि ही जीवन की साइकिल को आने वाले झंझावातो और ऊँचे-नीचे खार-खड्डों से बचा सकती है। प्रतीक कितना छोटा है, किन्तु उसकी व्यजना कितनी महत्त्वपूर्ण है। दैनिक जीवन से लिया गया प्रतीक पूरी 'सजेस्टिविटी' के साथ भाव को सम्प्रेष्य कर देता है। यही साधारण की असाधारणता है। जीवन के दुर्दम्य वात्याचक्रो और प्रबल झंझावातो के सामने झुकने से तो काम नहीं चलेगा। आज की परिस्थितियों मे जिस निर्भयता और दृढ़ता से जीवन-यापन करने की आवश्यकता है, वही 'तू जीता हम हारे' कविता का कथ्य है। मयूर के प्रतीक ने अर्थ को कितना गौरव प्रदान किया है, यह सहज ही ध्यातव्य है। सचमुच ऐसा लगता है कि सहलजी का प्रतीक-विधान दैनिक जीवन के विविध सदर्भों से लिया जाकर अभिव्यक्ति की क्षमता और प्रसन्नता को नये अर्थ और आयाम प्रदान करता है।

आस्था मे बडी शक्ति होती है। आज की थका देने वाली स्थितियो मे हमे चेतनता और आस्था की उतनी ही जरूरत है, जितनी किसी बेसहारा और अवश व्यक्ति को यष्टिका की होती है। आस्था और जागृति के दो कूलो के बीच ही हम सुरक्षित रह सकते हैं और ये ही वे तत्त्व है जो कविता को कविता और आदमी को आदमी बनाये रख सकते हैं। यही कारण है कि सहलजी की अनेक कविताओ का पट आस्था और चेतना के धागो से बुना गया है, उनमे एक ऐसी क्रियाशीलता विद्यमान है, जो सम्पूर्ण जड़ता को एक बार ही स्फूर्ति का 'इंजेक्शन' देकर सक्रिय बना देती है। उनकी कविताओ मे पस्त मनोदशा, रुग्ण व्यक्तित्व और ठण्डी अनुभूतियो को स्थान नहीं मिला है। मिलता भी कैसे ? 'उत्यातव्यं जागृतव्य' की पीठ पर लिखी गई कविताओ मे स्याह अंधेरा आकार पा भी कैसे सकता है ? हां, यदि कभी मानव-जीवन की व्यस्तता उसे कुरेदे भी, तो वह यह कहकर संतोष कर लेता है—

"रात भले लम्बी हो कितनी
ध्रुव प्रभात तो आयेगा।"

संतुलन के सहचर, प्रगति के विधायक, कर्म के चितेरे, जागृति का प्रणय वाले और आस्था की उम्र लेकर जीवित रहने वाले सहलजी की कविताओं ऐसे कवि का साहस, चिन्तन और मानवीय मूल्यों की स्थापना का प्रयत्न

है। यही वजह है कि उनकी कविता में कतिपय ऐसे संदर्भ भी हैं जो उनकी कविता को नयी कविता तक ले आते हैं। समसामयिक संदर्भों की यह स्थिति 'धागों के घाटे' में कहीं व्यंग्य, कहीं नये-पुरान के संघर्ष, कहीं रूढ़िवादी विचारों की टूट-फूट और कहीं नये मान-मूल्यों की स्थापना के माध्यम से प्रकट हुई है।

नयी कविता में व्यंग्य का अच्छा विकास हुआ है। गहलजी का काव्य भी व्यंग्य के संदर्भ में नयी कविता की एक कड़ी प्रतीत होता है। व्यंग्य 'प्रयोग' में भी था, पर वहाँ वह कथन की एक शैली बनकर रह गया था, परन्तु यहाँ वह शैली तो है ही, ऐसा तथ्य भी बन गया है जो कवि की प्रामाणिक अनुभूति का पैरोकार भी है और तथ्य का संवेदनात्मक आकलन भी। यही कारण है कि कवि कोई और बात करते-करते कुछ ऐसा कह देता है, जिससे एक बहुत बड़े झूठ का पर्दाफाश हो जाता है और कभी-कभी वह इसके लिए ऐसे प्रतीक और बिम्ब जुटाता है कि तथ्य संप्रेषित तो होता ही है, पाठक कवि-कल्पना पर दंग रह जाता है। उसे लगता है कि बात सही और साधारण है, किन्तु सामान्य पाठक की चेतना में न आने के कारण यथार्थ और असाधारण बन गई है। उदाहरणार्थ विज्ञान के साये में पनपकर मानव पशु बन कर रह गया है। मनुष्यता में पशुता ने घुसपैठ प्रारम्भ कर दी है। मानव अपनी बौद्धिक उपलब्धियों के आधार पर उस पर आवरण डालता रहता है, उसकी वृत्ति द्विपद होकर भी षट्पद से कम नहीं है। षट्पद में जो

चापलूस और लोलुप वृत्ति होती है, वह मनुष्य में द्विपद होकर भी उसमें कहीं अधिक मात्रा में मिलती है। यह मनुष्य की विशिष्टता है कि वह मानव को अधिक बौद्धिक होने के कारण चतुष्पद न कहकर द्विपद ही कहकर सन्तोष कर लेता है। इस प्रकार के भाव की व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति 'फिर भी यह तो मात्र द्विपद है' कविता में हुई है—

"नर ही है या यह चतुष्पद है ?
दमन जिसका चतुष्पद से भी
तीव्र व्यापकतर
फिर भी यह तो
मात्र द्विपद है।
चतुष्पद से यह किसी कदर भी
नहीं न्यूनतर
फिर भी यह तो
शुद्ध द्विपद ही
कहलाता है।

इसी प्रकार 'आओ हम रोड़ा अटकाएँ' कविता में उस मानवीय मनोवृत्ति पर व्यंग्य किया गया है, जो दूसरों के मार्ग में रोड़ा अटकाने में ही बड़प्पन का अनुभव करती है। इसके अतिरिक्त और भी कई कविताओं में व्यंग्य तीखा और गहरा हो गया है। सहलजी की व्यंग्यात्मक कविताओं की शैली की विशेषता यह है कि वे आक्रोशमय कम और सहज अधिक है। उनकी सहजता बहुत अधिक मारक और चुटीली है।

नयी कविता के संदर्भ से जिस क्षणवाद की बात की जाती है, वह सहलजी की कविताओं में भी मिलता है, अन्तर इतना ही है कि सहलजी का क्षणवाद एक संतुलित दर्शन का नियामक है, जबकि अधिकांश नयी कविताओं में वह या तो भोगवाद से जा मिला है या फिर मात्र क्षणिकता का आग्रह बन गया है (यह बात कुछ प्रसिद्ध कवियों के साथ नहीं मेल खाती है।) सहलजी की अधिकांश कविताओं में क्षणबोध का संदर्भ है। 'अंधकार को आग लगादी' कविता में एक क्षण विशेष की ही अभिव्यक्ति है और 'क्षणों के धागे' में जो बोध आद्यन्त व्याप्त है, वह भी क्षणों की अभिव्यक्ति और चिन्तना से ही उपजा है। इतने पर भी वह विशिष्ट है और अपनी पूरी गरिमा रखता है। 'क्षण का अमरत्व' एक ऐसी ही कविता है जिसमें क्षण को स्थायित्व या अमरत्व प्रदान करने के प्रति प्रबल आकांक्षा-भाव है। 'अंधकार को आग लगा दी' कविता में यह भाव बहुत गहरा है कि रोशनी

शान्ति की विघातक है और अंधेरा शान्तिदायी और आनन्ददायक है। अंधकार को आग लगाने का अर्थ है शान्ति का नाश और कोलाहलमय जीवन के प्रति ममत्व-भाव का प्रदर्शन। यह विचित्र, किन्तु विशिष्ट अनुभूति है, जो कवि को अपनी एक यात्रा के दौरान हुई थी।

जहाँ तक परम्परा का सवाल है, नयी कविता ने उन्ही परम्पराओं को छोड़ा है जो बासी हो गई है या रूढ़ि बन गई हैं। सहलजी भी उस परम्परा को त्याज्य मानते हैं, जो विकास की गति को अवरुद्ध करे। यही कारण है कि उनकी कविताओं मे अतीत और वर्तमान मिलकर भविष्य का पथ निर्मित करने मे सफल हुए है। प्रगति और प्रयोग के लिए परम्परा का अहसास और बोध जरूरी है, उसे छोड़कर एकदम कोई नई बात कहना बेबुनियाद और हवा मे मुक्का मारने की तरह है। सहलजी की कविताओं मे प्रतिपादित जीवन-दर्शन प्राचीन होकर भी नवीन है। 'मैं हूँ पांच हजार वर्ष का' कह देने से ही कवि-परम्परावादी नहीं हो जाता है। इसमे तो उल्टे उसकी नवीन युग की संवेदना के प्रति जागरुकता का परिचय मिलता है। कारण, यह तो हमारा सांस्कृतिक दाय है, जिसकी अवगति करके ही हम आगे बढ सकते है। कवि की दृष्टि मे नया-पुराना स्वतः उतना महत्वपूर्ण नहीं, जितना कि उसके प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया। यों सहलजी उम्र से भले ही पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करने वाले कहे जायें, विचारो से वे उतने ही नये हैं, जितने कि नव आधुनिकतावादी। उनमे अतिवाद कहीं नहीं है, जो है वह यथार्थ और समय सापेक्ष है। 'पुरातन युग' कविता मे उन सभी पर व्यंग्य है जो न तो अपने विचारो मे परिवर्तन करना चाहते हैं और न किसी के परिहास पर ध्यान देते हैं। वे स्वयं मूर्खता के दावेदार बने रहते हैं। कैसी विडम्बना है कि हमारे पूर्वग्रहों का सांप हम बराबर डसता रहता है। अतः यही कहा जा सकता है कि सहलजी के व्यक्तित्व और काव्य मे नये और पुराने का ऐसा सम्मिलन है, जो किसी भी स्वस्थ और सक्रिय कवि के लिए आवश्यक है। सही अर्थों मे सहलजी की कविता परम्परा व प्रगति की जमीन पर कदम रखती हुई उसी तरह प्रयोग की भूमिका पर उतरी है, जैसे कोई प्रौढ मस्तिष्क पूर्व-परिवेश को आत्मसात् करके नये परिवर्तनों के अनुकूल अपनी समकालीनता सिद्ध करता हुआ सतत जागरुकता का प्रमाण देता है। यही कारण है, कि उनके काव्य मे नवीन मूल्यों की स्थापना का स्पष्ट प्रयास दिखाई देता है। वे अपनी कविताओं के माध्यम से कुछ ऐसे मानवीय मूल्यों की तलाश करते प्रतीत होते है, जो वर्तमान परिस्थितियों में मानव के लिए निहायत जरूरी है। इस प्रकार के मूल्यों की तलाश को व्यक्त करने के लिए कवि ने नूतन शिल्प का सहारा लिया है। यही वजह है कि कथ्य और विचारों की सम्प्रेषणीयता के लिए कवि कुछ ऐसे शिल्पगत प्रयोग करता है, जो व्यावहारिक तो है ही, औचित्यपूर्ण भी है।

प्रयोगवादी काव्य के माध्यम से हिन्दी-कविता ने बड़ी तीव्रता से शिल्प के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न की है। सहलजी की कविता में भी नये प्रयोग मिलते हैं। उनकी भाषा में एक सहजता है, शब्दों का ऐसा चयन है, जो भाव को स्वयं ही व्यक्त कर देता है, अनावश्यक शब्दों का प्रयोग 'प्राणों के धागे' में ढूंढे भी नहीं मिलता है। यही कारण है कि शब्दों का यह औचित्यपूर्ण प्रयोग उन्हें शिल्पी मानने के लिए प्रेरित करता है। ठीक भी है, उन्होंने अपने शब्दों को बुद्धि के तराजू में तोल कर भाव के साथ इस तरह बिठा दिया है, जैसे कोई शिल्पी चुन-चुन कर अपने सभी उपकरणों को उचित रंगों के मेल से बिठा देता है। कविता के बीच में आये संस्कृत वाक्यांशों की अपनी गरिमा है। इस तरह के प्रयोगों से अर्थ-प्रेषण में तो सहायता पहुँचती ही है, भाव अधिक ग्राह्य और वजनदार शैली में सामने आता है। सहलजी की अप्रस्तुत योजना दो प्रकार की है—एक तो छायावादी ढंग की और दूसरी नयी और वक्रतापूर्ण। कवि जब अपने मन को भावों का सम्मेलन बताता है तो कथन और अनुभूति दोनों का औचित्य सामने आ जाता है। इसी तरह बिखरे मन की अनुभूति को ताश के पत्तों का तरह बिखरा बतलाकर जो नया उपमान लाया गया है वह चौंकाने के लिये नहीं, अपितु वस्तुस्थिति का सम्यक् निदर्शन कराने के लिए उपयुक्त है—

"ताशपुंज ज्यों बिखर गया हो
ऐसा बिखरा-सा मेरा मन"

इसी प्रकार ये पंक्तियाँ भी देखी जा सकती हैं—

"मेरे मन के विशद कक्ष में
भावों की बहुविध अलमारी
....
मेरी त्रुटियाँ
मेरी कमियाँ
कमरे के कूड़े-कर्कट-सी
मेरा है उपहास कर रही ॥"

इनमें त्रुटियों के लिए कूड़े-कर्कट का उपमान सार्थक है। वह औचित्यपूर्ण तो है ही, भावसाम्य भी पर्याप्त लिये हुए है। कूड़ा-कर्कट जहाँ एक ओर अकर्मण्यता, प्रमाद और अपावनता का प्रतीक है, वहीं अपने आप में एक बड़ा दुर्गुण भी है। इसी संदर्भ में यह उपमान अपनी महत्ता सिद्ध करता है। प्रतीक सत्यान्वेषण के साधन होते हैं, अतः महत्त्व प्रतीक का उतना नहीं होता, जितना कि उससे व्यंजित अर्थ

का। सहलजी के प्रतीक कुछ इस प्रकार के हैं कि उनके माध्यम से अर्थ-व्यंजना में कोई बाधा नहीं पहुँचती है। 'बकरी' जैसे शब्द को कवि ने प्रतीकत्व प्रदान किया है। यह उस व्यक्ति का प्रतीक है जो किसी भी बात को सारी मृदुता और शान्ता खोकर मानता है। बकरी दूध तो देती है, पर देने से पहले मेंगनी करती है, जिससे उसका समस्त सौन्दर्य घृणास्पद बन जाता है। इसी प्रकार 'निर्मोक' और 'कैंचुल' ऐसे प्रतीक हैं जो रूढ़ियों का अर्थ लिये हुए हैं। इतना ही नहीं, इनके माध्यम से कवि ने हमारी समस्त पुरानी मान्यताओं और स्थापनाओं पर सहज ही आघात कर दिया है।

सहलजी की कविताओं में प्रयुक्त छंद मुक्त अवश्य हैं, किन्तु उनमें एक अनिवार्य आन्तरिक लय बनी हुई है। वह गद्य नहीं है, कविता है, जिसे पढ़ने से ही उसका सौन्दर्य छलक-छलक जाता है। सभी कविताओं में लय है और उसका एक निश्चित नियम है क्योंकि लय-निर्धारण में कवि की सन्तुलित दृष्टि ने सदैव एक अच्छी भूमिका अदा की है। संग्रह की कविताओं में मुक्त छंद का प्रयोग भी एक निश्चित नियम के सहारे हुआ है। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियों में अष्टकपर्वाधारित लय का सौन्दर्य मन को बांध लेता है और पाठक कविता के साथ स्वतः ही आगे बढ़ता चला जाता है—

> मैंने कब यह/कहा कि
>   मुझ को/
> सुख सागर की/
>   चटुल लहरियों/में
>   तिरने दो/?
> मैंने कब यह/कहा कि
>   मुझको/
> छोड़ हलाहल/घूंट अमृत की/ही
>   पीने दो/

इस विवेचन के उपरान्त सहलजी के काव्य का भाव-सौंदर्य उन कविताओं के आधार पर भी देखा जा सकता है, जो संकलन में कुछ नये सदर्भ लिये हुए हैं। संकलन में कुछ ऐसी कविताएँ भी हैं, जिनमें कहीं तो स्तवन-मात्र है और कहीं किसी विशेष विषय की व्याख्या है। कुछ जिज्ञासा-प्रधान हैं, तो कुछ ऐसी भी हैं जो सूत्र-व्याख्या-शैली में लिखी गई हैं। कतिपय कविताओं में छायावादी 'टोन' है। हां, यह बात अलग है कि उनकी शैली छायावादी न हो, किन्तु उनका कलेवर छायावादी ही है। व्याख्यामूलक कविताओं में कवि का आलोचक और व्याख्याकार प्रमुख हो गया

है। कविता के माध्यम से लोकोक्तियों का अर्थ-विश्लेषण इसी शैली में किया गया है, जिसका प्रमाण 'अनुभव की दुहिताओं' में मिलेगा।

इस प्रकार राजस्थान की धरती पर जन्मे कवि सहलजी पुरानी पीढ़ी के होकर भी नये बोध के कवि हैं। उनमें पुराने के प्रति न तो अतिरिक्त आसक्ति ही है, और न नये के लिए दुराग्रहपूर्ण समर्थन ही। वे तो पुराने से आधार लेकर समसामयिक संदर्भों में पढ़े और समझे जाने वाले कवि हैं। उनकी कविताओं में जो औचित्य है, जो सन्तुलन है और जो दृष्टिकोण है, वही उनकी आलोचना में भी है। एक ओर वे श्रेष्ठ समीक्षक हैं, तो दूसरी ओर आधुनिक जीवन की विसंगतियों के द्रष्टा और भोक्ता भी हैं। यही कारण है कि उनकी कविताओं में अनुभूतिगत ईमानदारी और अभिव्यक्तिगत प्रगल्भता का मधुर संगम है। उनकी कविता अतीत से संस्कार लेकर वर्तमान की छाती पर भविष्य के लिए अनुभव की स्याही से लिखी गई ऐसी लिखावट है जो गहरी भी है और अमिट भी। उसमें सौन्दर्य भी है और स्थायित्व भी, वो भविष्य के लिए संदेश भी है और एक प्रामाणिक दस्तावेज भी, जिसमें परम्परा भी है, प्रयोग भी है, और जो जीवन के लिए लिखी गई एक चिन्तक की ऐसी काव्यमय डायरी है, जिसके प्रत्येक पृष्ठ से अनुभव और चिन्तन की ऊष्मा हमारे पोर-पोर को गरमा देती है और कितने ही क्षणों में हम कविता में और कविता हम में से गुजर जाती है।

•••

काव्य के नये क्षेत्रों और नये उपादनों की जो खोज आज हो रही है, उसमें 'प्रयोग' के रचयिता का योगदान अवश्य स्वीकार किया जाएगा।

—डॉ० हरिवंशराय बच्चन

'प्रयोग' के बाद 'क्षणों के धागे' उन्नति के क्रम में है। संग्रह में विविधता और विभिन्नस्तरीयता है।

मौलिकता की दृष्टि से 'साइकिल मेरा जीवन-दर्शन', 'नाम अङ्कित किया चन्द्रमा पर', 'मैं हूँ पांच हजार वर्ष का' रचनाएँ मुझे अच्छी लगी। भूमिका बहुत सारगर्भित है।

—डॉ० हरिवंशराय बच्चन

आस्था और प्रगति के कवि

• डॉ० सियाराम शरण प्रसाद

डॉ० कन्हैयालाल सहल हिन्दी के मर्मी आलोचक एवं आस्था के कवि है। "समीक्षायण" और "आलोचना के पथ पर" जैसी कृतियों मे उन्होंने आलोचक के रूप मे पर्याप्त यश प्राप्त किया। आलोचक के अतिरिक्त उनका कवि-व्यक्तित्व भी है जिसमे उनका प्रगतिशील परन्तु निष्ठायुक्त दृष्टिकोण प्रकट होता है।

उनकी दो काव्य-कृतियां 'प्रयोग' तथा 'क्षणों के धागे' के आधार पर हम उनके कवि-व्यक्तित्व का मूल्यांकन करेंगे।

इन दोनों पुस्तकों की रचनाओं मे एक आन्तरिक एकसूत्रता है, शृंखला है। दोनों मे कवि की मांगलिक चेतना का उज्ज्वल सदेश है। कवि को अपने भारतीय सांस्कृतिक सस्कार मे अटूट गौरव अनुभव होता है। इसीलिए तो परम्परा की स्वीकृति करते हुए उसने लिखा है—"जो अपने को ५ हजार वर्ष का बतलाता है, (भारतीय ऐसा बतलाते हैं) उसे परम्परावादी ठहराकर उसका उपहास किया जा सकता है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जो प्राचीन स्वस्थ परम्पराओं को आत्मसात करके नवीन युग की सवेदना तथा चेतना के प्रति भी सजग और जागरूक है, वह प्राचीन होते हुए भी नवीन है तथा नवीन होते हुए भी प्राचीन है। प्राचीन-नवीन स्वत. अपने मे कोई मूल्य नही है, उसके प्रति कलाकार की मानसिक प्रतिक्रिया ही उन्हे मूल्य का रूप प्रदान करने मे सक्षम होती है। "अत. कवि की प्रगतिशीलता एक विस्तृत परम्परा-बोध और विकास की प्रक्रिया से सयुक्त होकर निखरी है। आज का आधुनिक कवि परम्परा और संस्कार के मूल्य का तिरस्कार कर अपने को अपरम्परावादी घोषित कर मौलिक सिद्ध होने के उपक्रम मे है। परन्तु सहलजी की दृष्टि मे इतिहास की शक्ति है, विकास की प्रक्रिया की सहज स्वीकृति है। अत. इसी केन्द्र पर कवि के उत्पन्न भाव-पुष्प एवं वैचारिक पराग अपना सहज महत्त्व रखते हैं।

कवि ने प्रगति के लिए, जीवन की समृद्धि के लिए भारतीय कर्मवाद को आवश्यक ठहराया है—"हमारे देश का दर्शन कर्मवाद है, जिसे भूल कर लोग दैववाद अथवा भाग्यवाद समझ बैठते है। यह दुर्भाग्य की बात है कि जिस देश का दार्शनिक सिद्धान्त कर्मवाद हो, वह देश भाग्यवादी बन बैठे, उस देश के निवासी हाथ पर हाथ धरे रहकर दैववाद की शरण लें। प्रेरणा और मांगलिक चेतना के कवि ने इसीलिए कहा है—

कभी न मैं निज हिम्मत हारू
जीवन के प्रति
आस्था मेरी
बनी रहे
अविचल, पल-प्रतिपल"

कवि प्रगतिशील चेतनानुरूप जनता की शक्ति मे विश्वास रखता है। इसीलिए आधुनिक युग-बोध मे संवर्द्धित कवि कहता है—

प्रजासूय यह यज्ञ कि जिसमे
जन जन की कल्याणी।
जय अभिषेक-जनार्दन-जनता
गूंजे मंगल-वाणी।

श्री सहल का कवि भावना के पंख लगाकर आकाश मे, कल्पना लोक मे उड़ने वाला नही, प्रत्युत जीवन और जगत को यथार्थता को परखते हुए उसमे नई ज्योति फैलाने वाला पौरुषवान व्यक्तित्व रखता है। उसकी यथार्थ दृष्टि ही उसे जीवन की विकृतियो पर व्यंग्य करने को बाध्य करती है। इसीलिए तो यथार्थ को तीखे गध व्यंग्य-बाण के साथ बेधती है—

परन्तु यह मनुष्य है
मनुष्यता निकल गई
तथापि रूप है वही
कि बात यह खटक गई!

कवि की व्यापक अनुभव-भूमि से ही ये पंक्तियां उत्पन्न हुई हैं। कवि यथार्थ-आवेष्टन की गरलता से पलायन कर भावुक व्यक्ति की तरह निष्ठा का आधारहीन गान नहीं करता प्रत्युत सत्य को परखते हुए, जीवन के गंदे प्रकरणों को जानते हुए, आशा के पुष्प खिलाने का प्रयास करता है।

कवि ने इसीलिए निम्न पंक्तियों में शहरी सभ्यता पर गहरा प्रहार किया है—

> ओ रे मयूर !
> सुन्दर मयूर !
> व्यसक मयूर !
> एक बात पूछूं
> उत्तर दोगे ?
> शहरों में तुम रहे नहीं
> फिर क्योंकर तुमने
> बाहर से कमनीय कलेवर
> अन्दर से छलिया बन करके
> सीख लिया विषधर का खाना !

"फिर भी वह तो मात्र द्विपद है" में भी इसी तथ्य का प्रकाशन हुआ है—

> नर ही है या वह षट्पद है ?
> दशन जिसका षट्पद से भी
> तीव्र व्यथाकार,
> फिर भी वह तो मात्र द्विपद है !

उसने तो यह भी देखा है कि आज का मनुष्य आकृति से ही मनुष्य रह गया है परन्तु उसकी मनुष्यता नष्ट हो गई है। वह शिवत्वहीन हो गया है। शहरों में बिजली के प्रकाश ने मानव के विश्राम को खा लिया है। रात्रि का निर्माण निसर्ग ने मानव विश्राम-हेतु ही किया था। परन्तु वैज्ञानिक दम्भ में, भौतिक उपलब्धि में मनुष्य उस सुख से वंचित हो गया है—

> अरी ओ रात !
> तेरे अन्धकार में कितनी
> नीरवता औ शान्ति भरी थी
> किन्तु यहां शहरों में मैं तो
> देख-देख हैरान हो गया
> यह प्रकाश तो निगल गया है
> सुन्दर-सुन्दर श्यामल तम को
> कितना था विश्राम कि
> जिसमें !

"विडम्बना" में आज की विडम्बना पर स्पष्ट चोट है—

> विचारणीय युग में
> आज हम रहते हैं
> किन्तु किसी को जीवन की संकुलता में
> विचारने का, चिन्तन का
> अवकाश ही नहीं !

स्पष्टतः यथार्थ के धरातल पर खड़े होकर ही कवि ने निष्ठा और आस्था का अमद दीप जलाया है, प्रगतिपूर्ण भावनाओं से युक्त गीत गाया है। वह आलोक-गीत गाता है—

> नया हेम नभ पर उषा घोलती नव,
> नया रंग भरने, नयी ज्योति छाई,
> उठो थाल मंगल सजाओ, सजाओ।
> इसी ज्योति-भू पर नया स्वर्ग बनकर
> नयी कल्पना है सभी को सुहाई।

कवि जीवन की श्री-वृद्धि एवं समृद्धि के लिए सम्यक् दृष्टि की आवश्यकता भी स्वीकार करता है। सन्तुलनहीनता पतन का मार्ग खोल देती है। "साइकिल मेरा जीवन-दर्शन" में जीवन को ठीक साइकिल की तरह माना गया है जो सन्तुलन पर चलती है और सन्तुलन खोने पर दुर्घटनाग्रस्त हो जाती है—

> साइकिल मेरा जीवन-दर्शन
> जीवन मे बस एक सन्तुलन ही तो सब कुछ
> .. ..
> सम्यक् दृष्टि रहे यदि तो फिर
> जीवन की साईकिल सुन्दर
> सही मार्ग पर सरपट-सरपट दौडी चलती।

कवि का यह विश्वास भी है कि जो समय का बाध, बाध पाते हैं वही जीवन मे यश प्राप्त करते है। समय की धारा मे बह जाना जीवन का श्रेयस् पथ नही। जो शक्तिसम्पन्न होते हैं, जिनका अपना व्यक्तित्व होता है, वे ही इस महत्त्वपूर्ण कार्य को करने में सक्षम होते हैं—

> समय का बाध जो बांध जाते इस जगत मे
> काल के भीषण प्रहार से वे ही बचे हैं।

कवि की दृष्टि में महात्मा गांधी की महत्ता का मूल कारण यही था। "हे अमर ज्योति" और "समय का वार" शीर्षक कविताओं में इसी वस्तु-सत्य पर कवि ने सहज भाव से प्रकाश डाला है।

निर्माण और सुन्दर विश्वासों के लिए कवि स्वस्थ परम्परा और संस्कार को आवश्यक मानता है। "मैं हूं पांच हजार वर्ष का" को उदाहरणार्थ देख सकते हैं। मैं यह भी स्पष्ट कर दूं कि इसीलिए कवि को अपने भारतीय जीवन पर गर्व अनुभव होता है। भारत की सभ्यता-संस्कृति पुरानी है। यह देश अनेकानेक ज्ञान और अनुभवों की अमृतमयी भूमि पर विकसित हुआ है। याज्ञवल्क्य, नागार्जुन (शून्यवाद के आचार्य), गांधी आदि ने इसी देश में उत्पन्न हो मानव को ज्योति प्रदान की। इसीलिए लम्बी परम्परा का भारत कवि को आकर्षित करता है और इसीलिए वह भाव विह्वल होकर कहता है—

ज्योति-भूमि यह देश हमारा
जहां प्रवाहित हुई ज्ञान की, पावन मगल धारा
सत्य-अहिंसा का सबल ले, बढ़ते रहे शान्ति के पथ पर
पंचशील सिद्धान्त मनोहर, समस्त विश्व का नारा।

"देश, मेरे देश" में भी भारत-भूमि के गौरव का गान है।

स्पष्टतः कवि ने अपनी वैचारिक भूमि को पर्याप्त उर्वर रखते हुए, उसे प्रगति और निष्ठा से अभिसिंचित किया है।

***

और उन्नीसवीं के चिन्तन पर विज्ञान के परिवेश के प्रभाव का भी विश्लेषण किया है। बौद्धिकता और विज्ञान के साथ 'आस्था' रूपी आत्मा की अस्वीकृति उनकी कविताओं में नहीं है। डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में मैं पूर्ण सार्थकता देखता हूँ, जब वे यह लिखते हैं कि मेहताजी के 'काव्य में प्रयोग की भावना बड़ी सुलझी हुई है। ये रचनाएँ 'प्रयोगवाद' का मार्ग-दर्शन करेंगी।'—'प्रयोगवाद' को एक सुनिश्चित मार्ग-दर्शन की आवश्यकता थी और उस अभाव का कुछ अंश डॉ० मेहता ने पूरा किया है। डाक्टर साहेब की दृष्टि समन्वयात्मक रही है। पुराने और नये का समन्वय ही 'मार्ग' की उर्वर भूमिका है। वे कहते हैं कि, 'वह परम्परा जो विकास के मार्ग में अवरोध बन कर खड़ी हो जाय, निश्चय ही त्याज्य है, किन्तु यदि विकास को गति को अग्रसर करने के लिए परम्परा प्रेरणादायक सिद्ध हो सके तो किसी भी प्रकार उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।' ये विचार कितने स्वस्थ एवं सन्तुलित हैं और 'शाश्वत' भावों की रक्षा इसी विचारसूत्र से सम्भव है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। कवि का यही सिद्धान्त उसके काव्य में व्यवहार-पक्ष के रूप में सजीव है।

डॉ० मेहता 'मानवता' को ही प्रधानता देना चाहते हैं। उनकी यह चुनौती कुण्ठा, अनास्था, निराशा आदि से पीड़ित 'लघुमानव' को एक खुला सदेश ही नहीं, अपितु अनभूत प्रेरणा भी है। श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने 'विजयिनी मानवता हो जाय' का जो नारा छायावाद में रहते हुए भी दिया था, वही स्वर 'आज की कविता' को इस आस्थावान कवि ने दिया है। जीवन की जिस यांत्रिकता ने 'इन्सानियत' के मार्गों पर अर्गला डालने का प्रयत्न किया है, उससे मुक्ति का सहज अथवा सायास प्रयास ही 'मानव' के जीवन की कहानी होगा। आज बेटा बाप को भूल गया है और मनुष्य अपनी मनुष्यता को! 'ओ नवो माणस कोण छे ?' शीर्षक कविता में कवि ने जिस व्यंग्य का सकेत दिया है, वह कितना सार्थक है :

"अजनबी-से किसी जन को
कोष्ठक की तरह
अथवा वाक्य के
'ब्लाज–पैरेन्थेटिकल'–सा
घर में देखा"

(प्रयोग, पृष्ठ ४)

कवि आदमी से 'आदमियत' का निकलना 'शिव' में से 'इ'–कार का निकलना मानता है। 'शिव' और 'शव' का अन्तर शैली का ही नहीं, प्राण-शक्ति का भी एक अन्तर है :

"जहाँ शिवत्व-देह से
इकार ही निकल गया
वही अनन्तरूप तो
शवत्व-मात्र रह गया !!"

(प्रयोग : बात यह खटक गई)

सतुलन ही जीवन-दर्शन है, यह कवि ने 'साइकल मेरा जीवन-दर्शन' कविता से स्पष्ट किया है। इस जीवन-दर्शन पर विचार करने का अब अवकाश नही रहा, क्योकि 'प्रातःकाल उठकर चाय पीना' से लेकर नीद से जगने पर 'खीच सिगरेट-कश' उसे बुलाना ही 'जीवन' रह गया है। 'आयु-शतक' की जीवन-व्याख्या भी आस्थाओ का पुंज ही है।

सहलजी ने कविता को 'सुन्दर विचार-पट' कहा है। सचमुच ही मुझे लगता है कि 'सुन्दर' (सौन्दर्य), 'विचार' (बौद्धिकता), और 'पट' (शैली आवरण)—इन तीनों शब्दो मे से 'आधुनिक' कविता की परिभाषा 'विचार' और 'पट' से तो सन्निहित है, यदि उसे 'सुन्दर' से भी अभिसिक्त किया जा सके तो वस्तुतः 'आस्था-बोध' को पुष्टि मिल सकती है। स्वय कवि तो आस्थावादी है ही :

'जीवन के प्रति
आस्था मेरी
बनी रहे
अविचल
पल-प्रतिपल।'

(मैंने कब यह कहा कि....)

प्रत्येक क्षण 'आस्था' मे लीन रहने वाला कवि 'आज' का नहीं, बल्कि 'मैं हू पाच हजार वर्ष का' है। अतीत पर वर्तमान की दृष्टि ही वास्तव मे 'अनुभव की दुहिताएँ' हैं। भूत की प्रेरणा पर वर्तमान मे जीवित रह कर 'अगली' का निर्माण एक बहुत बडी क्रांतदृष्टि है; और वही महान् होता है जो ऐसा कर सकता है :

'समय भी
साथ तुम्हारे
चल न सका
वह पिछड़ गया,

तुम बढ़े चले !
तुम वर्तमान में ही
भविष्य को ले आये !
(हे अमरज्योति !)

'वर्तमान' में ही 'भविष्य' को ले आना, वस्तुतः सनातन काव्यस्वर है। गत एवं आगत का यह मणिकांचन योग (संयोग नहीं !) ही काव्य के प्रयोजक तत्त्व का प्रेरणास्रोत है। वास्तव में प्राचीन और नवीन और आगामी, कालगत नहीं, मानसगत हैं। 'आज' जीकर भी कोई १३वीं सदी में जीता है, और कोई २७वीं में। जो कवि अपने मानस में इन तीनों कालों का अनुपात साध सकता है, वही सफल और सनातन 'कवि' कहलाने का अधिकारी है। डॉ० सहल की रचनाएँ परिमाण में थोड़ी होते हुए भी परिणाम की दृष्टि से इस मानदण्ड पर 'खरी' उतरती हैं।

सहल जी ने कहीं नभमंडल के मॉडर्न 'चितेरे' की चित्रकला की विशदता अंकित की है, कहीं 'डबल थिंकिंग' पर मीठी चुटकी ली है, और कहीं बाल-सुलभ 'जिज्ञासा' का बड़ा ही प्रभावोत्पादक चित्र प्रस्तुत किया है। एक स्थान पर बालक अपनी मां से पूछता है कि सोम, मंगल, बुध आदि सब वार तो जल्दी-जल्दी आ जाते हैं, 'रविवार' वहीं ठहर जाता है ? क्या वह 'ऊँट' पर चलता है ? उसको मोटर या साइकिल दिलवाने की प्रार्थना करता है। बाल-मन का कौतूहल और उसकी मनोवैज्ञानिक समाधान-वृत्ति दर्शनीय है। इस प्रकार कवि ने जीवित जीवन में से प्रतीक, उपमान, स्थितियां एवं बिम्ब-विधानों को लेकर काव्य-भाव को उर्वर ही नहीं, फलप्रद भी बनाया है।

छंदों की दृष्टि से सहलजी में वैविध्य है। छंद के अनिवार्य 'बंधन' को मानकर वे नहीं चले, किन्तु फिर भी कुछ रचनाएं बड़ी ही सजीव छंदबद्धता से मंडित हैं। छंद के मापदण्ड पर इनके काव्य का छंद 'आंतरिक लय' है। [illegible] लोकगीत की तर्ज से लेकर सहगान तक के सफल प्रयोग प्राप्य हैं। इस दृष्टि से गीत, चतुर्दशपदी, मुक्त छंद आदि सभी दर्शनीय हैं।

डॉक्टर साहब भाषा के आचार्य हैं। संस्कृत के विद्वान होने के कारण कवि की भाषा में संस्कृत-प्रधानता या तत्सम शब्दावली की अधिकता स्पष्ट है। भावों की सबल अभिव्यक्ति के लिए अंग्रेजी, गुजराती, राजस्थानी तथा बोल चाल के [illegible] शब्द आदि सभी का उपयोग हुआ है। कहीं-कहीं पर राजस्थान की [illegible] शब्दावली बड़ी ही फबती हुई है। [illegible], ड्रेनेज, [illegible], [illegible], [illegible], मोचरा, मर्ने, 'निचलो बंट' ऊन, दाय, [illegible] का [illegible], [illegible],

मोरिये प्रभृति शब्दो से कवि के विशाल तथा प्रसंगानुकूल शब्द-भण्डार का परिचय मिलता है। 'कमल' शीर्षक काव्य उन लोगो को एक उत्तर है जो यह मानते हैं कि 'आज की कविता' मे पंत-जैसी, कोमल-कांत शब्दावली का प्रयोग कठिन है।

'नहीं पहचान पाया मैं, अरे ! आवाज अपनी ही' शीर्षक कविता मे डॉ० सहल ने जिसे व्यजित किया है, वही आज की कविता का दिशा–बोध होना चाहिए। आकाशवाणी से प्रसारित स्वय की आवाज जब हम अपने से अलग होकर सुनते हैं तो विषमता का अनुभव करते है। आज 'हमारी' और 'हमारी अभिव्यक्ति' की दरार पर पुल बांधने की जरूरत है। आज अन्दर की आस्था और बाहर की यांत्रिक शैली मे समन्वय की आवश्यकता है। व्यक्तिवादी आस्थाएँ अनुभूति के तीव्र एव छोटे-छोटे खण्ड उपस्थित करके भी समूह को 'हिला सकने' मे समर्थ हैं; इस ओर इस संतुलित समन्वयात्मक कवि की रचनाएं सकेत कर रही हैं।

***

एक लेखक के रूप मे आप पर बराबर मेरी श्रद्धा थी, किन्तु, मैं यह नही जानता था कि इतना विशाल कार्य आप कर चुके हैं। बस यही कह सकता हूँ कि आप धन्य हैं।

—रामधारीसिंह 'दिनकर'

परम्परा और प्रयोग के आयाम

• डॉ० प्रवीण नायक

काव्य आदिकाल से मानवीय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम रहा है। मानवीय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति-हेतु काव्य के स्वरूप में युगानुकूल परिवर्तन भी होते रहे हैं, कभी अनुभूतियों की सीमा सीमित रही तो कभी असीमित। अपनी सीमित सामर्थ्य एवं सीमाओं में आबद्ध कवियों ने परम्परागत सर्जन करने के उपरान्त भी उसमें जीवन-तत्वों को प्रस्तुत करने की पूर्ण चेष्टा की, अपने मानस के काल्पनिक तत्वों को उन्होंने व्यक्तिक एवं सामाजिक चेतना की पीठिका पर ही प्रस्तुत किया, यही कारण है कि आज भी उनके काव्य में सार्वकालिकता एवं आनंद का तत्व सन्निहित है। रस, छन्द, अलंकार पहले काव्य के मानदंड थे। इनके अभाव में प्रणीत काव्य को काव्य के नाम से अभिहित करने में विद्वानों को अत्यधिक आपत्ति होती थी। लेकिन धीरे धीरे रस, छन्द, अलंकार काव्य में लुप्त होते गये। रीतिकालीन कविता की प्रतिक्रिया उत्तरार्ध काव्य पर भी हुई। व्यक्ति और समाज चलता रहता है, किन्तु उसके मूल्यों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता है। इस प्रभाव को साहित्य पर आने से रोकने का अर्थ साहित्य की गति को अवरुद्ध करना है। समय के साथ-साथ न चलने से जिस प्रकार व्यक्ति और समाज पिछड़ जाता है, उसी प्रकार साहित्य भी पिछड़ जाता है। पर समय-समय पर गतिशील साहित्यकारों के कारण साहित्य की गति अवरुद्ध होने से बचती रही है। छायावाद, प्रयोगवाद, नई कविता एवं अब अकविता इसी प्रतिक्रिया का प्रतिफलन है।

नई कविता ने परम्परागत शिल्प एवं कथ्य के प्रति विद्रोह कर नूतन शिल्प एवं कथ्य को गढ़ लिया है। काव्य के क्षेत्र में जब इस प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ तो इसे साहित्यिक विद्रोह माना गया तथा इसके प्रति आलोचकों की अनेक प्रतिक्रियाएँ

हुई, वैसे ही जैसे आज अकविता को लेकर नित्य प्रति हो रही हैं। प्रारम्भ में इसे एक नारा एवं आंदोलन ही माना गया किन्तु अब नई कविता का स्वरूप स्पष्ट होता जा रहा है। नई कविता में मानवीय पक्ष जिस प्रबलता से उभरा, वही उसका मूल स्वर एवं तत्त्व है। मानव-संघर्षों को नई कविता का मुख्य आधार मानना भी अनुचित नहीं क्योंकि यह हमारे आधुनिक जीवन की एक सचाई है जिसकी ओर से मुंह नहीं मोड़ा जा सकता।

सर्वश्री अज्ञेय, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, दुष्यंत कुमार, देवराज, गिरजाकुमार माथुर, शमशेर, रघुवीर सहाय, नरेश मेहता, बालकृष्ण राव, भारत भूषण अग्रवाल, मुक्ति बोध, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के अतिरिक्त जिन अन्य कवियों ने नई कविता के विकास में सहयोग दिया, उनमें डॉ० कन्हैयालाल सहल का नाम भी आता है। 'प्रयोग' (१९२६) तथा "क्षणों के धागे" (१९६०) में उनकी रचनाएँ सकलित हैं।

नई कविता के सम्बन्ध में काफी कहा एवं लिखा गया है। प्रायः प्रत्येक कवि ने अपनी रचनाओं के आधार पर नई कविता को परिभाषित करने का उपक्रम किया है। डॉ० सहल का नई कविता के सम्बन्ध में विचार है :—"नई कविता में पाठकों को चौंका देने और उन्हें आतंकित कर देने की प्रवृत्ति देखी जाती है किन्तु जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, अपना रचना-तट बुनो-चुनो अनेक बार मैं स्वर और उठता हूँ और उस अवस्था में कुछ ऐसी बात लेखनी से निकल पड़ती है जो असाधारण-सी लगती है...... नई कविता का मूल्यांकन करते समय परम्परा और आधुनिकता की भी आज प्रायः चर्चा की जाती है। यह परम्परा जो विकास के मार्ग में अवरोध बनकर खड़ी हो जाय, निश्चय ही त्याज्य है किन्तु यदि विकास की गति को त्वरित करने के लिए परम्परा प्रेरणादायक सिद्ध हो सके तो किसी भी

परवर्ती युग तक की चेतना को आत्मसात् किया है तो पाठक चौंके बिना नहीं रहता। यथा—

"मैं हूँ पाँच हजार वर्ष का !
देख चुका मैं
मोहेंजोदड़ो
के वे बैल
वहाँ की परी-नर्तकी
टाउन-प्लैनिंग बाथरूम
ड्रेनेज वहाँ का
सब मेरी स्मृति में
संचित हैं ....
और २०वीं इसी शती में
गांधी को धरती पर चलते
देख चुका हूँ
इन आँखों से
विश्व समूचा आज
ज्ञान, नेत्रों के सम्मुख
घूम-घूम कर मंडराता है
मैं न मात्र चालीस वर्ष का
मुखरित मेरा अहं हो रहा
मैं हूँ पाँच हजार वर्ष का।" (क्षणों के धागे, पृ० २३-२४)

जो कवि अपने को पाँच हजार वर्ष पुराना बताता है, उस नई कविता के समर्थक परम्परावादी घोषित कर केवल उसका उपहास ही नहीं कर सकते किन्तु उसे नयी कविता के सम्प्रदाय से विलग भी कर सकते हैं। किन्तु यहाँ पर वस्तु-स्थिति यह है कि डॉ० सहल प्राचीन स्वस्थ परम्पराओं को आत्मसात् करके नवीन युग की संवेदना तथा चेतना के प्रति भी पूर्ण सजग अथवा जागरूक हैं। नवीन युग के प्रति सजगता एवं जागरूकता नई कविता की एक अनिवार्य शर्त है जो डॉ० सहल की कविताओं में उपलब्ध है। वैसे प्राचीन और नवीन अपने आप में कोई अस्तित्व और मूल्य नहीं रखते। मूल्य देने का कार्य केवल कवि की [illegible] करती है। प्राचीनता एवं नवीनता का सम्बन्ध किसी युग विशेष से न होकर कवि की मनःस्थिति से होता है। २०वीं शती में रहते हुए भी कोई कवि [illegible] दृष्टि से २१वीं शती में रह सकता है तथा अपने समय से पिछड़ भी सकता है।

कवि यह मानता है कि महात्मा गांधी में प्राचीन एवं नवीन परम्परा एवं प्रगति का विलक्षण सामञ्जस्य था। वे अपने युग के साथ साथ होते हुए भी उससे बहुत आगे थे यथा—

"बढ़ते ही तुम तो रहे
समय भी
साथ तुम्हारे
चल न सका
वह पिछड़ गया,
तुम बढ़े चले।
तुम वर्तमान में ही
भविष्य को ले आये।" (क्षणों के धागे : पृ० ३)

परम्परा का विवेकपूर्ण त्याग एवं ग्रहण जहाँ वर्तमान को गतिशील बनाता है, वहीं कविता नूतन मानव-मूल्यों की अभिव्यक्ति-हेतु नूतन शिल्प-विधान का अन्वेषण करती रहती है। काव्य में अभिव्यक्ति के माध्यम जहाँ प्रत्येक युग में परिवर्तित हुए हैं, वहीं अनुभूतियों में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। कारण अनुभूतियाँ संस्कारजन्य होती हैं। 'साइकिल मेरा जीवन-दर्शन' एक नया प्रतीक है। काव्य के क्षेत्र में विद्वानों ने सम्यक् दृष्टि एवं समरसता की जो बात कही है यद्यपि वह प्राचीन है किन्तु कवि ने उसे नये प्रतीक के माध्यम से जिस मौलिक रूप में अभिव्यक्त किया है, वही शिल्प नई कविता का प्राण है :—

"साइकिल मेरा जीवन-दर्शन
जीवन में बस एक
संतुलन ही तो सब कुछ
कहो उसे समरसता चाहे
'सामरस्य' भावे जो कह दो
अथवा सम्यक् दृष्टि कहो, पर
बात एक की एक वही है।" (क्षणों के धागे : पृ० ७)

आधुनिक युग का प्रत्येक मनुष्य आधुनिक सुख, सुविधाओं का उपभोग करना चाहता है। आज प्रत्येक व्यक्ति विद्युत का प्रकाश चाहता है। विद्युत का प्रकाश उन उल्काओं के सदृश है जिसने अंधकार में मिलने वाली शांति को भस्म कर दिया है। "अंधकार में आग लगा दी" डॉ० सहल की एक ऐसी ही रचना है जिससे वे स्वयं ही चौंक पड़े। विद्युत की चकाचौंध से साधारण मनुष्यों को ही

नहीं किन्तु अनायास मनोदशाओं तक की एकाग्रता मे व्याघात पहुँचता है। विद्युत्-बल्बों ने तारों की कान्ति नष्ट कर अंधकार को आग लगा दी है। यहाँ पर कवि ने शहरी सभ्यता पर व्यंग्य करते हुए लिखा है :—

> "देख-देख हैरान हो गया।
> यहाँ बिजलियाँ
> अंधकार को
> निगल गई हैं–
> निगल गई क्या,
> उल्काएँ ये
> इन सबने मिल
> अंधकार को आग लगा दी–" (क्षणों के धागे पृ० ८)

नई कविता एव अकविता के माध्यम से आधुनिक कवि यद्यपि लय एव छंदों से विदा ले रहा है तथा अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त स्वरूप प्रदान करने हेतु नित्य नूतन प्रयोग कर रहा है, फिर भी आज ऐसे अनेक कवि है जो लय, छद एव अलंकार को विदा करने की प्रवृत्ति को अवांछनीय मानते है। डॉ० सहल के विचार इस सम्बन्ध मे इसी प्रकार के हैं :—

"छंदों के सम्बन्ध मे परम्परा-त्याग का यही अर्थ होना चाहिए कि नव्यतम यथार्थ की अभिव्यक्ति-हेतु नूतन छंदों की उद्भावना की जाय किन्तु लय तक को भी तिलांजलि देकर छद को बिल्कुल स्वच्छंद बना देना वांछनीय नही।"

(क्षणों के धागे - पृ० ५)

कवि ने भी यह स्वीकार किया है कि–"क्षणों के धागे" मे लय अनायास आ गई है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि लय ने क्षणों के धागों से काव्य-पट बुनने मे मुझे सहायता पहुँचाई है।

"नाम अंकित किया चन्द्रमा पर" मे कवि ने यह स्पष्ट किया है कि सत्य पर आधारित होने के उपरान्त भी विघटित मानव-मूल्यों की समस्या का समाधान करने मे विज्ञान का विशेष योगदान नही रहा। इस समस्या का समाधान न होने का एक कारण यह भी है कि मानवीय-मूल्यों की स्थापना का क्षेत्र दर्शन का है, विज्ञान का नहीं। पर यह भी सत्य है कि विज्ञान का विरोध कर कोई भी दर्शन खरा नहीं उतर सकता। आधुनिक युग भावुकता का नही, किन्तु बौद्धिकता का है; अत. "क्षणों के धागे" मे कवि इस बौद्धिकता से बच नही सका है; शायद इसी कारण डॉ० सहल की कविताओं मे भाव-पक्ष की अपेक्षा विचार-पक्ष प्रबल हो गया है।

आधुनिक-युग में मानव-जीवन इस गति से व्यस्तता की ओर अग्रसर होता जा रहा है जिससे वह स्वतंत्र चिन्तन कर ही नहीं पाता। इस व्यस्तता का प्रभाव भारत जैसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण वाले देश पर भी पड़ा है। इस एवं बढ़ती हुई प्रवचना के कारण सत्य, शांति, समाधि आदि शब्द भी अब अपना अर्थ खोते जा रहे हैं। इससे अधिक चिन्ता की बात दूसरी नहीं हो सकती कि–शांति का अर्थ आज "सैनिक पैक्ट" से तथा शांति के समर्थन का अर्थ आक्रमण से लिया जाता है। मैत्री का अर्थ आर्थिक और सामरिक परतत्रता से लिया जाने लगा है। आधुनिक मनुष्य "द्विजिह्" बन गया है। इसे कवि ने "डबल थिंकिंग" (प्रयोग) में अति सफलता से व्यक्त किया है। आज विश्व मे निरन्तर बौद्धिक विकास होने से मानवीय हृदय सकुचित होता जा रहा है। 'प्रयोग' की रचनाओं मे कवि का यही सदेश है कि आधुनिक युग मे ज्ञान और भक्ति तथा बुद्धि और हृदय का संतुलित समन्वय जितना अधिक अपेक्षित है, उतना पहले कभी नही रहा। जीवन के संकुचित वातावरण से दो क्षण निकालकर प्रत्येक मनुष्य के लिए स्वतंत्र चिन्तन करना आवश्यक है। 'प्रयोग' मे डॉ० सहल की जिन रचनाओं का संकलन है, वे वस्तुतः चिन्तन के कुछ क्षणों की ही उपज हैं।

मशीनी युग मे महात्मा गाधी का चर्खा चलाना वस्तुतः श्रम की प्रतिष्ठा को बताना था। जन्म लेकर लोग सुख खोजते हैं किन्तु गाधीजी ने 'सत्य' की खोज की। इसे ही कवि ने निम्न शब्दों मे अभिव्यक्त किया है :—

"अंधकार मे राह टोहती
मानवता को आँख दे गया।
'सत्य स्वयं भगवान्' बता कर
स्वयं सत्य को रूप दे गया।
दीप हिमालय-सा करके भी
आत्मा का नगराज बन गया,
सत्य-पुरुष आया धरती पर,
सत्य मरा कब ? अमर हो गया।" (प्रयोग : पृ० १)

"तीस मार्च" मे कवि ने एक नई क्रांति की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। "बात यह खटक गई" मे कवि ने यह बताने की चेष्टा की है कि आग से दाहकता निकाल लेने से उसमे आग नही रह जाती, शिव से जब इकार निकाल लिया जाता है तो वह 'शव' रह जाता है किन्तु जब मनुष्य से मनुष्यता का लोप हो जाता है तथा वह पशुवत् व्यवहार करने लगता है तो भी उसका स्वरूप [illegible] बात है यथा—

"जो आग की जलन गई
तो आग फिर कहाँ रही ?
कि रूप ही बदल गया
जो ढेर खाक का वही
जहाँ शिवत्व-देव से—
इकार ही निकल गया
वही अनंत रूप तो
शवत्व-मात्र रह गया
परन्तु यह मनुष्य है,
मनुष्यता निकल गई
तथापि रूप है वही
कि बात यह खटक गई।" (प्रयोग : पृ० ११)

"ओ नवो मागम कोण छे" में डॉ० सहल ने बताया है कि आधुनिक जीवन की व्यस्तता के कारण जब सप्ताह भर बालक अपने पिता के दर्शन नहीं कर पाता और जब इतवार को वह उसे देखता है तो चिल्ला पड़ता है :—

"अरी मा !
अरी मां !!
ओ नवो मागम कोण छे" (प्रयोग : पृ० ४)

यद्यपि डॉ० सहल [illegible] 'प्रयोग' एवं 'धागों के धागे' की [illegible] नई कविता के परिप्रेक्ष्य में खरी उतरती है। डॉ० सहल ने [illegible] जहाँ [illegible] शिल्प तथा कथ्य के प्रति विद्रोह किया है, वहीं यह दिशा भी दी है कि [illegible] अवरोधक परम्पराएँ जहाँ त्याज्य हैं, वहीं उनमें सहायक परम्पराएँ [illegible] भी सिद्ध होती हैं जिनका त्याग या जिनकी अवहेलना अनावश्यक है। [illegible] मान्यता छंदों के सम्बन्ध में भी उतरती है। वे जहाँ परम्परागत छंदों [illegible] काम करते हैं, वहीं स्वच्छन्द यथार्थाभिव्यक्ति हेतु मुक्त छंदों का [illegible] भी करते हैं, ये दोनों ही तथ्य नई कविता में डॉ० सहल की एक विशेष देन है।

•••

प्रयोगवादी कवि : डॉ. कन्हैयालाल सहल

• प्रो. विनोदकुमार मेहरोत्रा

प्रयोग की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। परम्परा का नवीन मोड स्वयं उसका प्रयोग होता है और जब वही प्रयोग रूढिबद्ध हो जाता है तो परम्परा कहलाया जाने लगता है। आदि कवि वाल्मीकि की वाणी के माध्यम से प्रस्फुटित श्लोक आधुनिक काव्य का आदि था। परन्तु आधुनिक हिन्दी-साहित्य की नवीनतम प्रवृत्ति प्रयोगवाद अपने शब्द की व्यापकता का परिचायक न रह कर एक सामान्य प्रवृत्ति विशेष के ही लिए रह गया। जिस प्रकार प्रगतिवाद सामान्य प्रवृत्ति का परिचायक न रहकर साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित साहित्य का परिचायक बन गया है, उसी प्रकार प्रयोगवाद भी विकासोन्मुख एवं स्वस्थ कल्याणकारी साहित्यिक प्रयोगो का परिचायक न रह कर प्रतिक्रियावादी, सकीर्ण एवं रुग्ण विचारधारा के लिए प्रयुक्त होने लगा है।

कबीर की तरह उन्मुक्त कंठ से अलापने वाला, हिन्दी साहित्य का केवल एक कवि समाज की परिस्थितियो मे पवित्र पावन गगा का विकास एव कल्याण का विद्रोही मार्ग प्रदर्शक, झूंठे आडम्बरों के प्रति विद्रोह करने वाला तथा ज्ञान एव बुद्धि को ही सत्य मानने वाला चालीस वर्ष का कवि (डॉ. सहल) पाँच हजार वर्ष की अवस्था के होने का दावा करता है—

विश्व समूचा आज
ज्ञान-नेत्रो के सन्मुख
धूम धूम कर मँडराता है
मै न मात्र चालीस वर्ष का
मुखरित मेरा अहं हो रहा
मै हू पाच हजार वर्ष का।

कवि ने प्राचीन भारतीय संस्कारों तथा आधुनिक युग के प्रभावों को उत्तराधिकार के रूप में ग्रहण किया है। इसलिए वह अपने को पाँच हजार वर्ष का बतलाकर गौरव का अनुभव करता है। सत्य, शिव और सौन्दर्य[1] के नए माप से पूरित—यह रचना एक नूतन प्रयोग है।

विशुद्ध मस्तिष्क का विकास एवं हृदय की सजग कल्पनाओं का वास्तविक शिल्प ही सच्चे प्रयोगवादी कवि की कसौटी है। बेढंगे एवं बेसुरे रागों को चित्रित करके कुछ प्रयोगवादी कवि अपनी प्रतिभा का प्रयोग एक ऐसे साहित्य का सृजन करने में लगा रहे हैं जो उनकी दृष्टि में जनवादी हो या न हो परन्तु ऐसा अवश्य हो जिसे पढ़कर पाठक आश्चर्यचकित हो उठें, चाहे उसे कोई समझे या न समझे परन्तु यह अवश्य कह उठे कि वाह! क्या ही नई बात कही है!

अगर कहीं मैं तोता होता
तो क्या होता?
तो क्या होता?
तोता होता
आल्हाद में झूमकर
तो तो तो तो ता ता ता ता
निश्चय के स्वर में
होता होता होता होता

ऐसे ही अनेक प्रयोगवादी कवियों के प्रति विद्रोह की आवाज उठाते हुए तथा प्रयोग के सच्चे अर्थ का ज्ञान कराते हुए डॉ० सहल की निम्नलिखित पंक्तियाँ चिर सत्य हैं। प्रयोगवादी कवियों ने कविता के अस्पष्ट कल्पना-चित्रों पर केवल नया मुलम्मा ही चढ़ाने का प्रयत्न किया है, फिर भी वे उसमें सफल नहीं हो पाये।

घिसे घिसाये पात्र पुराने
नया मुलम्मा चढ़ा न पाये
हुए बहुत उपमान पुराने
नव्य काव्य जग बसा न पाये।

श्री अज्ञेय ने प्रयोगवाद की परिभाषा देते हुए कहा है, प्रयोगशील कविता में नए सत्यों या नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नए रागात्मक सम्बन्ध भी हैं और उनको पाठक या सहृदय तक पहुँचाने, यानी साधारणीकरण करने की शक्ति है। डॉ० नगेन्द्र ने इन पंक्तियों की मान्यता स्वीकार न करते हुए लिखा है—

१. भाव, तत्त्व और कामानुभूति के बीच रागात्मक के बजाय बुद्धिगत सम्बन्ध।

२. साधारणीकरण का त्याग।

३. उपचेतन मन के अन्दर अनुभव-खण्डों के यथावत् चित्रण का आग्र

४. काव्य में उपकरणों के एवं भाषा का एकान्त वैयक्तिक और प्रयोग।

सहृदय प्रयोगवादी कवि डॉ० गौड़ की कविताओं को देखने के प डॉ० नगेन्द्र द्वारा बताई हुई सभी विशेषताओं में कुछ न कुछ कमी अवश्य जाती है।

काव्य के तीन तत्त्व होते हैं–बुद्धि, भावना और कल्पना। बुद्धि के ही भावों से भरे हुए हृदय में बिम्ब निर्माण होता है। तीनों में उतना ही गूढ़ सम्ब जितना मानव और मानवता में। "माँ नयी मालूम कौन से" कविता बुद्धि, भ और कल्पना की सुन्दरतम त्रिवेणी है:—

> अरी माँ !
> अरी माँ !
> यो नयी मालूम कौण से ?

पराकाष्ठा पर पहुँचते ही कवि का हृदय इतना भाव-पूरित हो जाता है कि आगे कलम की चाल स्वयं रुक जाती है। कविता में रागात्मक तत्व सहृदय प को स्वयं मालूम हो जायगा।

डा. नगेन्द्र ने दूसरा आरोप यह लगाया कि काव्य का चरम लक्ष्य आ है। जब तक काव्य में आनन्द प्राप्ति की आशा नहीं होगी, तब तक प ग्रंथ को पढ़ने की जहमत मोल नहीं लेगा। आज के बुद्धि-युग में कवि पाठक दोनों ही बुद्धिवादी हो गए हैं—किसी एक चरम के सत्य की में लगे हुए हैं। दोनों का उद्देश्य एक ही है, बुद्धि के माध्यम से जो सत्य का अनुसंधान करना। हम प्रयोगवादी कविताओं में आनन्द की प्र इसलिए करते हैं कि उसमें वर्णित पात्रों के साथ न तो हमारा स्वभाव रहत और न ही तटस्थ भाव। साधारणीकरण का भी यही सिद्धान्त है। भावुक ऐसी अवस्था में आ जाता है जहां शब्द, अर्थ और उसके ज्ञान अथवा व सम्बन्धी और उसके सम्बन्ध की भिन्न-भिन्न प्रतीति नहीं होती। प्रयोगवादी कवित में प्राप्त आनन्द की भी प्रक्रिया है। अतः डा. नगेन्द्र का यह मत कि प्रयोगव कविताओं में साधारणीकरण नहीं होता, समीचीन नहीं। तन्मयता की चरमसी पर पहुँच कर भावों में तल्लीन, अपनी ही आवाज को न पहचानने वाला कवि 'इ थिंकिंग', पर विचार करते हुए इतना आत्मविभोर हो जाता है कि रागात्मक तथा साधारणीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता।

अंधकार में राह टोहती
मानवता को मौत दे गया
मनुज पुत्र आया धरती पर
मनुज स्वयं भगवान् बन गया

स्वस्थ एवं कल्याणकारी भावमय सच्ची प्रयोगवादी कविता है।

डॉ० सहल की प्रत्येक प्रयोगवादी कविता उपचेतन मन के अनुभव-खंडों के यथावत् चित्रण का ही रूप नहीं है। उसमें चेतनता, अनुभवशीलता एवं स्वस्थ मस्तिष्क के साथ-साथ हृदय की भावुक कल्पना भी है —

ओ रे मयूर! दमक मयूर!
शहरों में तुम रहे नहीं
फिर क्यों कर तुमने
बाहर से कमनीय कलेवर
अन्दर से दुनिया बन करके
सीख लिया विषधर का गाना।

इस कविता में सहृदयता और भावुकता के साथ-साथ उतनी ही वाग्विदग्धता एवं वैचित्र्य भी है।

अन्तिम बात दुरूहता जो डॉ० नगेन्द्र ने बतलाई है, काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकान्त वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग भी डॉ० सहल की कविताओं में नहीं मिलता।

•••

भावना यदि कविता-कामिनी का मेरु-दण्ड है तो बुद्धि है उसकी आँख, जो उसे पथ-भ्रष्ट नहीं होने देती।

—डॉ. कन्हैयालाल सहल

समय की सीढ़ियाँ : एक अवलोकन

• प्रो. मनोहरलाल शर्मा

आम तौर पर लोगों की यह सामान्य धारणा है कि आलोचक की प्रतिभा दूसरे दर्जे की होती है और वह सर्जक-साहित्यकार की प्रतिभा की कोटि का स्पर्श नहीं कर पाती। पहले में भावयित्री और दूसरे में कारयित्री प्रतिभा होती है। सर्जक-साहित्यकार अपनी अन्तश्चेतना में विश्व-हृदय के कम्पनों का अनुभव करके अपने रंग में उन्हें रंजित करके विभावित करता है और आलोचक उनकी भावना करके सहृदयों को प्रमाण-पुष्टि के साथ उधर उन्मुख करता है, मानो अपने पथ का सहयात्री बनाता है।

यह भी कहा जाता है कि जो सफल कवि नहीं बन पाता वह सफल आलोचक बनता है। परन्तु मेरा मत है कि ये दोनों कथन अतिवादी हैं और सत्य से काफी दूर हैं। इनके मूल में राजशेखर का वह कथन है जिसमें उसने कवि और भावक के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए सुविधा के हेतु प्रतिभा के दो पक्षों को ही दो विभिन्न कोटि की प्रतिभाएं मान लिया है जैसे काव्यशास्त्र में रस की एक और अखण्ड अनुभूति होते हुए भी तत्तत् स्थायीभावों के अनुसार नाम दिये गये हैं। कवि और समालोचक को दो नितान्त भिन्न कोटि के प्राणी मानने का आग्रह व्यर्थ है। दोनों का ही सृजन ललित सृजन है। कवि भावित होकर सृजन करता है और समालोचक भी भावित होकर विश्लेषणपूर्वक पुनः सृजन करता है। कवि पर आद्यन्त भावना का प्रवेग रहता हैं तो समालोचक पर उत्तरोत्तर विश्लेषण-चिन्तन प्रधान होता चला जाता हैं। इस प्रकार निरन्तर रचना-सौन्दर्य के मर्म में अवगाहन करते-करते समालोचक खुद ब खुद कवि बनने की भूमिका में आने लगता है और कवि भी जब अपनी या परायी कृति के सौन्दर्य के हेतुओं की शोधयात्रा में निकल पड़ता है तो अनायास समालोचक के धर्म का वरण करने लगता है। कभी-कभी ऐसा भी होता

है कि कवि और समालोचक युगपत् एक ही व्यक्ति में, जीवन में सुख दुःख और मानदीक्षु में नक्षित्र-नक्षत्रों की तरह, राग-प्रास्वेष में बँध जाते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ जहाँ गुरु गम्भीर सैद्धान्तिक समीक्षक थे, वहाँ उनमें 'किं निन्दसे कुसुमकानलमाल्यमेतत् कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण' जैसी गर्वोक्ति का दाता उदग्र कवित्व भी था।

कौन कह सकता है कि हिन्दी की सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक समीक्षा के प्रतिमान पण्डित रामचन्द्र शुक्ल कवि-हृदय नहीं थे ?

डॉ० रामकुमार वर्मा और डॉ० रामविलास शर्मा आलोचक से कवि एवं छायावाद के चारों स्तम्भ प्रसाद (काव्य-कला और अन्य निबन्ध), निराला (पन्त और पल्लव) पन्त (गद्य-पथ) महादेवी (विवेचनात्मक गद्य साहित्यकार की आस्था) कवि से समालोचक बनने के उदाहरण हैं।

डॉ० कन्हैयालाल सहल भी ऐसे ही कवि हैं जिनका आलोचक रूप पहले प्रकट हुआ। (वैसे निबन्धकार और राजस्थानी लोक साहित्य के मर्मी शोधक और व्याख्याता के रूप में भी उनकी विश्रुति कम नहीं है) अनेक कृतियों के सौन्दर्य का अवलोकन करते-करते और उनके सौन्दर्य-विधायक तत्त्वों का मार्मिक अवगाहन करते-करते वे अन्त. प्रेरणा से कवि-रूप में अवतीर्ण होने के लिए विवश हुए हैं। उनके कवित्व का प्रस्फुटन तब हुआ जब वे हिन्दी-साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के अन्तस् और उसके सौन्दर्य का निर्वचन कर चुके, [आधुनिक हिन्दी-काव्य की विभिन्न धाराओं के प्रत्यक्षदर्शी रहकर उन्हें अगामी विकास की अग्रदूत बनने हेतु विलीन होते देख चुके।] अत. उनका काव्य क्रियाकलप या काव्यकरण विधि का ही परिणत फल नहीं, वरञ्च उनकी शब्द-शोधन-व्यापार की कुशलता का निदर्शन भी बन गया है और उसमें शब्द और अर्थ का वह सर्वांग सुन्दर सम्मेलन सहज ही आ उपस्थित हुआ है जिसमें 'अन्यूनानतिरिक्तत्व मनोहारिण्यवस्थिति' की स्वाभाविक निष्पत्ति हुई है।

डॉ० सहल का कवि 'प्रयोग' और 'क्षणों के धागे' के बाद 'समय की सीढ़ियों' में अपने परिपक्व रूप में अवतीर्ण है। यहाँ पहुँच कर कवि की वर्धमान चेतना (Nascent Consciousness) विश्व-हृदय से तदाकार हो गई है और यह ही वह स्थिति है जो अनुभूति को निर्वैयक्तिक रूप देकर साधारणीकरण के लिए पुष्ट आधार पेश करती है। काडवेल के शब्दों में :

"Poetry is the nascent self-consciousness of man not as an individual but as a sharer with others of a whole world of common emotion."

इस संकलन की 'ऐसी लिपि दो' नामक पहली ही कविता में कवि के संवेदन का मूलमंत्र यों प्रकट हुआ है।

"समझें मुझको और न चाहे
औरों को पर समझ सकूं मैं
ऐसा वर दो"

कवि का आग्रह किसी विशेष प्रवृत्ति, धारा और मतवाद की तरफ नहीं है। उसने निर्विरोध रूप से सभी प्रकार की कविताओं को इसमें स्थान दिया है जो अपने लिखे जाने के समय सम्बन्धी लम्बे अन्तराल की सूचना देती हैं (शायद इसी कारण संकलन का नाम 'समय की सीढ़ियाँ' रखा गया है) स्तोत्र, भक्तिगीत, छायावाद, रहस्यवाद, अन्तश्चेतना और प्रयोग-सम्बन्धी कविताओं की संख्या काफी है। ये भिन्न कोटियों की रचनाएं भिन्न भिन्न समयों पर लिपिबद्ध की गई कवि की विभिन्न मन स्थितियों का रेखाङ्कन करती हुई उसके (कवि के) Best and happiest moments को स्थापित करती है और वर्ड्स्वर्थ के शब्दों में कहें तो Ornaments of rhyme हैं। कृति के अन्त में वाग्देवी को उद्दिष्ट करके लिखे गये २३ स्तोत्र कवि के भक्ति-पूरित हृदय का परिचय देते हैं और साथ ही उसके संगीत सम्बन्धी ज्ञान को भी प्रकाशन देते हैं। वाग्देवी के स्वरूप प्रत्यय कराने के लिए जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, उनमें कवि के पुराख्यानों के गंभीर ज्ञान का संकेत मिलता है। कई स्तोत्रों में निराला की 'वीणावादिनि वर दे' का उत्कर्ष पाठकों को हठात् तन्मय कर देता है 'मरुधर की हे वधू नवेली' 'प्रोषितपतिका' और 'अमावस्या की रात' जैसी कविताओं में छायावाद के युग की भावना, रूमानियत, प्रकृति का मानवीकरण, छन्दोवैभव, व्यंजक शब्दराशि और सयत अलंकरण अनायास ही दृष्टिगोचर हो जाते हैं। इस वाच्य-वाचक की समंजस उपस्थिति के लिए कवि को कहीं भी 'लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्' उत्पन्न अपनी निपुणता का प्रदर्शन नहीं करना पड़ा है। [शब्द और अर्थ की यह विशालवाहिनी तो कवि-चक्रवर्ती के एक इशारे मात्र पर पंक्तिबद्ध रूप में खड़ी हो गई है 'यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते द्राग्वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेश.' का अद्भुत उदाहरण।]

अमानिशा का एक उत्प्रेक्षापूर्ण चित्र इस कथन के साक्ष्य में प्रस्तुत है :

"निशा-सुन्दरी की अलकों में,
मानो पिरो दिये हों मोती
झिलमिल झिलमिल करते उडुगण
लगता है
उल्लास निशा का

नृत्य कर रहा
भर उमग मे"।

'और खुल गई मेरी दोनों आँखें' कविता मे कवि के अन्तश्चक्षुओं के सामने बहिर्जगत् और कल्पना-जगत् के उन्मीलित हो उठने की बात कही गई है

"ऐसी शक्ति तो
सब मे होती नहीं
कवि की आँखें
दोनो लोको की
देख पाती हैं झाँकियाँ।"

कवि जब अन्तरवलोकन करने लगता है तो दोनों लोक उसे हस्तामलकवत् हो जाते हैं। शायद इसी सत्य को शेक्सपियर ने भी लक्ष्य किया था

'The poet's eye in frenzy rolling,
Doth glance from heaven to earth and from earth to heaven "

लेकिन मुझे डॉ० महल के इस संकलन मे एक और नया आयाम सुनना दृष्टिगत हुआ है जहाँ वे दोनो लोको से अतीत आत्म-लोक के सोपानों पर चढ़ते नजर आते हैं और उपनिषदों के 'आत्मानं विद्धि' का अनुसरण करते हुए अपनी अन्तश्चेतना को वाणी देते प्रतीत होते हैं। उनकी सत्यानुभूति ही सोऽहं मे परिणत हो जाती है

"लिखत लिख दी
बकलम खुद की
है तो यही सह
जो
कलम मेरी
अभी
कुछ लिख गई मेरी

× × × ×

लिखत लिख दी
छाप भी सब
लग गई मेरी
वह मैं ....
वह मैं ...."

आत्मा से परे ज्योति पुरुष के प्रति कवि कौतुक ही नहीं, जिज्ञासा भी रखता है :

"ज्योति रूप वह कौन पुरुष है ? चमचम करते जिसने अनुपम, तारागों के सुन्दर दीपक, नभ मे भव्य अगम्य सजाये ।"

डॉ० सहल की इस कृति मे दर्शन का सम्पुट इतना अधिक है कि वह सहज ही लक्ष्य किया जा सकता है परन्तु उसकी प्रस्तुति आह्लाद्य अमृतवत् है। वे दर्शन के किसी सम्प्रदाय विशेष के पक्षधर नही हैं। निस्संग तत्त्व-दृष्टि से उन्हे जो भी सारवान् सत्य दिखाई पडता है, वह सरल-सीधे शब्दों मे भाव-संकुल हो जाता है। कवि 'अस्ति नास्ति' की अन्ध गुहा मे तर्क की किरण के साथ नही उतरा है। अपनी चेतना की परिधि मे सहज स्फुरित हो उठने वाले सत्य को वह ऐसा रूप देता है जो देशकाल-सापेक्ष होता हुआ भी अपनी अपील मे सार्वत्रिक और सार्वजनीन बन जाता है। मै सोचता हूँ, हर बडे कवि का कुछ सीमा तक दार्शनिक होना एक अनिवार्यता है, नही तो वह घिसेपिटे नीतिवचनों और शुष्क ज्ञान-विज्ञान की बातों का ही उल्था करता रहेगा। इस सम्बन्ध मे S. T. Coleridge का कथन ध्यान देने योग्य है : "No man was ever yet a great poet without being at the same time a profound philosopher."

डॉ० सहल ने अपने दर्शन की परिधि मे रूप-अरूप, भाव अभाव और वस्तु-अवस्तु सभी को लिया है, लेकिन भावक के भाव्यमान हो सकने की शर्त पर।

अरूप समय और उसकी अगोचर सीढियों को क्रमश: निम्न बिम्बो मे देखा जा सकता है :

(क) समय अनन्त महासागर
है
न माप दण्ड कोई
जन्यो का जनक यह
ब्रह्माण्ड का आश्रयस्थल

× × ×

(ख) ये हैं अदृश्य
अस्पृश्य
श्रव्य भी
ये हैं नही कभी
दुर्गम ये सोपान समय के
अद्भुत ये सीढ़ियाँ समय की।

तादात्म्य स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं। कहीं औपम्य-मूलक अलंकार अनुभूति को गोचर रूप देते हैं तो कहीं व्यंग्य उसे उजागर करता है; कहीं विरोधाभास तो कहीं राजस्थानी के 'ओनाणा' उसे मम्य बनाते हैं। 'भूरि भुजंगे गरुड न बीहे' ओनाणे का एक स्थल पर बड़ा व्यंजक प्रयोग देखने को मिला। अविनत, उजलाना, विगडना और पाउडराइज करना जैसे शब्द भी कवि ने गढ़े हैं। अंग्रेजी के इंटेलीजेंसिया और रेडिकल जैसे कुछ चलते शब्दों को लेकर कवि की विनोदी वृत्ति भी मुखर हुई है।

ठलुआ-वनव के अफलातूनों और मूलोच्छेदी प्रगतिशीलता के अलम्बरदारों पर कसी गई ये फबतियाँ बड़ी सटीक हैं।

(क) "हम विचारक हैं, इंटेलीजेंसिया के अंग हैं,
विचारना है क्या कम ?"

× × ×

(ख) "हम रेडीकल हैं
बुढ़ापे का
बूढ़े विचारों का
कूबड़
कभी झुका नहीं सकता
हमको।"

•••

कवि-रूप में कृष्ण कन्हैया

• नटनागर

डॉ० कन्हैयालाल सहल सुलझे हुए व्यक्ति हैं। न जीवन में, न आलोचना-क्षेत्र में उनका कहीं दुराग्रह या मिथ्याग्रह है। अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, बँगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में उन्होंने सम्यभाव से लिया-दिया है। अच्छी वस्तु जहाँ कहीं मिले, उन्हें ग्राह्य है। उनके मस्तिष्क की खिड़कियाँ सदा खुली रहती हैं, जिनमें शुद्ध हवा का प्रचार-प्रसार सतत और अबाध रहता है। उनका झुकाव कहीं कभी इकतरफा नहीं। रागद्वेष यदि कहीं है, तो शुद्ध बौद्धिक, पक्षपातशून्य। उनका व्यक्तित्व सन्निविष्ट है, आवेशाविष्ट नहीं। नये-पुराने से उनका कोई अलगाव-बिलगाव नहीं। उन जैसे परिश्रमी सफल अध्यापक आजकल यत्र-तत्र ही मिलते हैं। मिडिल स्कूल में किसी जमाने में अंग्रेजी पढ़ाई तो Active and Passive voice, Direct and Indirect Narration तथा Simple Essays जैसी पुस्तकें उन्होंने लिखीं। इन पुस्तिकाओं में विषयों का सार-ग्रहण है। छात्रों की कठिनाइयों का निराकरण करते हुए उनका उचित *मार्ग-दर्शन—यही उनका उद्देश्य था।* तदनंतर कॉलेज कक्षाओं को जो पढ़ाया, उसी पर विशेष रूप से चिंतन किया, चाहे पाठ्य-पुस्तक 'लहर' हो, चाहे 'कामायनी' चाहे 'साकेत' अथवा 'अजातशत्रु' और चाहे कोई कहानी अथवा जैनेन्द्र का उपन्यास। अध्यापन-क्रिया में तो पाठ्य सामग्री का विश्लेषण होना ही है, लेखन प्रक्रिया द्वारा उसका जन-जन तक और भी विस्तार हो जाता है। नयी उद्भावनाओं की प्रतिक्रिया भी होती है। 'साकेत में कौन सा रस प्रधान है?' जैसे लेखों ने अन्य आलोचकों को उत्तेजित भी किया। इसी तरह 'वादे वादे जायते तत्वबोधः' वाली बात यदा-कदा चरितार्थ होती रहती थी। मेरे समय के कुछ यशस्वी प्राध्यापक भी छायावादी कविताओं की बिना व्याख्या किये ही, उनकी यों ही इतिश्री कर दिया करते थे, यह कह कर कि ऐसी कविताओं के

एक नहीं, जैसे चाहो अनेक अर्थ किये जा सकते हैं, पर सहलजी को स्वयं जब तक सतोष नहीं होता, तब तक उनको चैन कहाँ ? छात्रों को यों टहला देना उनके स्वभाव मे है ही नहीं। यही बात उनके राजस्थानी साहित्य सम्बन्धी लेखों में देखी जा सकती है। कवि सूर्यमल्ल मिश्रण की 'वीर सतसई' की टीका, विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका सहित, इसी कोटि की है। जो स्वयं देखा, जो सहयोगियों के साथ काम किया, वह सब ऐसे ही प्रकाश मे आया। 'मरु भारती' के सम्पादन में भी यही सारग्राहिणी वृत्ति रही। शब्दों की व्युत्पत्ति को अथवा किन्हीं क्लिष्ट पंक्तियों का अर्थ किया, तो उनमे भी कहीं 'इदमित्थं' का दर्प नहीं। अपने किये हुए पुराने अर्थों का उन्होंने स्वयं परिष्कार किया है। दूसरों के जो भी सुझाव मिले हैं, मान्य होने पर, उनको अंगीकृत किया है, अमान्य होने पर उनकी सकारण मीमांसा की है। उनका नीर—क्षीर विवेक हमेशा प्रबुद्ध रहा है। उनकी आलोचना अधिकांशतः परिस्थिति जन्य है, पाठ्य सामग्री का सर्वाङ्गीण समीक्षण ही उनका हेतु है।

जैसे उनकी आलोचना मे सूझ-बूझ अधिक और वाद का आग्रह न्यूनतम है, वैसे ही उनकी कविताओं की भी कोई देशी-विदेशी विधा निर्णीत नहीं। आलोचना उनकी व्यवसायजन्य है तो काव्य सुविधाजन्य। दूसरे शब्दों मे आलोचना उनका अगर Vocation है तो काव्य Avocation—वह भी जैसे Vacation के क्षणों में बिना किसी औपचारिकता या बन्धन के जैसे With unbuttoned ease. कविताओं मे ऐसे ही आराम के क्षणों के वे धागे बुनते रहे हैं, उन धागों का कोई पाटवाला पट भी हो, तो देखने योग्य, सराहना योग्य ही है, पहनने ओढ़ने के लिए जैसे नहीं। वे सहज कवि इतने नहीं हैं, जितने सहज आलोचक, क्योंकि उनकी काव्य-सृष्टि भी आलोचनामयी है, यद्यपि यह आलोचना साहित्य की उतनी नहीं, जितनी जीवन और समाज की है। मैथ्यू आर्नोल्ड भी आलोचक और कवि दोनों थे, पर उनकी काव्य की परिभाषा ही—a criticism of life है। काव्य उनके लिए साध्य नहीं, साधन है—संस्कार का, पूर्णता का, जीवन की उदात्तता का। सहलजी की कविताओं मे भी कोई न कोई विचारकण अवश्य है और हमें तो ऐसा लगता है कि वह विचार ही मूर्त्त होकर कविता मे उतर आता है और कभी-कभी तो ऐसा बाना धारण करता है, जो रचयिता को भी एक बार चमत्कृत करदे।

सहलजी की प्रायः सभी कविताएँ प्रसंगोपात्त हैं। उनके शीर्षक चाहे तीस मार्च हो, २६ जनवरी अथवा १५ अगस्त; वे वसन्तोत्सव या दीपावली आदि पर्व विशेषों पर सहगान के रूप मे प्रस्तुत की जाने योग्य हो अथवा प्रति अंक 'मरु भारती' मे शारदा-स्तवन के रूप मे। सरस्वती वंदना प्रायः छंदोबद्ध है, कुछ तुकांत भी, कुछ अखिल सस्कृतमयी-सी भी। सरस्वती के पर्यायवाची शब्द उनमें प्रयुक्त होते रहते

है, जैसे ब्रह्माणी, ब्रह्मजाया हंसवाहिनी, सिताबरा, कल्याणी, गीर्वाणी, वीनधारिणी, ईश्वरी, महिमानी, प्रकाशिनी, सुहासिनी, कवि-मन विलासिनी आदि-आदि।

मूढ मन ! भज शारदा !
हंसवाहिनि धवल वसना
श्वेत पद्म विराजिता
देव मुनि गधर्व सेवित
शुक्ल वर्ण सुशोभिता।
हार मुक्ताधारिणी मा
कलाशिल्प समन्विता
मोहतम अज्ञानहारिणि,
रत्न कुण्डल मंडिता।

जैसे स्तवनों को देख हरिऔधजी को याद आ जाती है, जहाँ पूरे छद में मुश्किल से एकाध हिन्दी शब्द, बाकी सब संस्कृत ही संस्कृत, यथा—'राधा थी सुमुखी विशालनयना आनन्द आन्दोलिता'। पूरे पद्य में बस 'थी' ही हिन्दी की लाज रखने वाली है। सरस्वती-स्तवनों को सहलजी गेय अधिक बना पाये हैं, श्रेय तो होंगे ही, पर प्रेय उतने नहीं। एक स्थान पर तो कवि की उक्ति है—

शारदे ! वरदान पाया।
रागिनी नव-नव स्वरों में
बज उठी, उल्लास छाया।

यह वरदान उन्होंने १६६६ में ही पाया है, इसमें तो यह अनिर्धारित होता है कि उनकी रागिनी अब नवनवोन्मेषकारिणी सिद्ध होगी, पर कहाँ तक, यह भविष्य ही बताएगा।

कवि की वाणी का पोर किसी न किसी संबल के आधार पर हुआ है चाहे वह बाह्य हो अथवा अन्तर्मथित। सेंट फ्रांसिस के प्रवचन के आधार पर उनकी 'अभिलाषा' है कि—

क्षति के बदले, क्षमा कर सकू ···· ·· ····
और न मुझ से प्रेम करें
तो भी उनके प्रति
मुझे प्रेम दो।
क्योंकि स्वयं देने में ही तो
हम पा जाते।

जिस कविता में 'क्योंकि' का प्रयोग मिलता है, वह मुझे गद्य के अधिक सन्निकट दीखने लगती है। ऐसी कविता का रुझान तर्कात्मक अधिक हो जाता है, भावनात्मक कम, यद्यपि कहने वाले यों भी कह सकते हैं कि मनमानी का भी कुछ 'मानी' होता है। कवि की प्रवृत्ति विग्रहमयी नहीं, शान्तिमयी है, इससे ऐसे प्रवचन उनके सर्वथा हृद्य हो जाते हैं।

सहलजी ने एक बार मेरे यहाँ से ही पुस्तक निकाल कर पढ़ी। उसका शीर्षक था The Price of an Eye। इसमें उनको विचार मिला कि कविता खिलवाड़ नहीं, साधना है। कवि बनने के लिए त्याग की महती अपेक्षा है, उसके लिए कवि को जैसे एक आँख ही दे देनी पड़ती है। यही विचार 'और खुल गई मेरी दोनों आँखें'' में रक्तमास लेकर अवतरित हुआ है जो देखते ही बनता है। पुस्तक का Concept यहाँ पूर्ण Percept के रूप में आया है। यही स्वयं कविता का अपना साध्य है। कवि की एक आँख भौतिक जगत् को अर्पित रहती है तो दूसरी काव्य-देवी की उपासना में रत। कवि काव्यदेवी से स्वप्न में यह सुन ही रहा था कि :—

इतने में छात्रावास की घंटी बजी
और खुल गई
मेरी दोनों आँखें।

दोनों आँखों का खुलना ही उस अप्रतिम सदेश को आत्मसात् करना है।

कवि मनोविज्ञान का अध्येता है और जन-जीवन की गतिविधि का पारखी भी। गहरे पानी में पैठ कर रत्न निकालने वाले मनुष्य विरल हैं, संख्यातीत हैं 'सतही जन' जिनको :—

रुपये की नव खनन-खनन
आकर्षित करती अनुक्षण।
अपने में जो कभी न स्थित।
रहते प्रतिपल जो चिंतित।
....गति को इति वे, धूल फाँकते।

आज के लोग सभ्य तो बहुत हैं, पर संस्कृति से कोसों दूर जा पड़े हैं। सभ्यता के आवरण में वे अपने आपको छिपाये हुए हैं, भूले हुए हैं। चतुर आदमी की तो परिभाषा ही यह हो गई है—'कर्मणि अन्यत् मनसि अन्यत्, वचसि अन्यत्'। एक तरफ यह छल-नीति, दूसरी तरफ मनसावाचाकर्मणा शुद्ध बने रहने की प्रेरणा। कितना वैषम्य है इनमें ! कथनी और करनी का। अन्तर कबीर को भी बहुत खलता था। यही कवि की चिंता 'डबल थिंकिंग' में मुखर हुई है :—

मुँह है एक, जीभ हैं दो-दो
यही बहुत खलता है।

काम साधने वाले कम, रोडा अटकाने वाले बहुत। बात करते हैं हम मीठी-मीठी पर अन्दर घोलते हैं विष। कवि के शब्दों में :—

आओ, भरत-वाक्य हम गा दें
पर, दिल से रोडा अटकादें।

कैसा तीखा व्यंग्य है यह, हमारी कुटिल नीति पर! खोखली शहरी सभ्यता पर कवि के व्यंग्य यत्र, तत्र, सर्वत्र मिलेंगे। फैशन की दुनिया में कोई नाखून बढाते हैं, कोई लिपस्टिक लगाते हैं, तो कुछ अमरीकी नवोढाएँ कृत्रिम पलकों का भी प्रयोग करने लगी है। यह कृत्रिमता कवि को सर्वथा नेष्ट है—

यही लालिमा, ओष्ठ लालिमा
सीमा का यदि
करे अतिक्रमण
सुन्दरता वीभत्स बन उठे।

जीवन की संकुलता में विचार करने का किसी को अवकाश ही नहीं। मनुष्य की परिभाषा है A Rational animal, पर चिंतन से कोसों दूर वह पशुत्व से भी नीचे उतर आया है। उसका दर्शन

… … षट्पद से भी
तीव्र व्ययाकर
फिर भी वह तो
मात्र द्विपद है।

मनन करने वाला मानव तो जल में कमलवत् जीवनयापन करेगा, सहज सुखद स्वास्थ्य के बदले में ओष्ठों की सहज लालिमा खोकर क्या वह लिपस्टिक के भरोसे जिएगा? कवि को यही खीझ है कि :—

दुनिया के जितने भौतिक जन
मिट्टी में जिनका निर्मित तन
वे सबके सब अवसरवादी

ऐसे निष्प्रभ वातावरण में भी कवि की यही प्रार्थना है कि :—

जीवन के प्रति
आस्था मेरी
बनी रहे
अविचल
पल-प्रतिपल।

जिस कविता मे 'क्योंकि' का प्रयोग मिलता है, वह
सन्निकट दीखने लगती है। ऐसी कविता का रुझान तर्कात्मक
भावनात्मक कम, यद्यपि कहने वाले यों भी कह सकते हैं कि
'मानी' होता है। कवि की प्रवृत्ति विग्रहमयी नहीं, शान्तिमय
उनके सर्वथा हृद्य हो जाते हैं।

सहलजी ने एक बार मेरे यहाँ से ही पुस्तक निक
शीर्षक था The Price of an Eye। इसमे उनको विच
खिलवाड़ नही, साधना है। कवि बनने के लिए त्याग की
लिए कवि को जैसे एक आँख ही दे देनी पड़ती है। यही वि
दोनो आँखें" मे रक्तमास लेकर अवतरित हुआ है जो देखते
Concept यहाँ पूर्ण Percept के रूप मे आया है। यही
साध्य है। कवि की एक आँख भौतिक जगत् को अर्पित
देवी की उपासना मे रत। कवि काव्यदेवी से स्वप्न मे य

इतने मे छात्रावास की घंटी ब
और खुल गई
मेरी दोनों आँखें।

दोनो आँखो का खुलना ही उस अप्रतिम सदेश

कवि मनोविज्ञान का अध्येता है और जन-
भी। गहरे पानी मे पैठ कर रत्न निकालने वाले
'सतही जन' जिनको :—

रुपये की नव खनन-खनन
आकर्षित करती अनुक्षण
अपने मे जो कभी न स्थि
रहते प्रतिपल जो चिंति
''' गति की इति वे, धूल '

आज के लोग सभ्य तो बहुत हैं, पर
सभ्यता के आवरण मे वे अपने आपको छिपा
की तो परिभाषा ही यह हो गई है—'कर्मणि
एक तरफ यह छल-नीति, दूसरी तरफ़
प्रेरणा। कितना वैषम्य है इनमे ! कथनी
बहुत खलता था। यही कवि की चिंता 'डब

कवि बच्चन से जैसे प्रभावित महलजी की दृष्टि में :—

मेरी निंदियां मेरी बुढ़िया
....साईकिल के इस नो सिखिये
डिगते-डिगते हिलते-हिलते
अनाविल हो चलने वाले
धरा नापने उस सवार-सी
मेरी बुढ़िया मनोमोहिनी

महलजी ने साइकिल चलाना इन्हीं वर्षों में सीखा है, जब विद्या-विहार घर से काफी दूर मालूम होने लगा। अपना स्वयं का अनुभव उपमा की छटा लेकर यहां आया है तो वही साइकिल दूसरी कविता में जीवन-दर्शन के रूप में प्रकट हुई है। सन्तुलन (Balance) के बिना साइकिल नही चलाई जा सकती, उसी सन्तुलन के अभाव में 'बान यह खटक गई' कि आग से दाहकता निकल जाय तो वह आग नहीं, शिव से इकार निकल जाय तो वह शव मात्र रह जाता है :—

परन्तु यह मनुष्य है,
मनुष्यता निकल गई
तथापि रूप है वही
कि बान यह खटक गई।

कवि अनुप्राणित होता है, गांधीजी जैसे महात्माओं से, उत्साहित होता है, गीतादि महान् ग्रंथों से। जीवन के दुर्दम वात्याचक्रों और प्रबल झंझावतों के सामने जो झुकता नहीं, मृत्यु से जो भय खाता नहीं, वही अमर है। राजस्थान ऐसे शौर्य से आपूरित है, जहाँ की ललनाएं वीरप्रसविनी होती थीं, जो :—

भांवर लेते वेदी से भी
अदत्त पीठ का पथ दिखलाती

आज के युग में 'चंदामामा' करने वाले फिर अवतरित हुए हैं, अमरीकी और रूसी दोनों। यह कवि-कल्पना थी कि चांद का धब्बा, धब्बा नहीं, वीरों द्वारा अंकित नामों की काली स्याही है।

जो केवल रूपक ही रूपक था
वही आज बन गया यथार्थ
... ऐसे युग में जीवित रहना
योगदान फिर अपना करना,
यह गौरव की बात नहीं क्या?

कवि वर्ड्सवर्थ को यह बुरा लगा था कि लोग दुनियादारी में फँस कर प्रकृति को ही भुला बैठे है और लेन-देन के गोरख-धन्धे मे, निन्यानवे के फेर मे ऐसे उलझे हैं कि 'ज्यो ज्यों सुरभि भज्यो चहत त्यों त्यों उरझत जात'।* अर्थ साधन है। उसको साध्य मानना ही सब अनर्थों की जड है। हमारे नगरो का पारिवारिक जीवन कितना उखड गया है, यह प्रतिध्वनित होता है 'ओ नवो माणस 'कोण छे' मे। दपतरो के कर्मचारी बच्चो के उठने के पहले ही प्रातःकाल घर से रवाना हो जाते हैं और जब लौटते हैं तो बच्चे सोये मिलते है। तभी तो :—

एक परिवार के एक बच्चे ने
रविवार के दिन
अपने पिता को
अजनबी से किसी जन को
कोष्ठक की तरह
अथवा वाक्य के
'क्लाज पैरेन्थेटिकल'-सा
घर मे देखा
तो लगा कहने—
अरी माँ!
अरी माँ!!
ओ नवो माणस कोण छे!!!

शहरी सभ्यता की चकाचौंध मे मनुष्य उभयभ्रष्ट-सा हो गया, उसे न माया मिली न राम! बिजली का प्रकाश क्या है—उल्का है जिसने अंधकार को आग लगा दी। अंधकार को क्या, उसने नीरव शान्ति का गला घोट दिया।

अधकार की वह गरिमा
वह सन्नाटा सब
स्वप्न-जगत् की वस्तु बन गया।
··· यह प्रकाश तो निगल गया है
सुन्दर-सुन्दर श्यामल तम को
कितना था विश्राम कि
जिसमे

---

*The world is too much with us
Late and soon, in getting and spending
We lay waste our powers
Little we see in nature, —that is ours.

कवि बच्चन से जैसे प्रभावित सहलजी की दृष्टि मे :—

> मेरी निधियाँ मेरी त्रुटियाँ
> ····साईकिल के उस नौ सिखिये
> डिगते-डिगते हिलते-हिलते
> आशंकित हो चलने वाले
> धरा नापते उस सवार-सी
> मेरी त्रुटियां मनोमोहिनी

सहलजी ने साइकिल चलाना इन्ही वर्षों मे सीखा है, जब विद्या-विहार घर से काफी दूर मालूम होने लगा। अपना स्वयं का अनुभव उपमा की छटा लेकर यहाँ आया है तो वही साइकिल दूसरी कविता मे जीवन-दर्शन के रूप मे प्रकट हुई है। सन्तुलन (Balance) के बिना साइकिल नहीं चलाई जा सकती, उसी सन्तुलन के अभाव मे 'बात यह खटक गई' कि आग से दाहकता निकल जाय तो वह आग नहीं, शिव से इकार निकल जाय तो वह शव मात्र रह जाता है :—

> परन्तु यह मनुष्य है,
> मनुष्यता निकल गई
> तथापि रूप है वही
> कि बात यह खटक गई।

कवि अनुप्राणित होता है, गांधीजी जैसे महात्माओं से, उत्साहित होता है, गीतादि महान् ग्रंथो से। जीवन के दुर्दम वात्याचक्रो और प्रबल झंझावतों के सामने जो झुकता नही, मृत्यु से जो भय खाता नही, वही अमर है। राजस्थान ऐसे शौर्य से आपूरित है, जहाँ की ललनाएं वीरप्रसविनी होती थी, जो :—

> आदर लेने वेदी से भी
> अरत पीठ का पथ दिखलाती

आज के युग मे 'चदनामा' करने वाले फिर अवतरित हुए है, अमरीकी और रूसी दोनो। यह कवि-कल्पना थी कि चांद का धब्बा, धब्बा नहीं, वीरो द्वारा अंकित नामो की मानो स्याही है।

> जो केवल रूपक ही रूपक था
> वही आज बन गया यथार्थ
> ····ऐसे युग मे जीवित रहना
> योगदान फिर अपना करना
> यह गौरव की बात नही क्या ?

पर साथ ही इस युग की विवशता भी कम नहीं है जब :—

अपने ही युग का साहित्यिक
बना अपरिचित अपने युग से।

विज्ञान की प्रगति वस्तुतः विस्मयकारिणी है, पर बिना तपस्या के, बिना त्याग-तितिक्षा के, मनुष्य चाहे आकाश को छूले, पर उसका अन्तस्तल फिर भी रिक्त का रिक्त ही रहेगा। स्वर्ण को जितना तपाया जाय, उतना ही निखरता है, ठीक वैसे ही :—

दीप-वर्तिका जली नहीं
सिर न कटाया यदि उसने तो
क्या प्रकाश बढ़ सका कहीं ?
निष्ठुरता तो बनी रही
गल न सका यदि मानव का मन
दुःख ज्वाल मे कभी नहीं।

विज्ञान के प्रसाद से अनेक बाँधों का निर्माण संभव हुआ है, उनकी अपनी उपयोगिता है, पर उत्कर्ष है उनका जो गांधी-सदृश :—

समय का बाँध जो बाँध जाते इस जगत् में
काल के भीषण प्रहार से वे ही बचे हैं।

अथवा १५ अगस्त सरीखा दिवस, जो युग युगान्तर तक हमें अपने देश की स्वतन्त्रता की वेला की याद दिलाता रहेगा। कवि के शब्दों में :—

मृत्यु कभी क्या
निगल सकी है
अमृत तत्व को ?

समय की गति बड़ी विचित्र है, पर उसकी सबसे बड़ी विचित्रता है—यतिहीनता। छन्दों मे गति होती है तो यति भी, छन्द 'द्रुतविलंबित' साथ ही हो जाता है पर यह समय का छन्द ऐसा विलक्षण है :—

जिसके चरण असंख्य
कौन गिन सकता उनको ?
जिसमे लय है, जिसमें गति है
किन्तु न जिसमें कहीं दिखाई पड़ती
यति है।

स्मरण के इस आवर्तन में ही आत्ममुग्धता जैसा चमत्कार सामने आया, जिसके माध्यम से कवि को अपनी ही आवाज उसे पराई-सी लगी —

विस्मृता-सी जान पड़ती
प्रतिध्वनि-सा मैं बना
अपने स्वरों के सामने ही।

महात्मा गांधी को कवि ने बार-बार स्मरण किया है। वह सत्य पुरुष—

अन्धकार में राह टोहती
मानवता को आँख दे गया

गांधीजी आज के नहीं, भावी कल के थे। तभी तो कवि के मुँह से बरबस निकल पड़ता है—

बढ़ते ही तुम तो रहे
समय भी
साथ तुम्हारे चल न सका
वह पिछड़ गया, तुम बढ़े चले!
तुम वर्तमान में ही
भविष्य को
ले आये।

परम्परा से चिपके रहना बुरा है, पर बिना परम्परा को समझे बूझे उससे सदा के लिए छुट्टी पा लेना और भी बुरा। 'तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति'—ठीक, पर पुष्ट, स्वस्थ परम्परा को ठोकर मारने वाला भी किस काम का? थोथी रूढ़ियों के चक्कर में पड़े मनुष्य की वही गति होती है जो केंचुली का मोह न छोड़ सकने वाले सर्प की—

निर्मोक के मोह ने
मुक्ति से
वंचित किया मुझे!

इतिहास की आँखों में अंधकारपूर्ण अतीत की भी झाँकी मिल सकती है। कवि अपने को देश-काल से विच्छिन्न नहीं देखता, तभी तो अपने को चालीस-पचास वर्ष का न मान कर पांच हजार वर्ष का मानता है, जिसने मोहनजोदड़ो, वेद और उपनिषद्-काल की सभ्यता, नागार्जुन का शून्यवाद, दादू, कबीर की परम्परा तथा तुलसी सूर से लेकर गांधी तक का ज्ञानार्जन किया है। कवि स्वयं जैसे पुरातन होते हुए नवीन है और नवीन होते हुए पुरातन है, ठीक वैसे ही उस सीम

मे नयी-पुरानी दोनों हैं—इसे प्रयोगवादी कहिए, प्रगतिवादी कहिए, नयी-पुरानी का मेल कहिए या और किसी नाम से अभिहित कीजिए, पर यह अवश्य है कि इस चटनी मे देशी-परदेशी, नये पुराने कई मसाले बांटे गये हैं पर, बटने के बाद वे सब समरस या एकरस हो गये हैं।

सहलजी की कुछ कविताएँ संस्कृत की ऋणी है जैसे 'छेड़ छाड़' जो निम्न श्लोक पर आधृत है।

> हे हरेम्ब, किमम्ब, रोदिषि कथ, कर्णौ लुठत्यग्निभूः ।
> किं ते स्कन्द विचेष्टितं मम पुरा सख्याकृता चक्षुषाम् ॥
> नैतत्तेऽप्युचितं गजास्य चरितं नासां मिमीतेऽम्ब मे ।
> तावेवं सहसा विलोक्य हसितव्यग्रा शिवा पातु वः ॥

ऐसे ही 'मयूर व्यसक' का आधार भी संस्कृत का ही एक श्लोक विशेषतः है। मयूर से कवि पूछता है कि शहरों मे रहे बिना ही 'बाहर से कमनीय कलेवर, अन्दर मे छलिया बन करके' उसने सीख लिया कहाँ से 'विषधर का खाना?' संस्कृत का श्लोक है—

> रे सर्प, नैव किमभूः खलु सभ्य जन्तुः ।
> नैवं भविष्यसि तथा नगरेऽपि वस्तुम् ।
> जानासि नैव यदि दास्यसि सत्यमुक्तम् ।
> लब्धं कुतोऽथ गरलं भवचदंशकर्म ॥

इसी की प्रतिछाया अज्ञेय की इस रचना मे देखिए :

> साप तुम सभ्य तो हुए नही, न होगे,
> नगर मे बसना
> भी तुम्हे नही आया
> एक बात पूछूं (उत्तर दोगे)
> फिर कैसे सीखा डसना
> विष कहाँ पाया ?

सहलजी की दृष्टि मे निश्चय ही ये दोनो रचनाएँ रही होगी। संस्कृत व्याकरण के अध्येता को सहज ही मयूर-व्यंसक शीर्षक मिल गया, जिसने सारे अर्थ मे चार चाँद लगा दिये।

कवि अपनी प्रयोगशीलता मे एलियट से भी प्रभावित हुए हैं। एलियट की तरह दूसरी भाषाओं की कविताओं से भी सहलजी की कविताओं मे उद्धरण आये हैं। Eliot की Waste Land ऊँ शान्तिः शान्तिः शान्तिः से समाप्त होती है, वही

सहलजी की एक स्वतंत्र कविता बन सामने आती है। बिना हाडमास की जिह्वा कहीं मनुष्य की हड्डी-पसली न तुड़वादे, इसी से पाठ हम करते यही :—

ॐ

शान्ति. शान्तिः शान्ति

'आयु-शतक' राजस्थानी की एक कहावत पर आधृत है। वह है 'दस डावडो बीसा बावलो, तीसा तीखो, चालीसा चोखो, पचासां पाको, साठा थाको, सत्तरा मूलो, अस्सी लूलो, नव्वें तो नागो र, सौवां भागो ही भागो।' 'तनिक सरक जा अरी धरती' का आधार है, दूसरी एक कहावत 'धरती माई सरकज्याए ढेला पोव धरेंगा।' 'राजस्थान की कहावतें' कवि का शोध-प्रबन्ध ही था। वे कहावतें यहाँ 'अनुभव की दुहिताएँ' बनी हैं। ये जनता-जनार्दन की उक्तियाँ हैं। कान की दीमक में अछूती ये नाविक के-से तीर हैं जो देखने में अवश्य छोटे लगेंगे पर गम्भीर घाव करने वाले हैं। कहावतें न किसी से डरती हैं, न किसी की लाज रखती हैं।

सहलजी की कुछ कविताएं बाल-सुलभ हैं—किसी भी जैसे बालकों के पढ़ा के लिए हों। ऐसी है, 'छेड़ छाड़', 'जिज्ञासा', 'लिखत सुधाकर लिखगा राहू' 'यह तेरी कैसी नादानी' आदि। बच्चे को लगता है कि सोम, मगल जल्दी जल्दी आ जाते हैं पर रविवार जैसे ऊंघता रहता है। औरों के पास क्या मोटरगाड़ी है? बेचारा रविवार क्या ऊंट पर ही लद कर चलता है? यह बालक की भोली जिज्ञासा है। 'लिखित सुधाकर' में कवि ने :—

मूर्त्तिमन शैशव को देखा
पशि जगत् में मैत्री करते।

'यह तेरी कैसी नादानी' बकरी की बात है, जो दूध देती है तो मेंगनी भी कर देती है। आलंकारिक अर्थ लें तो बकरी उस व्यक्ति की प्रतीक है, जो किसी दूसरे की बात मानता तो है, पर धारता और मूदता गोबर।

मनोविज्ञान से प्रभावित कविताएं हैं—'भावों की कमसारिटा' तथा 'मेरा मन है एक अजब सम्मेलन'।

तारा पुंज ज्यों बिखर गया हो
ऐसा बिखरा-सा मेरा मन!
....मेरा मन कुछ दिया-दिया
मुझसे ही रहता
पर्दे वाली मुग्ध नायिका-सा
मेरा मन।

कुछ कविताएँ शुद्ध उद्बोधनात्मक हैं -- जैसे 'प्रत्युष प्रभात तो आयेगा" जिसका आधार निश्चय ही Shelley की पंक्ति If Winter Comes, can Spring be Far Behind ?' तथा मैथिलीशरण गुप्त की 'यदपि रात चाहे जितनी हो उसके पीछे एक प्रभात' जैसी पंक्तियां रही हैं। ''उत्थातव्यं जागृतव्यम्'' शीर्षक के अनुरूप ही ''चरैवेति चरैवेति'' की शिक्षा देने की है।

मरुप्रदेश का वासी, कवि सहज रूप में इन्द्र से विनती करता है, यह कह कर कि :—

> इस मरुधर को रसमय कर दो
> '' बादल बिजली का आलिंगन
> ....हुए,
> यहाँ पर
> अगणित बरस व्यतीत हो गये।

यहीं कवि सजल गुरते मेघों को देखकर उत्फुल्ल होता है। मारवाड़ में पहले बादलों का आना मुश्किल, आने पर उनका टिकना दूभर। इसीलिए कवि की विनती है—

> बहुत दिनों से आये हो तुम
> तनिक बरस कर चले न जाना।
> यही मरुधरा प्रोषितपतिका
> बाट देखती रही तुम्हारी
> चिर वियोगिनी
> हरी-भरी सी हो जायेगी
> पाकर के संयोग तुम्हारा।

हरी भरी की तरफ तो स्वतः ध्यान चला ही जायगा। दूसरा अर्थ भी कवि को इष्ट है कि चिर वियोगिनी का जैसे प्रेमी कृष्ण से संयोग हो जायगा। वर्षाकाल वैसे भी ऐसे भावों का उद्दीपक है ही।

'शब्दों को ज्यों जीभ मिल गई' में कवि की प्रशस्ति है, अर्थान्तरन्यास को लपेटे, देखिए, कवि क्या करता है—

> जब जब युग अंधा होता है
> उसे आँख दे जाता है कवि
> अन्धकार भी कहाँ टिक सका
> उदित मुदित जब प्राची का रवि।

कवि की यही वाणी कभी सत की वाणी बनकर डाकू का भी हृदय-परिवर्तन कर देती है। विनोबाजी का भी ऐसा ही कुछ चमत्कार था। ऐसे क्रूर-सकल्प डाकू के मन-मंदिर में ईश्वर भी कुछ काल बैठ कर मुस्का सकता है। 'The greater the sinner, the greater the saint' यह बात सटीक है। पथभ्रष्ट पुत्र यदि कुमार्ग छोड़ आता है तो उसके लिए उत्सव अधिक मनाया ही जाता है। अच्छा तो अच्छा था ही, है ही, पर वह जो बुरा बन गया–ऐसा कि जिसके सुधार की कोई आशा नहीं, भाग्यवशात् सुधर जाय तो ईश्वर की महती अनुकम्पा नहीं तो क्या है?

कवि सहज सतत जागरूक रहा है। समय के साथ उसने पैर बढ़ाये हैं। 'प्रेम मार्ग' वह लिखता है तो 'चीन की चुनौती' की ओर से भी आँखें मूँदे हुए नहीं है। विदेशी आक्रमण के समय विभक्त-सा भारत भी कितना संयुक्त हो जाता है यह इस कविता में द्रष्टव्य है :—

पथ हैं अनेक, पर
एक ही पुकार है,
धर्म हैं अनेक; पर
एक ही विचार है।
जातियाँ अनेक पर
एक ही गुहार है
भाषाएँ अनेक पर
भाव एकाकार है।
वीणाएँ अनेक पर
वही स्वर-भार है,
चीन की चुनौती पर
सब एक-सार है।

'सूर्य की साक्षी' में नयी पुरानी पीढ़ी के [illegible] देखना की वाणी है, जैसे यह पौरुष–देश :—

भारत देश
मेरे होते हुए
डूब सकेगा
अन्धकार में।

कवि जानता है कि जमाना [illegible] है। पुरातन युग [illegible] नया युग पुराने युग की तरह [illegible]।

आश्वस्त है कि :—

नवयुग की बस्ती मे
 बनाकर झोंपडी
रहता है पुरातन युग।
 झोपडी है जीर्णशीर्ण।
वर्षा मे चूता है
 छप्पर
देख-देख हँसते हैं
 लोग सब
पर युग पुरातन
 न झोपडी
सुधारता है
 और न देता है
तनिक ध्यान
 हँसी पर
किसी की।

ऐसी स्थिति मे प्रश्नो को अनुत्तरित ही रहने दो, क्योकि 'आज की दुनिया की गतिविधि है अनोखी।' लोग आज समाजवाद की बढ़-चढ कर बातें करते हैं, यही कांग्रेस का उभयपक्ष आज कर रहा है, पर कवि की कल्पना मे यह समता नही समाती :—

न बुद्धि, धन, लावण्य
 किसी को मिला समान है
समता की चर्चा यह
 अपलाप फिर महान है।
समय एक वस्तु जो
 सबको मिली बराबर है।
समय का यह साम्ययोग
 एक मात्र सच्चा है।

समय के सदुपयोग को यह शिक्षा कैसे कलात्मक ढंग से आई है! इसी मे वह थोथी उपदेशात्मक न रहकर सीधे गले उतरने वाली है। व्यर्थ की बकवास छोड कर सब लोग अगर समय का सदुपयोग सीख जाए तो यह धरा ही स्वर्ग बन जाय। समय की भ्रूण-हत्या जितनी हम भारतवासी करते हैं, उतनी शायद अन्य देशवासी नही।

'कमल' में कमल की भूरि-भूरि प्रशंसा है, पर साथ ही संस्कृत के श्लोक की छाया में अन्त में उसको कवि की चेतावनी भी है :—

किन्तु नलिन ! तू गर्व न करना,
द्विरद–चरणाघातों से डरना ।

संस्कृत का यह प्रसिद्ध श्लोक है :—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभात
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्री
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त ! हन्त ! नलिनी गज उज्जहार ।

जयपुर के स्व० पं० मथुरानाथजी शास्त्री ने 'साहित्यवैभवम्' लिखकर यह सिद्ध किया कि संस्कृत भाषा इतनी प्रभविष्णु है कि इसमें किसी भी भाषा के छन्द का सफल प्रयोग किया जा सकता है। कवि सहल ने भी सब तरह की विधाएं अपनायी हैं, नयी भी, पर पुरानी भी कभी नयी बनकर आ जाती हैं। 'स्वर्ग समान करेंगे धरती' लोकगीत की तर्ज पर लिखा गया है—

स्वय चन्द्रमा सहित चाँदनी
निकलेगा भइ निकलेगा ।

जैसे विधा के संबध में कवि की कोई कुण्ठा नहीं, वैसे ही विचार-क्षेत्र में व्यर्थ ऊहापोह नहीं। विचार–लोक में आदर्श की ओर कवि सहज उन्मुख रहता है —

'यत्र विश्व भवत्येकनीडम्' का
महामत्र जहाँ
जपा गया था कभी
वही देश क्या सकुचित बन कर
रहेगा, देश, मेरे देश ।
मुखरित कर अपनी उदात्त उस वाणी को
किन्तु अपनी वीणा के उन तारों को
इतना भी कस न दे तू
कि तार ही टूट जाएँ
देश, मेरे देश ।
'धरा भी उत्तर्णा बन
अंतरिक्ष-संदेश-श्रवण-हित
तल्लीना-सी'

ऐसे युग मे कवि की जिम्मेवारी शतधा बढ जाती है और उसकी वाछा होती है—मनुष्य बस मनुष्य ही बना रहे तो उसकी सार्थकता असदिग्ध है। कवि को कभी कुतूहल होता है, कभी अनुकृति की उमग भी। 'नमो नमो वाणी देवी मा!' स्व० *सियारामशरण गुप्त की एक वापूविषयक रचना से अनुप्राणित है—*

गगरी थी छोटी-सी अपनी, विद्या यह भरती फिर कितनी ?
गहरी नही जा सकी फिर-फिर, तट पर ही यह तरी-तरी ॥

कवि का कुतूहल देखिए 'काल—गणित' मे। ययाति ने विवाह किया देवयानी से पर अनुरक्त हो गया दासी शर्मिष्ठा पर। देवयानी के पिता शुक्र ने ययाति को शाप दिया कि वह वृद्ध हो जाय। चारो पुत्रो मे से केवल पुरु ने पिता का वार्धक्य अपने ऊपर ले लिया। पुरु वृद्ध हो गया और वृद्ध ययाति युवा। एक हजार वर्ष तक भोग भोगने पर भी ययाति की तृप्ति नही हुई। अंततोगत्वा ययाति फिर वृद्ध हो जाता है और पुरु पूर्ववत् युवा। कवि के मुँह से सुनिए—

जीवन की यह गणित अनोखी
कितनी 'रोमैण्टिक' हो जाए
वर्ष घटाना और बढाना
यदि यथेच्छ नर करने पाए ?

एक हजार वर्ष तक आनन्दोपभोग करने वाले का भी उपदेश यही है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।

अग्नि मे घृत की आहुति देने से आग बुझती नही, वैसे ही कामोपभोग करते रहने से कामेच्छा शान्त नही होती। यह उपदेश, उपदेश नही, ययाति के दीर्घ जीवन का अनुभव जितना प्राचीन है उतना ही नवीन भी। विज्ञान पुराना पड सकता है, पर ऐसा ज्ञान अक्षुण्ण रहता है, जिसकी धार कभी 'भाडी' नही होती।

कवि का प्रकृति-प्रेम भी कही कही उभरा है। 'चितेरा' मे

मैंने देखा—
कभी सिंह, गज, कभी ऊँट ही
नभमण्डल पर चित्रित होते
और कभी तो
मानचित्र भारत का नभ पर
इतना सुन्दर दर्शनीय मोहक मानस का
जिसे कदाचित् कभी धरा का
चित्रकार तो बना न पाए।

आँसू और हँसी का मेल, यह मानव जीवन कवि को सुहाता है। इसमें उनकी आस्था है, अडिग विश्वास है, यद्यपि पुरानी बोतल में नयी शराब उँडेलने वाले भी यहाँ कम नहीं हैं। कवि के शिक्षा-संस्कार ऐसी विभीषिकाओं से भी विचलित होने वाले नहीं है।

काव्य-गगन में कवि सहल की उड़ान बहुत ऊँची नहीं। पतंग की डोर कवि के हाथ में बराबर रहती है, कल्पना के उड्डयन को रास्ता दिखाती है—स्वयं कवि की चिंतना। चिंतन और कल्पना का सम्मिलित सहोत्कर्ष उसमें कम मिलता है। कवि कल्पना को कभी इतनी बेलगाम नहीं कर देता कि कल्पना ही कवि को अपने साथ ले जाय। कवि का विवेक-ग्रह बराबर पहरेदारी-सा करता है जिससे उसके काव्य में कॉलरिज के शब्दों में Fancy का ही कुछ अतिशय देखने को मिल सकता है। कवि को इसका भान है। 'राग की अपेक्षा विचार-पक्ष की प्रधानता होने के कारण इसे काव्य का नाम देने में मैं कार्पण्य से ही काम लेना चाहता हूँ' यह उसकी स्पष्टोक्ति है। वह यह जानता है कि आज "बुद्धि का विकास अधिक हो रहा है हृदय आज सिकुड़ रहा है, संकुचित हो रहा है। बुद्धि और हृदय-ज्ञान और भक्ति, दोनों का सन्तुलन आज अपेक्षित है।" तभी तो विज्ञान का चमत्कार अभिनंदनीय होने पर भी अपूर्ण है, मानवीय मूल्यों की स्थापना के बिना। कुछ ऐसी ही बात कुछ दिन पहले कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने एक लाख का पुरस्कार ग्रहण करते समय कही थी।

कवि सहल के प्रथम संग्रह का नाम ही 'प्रयोग' है। कवि ने प्रयोग किये हैं—अनेकविध, पर उन प्रयोगों में प्रयोगवाद की कहीं धूमिलता नहीं छाई है। कवि मेघाच्छन्न आकाश में विचरण नहीं करता, उसकी विहार-भूमि [illegible] नहीं, रवि-प्रभा में उज्ज्वल है। स्व० श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने भी 'प्रयोग और प्रयोग से परे' उनके भाव द्रव्यों के मिश्रण की प्रशंसा की है। डॉ० रामकुमार वर्मा को आशा है कि यह प्रयोगवाद का मार्ग-दर्शन करेगी। आज की बहुत सी [illegible] कविता कम कहती है, अधिक छिपाती है और जो कहती भी है, वह [illegible] अस्पष्ट भाव से। उस चक्रव्यूह में कभी-कभी कवि स्वयं ही नहीं [illegible]। कवि सहल के मुक्तकों में ऐसी कोई दुरभिसन्धि नहीं। वे किसी [illegible] के [illegible] सब सम्प्रदाय उनके हैं। उनकी कविता व्याख्यात्मक नहीं, सूक्ष्म है, [illegible] सर्वत्र अभिधा बाह्य से बहुत ऊपर उठ कर चलने वाली है। साथ ही [illegible] कल्पना और अनूठी व्यञ्जकता ने उसका स्वाद, साथ ही [illegible] है।

कविताओं में विस्मयबोधक चिह्नों का (एक नहीं, दो, तीन का भी) इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि उसका प्रभाव जैसे क्षीण हो गया है। [illegible]

ऐसे युग मे कवि की जिम्मेवारी शतधा बढ़ जाती है और उसको वाछा होती है—मनुष्य बस मनुष्य ही बना रहे तो उसकी सार्थकता असदिग्ध है। कवि को कभी कुतूहल होता है, कभी अनुकृति की उमग भी। 'नमो नमो वाणी देवी मा' स्व० सियारामशरण गुप्त की एक बापूविषयक रचना से अनुप्राणित है—

गगरी थी छोटी-सी अपनी, विधा यह भरती फिर कितनी ?
गहरी नही जा सकी फिर-फिर, तट पर ही यह तरी-तरी ॥

कवि का कुतूहल देखिए 'काल-गणित' मे। ययाति ने विवाह किया देवयानी से पर अनुरक्त हो गया दासी शर्मिष्ठा पर। देवयानी के पिता शुक्र ने ययाति को शाप दिया कि वह वृद्ध हो जाय। चारो पुत्रो मे से केवल पुरु ने पिता का वार्धक्य अपने ऊपर ले लिया। पुरु वृद्ध हो गया और वृद्ध ययाति युवा। एक हजार वर्ष तक भोग भोगने पर भी ययाति की तृप्ति नही हुई। अंततोगत्वा ययाति फिर वृद्ध हो जाता है और पुरु पूर्ववत् युवा। कवि के मुँह से सुनिए—

जीवन की यह गणित अनोखी
कितनी 'रोमैण्टिक' हो जाए
वर्ष घटाना और बढाना
यदि यथेच्छ नर करने पाए ?

एक हजार वर्ष तक आनन्दोपभोग करने वाले का भी उपदेश यही है—

न जातु काम' कामानामुपभोगेन शाम्यति
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।

अग्नि मे घृत की आहुति देने से आग बुझती नही, वैसे ही कामोपभोग करते रहने से कामेच्छा शान्त नही होती। यह उपदेश, उपदेश नही, ययाति के दीर्घ जीवन का अनुभव जितना प्राचीन है उतना ही नवीन भी। विज्ञान पुराना पड सकता है, पर ऐसा ज्ञान अक्षुण्ण रहता है, जिसकी धार कभी 'भोडी' नही होती।

कवि का प्रकृति-प्रेम भी कही कही उभरा है। 'चितेरा' मे

मैंने देखा—
कभी सिंह, गज, कभी ऊँट ही
नभमण्डल पर चित्रित होते
और कभी तो
मानचित्र भारत का नभ पर
इतना सुन्दर दर्शनीय मोहक मानस का
जिसे कदाचित् कभी धरा का
चित्रकार तो बना न पाए।

धरती और हँसी का गीत, यह मानव जीवन कवि को सुहाता है। इसमें उसकी आस्था है, अडिग विश्वास है. यद्यपि पुरानी बोतल में नयी शराब उँडेलने वाले भी यहाँ कम नहीं हैं। कवि के शिक्षा-संस्कार ऐसी विभीषिकाओं में भी विचलित होने वाले नहीं हैं।

शब्द-गगन में कवि महल की उड़ान बहुत ऊँची नहीं। पतंग की डोर कवि के हाथ में बराबर रहती है, कल्पना के उड्डयन को रास्ता दिखाती है—स्वयं कवि की चिन्तना। चिन्तन और कल्पना का सम्मिलित सहोत्कर्ष उसमें कम मिलता है। कवि कल्पना को कभी इतनी बेलगाम नहीं कर देता कि कल्पना ही कवि को अपने साथ ले जाय। कवि का चिन्तक-मन बराबर पहरेदारी-सा करता है जिससे उसके काव्य में कॉलरिज के शब्दों में Fancy का ही कुछ अतिशय देखने को मिल सकता है। कवि को इसका भान है। 'राग की अपेक्षा विचार-पक्ष की प्रधानता होने के कारण इसे काव्य का नाम देने में मैं कार्पण्य से ही काम लेना चाहता हूँ' यह उसकी स्पष्टोक्ति है। वह यह जानता है कि आज "बुद्धि का विकास अधिक हो रहा है, हृदय आज सिकुड़ रहा है, सकुचित हो रहा है। बुद्धि और हृदय-ज्ञान और भक्ति, दोनों का सन्तुलन आज अपेक्षित है।" तभी तो विज्ञान का चमत्कार अभिनंदनीय होने पर भी अपूर्ण है, मानवीय मूल्यों की स्थापना के बिना। कुछ ऐसी ही बात कुछ दिन पहले कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने एक लाख का पुरस्कार ग्रहण करते समय कही थी।

कवि महल के प्रथम संग्रह का नाम ही 'प्रयोग' है। कवि ने प्रयोग किये हैं—अनेकविध, पर उन प्रयोगों में प्रयोगवाद की कहीं धूमिलता नहीं आई है। कवि मेघाच्छन्न आकाश में विचरण नहीं करता, उसकी विहार-भूमि टॉर्च की रोशनी में नहीं, रवि-प्रभा में ज्वलत है। स्व० श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने भी 'प्रगति और प्रयोग से परे' उनके भाव द्रव्यों के मिश्रण की प्रशंसा की है। डॉ० रामकुमार वर्मा को आशा है कि यह प्रयोगवाद का मार्ग-दर्शन करेगी। आज की बहुत सी कविता-अकविता कम कहती है, अधिक छिपाती है और जो कहती भी है, वह अनमने से-अटपटे भाव से। उस चक्रव्यूह से कभी-कभी कवि स्वयं ही नहीं निकल पाता। कवि महल के मुक्तकों में ऐसी कोई दुरभिसन्धि नहीं। वे किसी सम्प्रदाय के नहीं, सब सम्प्रदाय उनके हैं। उनकी कविता व्याख्यात्मक नहीं, सूत्ररूपा है, इसलिए प्रायः सर्वत्र अभिधा काव्य से बहुत ऊपर उठ कर चलने वाली है। साथ ही लाक्षणिक वक्रता और अनूठी व्यंजकता ने उसका प्रायः साथ नहीं छोड़ा है।

कविताओं में विस्मयबोधक चिन्हों का (एक नहीं, दो, तीन का भी) इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि उसका प्रभाव जैसे क्षीण हो गया है। भाषा में कहीं कहीं

डॉ. कन्हैयालाल सहल :
व्यक्तित्व
और
कृतित्व

□

ललित निबन्ध एवं भाषा-शास्त्र खण्ड

ललित निबंधकार डॉ० सहल

• डॉ० अरविन्दकुमार देसाई

गद्य को कवियों की कसौटी कहने वाले आचार्य के मन में गद्य का निबंध-रूप ही प्रधानतः रमता रहा होगा, इसमें कोई शक नहीं है। वस्तुतः निबंध ही श्रेष्ठ गद्य रूप है, तथापि अद्यावधि निबंध का कोई निश्चित आदर्श नहीं बन पाया है। इतना ही नहीं, अभी तक हम निबंध, लेख, रचना, प्रस्ताव, प्रबंध आदि में योग्य भेद भी नहीं कर पाये हैं। अनेक निबंधों को, जिन्हें उनके लेखक निबंध कहते हैं, पढ़ते हुए हमें विचार करना पड़ता है कि इसे निबंध कहें या लेख कहें। हिन्दी के अनेक विद्वान् तो आज भी लेख और निबन्ध को पर्यायवाची ही मानते हैं। बाबू गुलाबराय ने लिखा है, "... इस अभाव की पूर्ति आचार्य शुक्ल के निबन्धों ने की। उन्होंने मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक दोनों प्रकार के लेख लिखे।"[1] इससे भी आगे बढ़कर एक अन्य विद्वान् ने लिखा है, "लेख जब तक पत्र-पत्रिकाओं में सामयिक साहित्य के रूप में रहता है, लेख है, परन्तु जब वही लेख किसी पुस्तक में सगृहीत किया जाता है तो 'निबन्ध' की संज्ञा पाता है।"[2] बहरहाल 'दृष्टिकोण' में सगृहीत लेखों को यदि कोई निबन्ध संज्ञा से अभिहित करे तो अन्य को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यद्यपि लेखक ने इन्हें 'लेख' ही कहा है और कविवर सियाराम शरण गुप्त ने इन्हें 'छोटे निबन्ध' नाम दिया है।

निबन्ध शब्द बड़ा लचीला है। शब्द के धात्वर्थ के अनुसार निबन्ध उस रचना को कहा जायगा, जिसमें किसी विचार या भाव को बाँधा अथवा गूँथा गया हो। हिन्दी का यह शब्द लैटिन के 'एग्जीजियर', फ्रेंच के 'एसाई' तथा अंग्रेजी के 'ऐसे' का पर्याय है। ये तीनों ही शब्द लघु अथवा समर्याद दीर्घ कलेवर की उस

[1] हिन्दी गद्य का विकास, पृ० १६

[2] द्विवेदी-युगीन निबन्ध-साहित्य, पृ० ११।

अनवस्थित गद्य-रचना के लिए प्रयुक्त होता है, जिसमें लेखक आत्मीयता या अनात्मीयता, वैयक्तिकता या निर्वैयक्तिकता के साथ किसी एक विषय या उसके किन्हीं अंशों अथवा प्रसंगो पर अपनी निजी भाषा-शैली मे भाव या विचार प्रकट करता है। इस पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि वस्तुतः 'निबन्ध' अपने शाब्दिक अर्थ के सर्वथा विपरीत बन्धनहीन गद्य विधा है। इसीलिए तो सुप्रसिद्ध कोशकार डॉक्टर जॉनसन ने इसे 'मन की विशृंखल विचार-तरंग तथा अनियमित और अपच' रचना कहा है। यह गद्य-रचना ही ऐसी निर्बन्ध है कि सदियो के प्रयास के बाद भी इसे सर्वसम्मत परिभाषा मे नही बाँधा जा सका है। इसीलिए 'दृष्टिकोण' के निबन्धो की सरलता दिखाते हुए सियारामशरणजी लिखते है, "प्राध्यापक सहल को इन निबन्धो मे मित्र-गोष्ठी मे बैठे बात करते हुए पाते हैं।" लेखक हमे बात-बात मे ही अनेक अनुभूत और ज्ञानपूर्ण बातें कहकर मन और बुद्धि को संतुष्ट कर देते हैं।

इस सग्रह मे विविध विषयों से सम्बन्धित छोटे-बड़े २३ निबन्धो का समावेश किया गया है। इसमे कई निबन्ध तो इतने छोटे है कि जिन्हे सामान्य पाठक भी पाँच-सात मिनट मे ही पढ़कर उनका रसास्वाद पा सकता है। साथ ही सियारामशरण गुप्त के साथ उसे भी 'सन्तोष होता है, लेखक हमारे समय का भी मूल्य जानता है।' कुछ निबन्ध पाँच-सात पृष्ठो मे भी विस्तृत होकर समासीन हुए हैं। लेखक ने इनकी काया के विस्तार या सकोच के बारे मे किसी प्रकार का आग्रह नही रखा है। विषय-वैविध्य तथा गोष्ठी-शैली के कारण पाठक को 'लेखक की ओर से छुट्टी रही है, जितनी देर रहना हो, रहो। बीच मे भी उठकर जा सकते हो और मन हो तो फिर लौटकर आ जाओ।' इन निबन्धो को पढ़ते हुए कहानी का-सा ही आनन्द आता है और लेखक की ओर से छुट्टी होते हुए भी बीच मे छोड़कर जाने को मन नही करता।

इस सग्रह मे सबसे अधिक संख्या मनोवैज्ञानिक निबन्धों की है। इनमे वर्णित लेखक का मनोविज्ञान कोरा बौद्धिक मनोविज्ञान न होकर व्यावहारिक मनोविज्ञान बन पाया है। आचार्य शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबन्धो के सम्बन्ध मे अनेक विद्वानों ने आक्षेप किया है कि वे बौद्धिक अधिक हैं, कलात्मक कम। लेकिन इन मनोवैज्ञानिक निबन्धों पर ऐसा कोई दोषारोपण किया जा सकना सम्भव नही है। इनमें इतनी सरलता, स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिक तथ्यो का वर्णन उदाहरण सहित किया गया है कि पूरा निबन्ध पढ़ लेने के बाद ही पाठक को ज्ञान होता है कि लेखक ने कितना बड़ा मनोवैज्ञानिक सिद्धात समझा दिया है। अपने प्रथम निबन्ध 'टन् टन्' मे गाँधी जी की आत्मकथा मे वर्णित दुर्बलताओं की चर्चा करते हुए लेखक ने "सच्चा आदमी अपने अतीत को बुराइयों को भी जन-समाज के समक्ष रख

सकता है। ऐसा करने से लोग यही तो समझेंगे न कि इतना समुन्नत व्यक्ति भी किसी समय इतना दुर्बल था। समझें, उनकी बला से—किन्तु साथ-साथ वे यह भी तो समझ सकते हैं कि जो व्यक्ति इतना दुर्बल था, वह इतना सबल हो गया।" (पृ० ३) इस ढंग को अपना लेने के बाद यदि मनुष्य चाहे तो अपने जीवन को भी उन्नत बना सकता है। लेखक ने गहराई से इस प्रश्न पर विचार किया है। इसी प्रकार 'चेतावनी' शीर्षक निबन्ध में बाल-मनोविज्ञान का विस्तार से परिचय दिया गया है। लेखक ने विविध घटनाओं के वर्णन के द्वारा अपनी बात को पुष्ट किया है। अन्त में वे लिखते हैं, "बचपन से ही बच्चे में सचाई तथा आत्मविश्वास जैसी अच्छी आदतें डाली जानी चाहिए जिससे वह भविष्य में पूर्ण मनुष्य बन सके, क्योंकि 'बच्चा ही तो मनुष्य का पिता है।' (पृष्ठ ४४) यहाँ पर भी लेखक का मनोविज्ञान सप्रयोजन, व्यावहारिक मनोविज्ञान बनकर ही उपस्थित हुआ है। 'बुड्ढे बच्चे', 'प्रतिभा', 'टैक्ट' 'मृत्युतत्त्व', 'हीन भावना' आदि इसी प्रकार के सुन्दर निबन्ध हैं। 'बहुभाषिता' निबन्ध में निबन्धकार ने बहुत बोलने वाले व्यक्तियों का मनोविश्लेषण किया है। इसके अनेक कारणों का उल्लेख करते हुए भारतीय आयुर्विज्ञान का उल्लेख करते हुए कहा गया है, "वातप्रकृति वाला मनुष्य हवा से बात करता है, हवा बाँधता है, इतना ही नहीं, वह हवा से लड़ता भी है।" (पृ० ६१)

लेखक ने कुछ निबन्धों में सैद्धान्तिक मनोविज्ञान की तात्त्विक चर्चा भी की है। 'हीन-भावना' शीर्षक निबन्ध में मानव-जीवन में उत्पन्न होने वाली हीन-भावना के विविध कारणों पर प्रकाश डालते हुए उन्हें दूर करने के उपायों का भी वर्णन किया है। वे लिखते हैं, "हीन-भाव को दूर करने की रामबाण औषध यह है कि हम अपनी सीमाओं को समझें। आसमान के तारे तोड़ना हमारे लिये संभव न हो तो इस पृथ्वी पर ही दौड़-धूपकर हम अपनी हविस पूरी कर लें, असंभव के पीछे दौड़कर तो हम अपने रोग की वृद्धि ही करेंगे।" (पृ० २८) इसी प्रकार 'मानसिक स्वास्थ्य' और 'मन की करतूत' भी सैद्धान्तिक मनोविज्ञान के सुन्दर निबन्ध हैं। इन निबन्धों में जहाँ अनेक पाश्चात्य विद्वानों के कथन एवं घटनाओं के उद्धरण दिये गये हैं, वहाँ श्रीमद्भगवद् गीता, तुलसीदास, जायसी, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद आदि के कथनों को भी यथास्थान उद्धृत करके भारतीय साहित्य के प्रति अपने ज्ञान तथा अपनी श्रद्धा का परिचय दिया है।

'दृष्टिकोण' के निबन्धों में मनोवैज्ञानिकता के बाद पाठक का ध्यान आकर्षित करने वाला दूसरा तत्त्व ऐतिहासिकता का है। यों तो अधिकांश निबन्धों में इतिहास के उदाहरण देकर लेखक ने अपने इतिहास-ज्ञान का परिचय दिया है। ग्रीक, रोम, इंग्लैंड, फ्रांस, रूस, मिश्र, आदि देशों का उसका इतिहास-ज्ञान उल्लेखनीय है। इसके साथ ही कुछ निबन्ध तो ऐतिहासिक विषयों पर ही लिखे गये हैं। इनमें लेखक

का अपना स्वतंत्र चिंतन विशेष रूप से उभर कर आया है, इसलिए ये पाठक को विशेष आकर्षित करते हैं। "कालो भूपस्य कारणम्" में महाभारत की 'राजा कालस्य कारणम्' उक्ति को लेकर उसके विरुद्ध ऐतिहासिक प्रमाण देकर अपने व्यक्तिगत चिंतन के द्वारा अपना मत प्रदर्शित किया है। उनका यह कथन सर्वथा उचित है कि परिस्थितियाँ यदि व्यक्ति को प्रभावित करती हैं तो एक विशिष्ट व्यक्ति भी परिस्थितियों पर अपना प्रभाव डालता है। मनुष्य को परिस्थिति का दास मानने वाले आज के हिन्दी पाठक के लिए इस प्रकार के विचार अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक हैं। 'प्राचीन भारत में शिक्षा की व्यवस्था' भी ऐतिहासिक कोटि का ही निबन्ध है। इसमें लेखक ने वैदिक-युग, उपनिषद्-युग, सूत्र-युग, विश्वविद्यालय-युग आदि विविध युगों की शिक्षा-पद्धतियों का परिचय देते हुए उनकी विशेषताओं का वर्णन किया है। इनमें लेखक के विशद इतिहास-ज्ञान का परिचय मिल जाता है।

इस संग्रह के कुछ उत्तम निबन्ध वे हैं, जिनमें लेखक ने विविध विषयों की तात्त्विक चर्चा की है। 'चतुर्वर्ग', पंचकोश', 'मृत्यु-तत्त्व', 'सभ्यता और संस्कृति', 'बाउल मत और उनकी साधना', आदि इसी कोटि के विचारात्मक निबन्ध हैं। 'चतुर्वर्ग' में उन्होंने बताया है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में मनुष्य की सभी एषणाओं का समावेश हो जाता है। अर्थ का सम्बन्ध शरीर से, धर्म का बुद्धि से, काम का मन से और मोक्ष का लोकहित से है। 'पंचकोश' में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशों का सरल और बुद्धिगम्य वर्णन किया गया है। 'मृत्युतत्त्व' में लेखक ने एक दार्शनिक की भाँति कहा है, "मरण जीवन का अन्त नहीं है। वह तो माता के एक स्तन को छोड़कर दूसरे स्तन से लगने के समान है।" इसमें प्राचीन विचारकों और दार्शनिकों के उद्धरण देकर मृत्यु का तात्त्विक एवं रोमांचक वर्णन किया है। 'सभ्यता और संस्कृति' में दोनों के तात्त्विक अन्तर को दिखाते हुए कहा गया है, 'सभ्यता का सम्बन्ध बाह्य उपकरणों से है और संस्कृति है एक आन्तरिक वस्तु। सभ्यता यदि देह है तो संस्कृति है देह के भीतर रहने वाला प्राण।' (पृ० ७७) 'बाउल मत और उनकी साधना' में बाउल संतों को सहज और स्वाभाविक धर्म के उपासक तथा 'मनेर मानुष' कहा है। साधना के क्षेत्र में वे सहज मार्ग के उपासक हैं। लेखक के इन विचारों का हम स्वागत करते हैं कि सांस्कृतिक आदान प्रदान के लिए इन संतों के गीतों का राष्ट्रभाषा में अनुवाद होना चाहिए।

इन निबन्धों को पढ़ते हुए इनकी सबसे प्रधान विशेषता यह प्रतीत होती है कि लेखक के अपने विचार जितने स्पष्ट और सुलझे हुए हैं, उन्हें उसी रूप में व्यक्त करने की कला भी लेखक के लिए सहजसाध्य है। इन्हें पढ़ते हुए लेखक के विचारों का भाषा के साथ तादात्म्यीकरण कर लेने में पाठक को कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। विविध प्रकार की कथा कहानियों के उदाहरण देकर [illegible]

इन निबन्धों में लेखक के विविध क्षेत्र से सम्बन्धित विस्तृत ज्ञान का भी पाठक को परिचय मिल जाता है। 'गुलमेंहदी और उसका वर्गीकरण' में लेखक के वनस्पतिविज्ञानविषयक गूढ़ ज्ञान का उदाहरण मिल जाता है। उसके मनोवैज्ञानिक निबन्धों में पाश्चात्य साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन को हम देख पाते हैं। साथ ही उनका इतिहास, आयुर्वेद, दर्शनशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, भाषाविज्ञान, मनोविज्ञान आदि विषयों का विशिष्ट ज्ञान भी यत्र-तत्र-सर्वत्र झांकता हुआ दिखाई दे जाता है। वर्तमान युग में बहुप्रचलित शब्द 'बायकाट' के सम्बन्ध में मेरी ही भांति अनेक पाठकों ने सम्भवतः प्रथम बार ही पढ़ा होगा, ''बायकाट, बायकाट हम सभी चिल्लाते हैं किन्तु कितने व्यक्तियों को पता है कि १८ वीं शताब्दी में बायकाट नामक एक व्यक्ति के साथ सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया गया था, जिससे बायकाट शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है।'' (पृ. ७०) एक अच्छे निबन्धकार के लिए जिस प्रकार से बहुविध ज्ञान की आवश्यकता मानी गई है, उससे सर्वथा संपूर्ण होने के कारण सहलजी के ये निबन्ध पठनीय एवं उपादेय बन पड़े हैं।

व्यक्तित्व-दर्शन को निबन्ध का प्राणतत्त्व माना गया है। व्यक्ति-भेद से ही निबन्ध की टेक्नीक में अन्तर आ जाता है। निबन्ध विधा के जन्मदाता फ्रांसीसी विद्वान मोन्टेन ने वैयक्तिकता और आत्मनिवेदन को ही निबन्ध का आधार मानते हुए लिखा था : I am the subject of my essays because I myself am the only person whom I know thoroughly. अन्य भी सभी आचार्यों ने निबन्धों में व्यक्तित्व को अनिवार्य तत्त्व माना है। 'दृष्टिकोण' के निबन्धों में लेखक श्री कन्हैयालाल सहल का व्यक्तित्व सर्वत्र स्पष्ट दिखाई दे रहा है। प्रारंभ में ही उन्होंने विदेशी शैली के प्रति अपना रोष दिखाया है तो साथ ही अपनी समय की पाबंदी का और प्रातः साथ नियमित भ्रमण के लिए जाने का भी वर्णन किया है।

दृष्टिकोण : एक अनुशीलन

• डॉ० राधेश्याम शर्मा

'दृष्टिकोण' डॉ० सहल के ललित निबन्धों का एक लघु संग्रह है जो विविध विषयों के प्रति लेखक की अनेकमुखी दृष्टि को प्रस्तुत करने के कारण अपने नामकरण की सार्थकता को प्रकट करता है। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से इसके निबन्धों को मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, समाजशास्त्रीय, सांस्कृतिक आदि विभिन्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, पर कुछ लेखों को छोड़ कर सभी में लेखक का उद्देश्य मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण है—मनोवैज्ञानिक कहे जाने वाले निबन्धों में वे प्रवृत्तियाँ व्यष्टिगत हैं तो अन्य निबन्धों में समष्टिगत। इस रूप में विविध विषयों से सम्बद्ध होते हुए भी ये लेख मनोविज्ञान के अधिक निकट हैं। वैसे संख्या की दृष्टि से भी संग्रह में मनोवैज्ञानिक निबन्ध ही सबसे अधिक हैं। कदाचित् इसीलिए लेखक ने इन निबन्धों को समग्र रूप में 'कुछ मानसिक प्रवृत्तियाँ' कहना उपयुक्त समझा है।

संग्रह के नामकरण तथा उसमें समाविष्ट लेखों को दी गयी अभिधा में परस्पर विरोधाभास प्रतीत होता है। 'दृष्टिकोण' शब्द इस बात का द्योतक है कि इन निबन्धों में लेखक के निजी दृष्टिकोण की प्रमुखता है। अतः उनमें व्यक्तिनिष्ठता के तत्वों की अधिकता होनी चाहिए। उधर 'मानसिक प्रवृत्तियाँ' कहने से यह संकेत मिलता है कि लेखों का प्रमुख आधार प्रवृत्तियों का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण है जो कि अधिकाधिक निर्वैयक्तिक होने की अपेक्षा रखता है। ऐसी स्थिति में सहज ही यह प्रश्न उठता है कि ये निबन्ध विषयिप्रधान हैं या विषयप्रधान? यदि विषयिप्रधान हैं तो उन्हें 'कुछ मानसिक प्रवृत्तियाँ' कहना कहाँ तक ठीक है और यदि विषयप्रधान हैं तो 'दृष्टिकोण' नामकरण का औचित्य किस सीमा तक है?

स्वरूप—निर्णय

इन प्रश्नों के उत्तर में इन निबन्धों का स्वरूपात्मक परिचय निहित है, अत

यहाँ इन पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। इसके लिए पहले विषयिप्रधान (व्यक्तिनिष्ठ) तथा विषयप्रधान (वस्तुनिष्ठ) निबन्धों की विशेषताओं पर दृष्टिपात कर लेना अपेक्षित है। पहले व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों को ही लें। इस प्रकार के निबन्धों में लेखक का प्रमुख उद्देश्य अपनी वैयक्तिक घटनाओं, परिस्थितियों, प्रवृत्तियों एवं रुचियों को प्रदर्शित करना होता है, किसी विचार या भाव-सत्य को प्रस्तुत करना नहीं। उनमें यदि विचार-पक्ष होता भी है तो अत्यंत क्षीण, इतना क्षीण कि पाठक का मन उस ओर जम नहीं पाता और शीघ्र ही विचार-पक्ष से कूद कर लेखक की वैयक्तिक परिधि में घूमने लगता है। यों कहिए कि यहाँ लेखक के व्यक्तित्व का पक्ष इतना सबल होता है कि पाठक उसकी पकड़ से मुक्त नहीं हो पाता। विचारों की ओर उसका मन टिकता भी है तो 'ग्राम गच्छन् तृणं स्पृशति' की तरह आनुषंगिक रूप में। क्योंकि यहाँ जो तथ्य प्रकट किये जाते हैं, वे निर्वैयक्तिक नहीं होते। अत: उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नगण्य-सा होता है। यह उन निबन्धों की सबसे बड़ी सीमा है और शक्ति भी। सीमा इसलिए कि वैचारिक दृष्टि से तथ्यों की तटस्थ प्रभा क्षीण हो जाती है और शक्ति इसलिए कि व्यक्तित्व के संस्पर्श से वर्ण्यविषय मार्मिक और प्रभावोत्पादक हो उठता है। वस्तुतः लेखक के व्यक्तित्व की इतनी सन्निकटता ही उन्हें व्यक्तिनिष्ठ निबन्ध बना पाती है। हिन्दी में बाबू गुलाबराय के ललित निबन्ध व डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'अशोक के फूल' में संग्रहीत अधिकांश निबन्ध इसी कोटि के हैं।

दूसरे प्रकार के निबन्ध वस्तुनिष्ठ होते हैं। उनकी वस्तुनिष्ठता का तात्पर्य लेखक के व्यक्तित्व का अत्यताभाव नहीं है। साहित्यिक निबन्धों में—चाहे वे साहित्यिक विषय पर लिखे गये हों या साहित्येतर विषय पर—रचयिता के व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव दुष्कर ही नहीं, असंभव है। क्योंकि और भी नहीं तो कम से कम शैली के रूप में उसका व्यक्तित्व अनिवार्यतः रहता ही है। पर शैलीतत्त्व तो सभी प्रकार के निबन्धों में रहता है। ऐसी स्थिति में निबन्धों का इसे व्यावर्तक तत्त्व नहीं कहा जा सकता। शैली की बात यदि छोड़ भी दी जाए तो एक अन्य रूप में भी इन निबन्धों में रचनाकार का व्यक्तित्व रहता है। उनमें उसके भाव एवं संवेदनाएँ विचारों के साथ गुँथी चलती हैं। कोई भी लेखक अपने भावों और संवेदनाओं से निरपेक्ष होकर साहित्यिक निबन्ध नहीं लिख सकता। यदि वह ऐसा कर सकता है तो उसके निबन्ध साहित्य के दरबार में प्रवेश न पा सकेंगे, अन्यत्र भले ही समादृत हों। अभिप्राय यह है कि साहित्येतर विषयों को आधार बनाकर लिखे गये रचनात्मक कोटि के साहित्यिक निबन्धों में लेखक के व्यक्तित्व का होना ही उनके साहित्यिक होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। इतना अवश्य है कि यहाँ लेखक का व्यक्तित्व विषयवस्तु पर हावी होकर इतना नहीं छा जाता कि उसके समक्ष तथ्यों की वस्तुनिष्ठता फीकी पड़ जाय। इसके विपरीत होता

न्व विषयप्रधान निबन्धों की श्रेणी में आते हैं। उनमें व्यक्ति की प्रधानता न हो
विचारों या भावों की ही प्रमुखता है। यहाँ लेखक का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व के
में आने वाले तथ्यों को दर्शाना नहीं है। जहाँ कहीं उसने अपने व्यक्तित्व के सदर्भ
है, वहाँ वे माध्यममात्र है, साध्य नहीं। उनके द्वारा विषय का स्पष्टीकरण ही
ष्ट है। छोटे से छोटा विषय भी लेखक के आकर्षक व्यक्तित्व की लपेट में आकर
स्पादित हो उठता है—इस तथ्य से लेखक भली भाँति परिचित है। उसकी मान्यता
कि "जिस निबन्ध में वर्ण्य-विषय तो हो किन्तु व्यक्ति नदारद हो, वह सच्चे अर्थों
निबन्ध ही नहीं। क्योंकि कहने वाले के कारण ही विषय में दिलचस्पी पैदा होती
।"[1] इस प्रकार लेखक की दृष्टि में विषय से भी अधिक महत्त्व लेखक का है। यही
रण है कि 'दृष्टिकोण' के निबन्धों में उत्तम पुरुष सर्वनाम का प्रयोग बहुलता से
ा है। या कहिए, तथ्यों के प्रस्तुतीकरण में लेखक का व्यक्तित्व एक आवश्यक
मका को निभा रहा है। पर इस बात के आधार पर इन निबन्धों को व्यक्तिगत
बन्धों में वर्गबद्ध करना साहित्यिक (विषयगत) निबन्धों की सहज प्रकृति की
पेक्षा करना होगा। यहाँ लेखक का व्यक्ति निश्चय ही जागरूक है, पर निबन्धों में
सेवक ही है, सेव्य नहीं।

'दृष्टिकोण' के निबन्धों के वर्ण्य-विषय पर नजर दौड़ाने से यह तथ्य और
उजागर हो जाता है। अन्तिम निबन्ध को छोड़कर सभी निबन्धों के शीर्षक विषय
वस्तुपरता के संकेतक है। 'बुड्ढे बच्चे', 'प्रतिभा', 'मृत्युतत्त्व' 'हीन भावना',
ानसिक स्वास्थ्य' आदि निबन्धों में तथ्यों का विश्लेषण वस्तुनिष्ठ दृष्टि से किया
या है। ऐसी स्थिति में ये निबन्ध विषयप्रधान ही ठहरते है।

इस प्रसंग में यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि निबन्धों के जो उपर्युक्त
वर्ग किये गये है, वे अंग्रेजी साहित्य के निबन्धों के आधार पर है। हिन्दी के
बन्धों का यह वर्गीकरण सटीक प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः हिन्दी में वस्तुनिष्ठ
ौर व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों का समन्वयात्मक रूप ही मिलता है। इसीलिए
हन्दी निबन्धों को शुद्ध व्यक्तिनिष्ठ या वस्तुनिष्ठ निबन्धों के रूप में नहीं
ाँटा जा सकता। दृष्टिकोण के निबन्धों पर भी यही बात लागू होती है।
मुख्यरूप से वस्तुनिष्ठ है, किन्तु व्यक्तिनिष्ठ भी, क्योंकि गौण रूप में वहाँ लेखक

१. समीक्षायण : पृष्ठ, ११५।

यहाँ इन पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। इसके लिए पहले विषयिप्रधान (व्यक्तिनिष्ठ) तथा विषयप्रधान (वस्तुनिष्ठ) निबन्धों की विशेषताओं पर दृष्टिपात कर लेना अपेक्षित है। पहले व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों को ही लें। इस प्रकार के निबन्धों मे लेखक का प्रमुख उद्देश्य अपनी वैयक्तिक घटनाओं, परिस्थितियों, प्रवृत्तियों एव रुचियो को प्रदर्शित करना होता है, किसी विचार या भाव-सत्य को प्रस्तुत करना नही। उनमे यदि विचार-पक्ष होता भी है तो अत्यंत क्षीण, इतना क्षीण कि पाठक का मन उस ओर जम नही पाता और शीघ्र ही विचार-पक्ष से कूद कर लेखक की वैयक्तिक परिधि मे घूमने लगता है। यों कहिए कि वहाँ लेखक के व्यक्तित्व का पक्ष इतना सबल होता है कि पाठक उसकी पकड से मुक्त नही हो पाता। विचारो की ओर उसका मन टिकता भी है तो 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' की तरह आनुषंगिक रूप मे। क्योंकि वहाँ जो तथ्य प्रकट किये जाते हैं, वे निर्वैयक्तिक नही होते। अतः उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नगण्य-सा होता है। यह उन निबन्धो की सबसे बड़ी सीमा है और शक्ति भी। सीमा इसलिए कि वैचारिक दृष्टि से तथ्यो की तटस्थ प्रभा क्षीण हो जाती है और शक्ति इसलिए कि व्यक्तित्व के संस्पर्श से वर्ण्यविषय मार्मिक और प्रभावोत्पादक हो उठता है। वस्तुत. लेखक के व्यक्तित्व की इतनी सन्निकटता ही उन्हे व्यक्तिनिष्ठ निबन्ध बना पाती है। हिन्दी मे बाबू गुलाबराय के ललित निबन्ध व डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'अशोक के फूल' मे संग्रहीत अधिकाश निबन्ध इसी कोटि के हैं।

दूसरे प्रकार के निबन्ध वस्तुनिष्ठ होते हैं। उनकी वस्तुनिष्ठता का तात्पर्य लेखक के व्यक्तित्व का अत्यताभाव नही है। साहित्यिक निबन्धो मे—चाहे वे साहित्यिक विषय पर लिखे गये हो या साहित्येतर विषय पर—रचयिता के व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव दुष्कर ही नही, असंभव है। क्योंकि और भी नही तो कम से कम शैली के रूप मे उसका व्यक्तित्व अनिवार्यतः रहता ही है। पर शैलीतत्त्व तो सभी प्रकार के निबन्धो मे रहता है। ऐसी स्थिति मे निबन्धो का इसे व्यावर्तक तत्त्व नही कहा जा सकता। शैली की बात यदि छोड भी दी जाए तो एक अन्य रूप मे भी इन निबन्धो मे रचनाकार का व्यक्तित्व रहता है। उनमे उसके भाव एवं सवेदनाएँ विचारो के साथ गुँथी चलती है। कोई भी लेखक अपने भावो और सवेदनाओ से निरपेक्ष होकर साहित्यि[illegible] निबन्ध नहीं लिख सकता। यदि वह ऐसा कर सकता है तो उसके निबन्ध साहित्य के द[illegible] बार मे प्रवेश न पा सकेंगे, अन्यत्र भले ही समादृत हो। अ[illegible] य है कि साहित्ये[illegible]
विषयों को आधार बनाकर लिखे गये रचनात्मक [illegible]
लेखक के व्यक्तित्व का होना ही उनके सा[illegible]
अवश्य है कि यहाँ लेखक का व्यक्ति[illegible]
जाता कि उसके समक्ष तथ्यो [illegible]

सार यह है कि 'दृष्टिकोण' के निबन्ध साहित्यकार विविध विषयों पर लिखे गए रचनात्मक साहित्यिक निबन्ध ही कहे जायेंगे।

विषय-वैविध्य

इन निबन्धों की एक प्रमुख विशेषता विषय की विविधता है। लेखक ने विभिन्न क्षेत्रों से जीवनोपयोगी विषयों का चुनाव कर अलग-अलग जायके की सामग्री पाठकों के समक्ष रखी है। कुछ निबन्धों में मानसिक दुर्बलताओं का विश्लेषण किया गया है तो कुछ में बौद्धिक दृष्टि से विचारोत्तेजक सामग्री दी है, तो कुछ में देश के साहित्य और संस्कृति के गौरव की ओर संकेत कर सांस्कृतिक उत्थान की कामना

की गयी है। जिन विषयों से निबन्धों की सामग्री का सम्बन्ध है, उन्हें देख कर यह आसानी से समझा जा सकता है कि कितने व्यापक क्षेत्र से विषयों का चयन किया गया है। संग्रह में कुल २३ निबन्ध हैं जिनमें पाँचवें निबन्ध को छोड़ कर प्रारम्भिक दस निबन्ध मनोवैज्ञानिक हैं। ग्यारहवाँ निबन्ध 'कालो भूतस्य कारणम्' समाजशास्त्रीय दृष्टि से लिखा गया है, जिसमें व्यक्ति (संस्कार) की अपेक्षा परिस्थितियों का अधिक महत्त्व बता कर समाज-शास्त्रीय सिद्धान्त का संकेत किया गया है। अन्त में क्रिया-प्रतिक्रिया के सिद्धान्त में व्यक्ति और परिस्थितियों का समान महत्त्व स्वीकार कर उनके समन्वयात्मक रूप का परिचय दिया है। 'बहुभाषिता' में वातप्रधान मनुष्यों की प्रकृति पर विचार व्यक्त किये गये हैं। मानव-प्रकृति से सम्बद्ध होने के कारण इस निबन्ध को मनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है, पर यहाँ लेखक का दृष्टिकोण आयुर्वेदशास्त्र पर आधारित है। अतः इसे आयुर्वेदिक विश्लेषण-प्रधान निबन्ध कहना ही अधिक समीचीन है। 'गुरु-तत्त्व', 'मनुवंश', 'पञ्चकोश' और 'सदाचार का आरम्भ'—ये चार निबन्ध दार्शनिक हैं, यद्यपि उनके भीतर मनोवैज्ञानिक पुट भी कम नहीं है। 'भाषा का चमत्कार' एक मात्र भाषावैज्ञानिक निबन्ध है जिसमें कुछ शब्दों की उत्पत्ति पर नवीन विचार प्रकट हुए हैं। सतरहवें निबन्ध का सम्बन्ध जीवन के आचार-पक्ष से है। अतः इसे आचारशास्त्रीय (एथिकल) निबन्ध की अभिधा दी जा सकती है। अठारह से बाईस संख्या तक के निबन्ध भारतीय शिक्षा, संस्कृति और साहित्य को आधार बना कर लिखे गये हैं, अतः स्थूल रूप में इन्हें सांस्कृतिक निबन्ध कहना अनुपयुक्त न होगा। अन्तिम निबन्ध 'सत्य पुरुष गांधी' आख्यानात्मक है, पर उसे भी एक प्रकार से सांस्कृतिक निबन्ध कहा जा सकता है क्योंकि सत्य पुरुष के रूप में गान्धी जी के स्तवन में भारतीय संस्कृति के ही एक पक्ष का उल्लेख हुआ है।

यह ध्यान देने योग्य है कि इन निबन्धों में विषय के शास्त्रीय पक्ष का उद्घाटन उतना नहीं है जितना कि व्यावहारिक पक्ष का। इसीलिए उनमें आकर्षण अधिक उत्पन्न हो गया है। मात्र विषय की विविधता ही किसी निबन्ध की रोचकता का हेतु नहीं हो सकती। उसके लिए और बातें भी आवश्यक हैं। वे हैं—लेखक की दृष्टि और शैली। 'दृष्टिकोण' के निबन्धों के विषय सामान्य ही हैं, कुछ तो घिसे-पिटे भी, पर लेखक की प्रतिभा के प्रसाद से वे नवीन रूप में चमक उठे हैं। ये निबन्ध इस तथ्य का जीवित प्रमाण उपस्थित करते हैं कि निबन्धों में विषय का उतना महत्त्व नहीं, जितना कि लेखक की अभिनव दृष्टि व प्रतिपादन-शैली का। इन तीनों तत्त्वों में से कुछ लेखकों के निबन्धों में एक तत्त्व मिलता है तो कुछ में दो। तीनों का युगपद् सन्निवेश दुर्लभ ही है। पर 'दृष्टिकोण' में तीनों तत्त्व इस संतुलन से आ मिले हैं कि निबन्धों में तिहरा आकर्षण उत्पन्न हो गया है।

प्रभावित है कि वे 'मानव के उपासक' हैं। मानवप्रेम ही उनकी साधना का प्रमुख लक्ष्य है। हिन्दी में बाउल सन्तों पर लेख लिखने की पहल लेखक ने उनकी मानवतावादी दृष्टि से प्रभावित होकर ही की है। बाउल सन्तों के विषय में वह लिखता है-

"बाउल 'मनेर मनुष्य' अर्थात् मन के मानव के उपासक। मानव के इस महत्त्व का संकेत पुरुष-सूक्त में भी मिलता है।" (पृ०, ८६)

ध्वन्यात्मक रूप में भी लेखक का झुकाव मानवतावाद की ओर प्रतीत होता है। मनोवैज्ञानिक निबन्धों के भीतर मानवप्रेम की भावना निहित है। वहाँ लेखक का प्रमुख लक्ष्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों को प्रस्तुत करना नहीं है प्रत्युत उनके द्वारा मानव-मन का परिष्कार अभीष्ट है। वह चाहता है कि मनुष्य जिन मानसिक दुर्बलताओं के कारण मानव-समाज का श्रेष्ठ व्यक्ति नहीं हो सकता, उनका निराकरण अत्यंत आवश्यक है। दार्शनिक और सांस्कृतिक निबन्धों द्वारा वह समाज को बौद्धिक व सांस्कृतिक उत्थान का दिशा-संकेत देता है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक निबन्धों द्वारा मानव का मानसिक, दार्शनिक निबन्धों द्वारा बौद्धिक और सांस्कृतिक निबन्धों के भीतर से मानवतावाद की झंकार सुनायी देती है।

हास्य-व्यंग्य

'दृष्टिकोण' के निबन्धों में हास्य-व्यंग्य का प्रयोग भी हुआ है, पर अत्यंत विरल। दो-तीन निबन्धों को छोड़ किसी में हास्य का प्रयोग नहीं मिलता। चिन्तन की गहराइयों में उतर कर नवीन तथ्यों के विश्लेषण का प्रधान लक्ष्य लेकर चलने के कारण लेखक को हास्य के प्रसार का अवकाश नहीं मिला है। हास्य के अभाव की बहुत कुछ कमी को लेखक की रोचक शैली ने भी पूरा कर दिया है। कदाचित् इसलिए भी लेखक ने हास्य की आवश्यकता न समझी हो; अन्यथा जितने-से रूप में हास्य-व्यंग्य का प्रयोग निबन्धों में हुआ है, उसे देख कर इस क्षेत्र में लेखक की दक्षता का अनुमान लगाया जा सकता है।

हास्य-व्यंग्य का प्रयोग कुछ मनोवैज्ञानिक निबन्धों तक ही सीमित है। आचार्यों ने बताया है कि वाणी, रूप आदि के विकारों को देखने पर हास्य उत्पन्न होता है। इन निबन्धों में लेखक ने वाणी व रूप की विकृति को तो नहीं देखा है पर मानसिक विकृतियों को अवश्य देखा है। स्वभावतः ऐसे अवसर पर लेखक की हास्य-प्रवृत्ति ने उभर कर पाठकों के लिए भी हास्य की अच्छी खासी सामग्री दे दी है। पश्चिमी आचार्यों ने जो हास्य के प्रकार बताये हैं, उनमें व्यंग्य का प्रयोग ही मुख्य रूप से किया गया है, उसके साथ कहीं-कहीं स्मित (ह्यूमर) भी लिपटा हुआ

आ गया है। व्यंग्य को ही अपनाने का प्रमुख कारण लेखक का सामाजिक दृष्टिकोण है जो अन्ततः मानवतावाद का ही पोषक है। व्यंग्यकार एक प्रकार से समाज-सुधारक होता है। वह समाज के दोषों व विकृतियों का उपहास कर उसे ठीक रास्ते पर लाना चाहता है। व्यंग्य एक सोद्देश्य हास्य है जो कि समाज के परिष्कार की भावना से अनुप्रेरित होता है। 'दृष्टिकोण' के लेखक ने भी व्यंग्य का प्रयोग इसी उद्देश्य से किया है। समाज-सुधार की शुभेच्छा से प्रेरित होने के कारण उसका व्यंग्य तीखा होते हुए भी कटु नहीं है। स्मित के योग से वह और भी मधुर हो गया है। उदाहरणार्थ—

"ग्रीस के सुकरात ने तो न जाने कौन-से दार्शनिक अर्थ में कहा था—अपने आपको जानो, किन्तु मैं चाहता हूँ कि ये 'बुड्ढे बच्चे' यदि यह जान लें कि बचपन उनके साथ चिपटा हुआ आ रहा है, तो क्या यह इनके लिए 'आत्मज्ञान' से किसी कदर कम है?" (पृ० ८)

"मेरे एक मित्र हैं जिनमें कष्ट झेलने का माद्दा है ही नहीं। जरा-सी कहीं चोट लग जाय तो दूसरों को दिखाते फिरेंगे। कहीं खरोंच लग जाय तो भी आप चाहेंगे कि दूसरे उनके साथ सहानुभूति प्रदर्शित करें। × × × अँगुली अच्छी हो गयी, तब भी आप उसके कुछ दिनों तक केवल इसलिए पट्टी बाँधे रहे कि ऐसे अभिनय से आपको अपने मित्रों की सहानुभूति अनायास मिल जावेगी।" (पृ० ५)

"बुड्ढी बच्चियाँ हों अथवा बुड्ढे बच्चे, दोनों ही भयावह हैं और इनसे तो भगवान् ही बचाए।" (पृ० १०)

इन उदाहरणों में मानसिक विकृतियों से ग्रस्त मनुष्यों का उपहास किया गया है। इनमें स्मित के माधुर्य ने व्यंग्य की कटुता को ढक दिया है।

भाषा-शैली

इन निबन्धों की भाषा अत्यन्त सरल और मुहावरेदार है। उसमें उर्दू, फारसी, अरबी, अंग्रेजी व संस्कृत भाषाओं के उपयुक्त और बहुप्रचलित शब्दों का यथास्थान प्रयोग हुआ है। लेखक का लक्ष्य सर्वत्र विषय के स्पष्टीकरण की ओर रहा है जिससे भाषा दुरूह नहीं हो पायी है। हिन्दी के साथ संस्कृत के विद्वान् होने पर भी लेखक ने हिन्दी को संस्कृत-शब्दों की प्रचुरता से बोझिल नहीं होने दिया है। अन्य भाषाओं के शब्दों को उसी रूप में ग्रहण किया है जिस रूप में कि वे हिन्दी की प्रकृति में घुलमिल गये हैं। ऐसा लगता है कि विचारों को प्रकट करने के लिए लेखक को भाषा की ओर देखना नहीं पड़ता, शब्द स्वतः उसके मनोनुकूल भाव को प्रकट करने के लिए उपस्थित हो जाते हैं। लेखक का भाषा पर अधिकार होने के कारण उसमें शब्दाडम्बर नहीं है। उसमें सहज प्रवाह सर्वत्र बना हुआ है। भाषा सर्वत्र स्फीत और अनाविल है।

भाषा की इस विशेषता का कारण लेखक की शैली भी है। लेखक ने निबन्ध लिखते समय यह ध्यान रखा है कि पाठक उसके सामने बैठा है और वह उसे अपने मनोरंजक अनुभव सुना रहा है। लेखक के अनुसार निबन्ध 'जिन्दादिल मजेदार व्यक्ति का भोजनोत्तर एकात संभाषण' ही तो है। अतः इन निबन्धों में हम "प्राध्यापक सहल को मित्र-गोष्ठी में बैठे बात करते हुए पाते हैं।"[1] अभिप्राय यह है कि ये निबन्ध बातचीत की तरह लगते हैं। बातचीत भी ऐसी जैसी कि भोजन के बाद हल्के-फुल्के ढंग से बड़े आराम के साथ चलती रहती है, वार्तालाप-शैली की सरलता व सरसता इन निबन्धों में सर्वत्र व्याप्त है।

संग्रह के निबन्धो मे एक या दो शैलियाँ मिलती है। सारे निबन्धों की एक या दो शैलियाँ सामान्य रूप से निर्दिष्ट नही की जा सकती। प्रत्येक निबन्ध मे शैली की कुछ न कुछ नवीनता मिलती है। कही लेखक ने पहले सैद्धान्तिक बात कह कर अनेक उदाहरणों द्वारा उसे स्पष्ट किया है तो कहीं विषय को सामान्य रूप मे उठा कर अनेक युक्तियो व उदाहरणों द्वारा उसे विकसित कर अन्त में निष्कर्ष दिया है। इस प्रकार कहीं निगमन-आगमन शैली को अपनाया है तो कही व्यास व समास शैलियो को। लेखक का ध्यान सर्वत्र विवेचना की ओर हो रहा है, अतः समग्र रूप मे उसकी शैली को विवेचनात्मक कहना उपयुक्त होगा।

अन्त मे, यह कहा जा सकता है कि इस संग्रह के निबन्धों के वर्ण्य-विषय को प्रभावोत्पादक बनाने मे शैली का प्रमुख हाथ है। ये निबन्ध लेखक के प्रारम्भिक काल की रचना है, अतः उनमे शैली का वह गाभीर्य नही मिलता जो कि उसकी प्रौढ काल की रचनाओं मे मिलता है। फिर भी, वह यहाँ विषय-सम्बन्धी भावो, विचारो एवं परिस्थितियों का संयोजन कर अभिमत प्रभाव को उपस्थित करने मे असमर्थ नहीं रही है।

•••

प्रकार की विस्तृति होती है और व्यंग्य में अधिक तीखापन, चुभन तथा गहराई होती है। व्यंग्य मे हास्य इतना कठोर हो जाता है कि कभी-कभी वह हास्य की सीमा से बाहर निकल जाता है। हास्य जब मनोरंजन या विशुद्ध आनन्द की भावना को छोडकर प्रयोजन-निष्ठ हो जाता है, तब उसे व्यंग्य नाम से अभिहित किया जाता है। व्यंग्य मे अधिकांशतः मानव-चरित्र की दुर्बलताओं पर विचार किया जाता है। सुतरां, सुधार अथवा समाज-हित व्यंग्य का मुख्य स्वर है। इसके अतिरिक्त व्यंग्य मे सामाजिक कुरीतियो, व्यवहारो या रूढ़िमुक्त परम्पराओ को हेय तथा हास्यास्पद रूप मे प्रस्तुत किया जाता है।

यो तो व्यंग्यप्रधान रचनाओं का कभी अभाव नही रहा है, परन्तु इनका प्रारम्भिक प्रयोग दृश्यकाव्य मे हुआ है। व्यंग्यात्मक आवेश वेदो में भी मिलते हैं। कबीर ने समान वाणी से खुदा के बहरेपन और मूर्ति-पूजा की निरर्थकता पर व्यंग्यात्मक शैली मे अपने उपदेश की मिठास और कडुवाहट समाज में वितरित की, तुलसी ने अनियारे व्यंग्य बाणो की बौछार में विघ्य के उदासी तपोव्रतधारियों को घसीटकर अपने मर्यादावाद को नयी परिभाषा दी और सूर ने सिसकती विरह-विदग्धा गोपियो को व्यंग्य का आश्रय प्रदान करके ज्ञान-गौरव के महारथी उद्धव को परास्त कर प्रेम का अनुपम प्रतिमान प्रस्थापित किया। हास्य की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य इतना समृद्ध नही है, पर व्यंग्यात्मक रचनाओ के प्रखरतम रूप को लेकर उसे दिवालिया करार नही दिया जा सकता। जैसे अलीमुहिब खा की खटमल बाईसी, बेनी के भडौए, एवं भारतेन्दु का स्यापा। आलसियो, खुशामदियों, पियक्कड़ो पर करारे व्यंग्य करके उन्होंने समाज के परिष्कार को नया 'जामा' पहनाया। प्रगतिवादी धारा के अन्तर्गत राष्ट्रीय चेतना के नये आलोक मे पूंजीपतियों और जमींदारों पर व्यंग्य का प्रहार करते हुए कवि का स्वर अत्यन्त तीखा हो गया—

> विद्युत की इस चकाचौध मे देख दीप की लौ रोती है।
> अरी, हृदय को थाम महल के लिए झोपडी बलि होती है॥
> देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय शोणित की धारें।
> बनती ही उन पर जाती हैं वैभव की ऊँची दीवारें॥

उग्रजी की वाणी ने समाज की नग्नता के रूप में उसके व्यापक भ्रष्टाचार और अनाचार-कर्दम मे कुलबुलाते पाप के भयंकरतम कीटाणुओं को जिस खूबी के साथ उजागर किया, वह प्रत्येक दृष्टि से प्रशंसनीय है। बाबू गुलाबराय ने आत्मपरक निबन्धो की परिखा मे व्यंग्य को एक प्रकार की सजीवता प्रदान की है और गुदगुदाते लाते व्यंग्य-बिन्दुओ के माध्यम से अपने गहन, गम्भीर और तथ्यान्वेषी को प्रभावकता के सभी कोणों से संपृक्त कर दिया है। डॉ० कन्हैयालाल

सहल के निबन्धों में व्यंग्य जहाँ एक ओर सरसता और बोधगम्यता के सभी प्रारूपों की सन्तुष्टि करता है, वहीं दूसरी ओर 'दृष्टिकोण' के कुछ निबन्धों में चारित्रिक असम्बद्धताओं एवं अवकचरी बौद्धिक स्थितियों को उरेहने में योग देकर निश्चय ही जन-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है। अब हम यहाँ उनके निबन्धों में व्यंग्य की स्थिति पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

सहल जी के सम्पूर्ण निबन्धों को सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. सामान्य निबन्ध, २. साहित्यिक निबन्ध और ३. सैद्धान्तिक निबन्ध। 'दृष्टिकोण' के लगभग सभी निबन्धों को प्रथम कोटि में रखा जा सकता है। 'समीक्षायण' में 'हास्य-विज्ञान' जैसे निबन्धों को भी प्रथम कोटि में रखना उचित होगा। इन निबन्धों में निबन्धकार की स्वतन्त्र प्रतिभा उन्मुक्त रूप से प्रवहमान रही है। इनमें बुद्धि-तत्त्व और रागतत्त्व का सम्मिश्रण सर्वत्र देखने को मिलता है। व्यंग्यपूर्ण निबन्ध निश्चय ही रागतत्त्व के आतिशायिक प्रतिबिम्ब में अनुरंजित हैं और इनमें निबन्धकार की कल्पना को हँसने-खेलने का पर्याप्त अवसर मिला है। एक स्थान पर लेखक ने हास्य को विशिष्ट और उदारतम रेखाओं में घेरते हुए अपना मन्तव्य इस तरह स्पष्ट किया है—'हास्य मानव-जाति के लिए विभु का एक विशिष्ट वरदान है। पीड़ा के समय पशु-पक्षी भी चीखते-चिल्लाते हैं, किन्तु वे हँस नहीं सकते। अवस्था बढ़ने पर चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, किन्तु दिल और दिमाग पर यदि झुर्रियाँ न पड़ें तो अवस्था-जन्य झुर्रियों को भी पास आते डर लगेगा। पुराने जमाने में विदूषक रखने की जो प्रथा थी, उसका स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बड़ा महत्त्व समझिए। दिल और दिमाग पर झुर्रियाँ न पड़ें, इसके लिए हास्य की धारण लेनी चाहिए।' (समीक्षायण, पृष्ठ ५३) आनुपातिक दृष्टि से सहल जी के निबन्धों में व्यंग्य की स्थिति बड़ी उजागर और महत्त्वपूर्ण है। इन निबन्धों में चारित्रिक और सामाजिक असम्बद्धताओं को लेकर ऐसे व्यंग्य की उद्गति हुई है जो प्रभाव में सरल होते हुए भी, जीवन के सभी कगारों को छूता हुआ जहाँ एक ओर हलके-फुलके वातावरण की सृष्टि करता है, वहाँ दूसरी ओर मनुष्य को नाना प्रकार की समृद्धियों से भर देता है।

'दृष्टिकोण' में शारीरिक असम्बद्धताओं से सम्बन्धित कई व्यंग्यात्मक निबन्ध हैं। 'बुड्ढे बच्चे', 'उतार फेंक इस कूबड़ को' आदि निबन्ध इसी प्रकार के हैं। 'बुड्ढे बच्चे' निबन्ध में अधिक संवेदनशील व्यक्ति का सुन्दर व्यंग्यपरक चित्र प्रस्तुत करते हुए लेखक कहता है—'कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो वयस्क होने पर भी बुढ़ापा साथ लिये फिरते हैं। मेरे एक मित्र हैं जिनमें कष्ट झेलने का माद्दा है ही नहीं। जरा-सी कहीं चोट आ जाए तो दूसरों को दिखलाते फिरेंगे, कहीं खरोंच भी लग जाय तो भी

आप चाहेंगे कि दूसरे उनके साथ सहानुभूति प्रदर्शित करें। यदि कहीं से सहानुभूति-सूचक पत्र अथवा तार मिल जाय तब तो आप बाँसों उछल पड़ेंगे। एक बार हज़रत सिल्ली पर उस्तरे की धार बना रहे थे। आपका ध्यान कहीं दूसरी ओर था, उस्तरा अनामिका के बीच से निकल गया। लोहू की धार बह निकली। वैद्य डाक्टरों को घर पर इकट्ठा कर लिया। महीने भर उंगली का इलाज चलता रहा। उंगली अच्छी हो गई, तब भी आप उसे कुछ दिनों तक केवल इसलिए पट्टी बाँधते रहे कि ऐसे अभिनय से आपको अपने मित्रों की सहानुभूति अनायास मिल जायगी।............ आपकी अवस्था तीस से ऊपर हो चुकी है किन्तु फिर भी बच्चे की तरह सारी जिम्मेवारी आप दूसरों पर डाल देते हैं।............जब मैं कहता हूं कि यार बड़े भाग्यशाली हो, तुम्हें न जाने क्यों कर सबकी सहायता अथवा सहानुभूति मिल जाती है, तब तो आपका रोम-रोम खिल उठता है, किन्तु जब 'बुड्ढा बच्चा' कहकर मैं उनको बनाने लगता हूं, तब आप आँख दिखाने लगते हैं। (पृ० ५–६) 'बुड्ढा बच्चा' का यह चित्र वास्तविकता से बिल्कुल परे नहीं है। लेखक ने अपनी सक्षम और आकर्षक शैली के माध्यम से अधकचरी बौद्धिक स्थिति और निर्बल इच्छा-शक्ति के धनी व्यक्ति का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। बुड्ढे बच्चे अपने बचपन को लम्बा कर लेते है। लेखक की पैनी दृष्टि कितनी तेजी से अपना वार कर रही है, यह द्रष्टव्य है—'सिवयोरिटी सुख-शांति और उन्नति की सब बातों का असली मतलब यह है कि मानव का बचपन लम्बा हो जाता है। जो जितना सभ्य है, उसकी बचपन की अवस्था उतनी ही लम्बी है।............पशुओं में बचपन एक साल का होता है, हद से हद दो साल का। ....हम लोग इतने सभ्य हो गये हैं कि अब तीस-तीस साल के बुड्ढे बच्चे दिखलायी पड़ने लगे हैं। (पृ० ६) दूसरी ओर लेखक ने 'बच्चे बुड्ढे' का भी सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है—कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो एकदम छलांग मार कर बाल्यावस्था से वृद्धावस्था में पहुँच जाते हैं। युवावस्था उन्हें आती ही नहीं। यौवन की रंगरेलियां और अठखेलियां उनके लिए अपरिचित-सी रह जाती हैं। अस्सी-अस्सी वर्ष के 'बुड्ढे बच्चों' की मृत्यु होती देखी गयी है। (पृ० ७) आगे लेखक ने अपनी ही बात को प्रामाणिक मानने वाले 'बच्चा विद्वान्' व्यक्ति पर व्यंग्य किया है—मेरे एक मित्र हैं, जो विद्वान् हैं, अध्ययनशील हैं, मौलिक विचारक हैं, नित्य नवीन कल्पनाओं के उद्भावक हैं, किन्तु बच्चे की तरह इस बात की आशा रखते हैं कि जो कुछ कहें, उसे ब्रह्मवाक्य मान लिया जाय, जो उनके विरुद्ध बोलने की कोशिश करता है, उसके साथ वे जूझ पड़ते हैं।............कभी-कभी तो वे बच्चों की-सी दलील देने लगते हैं। (पृ० ७) जार्ज बर्नार्डशा ने एक बार लिखा था कि यदि कोई पुरुष या स्त्री सामान्य ढंग से पैदा न होकर अंग फोड़कर बाहर निकले तो वह इस कार्यव्यस्त जगत् को देखकर चकित हो जायेगा।............हममें से बहुत से ऐसे हैं जो बचपन को त्याग

लेकर आगे बढ़ रहे हैं। मैं पूछता हूँ—यह सब क्या तमाशा हो रहा है? काश कि हम जान पाते! (पृ० ६) अन्तिम वाक्य में लेखक ने व्यंग्य की परिणति बड़े प्रभावक ढंग से प्रस्तुत की है। स्पष्टतः उसकी वाणी 'काश कि हम जान पाते' के रूप में 'बुड्ढे-बच्चों' की सारी करामात जानने के लिए उत्सुक है। लेखक प्रसंग बदल कर व्यंग्य की निर्मिति में अत्यधिक पटु है, देखिए, कितने हलके-फुलके शब्दों के योग से व्यंग्य के विभिन्न रंग बिखेरे गये हैं—हाँ, क्या स्त्रियों में बुड्ढी बच्चियाँ नहीं होतीं? अवश्य होती होंगी। नववधू जब घर में आती है, तब भी सास अपने पुत्र से यही आशा रखती है कि वह पूर्ववत् उससे ही सर्वाधिक प्रेम करता रहे।''' हर एक बच्चे की सामान्यतः यही इच्छा देखी जाती है कि उसके माता-पिता अथवा गुरुजनों के प्रेम का एकाधिकारी वही बना रह जाय।'''''' 'बुड्ढी बच्चियाँ हों अथवा बुड्ढे बच्चे, दोनों ही भयावह हैं और इनसे तो भगवान् ही बचाए। (पृ० १०)

'उतार फेंक इस कूबड को' निबन्ध में शारीरिक असम्बद्धता के साथ-साथ हीन भावना को त्यागने के सम्बन्ध में लेखक ने अनेक झलमलाते व्यंग्यपरक बाणों के योग से अनुत्साह-वन को जलाकर राख कर डालने की भरसक चेष्टा की है। 'संसार में और कुछ चाहे सत्य हो या न हो, श्रद्धा अवश्य सत्य है। तब फिर पहाड़ों को चूर-चूर कर डालने वाले और आकाश को हिला देने वाले युवक! बुढ़ापे का भार पीठ पर लाद कर कुबड़े की तरह क्यों चलते हो? उतार फेंक इस कूबड को।' असमय वृद्धत्व को लेखक ने व्यंग्य की रेखाओं में घेर कर सजीव-सा कर दिया है—'मुझे तो ऐसा लगता है जैसे वर्षों की संख्या से अवस्था का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं। यदि ऐसा होता तो क्यों एक ७५ वर्ष का बुड्ढा भी अपने को युवा अनुभव करता और क्यों २५–३० का युवक वृद्धत्व का बोझ अपनी पीठ पर लाद कर युवावस्था की कमर तोड़ डालता? (पृ० १२)

लेखक ने मनोवृत्तियों के बदलने रंगों और रूपों का अध्ययन चारित्रिक असम्बद्धता के रूप में व्यंग्य के सहारे बड़े व्यापक धरातल पर किया है। किसी सज्जन के यह पूछने पर कि महात्मा जी ने अपनी आत्मकथा में अपनी दुर्बलताओं, यहाँ तक कि अपनी विषय-लोलुपता का जो उल्लेख किया है, ऐसा वे क्यों कर सके? लेखक ने इस बात का उत्तर बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से दिया है और इसमें एक प्रकार की चारित्रिक दुर्बलता अथवा सबलता का अन्वेषण किया है। उसका विचार है कि सत्याग्रही के लिए विश्व को प्रयोगशाला में अपने किसी सत्य पर आवरण डालना अच्छा नहीं, इसी के साथ-साथ महात्माजी दुर्बलताओं से इतना ऊंचा उठ गये थे कि उन्हें अपनी दुर्बलताओं से खिलवाड़ करना एक प्रकार की शक्ति देता था। इसके विपरीत असत्याग्रही और दुर्बल व्यक्ति हीन भावना के कारण अपनी असफल-

ताओं को जिस चातुर्य से छिपाता है, उसका पर्दाफाश लेखक ने बड़ी निर्ममता से किया है—'जो मनुष्य झूठा है, वह झूठ को समाज के सामने नही रखना चाहता, जो कमजोर है, वह कमजोरी को छिपाना चाहता है। ऐसा करना हीनता की ग्रन्थि का परिणाम हो सकता है। इसके विरुद्ध सच्चा आदमी अपने अतीत की बुराइयों को भी जन-समाज के समक्ष रख सकता है। ऐसा करने से लोग यही तो समझेंगे न कि इतना समुन्नत व्यक्ति भी किसी समय इतना दुर्बल था। समझें, उसकी बला से—किन्तु साथ-साथ वे यह भी तो समझ सकते है कि जो व्यक्ति इतना दुर्बल था, वह इतना सबल हो गया। (पृ० २) हीन भावना से ग्रस्त व्यक्तियों की चुटकी काटते हुए लेखक उनके विकास के लिए हर प्रकार से तत्पर दिखलायी पडता है—"आसमान के तारे तोडना हमारे लिए सम्भव न हो तो इस पृथ्वी पर ही दौड-धूप कर हम अपनी हविस पूरी कर लें। असम्भव के पीछे दौडकर तो हम अपने रोग की वृद्धि ही करेंगे।..........केवल मन की जाली फेंक कर चाँद को धरती पर तो नही उतारा जा सकता। और फिर एक मनुष्य के पास हर एक वस्तु आयेगी भी कहा से और कैसे ? (पृ० २८-२९)

सहलजी बीच-बीच मे हल्के-फुल्के व्यंग्य-वाक्यों की संसृष्टि करके वातावरण मे एक प्रकार की सजीवता और सरसता भर देते है, जैसे—भगवान् का भजन करो, अलस्सुबह ही कैसा प्रश्न ? (पृ० १), सुनते नही, कॉलिज की घंटी टन्-टन्-टन् बजा रही है, (पृ० ४) किसी-किसी की आँखें बीस वर्ष मे ही सठिया जाती हैं (पृ० ११) तथा वात प्रकृति वाला मनुष्य हवा से बात करता है, हवा बांधता है, इतना ही नही, वह हवा से लडता भी है। (पृ० ६१) कहीं-कही देखते ही देखते लेखक व्यंग्य के माध्यम से बड़ी गहरी तीखी बात कह देता है। हमारे सभी सत्य अर्धसत्य मात्र हैं, इसकी पुष्टि के लिए वह आज के स्वातन्त्र्यशील युग मे प्रजा की मनः स्थिति का विश्लेषण करते हुए 'यथा राजा तथा प्रजा' के स्थान पर 'यथा प्रजा तथा राजा' कहना अधिक उपयुक्त और न्यायसगत मानता है। (पृ० ५०-५१) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हमारे देश में जीवन के प्रतिमान जिस तेजी से बदल रहे हैं, उसे देखते हुए तो यही लगता है कि राजा अथवा अधिकारी होना भी कम खतरे से खाली नही है। यही नितान्त सादी बात सहलजी ने व्यंग्य के सतरणशील कोणों के बीच मे रखकर जिस प्रभावक ढंग से कही है, वह कम प्रशसनीय नही है।

कहीं-कहीं सहल जी के निबन्धों मे शैलीगत व्यंग्य के दर्शन होते हैं। शैलीगत से मेरा अभिप्राय नितान्त स्पष्ट है और वह यह है कि व्यंग्य करते-करते ...त्मक वाक्यों का प्रयोग सहलजी का स्वभाव बन गया है, वह उनकी नस-नस में ...मा गया है और अवसर पाते ही चाहे जिधर से फूट निकलता है। एक समय भी

जब छायावाद की हर तरफ से आलोचना हो रही थी। 'छायावाद की चालढाल' निबन्ध में सहलजी छायावाद की किस तरह खबर लेते हैं, वह उन्हीं के शब्दों में सुनिए—'जिन दिनों छायावाद का आन्दोलन चला था, उन दिनों इस काव्यधारा की रेखाएँ वट-वृक्ष की जड़ों की तरह उलझी हुई थी, तर्कजाल की तरह बिखरी हुई थी। (समीक्षायण, पृ० ४०) काव्य के दोष गिनाते-गिनाते प्रभाव की दृष्टि से लेखक ने उनकी समानता जिस ढंग से शारीरिक दोषों से की है, वह कम द्रष्टव्य नहीं है—शारीरिक अंगों में दोष होने से शरीर विकृत हो जाता है। काने, गोड़े, कूबड़े को कुनाम ही नहीं कहा गया है, लोक-व्यवहार में ये अपशकुन अथवा-अमंगलसूचक भी मान लिये गये हैं। काव्यांग भी विकृत न होने पाए, इसका ध्यान कवि को रखना ही होगा। भला विकलांग होने पर कविता-कामिनी किसे आकर्षित कर सकेगी? (समीक्षायण, पृ० १२४)

'मूल्यांकन' में 'साहित्य-मूल्यांकन के नये मान' निबन्ध महत्त्व की दृष्टि से सैद्धान्तिक निबन्ध कहा जा सकता है। इस निबन्ध में लेखक ने नयी कविता की निर्मिति से लेकर उसकी स्थापनाओं, थोथे शब्दाडम्बर और नये कवि की अहंता पर बहुत करारे व्यंग्य किये हैं, वहाँ पर कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१. .... किन्तु अनेक कवि ऐसे भी हैं जो नयी कविता के नाम पर इस प्रकार की कविता करने लगे हैं जिसके दोनों ओर के सिरे कटे होते हैं, तीन पंक्तियाँ इस प्रकार लिख दी जाती है मानो वे १३ पंक्तियाँ हों।'' आज का कवि तो लय से भी पिंड छुड़ा रहा है। (मूल्यांकन', पृ० ६)

२ धूल भरे छन्दों के जाले बुहार कर आज काव्य-पथ को शीशे जैसा साफ किया जा रहा है। आज का कवि यद्यपि छन्दों से विदा ले रहा है, तथापि अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त बनाने के लिए आड़ी-तिरछी पंक्तियों, मोटे-पतले टाइपों तथा उल्टे चिह्नों आदि का प्रयोग कर रहा है। नये-नये प्रयोगों का किया जाना तो एक शुभ लक्षण है, किन्तु हर नये प्रयोग के मूल में अनुकरण-वृत्ति वांछनीय नहीं, झूठी पत्तल चाटकर कोई कब तक जी सकेगा? (मूल्यांकन, पृ० ७)

३. कुछ प्रयोगवादी समीक्षक बुद्धि-रस जैसे शब्द का भी प्रयोग करने लगे है।............बौद्धिकता में रस लेने वालों की संख्या विरल होती है क्योंकि उनमें हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क का व्यायाम अपेक्षित होता है। काव्य द्वारा रागों का ही व्यायाम और परिष्कार होता है और भविष्य में भी तब तक ऐसा ही होता रहेगा जब तक मानव जाति के मूल संवित् में ही कोई तात्विक परिवर्तन न हो जाए। (मूल्यांकन, पृ० ७)

४. जीवन की कठोर यथार्थताओं के चित्रण का अर्थ अपनी कुंठाओं और विकृतियों को उँडेल देना अथवा उनका वमन कर देना नहीं है। (मूल्यांकन, पृ० ६)

५. साथ ही यह भी सच है कि बहुत-सा कूड़ा करकट भी साहित्य के प्रांगण में बिखर गया है जिसे काल समय पाते ही बुहार ले जाएगा। साहित्य अपने मूलभूत गुणों से जीवित रहता है, किसी की वकालत-मात्र से नहीं। (वही, पृ० ११)

मेरे विचार से अपनी कुंठित भावनाओं और रुग्ण परम्पराओं को क्लिष्टता, दुर्बोधता और अस्पष्टता के साँचे में ढालकर नवीनता की दुहाई देना किसी भी दृष्टि से श्रेयस्कर नही है। नयी कविता में से यदि इसी तरह भावसम्प्रेषण क्षरण होता रहा तो एक दिन बुद्धि का अकाल पड़ जाएगा और शेष रह जाएगा नये कवि का अपने को महान् मानने का फुफकारता अहं। लेखक ने इसी तथ्य का अन्वेषण बहुत बारीकी के साथ किया है।

समग्रतः सहलजी के व्यंग्य मे एक प्रकार की विस्तृति पायी जाती है। उसमे न तो किसी के प्रति कटुता की अभिव्यक्ति हुई है और न उसकी सरलता तथा बोधगम्यता ही विलुप्त हुई है। बीच-बीच मे हल्के-फुल्के व्यंग्य की ससृष्टि करके उन्होंने रोचकता के सभी कोणों को अभिवृद्ध किया है और हास्य का सतरंगी इन्द्रधनुष अपने झलमलाते बिन्दुओं से बौद्धिक असम्बद्धताओं और चारित्रिक अपूर्णताओं का प्रतिफलन अभिव्यंजित करके मानव-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है। निश्चय ही, व्यंग्य-साहित्य मे सहलजी का स्थान अप्रतिम है, आगे आने वाली पीढ़ी ऐसा अनुभव करेगी और गर्व के साथ उनके व्यंग्य का मूल्यांकन करेगी।

•••

मरहूम मौलाना आजाद साहब से पत्र-व्यवहार

जब मैं राजस्थानी कहावतों पर अपना शोध-प्रबन्ध लिख रहा था, मैंने एक बार काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष आचार्य केशवप्रसादजी मिश्र से भेंट की और उनसे जानना चाहा कि 'कहावत' शब्द को किस प्रकार व्युत्पन्न किया जाय। आचार्य ने उत्तर दिया कि हिन्दी की 'कह्' धातु के आगे अरबी 'वत' प्रत्यय लगने से 'कहावत' शब्द बना है। मैं स्वयं 'कथा-वार्त्ता' से इस शब्द को व्युत्पन्न करने के पक्ष में था। मैंने इस सम्बन्ध में मौलाना आजाद के विचार जानने चाहे और इस विषय को लेकर एक पत्र मैंने उन्हें लिख दिया। मौलाना आजाद ने मेरे पत्र का जो उत्तर दिया, उसे मैं यहाँ अविकल उद्धृत कर रहा हूँ :—

New Delhi,
17th August, 1953

Dear Sir

Your letter of 13th August 1953 about 'Kahawat.'

You may say that kahawat is from the verb kahna as has previously been suggested to you.

'Wat' or 't' is not an Arabic suffix in 'Kahawat'. It is entirely beside the mark.

'Wat or Bat' as you have written in your letter as meaning a thing seems to be too far-fetched. Grammar comes later in the history of literature, and therefore we cannot judge every word according to rules of later origin. You may simply say that

kahawat has come to mean "a saying or proverb," just as kahan has, by common usage, come to mean a story.

In "Musahibat" or "Kitabat" etc. "t" is not a suffix in Arabic language.

Kahawat originally comes from kahna but it cannot be said that it is equal to kah and Bat. It is simply a word which has grown from Kahna, without any conscious attempt to co-ordinate it with any fixed rule of grammar, and has, by long usage, come to mean as it does at present.

मौलाना आजाद के उक्त पत्र से स्पष्ट है कि वे 'कहावत' शब्द मे किसी भी प्रकार का कोई अरबी प्रत्यय स्वीकार नही करते।

मौलाना आजाद 'कहावत' शब्द के द्विधा विभाजन के पक्ष मे नही थे। उनकी मान्यता थी कि 'कहावत' शब्द 'कहना' से निकला है, किन्तु यह नही कहा जा सकता है कि 'कहावत' शब्द कह+बात, इन दो टुकडो मे विभक्त है। कहावत के 'वत' या 'वत' का अर्थ बात नही है। बात के अर्थ मे 'वत' की कल्पना निरी कष्ट-कल्पना होगी। साहित्य के इतिहास मे व्याकरण बाद मे आता है, इसलिए बाद मे बने हुए नियमो के आधार पर हम प्रत्येक शब्द का निर्णय नही कर सकते। हम केवल इतना कह सकते हैं कि जिस प्रकार 'कहानी' शब्द सर्व-साधारण द्वारा प्रयुक्त होने पर 'कथा' के अर्थ मे रूढ़ हो गया है, उसी प्रकार 'कहावत' शब्द भी 'उक्ति या प्रवाद' के अर्थ मे प्रचलित हो गया है। इस शब्द का विकास अवश्य 'कहना' से हुआ है किन्तु वर्तमान समय मे यह शब्द जिस अर्थ मे प्रयुक्त होता है, वह अर्थ इस शब्द को प्रयोग या रूढि के कारण प्राप्त हुआ है, ऐसा नही हुआ है कि किसी ने जान-बूझकर उसे व्याकरण के किसी निर्दिष्ट नियम से सम्बद्ध करने का प्रयास किया हो और तब यह कोई विशिष्ट अर्थ देने लगा है।

मौलाना आजाद का जब यह पत्र मुझे मिला, तब मैंने उन्हे लिखा कि 'कहावत' शब्द 'कहना' से यदि बिना किसी प्रत्यय के ही बन गया है तो यह अवश्य ही सादृश्य (Analogy) के आधार पर बना शब्द होगा।

इस सम्बन्ध में मौलाना का फिर कोई दूसरा पत्र मुझे नही मिला।

शब्दो के निर्माण का इतिहास बड़ा मनोरंजक होता है। योरोपीय भाषा के ले ... रूप धारण करने से पहले उसमे पूर्णतः बने-बनाए शब्द ही थे। ये शब्द अलग-अलग अंशो के सम्मिलित रूप हैं, इस धारणा की कोई गंध भी न थी।

बोलने वाले भी बने-बनाए शब्दों के आधार पर ही बोलते थे। उनके पास प्रकृति और प्रत्ययों का कोई अलग-अलग जत्था नहीं था कि प्रकृति और प्रत्यय को मिलाकर गढ़-गढ़ कर वे शब्दों का प्रयोग करते। किन्तु इसका आशय यह भी नहीं है कि बोलने वाले जिन-जिन शब्दों का प्रयोग करते थे, वे सब-के-सब या तो उनके सुने हुये होते थे अथवा ऐसे शब्द होते थे जिन्होंने उनकी स्मृति में चिर स्थायित्व प्राप्त कर लिया था, शब्दों के गढ़ने की शक्ति उनमें थी किन्तु जो शब्द गढ़े जाते थे, वे पहले के सीखे हुये बने-बनाये शब्दों के सादृश्य पर ही गढ़े जाते थे।*

सम्भव है, जैसा कि मौलाना आज़ाद के विचारों से प्रकट है, कहावत भी एक ऐसा शब्द हो जिसे व्याकरण के निश्चित नियमानुसार प्रकृति-प्रत्ययों द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता न हो। इतना तो मौलाना ने भी स्वीकार किया था कि यह शब्द 'कहना' से ही निकला है और प्रयोग के कारण लोकोक्ति के अर्थ में रूढ़ हो गया है। प्रश्न यह है कि यदि यह एकात्मक शब्द है तो उस शब्द का पता लगना चाहिए जिसके सादृश्य पर यह गढ़ा गया है।

डा० बाबूराम सक्सेना के मत से हिन्दी 'कहावत' शब्द का सम्बन्ध संस्कृत 'कथावार्त्ता' से है किन्तु 'कहावत' का अर्थ 'कथा-वार्त्ता' से भिन्न है और यहाँ अर्थादेश स्पष्ट है।

जिस अर्थादेश की चर्चा डॉ. सक्सेना ने की है, उसकी सम्भावना यहाँ की जा सकती है क्योंकि एक भाषा जब दूसरी भाषा से शब्द-ग्रहण करती है तो अनेक बार अर्थादेश हो जाया करता है। घड़ी के अर्थ में प्रयुक्त अंग्रेजी का Clock शब्द बम्बई की तरफ एक क्लाक, दो क्लाक (एक घण्टा, दो घण्टे) के अर्थ में आज भी व्यवहृत हो रहा है।

•••

---

*सादृश्यनुं स्वरूप (डा. हरिवल्लभ भायाणी, भारतीय विद्या, वर्ष ३, अंक १)

श्री घनश्यामदासजी बिड़ला के साथ शब्द-चर्चा

मान्यवर,

राजस्थानी भाषा में 'संपत' शब्द एकता अथवा मेल के अर्थ में व्यवहृत होता है। इस शब्द के सम्बन्ध में निम्नलिखित राजस्थानी लोक-कथा उल्लेखनीय है—

"धनासाह नामका एक सेठ था। भरा-पूरा परिवार था, सारे सुख सुलभ थे, परिवार के सभी सदस्य 'एक डोर के हिलाए हिलते थे।' एक दिन सेठ को स्वप्न में लक्ष्मीजी के दर्शन हुए। नख से शिख तक सुसज्जित रमझम-रमझम करती हुई लक्ष्मी सेठ के सामने आकर खड़ी हो गई। सेठ ने पूछा—'आप कौन हैं?' उत्तर मिला—'मैं हूं महालक्ष्मी।' सेठ ने कहा—'आज्ञा दीजिए।' लक्ष्मी ने कहा—'तुम्हारे यहां मैं बहुत दिनों रही, अब जा रही हूं; सोचा, जाते समय तुमसे मिलकर जाऊँ। तुम्हें जो मांगना हो, मुझसे मांग लो।' सेठ को असमंजस में पड़ा हुआ देखकर लक्ष्मी ने कहा—'आज न सही, कल तक सोच-विचार कर जो मांगना हो, मांग लेना।'"

दूसरे दिन सेठ ने अपने परिवार के सभी सदस्यों के सामने लक्ष्मी के पदार्पण करने और वरदान की चर्चा चलायी। घर वालों में से किसी ने धन-दौलत, हीरा-मोती, किसी ने यशस्वी संतान, किसी ने कुछ, और किसी ने कुछ, अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार मांगने की सलाह दी। आखिरकार छोटे बेटे की बहू ने कहा—'आप तो स्वयं बहुत अनुभवी और समझदार हैं, आपके सम्मुख अपनी ओर से कुछ कहना मेरी धृष्टता मात्र होगी किन्तु मेरी तुच्छ बुद्धि के अनुसार मुझे तो यही समझ पड़ता है कि लक्ष्मीजी यदि कल जा रही हों तो भले ही आज चली जाएँ, किसी को भी बांधकर नहीं रखा जा सकता, लक्ष्मीजी तो क्या, बैल भी सदा बांधे हुए नहीं रखे जा सकते, इसलिए आप तो यह मांगें कि हमारे घर में जो 'संपत' (मेल-जोल) आज

है, इससे सवाई बधे, कभी गृह-कलह न हो। यह वरदान आप अवश्य माँग लें।' सेठजी को भी बहू की सलाह सबसे अधिक पसन्द आयी।

दूसरे दिन रात को फिर सेठजी को लक्ष्मी के दर्शन हुए। सेठ ने कहा—'आप जा रही हैं, तो कोई बात नहीं, भले हो जाएं किन्तु हमारे परिवार में जो हेत, मुहब्बत, छोटे-बड़े की मर्यादा आज है, वह दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़े। ऐसा दिन कभी न उगे जब हमारे घर में कलह के बीज बो दिये जाएँ। मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि हम सभी 'सपत' से रहें।' यह सुनकर लक्ष्मी ने कहा—'अगर यह बात है तो मुझे अपना इरादा बदलना होगा, उस हालत में तो धक्का मार-मारकर भी *यदि कोई मुझे निकालना चाहे तो मैं तुम्हारा घर छोड़कर कहीं नहीं* जा सकती।'[1]

उक्त कथा से स्पष्ट है कि परस्पर 'संपत' (मेलजोल) हो तो घर में लक्ष्मी का निवास भी सदा बना रहता है। एकता के अर्थ में 'सपत' का प्रयोग व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी ग्राह्य है। राजस्थानी 'सपत' शब्द निश्चय ही संस्कृत के 'सपत्' शब्द से आया है। यह सच है कि प्रयोग की दृष्टि से संस्कृत का 'सपत्' शब्द लक्ष्मी के अर्थ में व्यवहृत होता है किन्तु यदि संस्कृत के 'सपत्' शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ पर हम विचार करें तो कहा जा सकता है कि 'संभूय पदनं गमनम् इति सम्पत् पद् गतौ।' 'पद्' धातु जाने के अर्थ में प्रयुक्त है, इसलिए 'सम्पत्' का अर्थ होगा 'मिलकर चलना।'

राजस्थानी का 'सपत' शब्द व्युत्पत्ति और प्रयोग दोनों की दृष्टि से एक ही अर्थ देता है, जब कि संस्कृत 'सम्पत्' आज व्यवहार में मुख्यतः लक्ष्मी का वाचक रह गया है। किन्तु जिन्होंने भाषा-विज्ञान के अर्थ-परिवर्तन (Semantics) का अध्ययन किया है, उनके लिए इस प्रकार के प्रयोग कोई आश्चर्य की वस्तु नहीं। कारण भी अनेक बार कार्य का अर्थ देने लगता है। 'संभूय पदन' अर्थात् एकता द्वारा साध्य होने के कारण लक्ष्मी को भी 'संपत्' कहना उचित ही कहा जाएगा।[2] संस्कृत का 'कौपीन' शब्द इस प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण स्वरूप रखा जा सकता है। 'कौपीन' शब्द के पाप, गुह्यांग और आच्छादक वस्त्र (कच्छा) आदि अनेक अर्थ वैयाकरणों ने दिये हैं।[3]

---

१. द्रष्टव्य—श्री भँवरलाल नाहटा द्वारा लिखित 'सपत में लिछमीरो वासो' शीर्षक बात-कथा (मरुवाणी, कार्तिक २०१०)
२. संभूयपदनसाम्यत्वात्लक्ष्मीरपि सम्पत्।
३. शालीन कौपीने अधृष्टाकार्ययोः ५-२-२० कूपपतनमर्हतीति कौपीनं पापम्, तत्साधनत्वात् तद्वत् गोप्यत्वाच्च पुरुषलिंगमपि, तत्सम्बन्धात् तदाच्छादनमपि कौपीनम् (सिद्धान्तकौमुदी)

इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि 'संपत' अर्थात् एकता ही वास्तव में 'सपत्' अर्थात् लक्ष्मी है।

राजस्थानी भाषा में एक कहावत है "संप होय तो कुत्ता भी गंगाजी न्हावावै।" अर्थात् परस्पर मेल हो तो कुत्ते भी गंगा-स्नान कर आएँ। यहाँ भी 'संप' शब्द 'सपत्' अर्थात् मेल के अर्थ में ही प्रयुक्त है।

हेमानन्द कृत 'जीभ-दांत-संवाद' के निम्नलिखित दोहे में 'संप' शब्द मेल अथवा एकता के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है :—

दसण रसण सन्तोष करि, वसिया एकणि पास।
तिम जगि सहूयइ संप करि, पूरउ मनकी आस॥

'सपत' में अंतिम व्यंजन 'त्' का लोप होकर 'संप' ही रह गया है, जो अन्त्य व्यंजन-लोप का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

राजस्थानी 'संपत' शब्द की उक्त व्युत्पत्ति से आप सहमत हैं क्या? इस सम्बन्ध में आप अपने विचार प्रकट करेंगे तो बड़ा अनुगृहीत रहूँगा। राजस्थानी शब्दों के आप मर्मज्ञ हैं, यह लिखने की आवश्यकता नहीं।

स्नेहास्पद—
कन्हैयालाल सहल

श्रीयुत बा. घनश्यामदासजी बिड़ला ने उक्त पत्र का निम्नलिखित उत्तर भेजा—

बिड़ला हाउस
नई दिल्ली
दिनाक १२-१०-५६

प्रिय कन्हैयालाल,

मुझे कोई शक नहीं है कि 'सम्पत' शब्द 'सम्पत्ति' से ही बना है। उर्दू में अकसर लोग कहते हैं—"मैं गनीमत हूँ।" 'गनीमत' का अर्थ असल में है 'लूट का माल' मगर अब अर्थ हो गया है 'मैं अच्छा हूँ।' इसी तरह से 'सम्पत' शब्द की उत्पत्ति हुई मालूम होती है।

तुम्हारा
(ह०) घनश्यामदास

इस पर मैंने अपने दूसरे पत्र में मान्यवर श्री बिड़लाजी को लिखा कि "मैं गनीमत हूँ" इस प्रकार का प्रयोग मेरे पढ़ने में नहीं आया। क्या बोलचाल में

सचमुच ऐसा प्रयोग होता है ? इस पर आपका निम्नलिखित पत्र प्राप्त हुआ—

८, रायल एक्सचेंज प्लेस
कलकत्ता
दिनांक ६ नवम्बर, ५६

प्रिय महल,

दिवाली की शुभ कामनाओं के लिए अनेक धन्यवाद। मेरे पत्र-व्यवहार को प्रकाशित करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

"मैं गनीमत हूँ" का प्रयोग मैंने अच्छे लोगों से सुना भी है।

तुम्हारा
(ह०) घनश्यामदास

मान्यवर,

राजस्थान में भोजन करने के अर्थ में 'जीमना' क्रिया का प्रयोग होता है। संस्कृत में भोजनार्थक अनेक धातुएं हैं जिनमें से एक धातु है 'जमु', 'जिमि' अथवा 'जिमु'।* इसी जिमि (जिमु) धातु से 'जीमना' राजस्थानी भाषा में प्रयुक्त होने लगा है। इसी धातु से बना हुआ तत्सम 'जेमन' शब्द राजस्थानी में 'जीमण' के रूप में व्यवहृत होता है। 'नैषधीयचरित' में 'जिमु' धातु से बने हुये हेत्वर्थ कृदन्त 'जेमितुम्' का प्रयोग हुआ है। यथा—

अराधि यन्मीनमृगाजपत्रिजैः
पलैर्मृदु स्वादु सुगन्धि तेमनम्।
अशाकि लोकैः कुत एव जेमितुं
न तत् संख्यातुमपि स्म शक्यते॥

(१६ सर्ग, श्लोक ८७)

मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' में 'खाई है' के अर्थ में 'जेईं' क्रिया का प्रयोग हुआ है जिसका सम्बन्ध निश्चय ही संस्कृत की उक्त 'जिमि' धातु से है। उदाहरणार्थ :—

तुम्ह अबहीं जेईं घर पोईं।
कवल न बैठि बैठ हहु कोईं॥

(प्रेमखण्ड, १२३-२)

अर्थात् तुमने अब तक घर की पोई हुई रोटियाँ खाई हैं। तुम उस भौंरे के समान हो जो कुमुदिनी पर बैठा है, कमल पर नहीं।

---

* चमु छमु जमु झमु अदने। जिमि (अदने) केचित् पठन्ति। यदुक्तं तत्त्वबोधिन्यां दण्डिना 'जेमनं ब्राह्मणानाम्' इति।

इसी क्रिया से बने हुए 'जेंवत' 'जेवनार' आदि अनेक रूपों का प्रयोग रामचरितमानस में भी हुआ है। यथा,—

गारी मधुर स्वर देहि सुन्दरि व्यंग्य वचन सुनावहीं।
भोजन करहिं सुर अति विलंबु विनोदु सुनि सचु पावहीं॥
जेवंत जो बढ्यो अनंदु सो मुख कोटि हूँ न परै कह्यो।
अचवाइ दीन्हे पान गवने बास जहँ जाको रह्यो।

० ० ० ० ०

सो जेवनार कि जाइ बखानी
बसहिं भवन जेहिं मातु भवानी॥
(बालकाण्ड, शिव-विवाह-वर्णन)

(मराठी में भी 'जेमण' शब्द भोजन के अर्थ में प्रचलित है।)

२. थाली—

"थाली" शब्द काँसे या पीतल के उस बड़े छिछले बरतन के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें खाने के लिये भोजन रखा जाता है। यह शब्द संस्कृत के 'स्थाली' शब्द से राजस्थानी तथा हिन्दी आदि भाषाओं में आया है, किन्तु यहाँ द्रष्टव्य यह है कि संस्कृत का 'स्थाली' शब्द 'बटलोई' के अर्थ में प्रयुक्त होता है जो 'थाली' से भिन्न अर्थ का बोधक है। 'स्थाली पुलाक न्याय' का स्थाली शब्द भी इसी ओर इङ्गित करता है।

अर्थ-परिवर्तन (Semantics) का सम्बन्ध भाषा-विज्ञान की उस शाखा से है जिसे अर्थातिशय कहते हैं। शब्दों में अर्थ-परिवर्तन का अध्ययन करने वाले भाषा-वैज्ञानिकों का कथन है कि जब एक भाषा दूसरी भाषा से शब्द-ग्रहण करती है तो कभी-कभी शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। 'नदी' के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला फारसी का 'दरिया' शब्द गुजराती आदि अनेक भाषाओं में 'समुद्र' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। इसी प्रकार घड़ी-बोधक अंग्रेजी का Clock शब्द गुजराती में 'एक कलाक' 'दो कलाक' के रूप में 'एक घण्टे', 'दो घण्टे' के अर्थ में आज भी प्रयुक्त हो रहा है। बम्बई आदि की ओर से लौटकर आये हुए राजस्थानी भी 'एक घण्टे' के अर्थ में 'एक कलाक' का प्रयोग धड़ल्ले से करते हुए देखे जाते हैं।

इसी प्रकार "यह कम आश्चर्य का विषय नहीं कि 'जुलाब' शब्द मूलतः 'गुलाब' ही है। फारसी में 'गुल' शब्द सामान्य फूल का वाचक न होकर 'गुलाब' के फूल का वाचक था और इसीलिए गुलाब (गुल का आब) का अर्थ था 'गुलाब का जल।' गुलाब (गुलाब-जल) का प्रयोग वहाँ दस्तावर दवा के रूप में भी होता था।

शब्दों में व्यत्यय (metathesis) उलट जाने की एक प्रवृत्ति देखी जाती है जैसे 'लखनऊ' के लिए 'नखलेऊ' 'मतलब' के लिए 'मतबल' आदि। यहाँ 'लब' 'बल' में परिवर्तित हो गया। 'इन्धकम्' का 'कम्' 'मक' हो जाय, 'मक' का 'मुग' हो जाय, धन का घन रह जाय, प्रारम्भ के इकारका लोप हो जाय तो 'मूँगधणा' बन सकता है। 'मगलेन्धन' से ही इस शब्द को व्युत्पन्न करना हो तो यह भी हो सकता है कि प्रारम्भ में यह शब्द मांगलिक काष्ठ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो, बाद में सामान्यतः काष्ठ के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा हो। यह भी सम्भव है कि यह 'देशज' शब्द हो और किसी संस्कृत शब्द से सिद्ध न किया जा सके।

किन्तु इतना लिखने पर भी मेरा समाधान नहीं होता और मैं समझता हूँ, आप भी इन व्युत्पत्तियों से सन्तुष्ट नहीं होंगे। इस शब्द की व्युत्पत्ति का सही पता लगाने के लिए अभी विशेष खोज करनी होगी।

स्नेहास्पद

(ह०) कन्हैयालाल सहल

प्रिय सहल,

तुम्हारा अनुमान सही है कि 'स्याली' शब्द का अर्थ बटलोई है। मेरा खयाल था कि 'थाली' शायद 'स्थाल' से बनी होगी।

'तोवल' और 'कटोरिका' के सम्बन्ध में मेरे पास कोई राय नहीं है।

'मूँगधणा' का मूँग या धान से कोई सम्बन्ध नहीं लगता। 'इन्धनकम्' से 'मूँगधणा' बन सकता है।

तुम्हारा

(ह०) घनश्याम दास

(टिप्पणी डा. सहल की ओर से)—

'मूँगधणा' के सम्बन्ध में मैंने भारतीय विद्याभवन, बम्बई के प्रसिद्ध भाषाविद डा. हरिवल्लभ भायाणी से पत्र-व्यवहार किया। उनके मतानुसार मूँगधणा (इन्धन, मांगलिक इन्धन) का उत्तरांश संस्कृत 'इन्धन' से निष्पन्न हो सकता है। अगले अंश का सम्बन्ध वैसे तो स. मुद्ग प्रा. मुग्ग हिन्दी मूँग के साथ होने की संभावना होने पर भी अर्थ-दृष्टि से सम्बन्ध नहीं जुड़ता। जब तक 'मूँगधणा' का कोई पूर्व-रूप साहित्य में प्राप्त न हो तब तक कोई निश्चय नहीं किया जा सकता। संस्कृत मंगल से मूँग अंश सिद्ध नहीं हो सकता।"

•••

कांसा+ओरा प्रत्यय से आया हो। कांसा+ओरा–कांसोरा–काछोरा–काचोरा–कचोरा–कचोला। राजस्थानी में अनेक बार 'स' के स्थान में 'छ' देखने को मिलता है, जैसे 'तुलसी' के स्थान में 'तुलछी'।

४. तींवण (तींमण)

राजस्थानी में 'तीवण' शब्द शाक के अर्थ में प्रयुक्त होता है। एक प्रसिद्ध राजस्थानी कहावत है–'बीगड्योडा तीवण कोनी सुधरे' अर्थात् बिगड़े हुए शाक नहीं सुधरते।

यह तो इस कहावत का अभिधेयार्थ है, व्यंग्यार्थ यह है कि बिगड़े हुए बालक नहीं सुधर पाते। 'जीमना' शब्द के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए 'नैषधीयचरित' के जिस श्लोक का उद्धरण ऊपर दिया गया है, उसमें 'तेमनम्' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। 'तेमनम्' की व्याख्या करते हुए टीकाकारने कहा है—"तेमनाख्यं व्यंजनम्' अर्थात् 'तेमन' से तात्पर्य है 'तेमन' नामक व्यंजन से।

राजस्थानी भाषा में ऐसे बहुत से शब्दों का प्रयोग आज भी हो रहा है जो शुद्ध संस्कृत के शब्द हैं, किन्तु थोड़ा-बहुत ध्वनि-परिवर्तन जिनमें हो गया है। 'तीवण' भी एक ऐसा ही शब्द है जो वस्तुतः संस्कृत का 'तेमन' शब्द ही है, ऐसा लगता है। जैसे यह शब्द अन्य प्रादेशिक भाषाओं में सुरक्षित न रहकर राजस्थानी भाषा में सुरक्षित रह गया है।

उक्त चारों शब्दों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है? विशेषतः आपकी प्रेरणा से ही व्युत्पत्तिशास्त्र की ओर मैं आकृष्ट हुआ हूँ, इसीलिए 'शब्द-चर्चा' को लेकर समय-समय पर आपको कष्ट देता रहता हूँ। आशा है, उत्तर देकर अनुगृहीत करेंगे।

स्नेहास्पद
कन्हैयालाल सहल

श्री बिड़लाजी ने उक्त पत्र का निम्नलिखित उत्तर भिजवाया—

Birla House,
New Delhi,
दि. १७-१०-५६

प्रिय सहल,

'जीमना' के सम्बन्ध में जो प्रमाण तुमने दिये हैं, वे सही मालूम होते हैं। 'थाली' अवश्य 'स्थाली' से बना है। 'स्थाली' का अर्थ बटलोया है सही, पर 'स्थाली' का अर्थ कोष में दिया है 'थाली'। लेकिन 'कचोला' और 'तीवण' के सम्बन्ध में तुम्हारा निर्णय कुछ पूरा बैठता नहीं।

मुँगवड़ी' का अर्थ 'मगड़ी' कैसे बना ?

तुम्हारा

(ह.) घनश्यामदास

(टिप्पणी डा. नहन की ओर से—

मैंने अपने पत्र में 'कचोरा' शब्द की जो व्युत्पत्ति दी थी, उससे श्री बिड़लाजी का तो समाधान न हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। भाषा-शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान डा. हरिवल्लभ भायाणी ने भी 'कचोरा' सम्बन्धी मेरी व्युत्पत्ति से असहमति प्रकट की है। उन्हीं के शब्दों में "पउमचरिय" जैसे तीसरी शताब्दी के पूर्व ग्रंथ में जब 'कच्चोलय' मिलता है तब उसका सं. कांस्य, प्राकृत कंस, अपभ्रंश कांस-ऐसा विकासक्रम है और हिन्दी 'कचोरा' में 'ओरा' कोई प्रत्यय नहीं है। जहाँ तक हिन्दी 'र' के स्थान पर गुजराती में ळ (ल) होता है, वहाँ ळ (ल) मूल में ल् सूचित करता है। स् ट च् ऐसी प्रक्रिया तीसरी शताब्दी के लिए तो असम्भव-सी है। 'कच्चोलय' का मूल काच पुटक होना भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पुटक से ओलय बनने का और कोई असंदिग्ध उदाहरण मिले तब उसका समर्थन हम कर सकें। नियम से तो काच+पुटक से कच्चोडय हो सकता है।")

मान्यवर,

आपका १७-१०-५६ का पत्र मिला, बड़ी प्रसन्नता हुई। संस्कृत में 'स्थाल' और 'स्थाली' दो शब्द हैं। अमरकोश में उद्धरण दिया गया है 'स्थाल' भाजनभेदेपि स्थाली स्यात्पाटलोखयो.' "इतिमेदिनी." 'स्थाल' पात्र-विशेष को कहते हैं। 'स्थाल' से 'थाल' बना और उसके छोटे रूप को 'थाली' कहने लगे। यह मेरा अनुमान है।

जहाँ तक संस्कृत 'स्थाली' का सम्बन्ध है, वह 'ओदनादि पचन-पात्र' (पकाने के बर्तन) के अर्थ में प्रयुक्त शब्द है। आयुर्वेद-ग्रन्थों में 'पुटपाक' के प्रसंग में एक स्थाली के ऊपर दूसरी स्थाली रखने का उल्लेख हुआ है। वहाँ भी 'स्थाली' पचन-पात्र ही है। कड़ाही या हाँडी के अर्थ में 'स्थाली' शब्द का प्रयोग आयुर्वेद में हुआ है।

नागरीप्रचारिणी के कोश में 'थाली' को सं० स्थाली : वटलोई से व्युत्पन्न बतलाकर अर्थ किया गया है 'बड़ी तश्तरी'। उस हालत में संस्कृत 'स्थाली' का हिन्दी में अर्थ-परिवर्तन हो गया है, ऐसा माना जा सकता है। मेरा कहना तो केवल यह है कि संस्कृत में 'स्थाली' शब्द का प्रयोग सर्वत्र, जहाँ तक मेरी जानकारी है, पकाने के बर्तन के अर्थ में ही हुआ है। संस्कृत का 'स्थाल' अवश्य बर्तन-विशेष का द्योतक होने के कारण 'थाली' का भी अर्थ दे सकता है।

'तीवन' का संस्कृत रूप 'तेमन' अमरकोश में भी उद्धृत हुआ है। 'तेमन व्यंजनेक्लेदे तेमनी चुल्लिभिर्दपि' इति हेमचन्द्रः। 'तेमन' संस्कृत में व्यंजन के अर्थ में

प्रयुक्त शब्द है। सम्भव है, राजस्थानी का 'तीवरण' संस्कृत के 'तेमन' से ग्राया हो। इस सम्बन्ध मे भी मेरा कोई ग्राग्रह नही है, ग्रन्वेषरण जारी रखूँगा।

ग्रायुर्वेद-ग्रन्थो मे एक 'कटोरिका' शब्द ग्राता है। क्या ग्रापकी दृष्टि मे 'कचोली' शब्द 'कटोरिका' से ग्राया है ?

'मूँगधरणा' विवाह जैसे मागलिक ग्रवसर पर लाई हुई हरी लकड़ी के लिए प्रयुक्त शब्द है। उस दिन लकड़ी लाने वाले को मूँग या धान कुछ दिया जाता है क्या ? ग्रथवा घर मे मूँग-धान बनाये जाते है ? 'चावल-मूँगो का तो जोडा है ही।

एक कष्ट-कल्पना ग्रौर कर रहा हूं। संस्कृत मे 'इन्धनकम्' शब्द बनता है। 'इंधन' के ग्रागे स्वार्थ मे 'क' प्रत्यय लग सकता है। व्यत्यय द्वारा जैसे "हिंस" शब्द से 'सिंह' बन जाता है', 'इन्धनकम्' का 'मुगधन' 'मूँगधरणा' बन सकता है लेकिन इससे सतोष नही होता। इस विषय मे जानकारी बढ़ाऊँगा, तब ग्रापको पत्र लिखूँगा। ग्रापके पत्रो से मुझे विशेष ग्रध्ययन की प्रेरणा मिलती है'। संकोच इतना ही होता है कि ग्रापका इतना समय मै ले लेता हूँ।

स्नेहास्पद
(ह०) कन्हैयालाल सहल

मान्यवर,

एक पत्र कल मैने ग्रापको दिया था जिसमे मैने लिखा था कि मागलिक ग्रवसर पर लाई जाने वाली लकड़ी को 'मूँगधरणा' कहते हैं। यदि मंगल इन्धन, इन दो शब्दो को लेकर विचार किया जाय तो मंगलेन्धनः मंग एन्धन मंगेधन मगधन मूँगधन मूँगधरण मूँगधरणा इस प्रकार इस शब्द तक पहुँचा जा सकता है। डिंगल साहित्य मे एक 'चीघरण' शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका ग्रर्थ है 'मुर्दे को ग्राग मे फेंकने की लकडी' जैसे—

चीघरण चालवियाह, खह माही खखोरियाँ।
राणा ! रास थयाह वीसरसो जद वाघने।

चियरण काष्ठ द्योतक इस 'चीघरण' शब्द से बचने के लिए भी 'मगलेन्धन' की कल्पना की जा सकती है।

किन्तु सर्वत्र 'मूँगधरणा' शब्द मागलिक काष्ठ के ग्रर्थ मे ही प्रयुक्त नहीं होता। जयपुर मे रहते हुए मैने सामान्य जलाने की लकड़ी के ग्रर्थ मे 'मूँगधरणा' का प्रयोग होते ग्रनेक बार सुना है। बहियो मे २५ रु० का मूँगधरणा इस प्रकार लिखा देखा है। उस हालत मे 'इन्धनकम्' से 'मूँगधरणा' बन सकता है। 'क' के स्थान मे 'ग' प्रायः देखा जाता है जैसे 'प्रकट' के स्थान मे 'प्रगट' ग्राता है।

शब्दों में व्यत्यय (metathesis) उलट जाने की एक प्रवृत्ति देखी जाती है जैसे 'लखनऊ' के लिए 'नखलेऊ' 'मतलब' के लिए 'मतबल' आदि। यहां 'लब' 'बल' में परिवर्तित हो गया। 'इन्धकम्' का 'कम्' 'मक' हो जाय, 'मक' का 'मुग' हो जाय, धन का धन रह जाय, प्रारम्भ के इकारका लोप हो जाय तो 'मूँगधणा' बन सकता है। 'मगलेन्धन' से ही इस शब्द को व्युत्पन्न करना हो तो यह भी हो सकता है कि प्रारम्भ मे यह शब्द मांगलिक काष्ठ के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ हो, बाद मे सामान्यत. काष्ठ के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा हो। यह भी सम्भव है कि यह 'देशज' शब्द हो और किसी संस्कृत शब्द से सिद्ध न किया जा सके।

किन्तु इतना लिखने पर भी मेरा समाधान नहीं होता और मैं समझता हूं, आप भी इन व्युत्पत्तियों से सन्तुष्ट नहीं होंगे। इस शब्द की व्युत्पत्ति का सही पता लगाने के लिए अभी विशेष खोज करनी होगी।

स्नेहास्पद

(ह०) कन्हैयालाल सहल

प्रिय सहल,

तुम्हारा अनुमान सही है कि 'स्यालो' शब्द का अर्थ बटलोई है। मेरा खयाल था कि 'थाली' शायद 'स्थाल' से बनी होगी।

'तोवरा' और 'कटोरिका' के सम्बंध मे मेरे पास कोई राय नहीं है।

'मूँगधणा' का मूँग या धान से कोई सम्बन्ध नहीं लगता। 'इन्धनकम्' मे 'मूँगधणा' बन सकता है।

तुम्हारा

(ह०) घनश्याम दास

(टिप्पणी डा. सहल की ओर से)—

'मूँगधणा' के सम्बन्ध मे मैने भारतीय विद्याभवन, बम्बई के प्रसिद्ध भाषाविद डा. हरिवल्लभ भायाणी से पत्र-व्यवहार किया। उनके मतानुसार मूँगधणा (इन्धन, मांगलिक इन्धन) का उत्तरार्द्ध संस्कृत 'इन्धन' से निष्पन्न हो सकता है। अगले पद का सम्बन्ध वैसे तो स. मुद्ग प्रा. मुग्ग हिन्दी मूँग के साथ होने की सभावना होने पर भी अर्थ-दृष्टि से सम्बन्ध नहीं जुड़ता। जब तक 'मूँगधणा' का कोई पूर्व-रूप साहित्य मे प्राप्त न हो तब तक कोई निश्चय नहीं किया जा सकता। संस्कृत मंगल से मूँग पद सिद्ध नहीं हो सकता।"

•••

व्युत्पत्तिकार डॉ० सहल

• डॉ० भोलानाथ तिवारी

हिन्दी में व्युत्पत्तिविषयक कार्य बहुत ही कम हुआ है। इस दिशा में पहला ठोस कदम प्लैट्स ने अपने कोश में उठाया था। बाद के कोशों में यह कार्य आगे नहीं बढ़ पाया। बल्कि कुछ पीछे ही हटता गया। हिन्दी में प्रकाशित कोशों-जैसे हिन्दी शब्द सागर, (सभा), प्रामाणिक हिन्दी कोश (श्री रामचन्द्र वर्मा) तथा मानक हिन्दी कोश (श्री रामचन्द्र वर्मा) आदि में प्लैट्स आदि से सहायता जैसे ली ही नहीं गई और इन कोशों के व्युत्पत्ति-संबंधी अंश बहुत ही असंतोषजनक हैं। टर्नर ने अपने नेपाली कोश में तुलनात्मक ढंग से हिन्दी को भी लिया। डा० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी हिन्दी व्युत्पत्ति के कार्य को आगे बढ़ाया। विशेषतः डॉ० अग्रवाल ने अपनी अनेकानेक पुस्तकों एवं लेखों में हिंदी शब्दों की व्युत्पत्तिविषयक काफी सामग्री दी है, दुःख है कि वह संकलित रूप में हमारे समक्ष नहीं है।

प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक भी इस दिशा में १९५० से कार्य करता रहा है। दशाधिक लेखों तथा 'शब्दों का जीवन' एवं 'शब्दों का अध्ययन' इन दो पुस्तकों में हिंदी के लगभग पाच सौ शब्दों की व्युत्पत्ति देने का प्रयास किया गया है।

डा० कन्हैयालाल सहल की भी व्युत्पत्तियों में प्रशंसनीय रुचि रही है। अपनी पुस्तक 'विमर्श और व्युत्पत्ति' में आपने ८४ शब्दों की व्युत्पत्तियाँ दी हैं। ८४ संख्या हमारे यहा परंपरागत रूप से अनेक प्रसंगों में प्रयुक्त होती रही है। ८४ लाख योनिया, ८४ आसन, कहीं-कहीं ६४ के स्थान पर ८४ कलाओं का भी उल्लेख मिलता है। कदाचित् इसी परंपरा में डॉ० सहल ने यह संख्या चुनी है। इन शब्दों में काफी तो ऐसे हैं जो ठेठ राजस्थानी साहित्य या राजस्थानी की विभिन्न बोलियों के हैं। ठाकुर, मुलतान, दोहा, नखरा, मत, आदि कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका सम्बंध सामान्य रूप से हिन्दी या भारतीय भाषाओं से है।

डॉ० सहल ने इन शब्दों की व्युत्पत्ति देने में काफी परिश्रम किया है तथा अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति हिन्दी संसार के समक्ष उन्होंने प्रथम बार रखी है जिसके लिए वे निश्चय ही बधाई के पात्र हैं। कुछ शब्दों जैसे 'मक्खन' के प्रसंग में उन्होंने शब्द सागर आदि में दी गई व्युत्पत्तियों की अशुद्धियों की ओर संकेत करते हुए नयी व्युत्पत्ति का सुझाव दिया है। डॉ० सहल की विद्वत्ता जीवत है उन्हें इस बात का आग्रह नहीं है कि अमुक बात उन्होंने अन्तिम रूप में कही है। इसी कारण कई स्थानों पर व्युत्पत्ति देने के साथ-साथ उन्होंने यह भी संकेत कर दिया है कि अमुक शब्द (जैसे चोल) की व्युत्पत्ति शोध-सापेक्ष है।

वस्तुतः व्युत्पत्ति का विषय 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' को चरितार्थ करने वाला है। इसी कारण इस पर काम करने में मूल स्रोत तक पहुँच पाना अनेक शब्दों में सर्वथा स्वाभाविक है। इस ग्रंथ में भी कुछ इस प्रकार की बातें हैं। उदाहरण के लिए ठाकुर को सिल्वालेवी, सुनीतिकुमार चटर्जी आदि से सहमति प्रकट करते हुए कहा गया है कि यह मूलतः तुर्की शब्द 'तोगिन' है। मैं जिन दिनों तुर्की में था, अनेक शब्दों के बारे में वहां के भाषाशास्त्रियों से चर्चा करने का अवसर मिला और पता चला कि 'तोगिन' मूलत. तुर्की न होकर मंगोल भाषा का है। एक बात की ओर संकेत करूँगा। 'मत' जैसे कई शब्द इसमें ऐसे हैं जिनकी व्युत्पत्ति पर विचार न कर केवल अर्थ दे दिया गया है। ऐसे शब्दों को 'अर्थ' या 'शुद्ध अर्थ' शीर्षक के अन्तर्गत अलग वर्ग में देना कदाचित् अधिक अच्छा रहता। इन एक दो कमियों के बावजूद डॉ० सहल का यह व्युत्पत्तिविषयक कार्य अच्छा बन पड़ा है, विशेषतः हिन्दी में, जहाँ ऐसे क्षेत्रों में काम करने के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं बन पाया है, इतना कर पाना भी बहुत श्लाघ्य है।

***

"कहावतें लौकिक सिक्के हैं जो अनुभव की टकसाल में ढलते रहते हैं।"

—डॉ० कन्हैयालाल सहल

डॉ० सहल की भाषावैज्ञानिक उपलब्धियाँ

• डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया

डॉ० सहल की बहुमुखी उपलब्धियाँ हैं। यहाँ हमारा विवेच्य विषय उनकी भाषा-विज्ञान-संबंधी उपलब्धियाँ हैं। भाषाशास्त्र की विविध शाखाओं मे आपने कार्य किया है। सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य 'कहावतों' पर है जो भाषा-विज्ञान और लोक-साहित्य दोनो की सीमारेखा से सम्बद्ध विषय है। इस प्रकार डॉ० सहल की बहुमुखी प्रतिभा भी इन दोनो क्षेत्रो में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है।

लोक-साहित्य के अध्ययन के अन्तर्गत लोकगीत, लोक-कथाओ तथा लोक-गाथाओं के साथ लोकोक्तियों का अध्ययन भी किया जाता है। इस प्रकार लोकोक्ति तथा कहावतों का अध्ययन जहाँ एक ओर लोकजीवन को स्पर्श करता है, वहाँ दूसरी ओर भाषाशास्त्र को। 'लोक-उक्ति' लोक मे प्रचलित कोई उक्ति विशेष ही 'लोकोक्ति' की परिधि में आती है। कुछ क्षेत्रों में लोकोक्ति कहावतों का पर्यायवाची माना जाता है जबकि अन्य क्षेत्रो मे भिन्न। डॉ० कस्तूरचन्द जैन के अनुसार 'लोकोक्ति' अथवा यहाँ की कहावत, कैनात अथवा केवात का पर्यायवाची नहीं समझा जा सकता। विलियम तथा हावेल के मतानुसार संक्षिप्तता, सारगर्भिता तथा सप्राणता (चटपटापन) गुणों को लोकोक्ति के तीन अनिवार्य लक्षणो के रूप मे ग्रहण किया गया है। कहावत की व्युत्पत्ति पर सर्वाधिक विस्तार से डॉ० सहल ने ही विचार किया है, अनेक विद्वानों द्वारा—वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा, महावीर प्रसाद पोद्दार, मौलाना आजाद, डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, हरिवल्लभ भायाणी, मुनि जिनविजय, राहुल, डॉ० बाबूराम सक्सेना आदि—प्रस्तुत मतमतान्तरों को प्रस्तुत करते हुए एक दर्जन व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। यहाँ एक व्युत्पत्ति द्रष्टव्य है :

" 'बनना' से 'आव' प्रत्यय जोड़ने पर जैसे 'बनाव' बनता है, उसी प्रकार कहना (कह) से 'आव' प्रत्यय जोड़ने पर 'कहाव' बन सकता है। अरबी में

जिस प्रकार 'त' प्रत्यय जोड़ने पर 'मुसाफ़िरत' और 'मुनाहबत' शब्द बनते है, उसी प्रकार 'कहाव' के आगे 'त' प्रत्यय लगने से 'कहावत' बन सकता है जिसका अर्थ है कहने की दशा, कही हुई स्थिति अर्थात् उक्ति।''

राजस्थानी कहावतें एक अध्ययन, पृष्ठ ४

कहावतों के क्षेत्र में सबसे अधिक प्रामाणिक तथा विस्तृत अध्ययन डॉ० सहल ने 'राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन'[1] में प्रस्तुत किया है। डॉ० सहल का यह अध्ययन सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से भारतीय भाषाओं में सभवत प्रथम प्रयास है, जिसकी सभी विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। इस क्षेत्र के मर्मज्ञ विद्वान् तथा मनीषी डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि 'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' पुस्तक की महती सामग्री देखकर चित्त प्रसन्न हुआ। लेखक ने इस विषय के अध्ययन की आधार-शिला ही रख दी है। ....मेरा विचार है कि 'इस आकर-ग्रन्थ से प्रेरणा पाकर अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के कार्यकर्ता भी अपनी प्रादेशिक सामग्री को इस पद्धति से छापने का प्रयत्न करेंगे।'

यह शोधग्रन्थ लेखक के दीर्घ परिश्रम का परिणाम है। शोध-ग्रन्थ की भूमिका में लेखक ने स्वीकार किया है कि इस अध्ययन के पूर्व 'श्री लक्ष्मीनिवास जी बिड़ला की प्रेरणा से मैंने करीब तीन हजार कहावतें अर्थ और टिप्पणी सहित सम्पादित कर बगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता के समक्ष प्रस्तुत की। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति पर सन् १९४५ में मण्डल[2] ने मुझे पुरस्कृत भी किया।' आगे इस भूमिका में ही पृष्ठ 'ग' पर यह सूचित किया गया है कि 'विषय से प्रत्यक्ष सबध न रहने के कारण कहावतों के ऐतिहासिक[3] तथा तुलनात्मक अध्ययन का ग्रन्थ में समावेश नहीं किया जा रहा है।'

---

१ डॉ० कन्हैयालाल सहल—राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन
भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, १९५७, मू० ८. ५०।

२. यह पुरस्कृत ग्रन्थ ही 'राजस्थानी कहावतें' शीर्षक से शोध-प्रबन्ध के पश्चात् स० २०१७ (सन् १९६१ ई०) में बगाल हिन्दी मण्डल कलकत्ता द्वारा प्रकाशित हुआ है जिसमें २१०९ राजस्थानी कहावतें सकलित हैं तथा परिशिष्ट १ में सिरोही की २२५ कहावतें तथा परिशिष्ट दो में अधूरा पूरा तथा कहावती पद्य (१०१ सख्या) सकलित हैं।

३. सभवत. यह ऐतिहासिक अध्ययन ही बगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित 'राजस्थानी कहावतें' शीर्षक पुस्तक की भूमिका के रूप में पृष्ठ सख्या १-९२ सम्मिलित कर लिया गया है।

इस अध्ययन की पृष्ठभूमि के रूप में प्रारम्भिक दो अध्यायों में 'कहावत का पर्यालोचन तथा उद्भव और विकास' प्रस्तुत किया गया है। मूल ग्रन्थ 'राजस्थानी कहावतों का वर्गीकरण' के अन्तर्गत रूपात्मक (तुक, छन्द, अलंकार, अध्याहार, कथात्मक कहावतों के विविध रूप, संवाद, लौकिक न्याय, व्यक्ति, संख्या आदि) विषयानुसार वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।

परिशिष्ट में प्रदेशों की तुलनात्मक कहावतों के अन्तर्गत कश्मीरी, गुजराती, बंगला, मराठी, पंजाबी, भोजपुरी, तेलुगु, तमिल आदि की कहावतें संकलित हैं।

'राजस्थानी कहावतें' शीर्षक ग्रन्थ में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत संस्कृत वाङ्मय—वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास और पुराण—रामायण, महाभारत, योगवासिष्ठ, स्मृतियों की कहावतें, नीति वाङ्मय, पालि भाषा की कहावतें, प्राकृत की कहावतें, अपभ्रंश की कहावतें—पुष्पदन्त, धनपाल, मुनि रामसिंह, हेमचन्द्र, अब्दुल रहमान आदि की कहावतें संकलित हैं। संभवतः इस क्रम को ही डॉ० सहल ने आगे बढ़ाया और उदयपुर से प्रकाशित 'शोध पत्रिका' में गोरख की सब्दियों में कहावतें 'गाथा सप्तशती और कहावतें', 'दोहाकोश और लोकोक्तियाँ', 'दसम लीला' 'ओहाणक स्तोत्र', 'आभाणशतक', 'कवि जुगलेश', 'शाह बरकतउल्ला', 'व्यौहार सार में कहावतें' पर आलोचनात्मक अध्ययन प्रकाशित किया।

विदेशी कहावतों के इतिहास के साथ कहावतों का तुलनात्मक अध्ययन भी 'राजस्थानी कहावतें' में विवेचित है।

इन दोनों ग्रन्थों के प्रकाशन के बाद भी डॉ० सहल निरन्तर कहावतों के अध्ययन में रत हैं, यह बात अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित आपके शोधपरक निबंधों से सिद्ध होती है, जिनमें से कुछ उल्लेखनीय इस प्रकार हैं :

रुक्मिणि मंगल में राज० कहावतें —विशाल राजस्थान, साहित्य-संस्कृति विशेषांक १९६०

समयसुन्दर और राज० कहावतें —लोकवाणी, दीपावली विशेषांक

दो कहावतें —वसुन्धरा, १९ जुलाई १९४७

राजस्थान की स्वास्थ्य-संबंधी कहावतें—आज, ३० अक्टूबर १९६०

राजवंशों से संबंधित कुछ राज० लोकोक्तियाँ— विशाल राजस्थान, दीपावली, विशेषांक १९५७

राजस्थान की स्थानीय कहावतें —राजस्थान, दीपावली विशेषांक

राजस्थान की कुछ ऐतिहासिक अनुश्रुतियाँ— लोकवाणी, नववर्षांक, अप्रैल १९४८।

राजस्थान की कृषि-संबंधी कहावतें—लोकवाणी, दीपावली विशेषांक।

नीतिशास्त्र का मक्खन लोकवाणी, दीपावली विशेषांक।
चाणक्य-सूत्र— .

राजस्थानी कहावतों के पश्चात् कृष्णानन्द गुप्त का 'बुन्देली कहावत कोश' न्द्रलाल वर्मा का 'कुमाउँनी भाषा की कहावतें', बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् का कहावत कोश' डॉ० सत्येन्द्र का 'व्रजभाषा की कहावतें' भी प्रकाशित हो चुकी हैं। ध्ययन की दृष्टि से डॉ० कस्तूरचन्द जैन ने 'बुन्देली लोकोक्तियाँ' का अध्ययन किया । आशा है, शीघ्र ही लोक में प्रचलित सभी कहावतें संकलित हो जाएगी। इधर हन्दी-मलयालम, हिन्दी-तेलुगु, हिन्दी-कन्नड़ आदि तुलनात्मक अध्ययन भी प्रारम्भ हो चुके हैं। कहावतों का एक बृहद् कोश भी अपेक्ष्य है।

कहावतों के बाद 'व्युत्पत्तिपरक अध्ययन' दूसरा क्षेत्र है जिसमें डॉ० सहल का महत्त्वपूर्ण योगदान है। आप साहित्यिक लेखों में भी आवश्यकतानुसार व्युत्पत्ति देते चलते हैं, उदाहरणार्थ 'मूल्यांकन' पृष्ठ २७३–२७४ में संकलित 'ईश्वरदास और उनका देविवाण' लेख लिया जा सकता है। व्युत्पत्ति देते समय आप विभिन्न क्षेत्रीय रूपों की ओर भी ध्यान रखते हैं जैसे,

पवाडा। कीर्तिगाथा, चरितकाव्य। वीरगीत
व्रज रूप — पमारा
मालवा — पवाडो
मध्य प्र० — पवारा
महाराष्ट्र — पवाडा—पोवाडा

डॉ० सहल राजस्थान की प्रमुख शोधपत्रिका 'मरु भारती' में किसी न किसी शब्द की व्युत्पत्ति पर नियमित रूप से लिखते थे और उसमें प्रकाशित व्युत्पत्तियाँ ही 'विमर्श और व्युत्पत्ति' (चिन्मय प्रकाशन, जयपुर) में संकलित हुई हैं। इसमें कुल ८४ शब्दों की व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं :

१. राठोड़, २. केकाण, ३. हम्मीर, ४. टाकुर, ५ नागल, ६ मुलतान, ७. दोहा, ८. सपत, ९. भाड़शाही, १०. सहलो, ११. महलो, १२ उलिदागो, १३. दापडो, १४. धावा, १५. भलवर, १६. मारवाड, १७. मावत, १८. हाडगो, १९. माहुटि, २०. परोजन, २१. पालो, २२. जोमना, २३ पालो, २४. दचोना, २५. तोवण, २६. चंदनामा, २७. पोडणा, २८. पोटी, २९. नेर, ३०. देह, ३१. वदि ओर सुदि, ३२. मिलसणो, ३३. पोलगियो, ३४. देवगो, ३५ पुनीत, ३६. खरा बोलो, ३७. उडूं, ३८. पावणो, ३९. हिमाळो, ४०. बटवा शब्द, ४१. दांत, ४२. भागम, ४३. बूढा-डेरा, ४४. पारोगना, ४५. लावरा, ४६. बाप न माप, ४७. उडोकना, ४८. बामडा, ४९. होरा, ५०. बजारू, ५१. पोत, ५२. उनाला,

५३. नखरा, ५४. हुसेर, ५५. कोनी, ५६. कनै, ५७. साह्र, ५८. हियाली ५९. स
६०. बोरखानी, ६१. पागरणो, ६२. नंदना, ६३. महमहण, ६४. पाधरो ६५ को
धज, ६६. चित्राम, ६७. अचपलो ६८. ऊमस, ६९. निवायो, ७०. छूधक ७१. पाल
७२. मोबी, ७३. पिराचट, ७४. ऐन्द्र महाभिषेक, ७५. चोल, ७६. चरना ७७. म
७८. ओखाणा, ७९. मवखन, ८०. जौहर, ८१. शतरंज, ८२. बलाक, ८३. वाराह
देवी, ८४. आवडना।

इनमे से सहलो, अहलो, उणियारो दायजो, छावा, ओठी, देवली, पुनीत
ओजणो, हिमारणी तावडा, उडीकना, ब्यालू, ऊमस, निवायो आदि की व्युत्पत्तिय
अत्यन्त संक्षिप्त हैं।

'हम्मीर' की व्युत्पत्ति मे प्रयोगो की तो चर्चा है पर अन्त मे व्युत्पत्ति पर
विचार नही किया गया है। 'ठाकुर' के संबध मे यह मत 'बहुत सभव है, तुर्की
भाषा के 'तोगिन' से आया हो' अधिक सटीक नही। काफी व्युत्पत्तियाँ शब्दसागर की
व्युत्पत्तियो से भिन्न है, जैसे दोहा, पैंदल आदि। अलवर, मारवाड़ आदि स्थानवाची
शब्द भी लिये गये हैं। कटवाँ शब्दों की भी चर्चा है; राजस्थानी के पता, जगा,
भीमा आदि शब्दो को कटवाँ मे कैसे रखा गया है, यह स्पष्ट नहीं हो पाया। 'ऐन्द्र
महाभिषेक' के सबध मे तो डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का पत्र-मात्र उद्धृत है। कुछ
व्युत्पत्तियो मे दिशा-निर्देश मात्र है, भविष्य मे विस्तार से चर्चा अपेक्षित है, जैसे
'चोल'।

भाषाविज्ञान के ऐतिहासिक तथा वर्णनात्मक पक्ष पर भी आप कभी-कभी
लिखते रहे है। इस दिशा मे 'विमर्श और व्युत्पत्ति' मे आपके दो निबध उल्लेख-
नीय हैं :

१. भाषा के भेदक तत्त्व

२. यूरोपीय भाषाओं और भारत की आर्यभाषाओ का अभिन्न सबध

वर्णनात्मक अध्ययन के क्षेत्र मे आपने 'डिंगल के सबधसूचक परसर्ग' पर
अच्छा अध्ययन प्रस्तुत किया है (मूल्याकन पृष्ठ १९७-२०५)।

विद्वान् लेखक ने सभी रूपों को विभिन्न क्षेत्रो से एकत्र किया है और उन
रूपो का ऐतिहासिक विकास भी ढूंढने की चेष्टा की है। इन विविध रूपो को कई
वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है :

१. 'तणो', 'तणा', 'तणी', 'तणै'

तेस्सितोरी, हेमचन्द्र, बेचरदास जीवराज दोशी, आदि विद्वानो के मत उद्धृत
किये गये है और दोशी जी के विचार का समर्थन किया गया है। यहा यह
उल्लेखनीय है कि सदेश रासक मे 'तणि' रूप भी मिलता है।

२. बड। सं० वृद्धः।
३. बैंगड, बेंगड।
४. बेंगा, बेंगी, बेंगे
५. मदड, मदी, मदियों, मदड

इस वर्ग की व्युत्पत्ति नहीं दी गई है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि १४-१५ वीं शताब्दी के ग्रन्थ 'कुतुबशतक' में 'हूदा' 'हूदें' रूप मिलते हैं।

डॉ० महल ने 'बोली-विज्ञान' के क्षेत्र में भी शोधपरक लेख लिखे हैं, जो मेरी दृष्टि में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ० महल के पास बोलीविज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि विद्यमान है। यदि वे इस क्षेत्र में ही आगे कुछ शोधकार्य अपने निर्देशन में करायें तो भाषाशास्त्र में विशेष योगदान होगा। इस दिशा में आपके दो निबन्ध 'मूल्यांकन' में संकलित हैं :

जयपुर क्षेत्र की बोलियाँ (पृष्ठ २०६ से २१२)
आबू सिरोही क्षेत्र की भाषा (पृष्ठ सं० २१३ से २२१)

जयपुर क्षेत्र की बोलियाँ

सन् १८९८ में जयपुर महाराज ने रेवरेण्ड मैकालिस्टर द्वारा रियासत की बोलियों का सर्वेक्षण करवाया था। उस समय १३ बोलियों की स्थिति स्पष्ट हुई थी। जयपुर क्षेत्र की बोलियाँ जयपुर, टोंक, सीकर, झुंझुनू, सवाई माधोपुर, अलवर जिलों में बोली जाती हैं जिनके अन्तर्गत ढूंढाड़ी, शेखावटी, तोरावटी, राजावटी, डांगभाग तथा मेवाती आती है। शेखावटी पर तो डॉ० कैलाशचन्द्र अग्रवाल ने विस्तार से कार्य किया है, शेष बोलियों पर अब भी शोधकार्य अपेक्षित है। पृथक्-पृथक् कार्य होने पर शेखावटी और ढूंढाड़ी की तुलना की जा सकती है। मेवाती के भी कई क्षेत्रीय रूप मिलते हैं—आदर्श, राठी, बहेड़ा, कठेर आदि।

आबू-सिरोही क्षेत्र की भाषा

विवेच्य क्षेत्र गुजरात तथा राजस्थान की सीमा पर स्थित है। दो भाषाओं की सन्धिस्थलीय भाषा का अध्ययन बड़ा रोचक तथा महत्त्वपूर्ण होता है। इस दृष्टि से इस क्षेत्र की भाषा का अध्ययन अपेक्षित है। डॉ० सहल ने विविध रूपों की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करके निष्कर्ष निकाला है कि यह 'गुजराती मिश्रित मारवाड़ी' है और गुजराती की अपेक्षा राजस्थानी के अधिक अनुरूप है।

इस प्रकार कहावतों के विविध प्रकार के अध्ययन के साथ डॉ० सहल का व्युत्पत्ति-विज्ञान तथा बोली-विज्ञान के क्षेत्र में विशेष योगदान है।

●●●

डॉ० सहल और भाषा-शास्त्र

• डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

किसी मनीषी एवं विचारक के विचारों के क्षितिज का विस्तार साहित्य के क्षेत्र में भाषा-विवेचन के रूप में भी प्रकट होता है। साहित्य और भाषा के समीक्षक एवं विवेचक के रूप में जब डॉ० कन्हैयालाल सहल का साहित्यकार बहिर्मुखी हुआ, तब उनकी लेखनी से समीक्षायण, समीक्षांजलि, विवेचन, मूल्यांकन, राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन और विमर्श और व्युत्पत्ति नाम के ग्रन्थों की भी सृष्टि हुई। इन ग्रन्थों में डॉ० सहल की भाषावैज्ञानिक दृष्टि की विशालता का आभास प्रत्येक पाठक को मिल जाता है। ध्वनि, रूप, वाक्य, अर्थ और व्युत्पत्ति के क्षेत्रों में से प्रमुख रूप में डॉ० सहल की मनीषा की चिन्तना ने अर्थ और व्युत्पत्ति के क्षेत्र में नयी दिशाएँ और नये मार्ग आलोकित किये हैं। उनकी इन उपलब्धियों के लिए भाषावैज्ञानिक जगत उन्हें सदा वर्धापन देता रहेगा।

'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' में डॉ० सहल ने भारतीय लोक-जीवन की संस्कृति एवं आस्था-परम्परा को ऐसे विद्वत्तापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है कि हमारे प्राचीन संस्कृत-साहित्य, प्राकृत-साहित्य, हिन्दी-साहित्य और राजस्थानी लोक-साहित्य की एक शृंखलाबद्ध संचेतना की सूत्रमयी धारा का स्पष्ट दर्शन हो जाता है। लोकोक्तियों में लोक-मानस का युगानुभव जिस सूत्रमयी सूक्तिशैली में व्यक्त होता है, उससे हमारी सचेतना और दृष्टि का भी पता लगता है। उस दृष्टि के आलोक में हम भारतीय संस्कृति के स्वरूप का दर्शन भी कर सकते हैं। राजस्थानी कहावतों पर एक विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करके शब्द और अर्थ के क्षेत्र में डॉ० सहल ने वस्तुतः अभिनन्दनीय उपलब्धि की है। इस महनीय कृति से हिन्दी और राजस्थानी भाषाएँ ही नहीं, अपितु हिन्दी से मिलती-जुलती अन्य भाषाओं को भी मार्ग-दर्शन प्राप्त होगा।

विश्व में जितनी भी साहित्यिक भाषाएँ हैं, वे एक साथ आकाश से पृथ्वी पर नहीं उतर पड़ीं। निश्चित ही उन सबका किसी न किसी अपनी जनबोली से शनैः शनैः विकास हुआ है। प्रत्येक साहित्यिक भाषा तभी प्राणवान् और सम्पन्न बनती है जब वह अबाध गति से अपनी जननी लोक-भाषा से शब्द-राशि, मुहावरे और लोकोक्तियाँ प्राप्त करती रहती है। जिस दिन साहित्यिक भाषा अपनी लोकभाषा से सम्बन्ध-विच्छेद कर देगी, उसी दिन उस साहित्यिक भाषा में प्राणशक्ति का ह्रास हो जाएगा और फिर निश्चित रूप से वह एक दिन मृत हो जाएगी। साहित्य और लोक के इस सम्बन्ध को हमारे कवियों ने अच्छी तरह समझ लिया था। कबीर, तुलसी, भारतेन्दु, रत्नाकर आदि के काव्यों में लोकोक्तिपरक कथनों पर दृष्टि डालने पर उक्त कथन की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। डॉ० सहल ने 'कबीर की साखियों में राजस्थानी कहावतों की गूँज' शीर्षक लेख के माध्यम से सिद्ध कर दिया है कि शब्द और अर्थ के धरातल पर कबीर राजस्थानी कहावतों से प्रभावित थे।

एक राजस्थानी कहावत इस प्रकार प्रचलित है—

"गुरू चेलो लालची, दोनूँ खेलै दाव।
दोनूँ कदेक डूबसी, बैठ पथर की नाव।"

इसी भावधारा के प्रकाश में कबीर कहते हैं—

"नाँ गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या दाव।
दून्यूँ बूड़े धार में, चढ़ि पाथर की नाव॥"

इतना ही नहीं, डॉ० सहल ने उक्त शीर्षक वाले लेख में कबीर द्वारा प्रयुक्त कुछ लोकोक्तियों की पृष्ठभूमि के रूप में उपनिषदों के वाक्यों से भी सम्बन्ध-सूत्र जोड़ दिया है। मुंडकोपनिषद् तथा कठोपनिषद् में उपमा के रूप में एक वाक्य आया है—"अंधेनैव नीयमानाः यथांधाः।" उसी विचार-परंपरा के आलोक में कबीर कहते हैं—

"अन्धे अन्धा ठेलिया, दून्यूँ कूप पड़न्त।"

डॉ० सहल लिखते हैं कि "कबीर की उक्त साखी में आते-आते इस उपमा ने कहावती उक्ति का रूप धारण कर लिया।" डॉ० सहल के इस निर्णयात्मक वाक्य से उनकी गहरी पकड़ दृष्टिगोचर होती है। वे अच्छी तरह समझते हैं कि कविता के कलेवर में 'कहावत' और 'कहावती उक्ति' में क्या अन्तर होता है? वास्तव में 'लोकोक्ति' और 'लोकोक्तिपरक उक्ति' में अन्तर है। जब किसी कवि के द्वारा कोई लोकोक्ति अक्षुण्ण रूप में शब्दशः प्रयुक्त होती है, तब 'लोकोक्ति' कहाती है। यदि उस लोकोक्ति को कुछ परिवर्तित करके कवि अपने कुछ शब्दों का कलेवर प्रदान करता है, तब उस कथन को लोकोक्ति न कहकर 'लोकोक्तिपरक उक्ति' ही कहेंगे।

है कि कैंची, चाकू, कुली, गलीचा और मशालची शब्द हिन्दी में तुर्की से आये हैं। अलमारी, अचार, पीपा, फीता और कमरा आदि शब्द पुर्तगाली भाषा से आये हैं। कार्तूस और कूपन फ्रांसीसी भाषा से और तुरुप तथा बम (गाड़ी का) डच भाषा से आये हैं।

दीन, दुनिया, कत्ल आदि अरबी शब्द फारसी के माध्यम से हिन्दी में गृहीत हुए हैं। जमीन, मर्द, परिन्दा आदि फारसी भाषा से आये हुए हैं। कलक्टर, इन्स्पेक्टर, इंच, कोट, पेंट, प्रिंसिपल, हैडमास्टर आदि अंग्रेजी शब्द अंग्रेजी से हिन्दी ने लिये हैं।

इसी प्रकार के अनेक शब्दों की ध्वनियों पर विचार करते हुए, डॉ० सहल ने यूरोपीय भाषाओं और भारत की आर्य भाषाओं का अभिन्न सम्बन्ध सिद्ध किया है। भारोपीय परिवार की भाषाओं की प्रकृति एवं विशेषताओं का उल्लेख करते हुए डॉ० सहल ने अपश्रुति अर्थात् अब्लाउत के तीन रूपों—वीक, स्ट्रांग और लेंग्थिन्ड—को स्पष्ट किया है और लिखा है कि इन्हें ही संस्कृत में गुण, वृद्धि और सम्प्रसारण नाम से व्यक्त किया जाता है।

किसी शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ हमारे शास्त्रवत ज्ञान का तीसरा नेत्र खोल देता है। जब हमें यह पता चलता है कि हिन्दी का 'बरात' शब्द वैदिक काल में जन्मा था और इसकी जन्मकुंडली ऋग्वेद के पन्नों पर लिखी गयी थी, तब हमारे मन में एक विचित्र प्रकार का हर्ष, उल्लास और श्रद्धा जगती है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है—"हस्ते दात्रं च नाददे।" अर्थात् हे अग्निदेव ! मैं आपका नाम लेकर इस दरांत को अपने हाथ में लेता हूँ। यास्क ने 'निरुक्त' के नैगमकाण्ड में लिखा है कि पूरब के लोग जिसे 'दाति' कहते हैं, उसे ही उत्तर के 'दात्र' कहते हैं—"दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु।" (निरुक्त)। ऋग्वेद काल का 'दात्र' शब्द ही हिन्दी में 'दरांत' होकर आ गया है।

हिन्दी में 'गूल' उस नाली को कहते हैं जिसके माध्यम से बम्बे, नहर आदि का पानी खेतों में पहुँचाया जाता है। यह 'गूल' शब्द वैदिक कालीन 'कुल्या' शब्द का विकसित रूप है। यास्क ने अपने 'निघटु' में नदी के पर्यायवाची नामों में एक नाम 'कुल्या' भी दिया है। कालान्तर में 'कुल्या' के अर्थ में हेठा भाव आ गया और ध्वनि-परिवर्तन भी हुआ। अत: 'कुल्या' से ही 'गूल' शब्द का विकास हुआ है। ऐसे हजारों शब्द हिन्दी में मिलेंगे, जिनका मूल वैदिक भाषा और संस्कृत भाषा में है। हिन्दी के ऐसे शब्द 'तद्भव' कहाते हैं। राजस्थानी भाषा के ऐसे चौरासी शब्दों की व्युत्पत्तियों पर डॉ० सहल ने अपनी पुस्तक 'विमर्श और व्युत्पत्ति' में विचार किया है। व्युत्पत्तिशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र में डॉ० सहल की यह महत्त्वपूर्ण देन मानी जाएगी।

'दोहा' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे विभिन्न विद्वानों के मतो का उल्लेख करते हुए डॉ० सहल ने लिखा है कि इसकी वैज्ञानिक व्युत्पत्ति स० द्विपथक से ज्ञात होती है। स० द्विपथक>दुवग्रह>दुवहग्र>दोहा। 'दुवहग्र' रूप 'वृत्तजातिसमुच्चय' और 'स्वयंभू छद' आदि ग्रंथो मे मिलता भी है। 'दोहा' शब्द की यह व्युत्पत्ति सगत और शास्त्रीय प्रतीत होती है।

राजस्थानी मे 'नहीं' (निषेधात्मक अव्यय) के अर्थ मे 'कोनी' शब्द प्रचलित है। 'विमर्श और व्युत्पत्ति' नामक पुस्तक मे डॉ० सहल ने इस शब्द की निरुक्ति पर ध्वनि-परिवर्तन के नियमो के आधार पर सुसगत एवं शास्त्रपरक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि 'कोनी' शब्द की निरुक्ति निम्नाकित ढंग से की जा सकती है—

सं० कोऽपि न>कोवि न>कोइ न>कोनइ>कोनी।

ऐसे अनेक शब्द है जिनकी शास्त्रीय एव प्रामाणिक व्युत्पत्तियो पर विद्वान लेखक ने विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। इस क्षेत्र मे उनका अध्ययन विस्तृत और गहन भी रहा है। व्युत्पत्तिशास्त्र के क्षितिज को विस्तार देने मे डॉ० सहल की ये उपलब्धियां निस्सदेह प्रशसनीय एवं स्मरणीय रहेगी।

•••

आपकी 'राजस्थानी कहावतें: एक अध्ययन' देखकर मैं विशेष प्रमुदित हुआ हूँ। ·····ठीक इसी प्रकार की पुस्तक बुंदेली कहावतो के सम्बन्ध मे लिखना चाहता था। पर मैं सोचता ही रह गया। आप बाजी मार ले गये। आप से मुझे ईर्ष्या है।

गरौठा, १२-११-६६

—कृष्णानन्द गुप्त

डॉ० कन्हैयालाल सहल :

व्यक्तित्व

और

कृतित्व

□

समीक्षा खण्ड
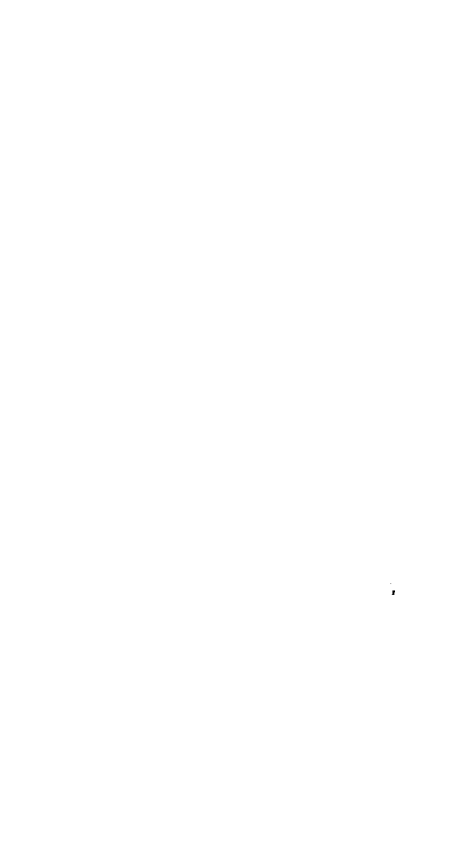
समालोचक सहलजी

• डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

साहित्य-समालोचना को मैं समीक्षक की नैसर्गिक सृजन-प्रेरणा का परिणाम मानता हूं। कविता, नाटक, उपन्यास आदि मौलिक कृति-साहित्य के सृजन में जिस प्रकार का आत्माभिव्यंजन-सुख रचनाकार को प्राप्त होता है, लगभग वैसा ही सुख समीक्षक को भी निरमम, एवं नीरक्षीरविवेक-सम्मत समीक्षा लिखने पर मिलता है। मेरे इस कथन को कृतिकार शायद स्वीकार न करें किन्तु इसका प्रमाण तो समीक्षक का अन्तःकरण ही हो सकता है। किसी ग्रंथ, सिद्धान्त या वाद की विवेचनात्मक समीक्षा लिखते समय समीक्षक केवल खरे-खोटे की जांच-पड़ताल में ही लीन नहीं रहता वरन् वह उन तथ्यों के अन्तराल में पैठकर विचार-सूत्रों की ऊहापोह में निष्कर्षों एवं मन्तव्यों की सृष्टि भी करता है। मन्तव्य और निष्कर्ष के माध्यम से उसे आत्माभिव्यंजन का पूर्ण अवसर मिलता है और यही आलोचक का सृजन-सुख है।

प्रायः ऐसा देखा गया है कि श्रेष्ठ आलोचक भी आरम्भ में ललित कृति-साहित्य की पगडंडी से ही साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि किसी भी रुचिकर विधा को वे आरम्भ में स्वीकार करते रहे हैं और धीरे-धीरे उसी गली से वे आलोचना के प्रशस्त राजमार्ग पर आये हैं। डॉ० कन्हैयालाल सहल के कृतित्व में यद्यपि आलोचना का ही प्राधान्य है किन्तु हम उन्हें ललित साहित्य से दूर नहीं पाते। कविता के क्षेत्र में तो उनके 'प्रयोग' प्रकाशित भी हुए हैं, किन्तु उनकी समीक्षाएं अपने अन्तर में कृतित्व के अनेक मनोरम सदर्भ छिपाये हुए हैं, जिन्हें पढ़कर लगता है कि यह समीक्षक कहीं न कहीं मौलिक रचनाकार भी है। मौलिक रचनाकार जिस प्रकार इतिहास, पुराण, कल्पना और चिन्तन से किसी साहित्यिक कृति को रूप-सज्जा प्रदान करता है, समर्थ समीक्षक भी उसी प्रकार आलोच्य कृतियों, सिद्धांतों और वादों के आलोडन द्वारा नवनीत तैयार कर

जैसा कि मैंने पहले संकेत किया कि आलोचक के लिए जो आचार-संहिता साहित्य-शास्त्र में तैयार की गई है, उसे पढ़कर शायद ही कोई आलोचक आलोचना लिखता हो। प्रत्येक आलोचक स्व-रुचि और स्व-विवेक से अपनी संहिता स्वयं निर्मित कर और उसकी परिधि में रहकर लेखन-व्यापार करता है। यों शास्त्रीय स्तर पर तो आलोचक का कर्म अत्यन्त कठोर माना गया है। उसका पहला दायित्व यही है कि वह कलाकार की रचना-प्रक्रिया तथा रचना-उद्देश्य के मूल बीज का संधान करे। उसे झूठे अर्थवादों से बचकर चलना होता है, प्रशंसापरक प्रचार से भी दूर रहना होता है। किसी परम्पराभुक्त जड़ शास्त्रवाद का पल्ला पकड़े रहना भी उसके लिए अनुचित है और शास्त्र-मर्यादा को सर्वथा ठुकरा देना भी उसके हित में नहीं है। डॉ० सहल की व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक दोनों प्रकार की समीक्षाओं में हम इन अनुबंधों का अक्षरशः पालन देखते हैं। डॉ० सहल शास्त्रवेत्ता पंडित हैं, परम्पराओं का उन्हें पूर्ण ज्ञान है, किन्तु आश्चर्य यह है कि शास्त्र की जड़ता ने उन्हें कहीं रंच मात्र भी जकड़ा नहीं है। उनकी नई-पुरानी सभी समीक्षाओं में युक्ति, तर्क, प्रमाण का परिपोष है। उनका मन स्वयं प्रश्न-संकुल रहा है और उत्थित प्रश्नों के आलोक में उन्होंने समाधान खोजने का प्रयास किया है। मैंने उनकी सैद्धांतिक (साहित्य-सिद्धांत, वाद, मत-विवेचन) समीक्षाओं में कहीं भी उस पुकार को नहीं सुना जो भरत मुनि से पंडितराज जगन्नाथ तक और अरस्तू से इलियट तक लगाई जाती है। प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों के मत उनकी समीक्षाओं में सहज रूप से गृहीत अवश्य हुए हैं किन्तु केवल वैदुष्य-प्रदर्शन की स्पृहा के कारण उनको उद्धृत नहीं किया गया है। संस्कृत तथा अंग्रेजी के विद्वान् होने के कारण इन दोनों भाषा के जो उद्धरण इनकी समीक्षा में अनायास आ जाते हैं, उनका भार उठाने को स्वयं सहल जी ; इसलिए वे समस्त उद्धरण सहज और शोभन प्रतीत होते हैं।

वस्तुतः आलोचक को स्वमन्तव्य-स्थापन के समय अतिरिक्त जाग ता इसलिए भी अपेक्षित होती है कि उसके मन्तव्यों से कभी-कभी भ्रान्ति को भी जन्म मिलने की संभावना हो जाती है। छायावाद के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा से प्रारम्भ में हिन्दी-साहित्य-जगत में कुछ भ्रम अवश्य उत्पन्न हुआ था। मेरा अपना विचार है कि शुक्ल जी उस लेखन-काल में अपेक्षित जागरूकता से वंचित रहे होंगे। यदि वे अध्ययन-अनुशीलन के साथ छायावादी काव्य के अन्तरंग में सहृदयतापूर्वक पैठने का प्रयत्न करते तो इस प्रकार की अधूरी समीक्षा वे न लिखते। छायावादी काव्य का पुनर्मूल्यांकन करने वाले सभी समीक्षकों ने इस त्रुटि का परिहार किया है। डॉ० सहल ने भी छायावादी काव्य तथा काव्य-सिद्धांत पर पर्याप्त आलोचनाएँ लिखी हैं किन्तु उनके लेखन में न तो सहृदयता का अभाव है और न अतिरिक्त भावावेश या उच्छ्वास ही है। सन्तुलन, जो समीक्षा का मेरुदंड

है, सहलजी के आलोचनात्मक लेखों का प्राण है। कहीं-कहीं तो फूंक-फूंक कर कदम रखने की सतर्कता उनमे लक्षित होती है।

इसमें कोई सन्देह नही कि यथार्थ समीक्षा के लिए आलोचक को कृति के उन गुह्य स्तरों मे भी झाकना होता है जहां सत्य के आवरण में असत्य, शिव के बाने मे अशिव और सुन्दर की भूमिका मे असुन्दर छिपा बैठा है। यह प्रक्रिया छिद्रान्वेषणपरक न होकर तत्वाभिनिवेश की सात्विक वृत्ति के साथ होनी चाहिए। डॉ० सहल ने अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं मे सर्वत्र तत्वाभिनिवेश को ही ध्यान मे रखा है, एक भी स्थल ऐसा नही मिलेगा जहां छिद्रान्वेषण द्वारा किसी लेखक के सिद्धात पर प्रहार किया गया हो। कौनसी ऐसी रचना या मतवाद है जिसमे त्रुटि या दोष नहीं है? किन्तु त्रुटियो के उजागर करने की साधु शैली भी है, जिसके अपनाने पर त्रुटि तो विदित हो जाती है किन्तु समीक्षक की उदार दृष्टि पर आंच नहीं आती। 'विमर्श और व्युत्पत्ति' निबध-संकलन मे 'कला कला के लिए' शीर्षक निबध मे कलावादी समीक्षकों और लेखकों की त्रुटि का सकेत करने पर भी सहल जी ने एक भी कटु-कठोर शब्द नही लिखा है। इतना ही नही, उन्होंने अपने निष्कर्ष मे यही दुहराया है कि—कला कला के सिद्धान्त को उचित रूप मे समझने का प्रयत्न करना चाहिए। यह सत्य है कि इस सिद्धात को समझने मे अनेक भ्रान्तिया हुई है तथा इसका दुरुपयोग भी बहुत हुआ है। डॉ० सहल की दृष्टि मे समन्वय-भावना का प्राधान्य रहता है। अतः खंडनात्मक कठोर शैली वे कभी नही स्वीकार करते।

डॉ० कन्हैयालाल सहल के आलोचनात्मक लेखो में एक वैशिष्ट्य यह लक्षित होता है कि वे प्राचीन साहित्य की मान्यताओं को पाठक के स्मृति-पटल पर उभारते चलते हैं। उनका आग्रह यह नहीं होता कि पाठक उनकी बात को ज्यो की त्यो मान ही ले, किन्तु आगम, निगम, गीता, स्मृति, पुराण आदि के उद्धरणों द्वारा भारतीय तत्व-दृष्टि को उद्दीप्त करना उनका लक्ष्य अवश्य होता है। पाश्चात्य देशों के वैज्ञानिक आविष्कारो के आलोक मे पदार्थ को देखने-समझने की दृष्टि आज हमारे पास है, किन्तु अध्यात्म-दर्शन के लिए आज का पाठक भौतिक विज्ञान से क्या जुटा सकेगा? फलतः जो बाह्येन्द्रियो से गोचर नहीं है, उसकी भी प्रतीति तो अपेक्षित है, अतः गोचरता-इतर को अन्तःकरण से बोधगम्य बनाने की प्रक्रिया उनके अनेक लेखो मे दृष्टिगत होती है। अपने एक लेख में 'सत् और असत् का विवेक' करते हुए उन्होंने गीता, ब्राह्मण, ऋग्वेद, रामायण आदि को उदाहृत किया है। उनकी दृष्टि मूलतः तात्विक है, इसलिए प्राचीन शास्त्रो के उद्धरणो की ओर गई है। किन्तु देखना यह है कि सत् और असत् का यह विवेचन पाठक को कौन-सी दृष्टि प्रदान करता है। सत् के साथ युक्त होने से व्यक्ति के अच्छे सस्कार बन जाते हैं और असत्-

चित्रण में दुष्ट प्रवृत्तियां उसे अभिभूत कर लेती हैं। यह साधारण-सा निष्कर्ष रावण के चरित्र से स्पष्ट किया गया है और प्रमाण में वाल्मीकि रामायण के सुन्दर काड का श्लोक उद्धृत किया गया है। इस विवेक का फलितार्थ वही है जिसको ओर मैंने ऊपर की पंक्तियों में संकेत किया है, अर्थात् प्राचीन शास्त्र का, ग्रंथ का प्रमाण प्रस्तुत करके भी पांडित्य की छाप न डालना और विषय को स्पष्ट करना।

प्राचीन तथा नवीन काव्यकृतियों पर सहल जी की समीक्षाएं सन्तुलन एव समन्वय का आदर्श प्रस्तुत करने वाली हैं। मुख्यतः राजस्थानी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में सहल जी ने समीक्षात्मक दृष्टि से जो कार्य किया है, वह अनेक पहलुओं से उपयोगी बन गया है। राजस्थानी काव्यकृतियों का मूल्यांकन करने के लिए नवीन दृष्टि तथा नवीन भावबोध की जो सम्पदा डॉ० सहल के पास है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। लोक-कथा तथा राजस्थानी कहावतों पर तो सहलजी का कार्य बेजोड़ है। लोक-कथाओं की प्ररूढ़ियों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने जो रोचक कथा-सदर्भ अपनी पुस्तक में जुटाये हैं, वे अनुसधान के निदर्शन हैं। अनुसधान की व्यापक दृष्टि का उन्मेष उनके शोध-प्रबध में तो लक्षित होता ही है, उनके समीक्षापरक लेखों में भी यह शोध-दृष्टि सर्वत्र व्याप्त रहती है। उनका नवीन निबंध-संकलन 'अनुसधान और आलोचना' मेरे इस कथन का प्रमाण है। इस सकलन को लेखक ने दो खडों में विभाजित किया है। प्रथम खड में २३ छोटे लेख हैं जो मुख्यतः राजस्थानी साहित्य से सम्बन्ध रखते हैं। प्रारम्भ के पाच लेख मेरे इस कथन के अपवाद हैं। प्रथम लेख 'साख्य दर्शन का आख्यायिकाध्याय' है, जिसमें विद्वान् लेखक ने साख्य-दर्शन के आख्यायिका-सूत्रों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। साख्य-दर्शन के ये कथात्मक सूत्र सस्कृत-साहित्य में कतिपय न्यायों के रूप में ग्रहण किए जा चुके हैं किन्तु हिन्दी जगत् में इतने विस्तार से इन्हें पल्लवित रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय डॉ० सहल को है। कथाओं के मूल अभिप्राय में सन्निविष्ट 'अद्भुत तत्व' पर भी सारगर्भित लेख लिख कर डॉ० सहल ने अपनी अनुशीलन-वृत्ति का अच्छा परिचय दिया है। इस ग्रंथ के दूसरे खड के निबंधों में नये-पुराने सभी प्रकार के विषयों का सकलन है, इसीलिए लेखों के स्तर में भी पर्याप्त भेद लक्षित होता है। कुछ लेख केवल टिप्पणी-सदृश सक्षिप्त हैं और विचार-कण को लिपिबद्ध करने के उद्देश्य से लिखे गये हैं।

डॉ० सहल ने पिछले तीस-पैंतीस वर्षों में विपुल साहित्य-सृजन किया है। समीक्षात्मक लेखों के अतिरिक्त शोध और तत्व-दृष्टि उनका प्रिय क्षेत्र रहा है। प्राचीन तथा नवीन दोनों प्रकार के साहित्य में उनकी गहरी पैठ है। वे विद्या-व्यसनी अध्येता हैं। जीविका या वृत्ति से अध्यापक होने के कारण ही वे अध्ययन करते

हैं—ऐसा नहीं है। वे स्वाध्यायी वृत्ति के मनीषी व्यक्ति हैं। हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी आदि भाषाओं पर समान अधिकार होने के कारण उनका अध्ययन-क्षेत्र विस्तृत है। अधुनातम साहित्य से सम्पर्क बनाये रखने के कारण उनके लेखन में नवीन तत्व-चिन्तन की झलक सर्वत्र विद्यमान रहती है। आधुनिक बोध का दम्भ न करने पर भी वे आधुनिक और समसामयिक से जीवन्त सम्पर्क बनाये हुए हैं। प्राचीन साहित्य का अध्ययन वे काव्यशास्त्र-विनोद मात्र के लिए नहीं, परम्परा-बोध के लिए भी करते हैं। वेदान्त, योग, सांख्य आदि दार्शनिक मतवादों पर वे अपने विचार लेखों द्वारा व्यक्त करते रहते हैं। पाश्चात्य चिन्तन-सरणि को वे अपने साथ रखते हैं ताकि अतीत के साथ आज को जोड़ सकें। यह विशिष्टता नवीन समीक्षकों के पास नहीं है।

डॉ० सहल हिन्दी के सफल समीक्षकों में हैं। शताधिक लेख लिखकर उन्होंने अपना जो स्थान हिन्दी समीक्षा-जगत् में बनाया है, वह किसी दलबन्दी के साथ जुड़ा नहीं है। स्वतंत्र चिन्तक गठजोड़ा किये बिना भी, विचार के जगत् में अपना स्थान बना सकता है, इसका ज्वलन्त प्रमाण है डॉ० सहल। अपने नाम के अनुरूप अपनी अभिव्यंजना को भी उन्होंने प्रांजल, परिमार्जित तथा सरल ही रखा है। अभिव्यक्ति की स्पष्टता, विचार और चिन्तन की स्पष्टता का ही प्रतिरूप है। यों अध्यापक की अभिव्यंजना में स्वच्छता, स्पष्टता तथा प्रांजलता का होना अनिवार्य है। डॉ० सहल के लेखन में ये सभी गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। हिन्दी-निबंध-साहित्य में समीक्षक के रूप में डॉ० सहल का स्थान उल्लेख्य बन गया है।

••

'राजस्थानी कहावतें—'एक अध्ययन' डॉ० कन्हैयालाल सहल की एक श्रेष्ठ [illegible] है। यों कहने को यह ग्रंथ राजस्थानी कहावतों पर अध्ययन है, किन्तु एक तो [illegible] हिन्दी में लिखा गया है, दूसरे इसे समझने वालों में यह ग्रंथ भौगोलिक [illegible] लाँघ जाएगा।.........यह ग्रंथ दिमागी ऐयाशी नहीं है, भाषा की सच्ची [illegible] में ह[illegible]...

[illegible] 'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' का मैं नम्र पाठक होना चाहता हूँ। [illegible] पुस्तकें अध्ययन को ही नहीं, जीवन को भी बल देती हैं—व्यक्ति के जीवन को [illegible] और समष्टि के जीवन और जीवन-दर्शन को भी।

—स्व० माखनलाल चतुर्वेदी

कृतित्व : एक समन्वित व्यक्तित्व का

• कलानाथ शास्त्री

राजस्थान में तीन-चार शताब्दियों में संस्कृत-वैदुष्य की परंपरा इस प्रकार अक्षुण्ण रही है कि इस कालावधि में अखिल भारतीय क्षितिज पर जिन विद्वानों ने अपना नाम रोशन किया है, उनमें राजस्थान के संस्कृत विद्वानों का अनुपात सन्तोष-जनक पाया जाएगा। पिछले दिनों एक विचारगोष्ठी में यह अनौपचारिक चर्चा चल पड़ी थी कि आधुनिक हिन्दी के उत्थान में जितना योगदान उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश का रहा, उतना अन्य हिन्दी-भाषी राज्यों का नहीं, और आज भी हिन्दी के कृती साहित्यकार इन्हीं दो क्षेत्रों में अधिक हैं, अन्य राज्यों ने हिन्दी-भाषी होते हुए भी किसी वरिष्ठ प्रतिभा को जन्म नहीं दिया। इस उक्ति की सचाई परखने की न तो आवश्यकता है, न इस दृष्टि से वांछनीय ही है क्योंकि उत्तर प्रदेश या मध्य प्रदेश का जनसंख्या, उनका सांस्कृतिक इतिहास और राजस्थान की स्थिति विभिन्न है और इनके साहित्यकारों की जनगणना से या क्षेत्रीय स्पर्धा में कुछ कलात्मक-विशदता भी नहीं। वैसे हम तो यह मानते ही हैं कि "राजस्थानी" हिन्दी की नानी है क्योंकि संस्कृत से अपभ्रंश और फिर राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाएँ निकलीं, उसके बाद 'पुरानी हिन्दी' और फिर 'खड़ी बोली'। इस प्रकार की स्थापना राजस्थान के ही एक वरिष्ठ एवं हिन्दी जगत् के ख्यातनामा विद्वान् पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने की थी। गुलेरी जी जैसे इने-गिने ही विद्वान् राजस्थान ने पैदा किये हैं जिन्होंने हिन्दी जगत् में अपना मूर्धन्य स्थान बनाया। इस तथ्य को ईमानदारी के साथ हमें मान लेना चाहिए, यह बात अवश्य समझ में आती है।

राजस्थान की साहित्यिक प्रतिभाओं में से कुछ का विशेष ध्यान संस्कृत, राजस्थानी आदि की ओर रहा, कुछ राजनीतिक स्थितियाँ इस प्रकार की रहीं कि यहाँ की प्रत्येक प्रतिभा का राष्ट्रीय मूल्यांकन नहीं किया जाता, या कुछ अन्य

कारण भी इसके रहे हों किन्तु उपर्युक्त कथन में विचारणीय सत्यांश अवश्य है।
हिन्दी-साहित्य के मध्यकालीन इतिहास में राजस्थान के दो-तीन संत कवियों का नाम स्पष्टरूप से चमकता है। (जैसे मीरा, दादू दयाल, चरणदास, सहजो बाई) या चारणों आदि का जैसे चन्दबरदाई, सूर्यमल्ल मिश्रण, दयालदास आदि। वैसे सूरत, बिहारी, पद्माकर, टोडरमल और शिवमंगल को भी हम राजस्थानी मान सकते हैं किन्तु आधुनिक काल में गुलेरीजी (जो पहाड़ी होते हुए भी राजस्थानी माने जाएँगे) जैसे दो-चार साहित्यकारों का ही नाम साहित्य के इतिहास में स्थान ले पाया है, नई पीढ़ी में चाहे डॉ० रांगेय राघव से लेकर यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र तक का नाम गिना दिया जाए।

कर्मठ साहित्यकार :

इन सबके कारण भी स्पष्ट हैं। इन दिनों, बहुत कम ही ऐसे भाग्यशाली व्यक्ति थे जो अनेक संकटों और असुविधाओं के बावजूद काया को कष्ट देकर गहन अध्ययन कर पाए, उनमें से भी कुछ ही हिन्दी क्षेत्रों में आना चाहते थे, उनमें भी विरले ही ऐसे हो सकते थे जिनमें लेखन का चाव हो, फिर उनमें से भी बहुत कम को ऐसे सुयोग मिलते थे कि उनका पढ़ा-लिखा प्रकाश में आवे। जब यह सब कुछ हो तो फिर कृतियों के मूल्यांकन का अवसर मिले, और तब जाकर कहीं अन्तः प्रान्तीय क्षितिज तक साहित्यकार की मान्यता पहुँचे। यह उल्लेखनीय बात है कि इस परिस्थिति की पृष्ठभूमि में डॉ० कन्हैयालाल सहल एक इस प्रकार के साहित्यकार हैं, जो मूलतः और मुख्यतः राजस्थानी हैं, जिन्हे अध्ययन का व्यापक क्षेत्र मिला है, लेखन के बहुमुखी सूत्र मिले है और इन सबसे बढ़कर प्रकाशन के देशव्यापी साधन भी प्राप्त हुए हैं। इन सबके कारण ही ये हिन्दी-जगत् में अपना प्रमुख स्थान बनाकर राजस्थान को गौरवान्वित कर रहे हैं। इनकी कृतियो के प्रकाशकों का क्षेत्र, विस्तार तथा व्यापक वैविध्य भी एक उल्लेखनीय वस्तु है। राजस्थान के रमेश बुक डिपो, राजस्थान पुस्तक मन्दिर, 'वानर प्रकाशन' चिन्मय प्रकाशन आदि से लेकर राम-प्रसाद एण्ड सन्स आगरा, एम० चाद एण्ड कम्पनी, आत्माराम एण्ड सन्स, साहनी प्रकाशन (दिल्ली) किताब महल इलाहबाद, साहित्य-सदन चिरगाव, झांसी आदि हिन्दी भाषी क्षेत्रो मे ही नही, बगाल हिन्दी मंडल 'कलकत्ता' तक के विभिन्न क्षेत्रीय प्रकाशको के यहा से ये छपे है। बहुत से लेखको की दृष्टि मे तो प्रकाशको की मात्रा और सख्या भी लेखक की प्रतिष्ठा और मूल्य का एक बडा मानदण्ड होती है। इन ·स्थान-संस्थानो से इनके ३० से अधिक प्रकाशित ग्रन्थ प्राप्य है और बहुचर्चित हैं। वस्तुतः देखने की बात है कि राजस्थान के कितने लेखको को इस प्रकार प्रकाशन का व्यापक क्षेत्र-सत्कार मिल पाया है? और कितनो ने राजस्थानी लोक-कथाओ

और कहावतों—जैसे विषयों ने लेकर भाषा-विज्ञान, काव्यशास्त्र, साहित्यालोचन, संस्कृत-अंग्रेजी-साहित्य-समीक्षा आदि विविध क्षेत्रों की रचनाओं के साथ कविताएँ और निबन्ध भी लिखे हैं, तथा पत्रिकाओं का संपादन भी किया है ?

कृतित्व का यह वैविध्य ही डॉ० सहल के व्यक्तित्व की एक विशेषता है जो मुझे सर्वाधिक उल्लेखयोग्य लगती है। इनके व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है विविध पक्षों का समानुपाती समन्वय। डॉ० सहल का कृतित्व एक अध्यापक, एक आलोचक, एक अन्वेषक, एक निबन्धकार, एक कवि और एक संपादक के व्यक्तित्वों का संगम है।

वैसे बहुत से विद्वानों में, कमोबेश, इनमें से कुछ पहलू पाये जा सकते हैं, पर उनका इस प्रकार का समन्वय अधिक संख्या में नहीं मिल सकेगा। इनके अध्ययन के क्षितिज भी वैविध्यपूर्ण रहे हैं। संस्कृत और हिन्दी, दोनों इनके अध्ययन के प्रमुख विषय रहे हैं। दोनों में इन्होंने स्नातकोत्तर उपाधि भी प्राप्त की, और उसके बाद अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया। इसका परिणाम जो हो सकता था, वही हुआ—इन तीनों साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन करने की दिशा में प्रवृत्ति।

अध्येता के इस व्यक्तित्व के बाद ही अध्यापक का कार्य भी आता है। लगभग ३० वर्ष तक अध्यापन का अनवरत कार्य इन्होंने कालेजों में किया। सन् १९४९ से स्नातकोत्तर कक्षाएँ पढ़ाते रहे और १९५५ से शोधकार्य का मार्गदर्शन करते रहे हैं। अन्वेषक के रूप में मुख्यतः राजस्थानी कहावतों व लोक-कथाओं पर कार्य किया और अन्य विविध विषयों पर भी शोधात्मक आलेख लिखे। अन्वेषक के इस कार्य में अध्यापक के व्यक्तित्व का और इन दोनों में लेखक और कवि के व्यक्तित्व का योगदान है और इन सबका समन्वय उनके संपादक-स्वरूप में हुआ है। डॉ०. सहल के कृतित्व में उनके विभिन्न व्यक्तित्व-पक्षों का समन्वय स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। यह समग्रधर्मी कृतित्व 'राजस्थान की हिन्दी जगत् को देन' का मूल्यांकन करते समय इतिहासकार के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय सिद्ध होगा।

मूल्यांकन का महत्त्व :

राजस्थान में हिन्दी-साहित्य के विकास का इतिहास चाहे कभी भी लिखा लिया जाए, किन्तु उसके लिए सामग्री संगठित करने हेतु, इस प्रकार के विद्वानों के कृतित्व का मूल्यांकन मुझे बहुत आवश्यक जान पड़ता है, जिनकी कलम साहित्य के विविध पक्षों पर चली है, बड़ी मात्रा में चली है, वह सब कुछ पर्याप्त मात्रा में छपा भी है और उसमें से अधिकांश स्थायी महत्त्व का है। खेद

की बात है कि ऐसे विद्वान् व्यक्तिगत मूल्यांकन और प्रचार के प्रति उदासीन[1] रहते हैं और फिर अन्य विद्वानों को इस प्रकार के कार्य के लिए फुर्सत ही कहां रहती है? सत्ताधारियों के मूल्यांकन में ही पर्याप्त समय बीत जाता है, शुद्ध 'विद्वान्' की कदर कौन करे, कब करे, और क्यों करे? जो मूल्यांकन होते हैं या अभिनन्दन-ग्रन्थ निकलते हैं, सबका उद्देश्य सुविदित है, यहां लिखना पिष्टपेषण हो होगा। कुछ ही दिन पहले की बात है, हमारे एक मित्र मेरे पास यह कहते हुए आये कि वे एक अन्य मित्र का (जो किसी अच्छे पद पर हैं) 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' निकालना चाहते हैं और उसकी तैयारियां कर रहे हैं। वे ऐसा क्यों कर रहे थे, यह पूछने की तो आवश्यकता नहीं थी किन्तु उन सुहृद्वर में 'अभिनन्दनीय' वस्तु क्या है, यह मैंने अवश्य पूछा। मालूम हुआ कि ले-देकर उन्होंने कुछ कविताएँ लिखी थी जिनमें कुछ छपा ली थी और कुछ को एकाध प्रकाशक ने किसी उद्देश्य विशेष से छाप दिया था। 'बस'? 'बस', उन्होंने कहा "पर इतना भी राजस्थान में कितने लोग कर पाये हैं, यह तो देखो। और फिर यह करते करते उन्हें पचास बरस होने को आये। आखिर साहित्यकार को कोई रिकग्नीशन कभी तो मिलना ही चाहिए", वे बोले।

इस पर टिप्पणी देना व्यर्थ है। साहित्यकार को रिकग्नीशन मिलना चाहिए पर कितने से और किस प्रकार के साहित्यकारों को वह मिल पाता है? सबसे पहले इस प्रकार के विद्वानों का मूल्यांकन आवश्यक है जिनका कृतित्व वस्तुतः विपुल है और जिसके द्वारा भावी साहित्यकार को प्रेरणा और मार्गदर्शन मिल सकता है। सहलजी के छात्र-जीवन से मैं अति निकट रूप से परिचित नहीं रहा हूं। हमारे परिवार के कुछ वरिष्ठ सदस्य उनके परिवार से निकट से परिचित हैं। वे बतलाया करते हैं कि सहल-परिवार एक सामान्य मध्यवित्त परिवार था किन्तु इसके नवयुवकों ने (विशेषतः कन्हैयालालजी की समकालीन पीढ़ी ने) जितने जी-तोड़ परिश्रम से विद्याध्ययन किया और इस दिशा में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त कर इस परिवार का नाम शिक्षा-जगत् में सुविदित कर दिया, वह छात्र-वर्ग के लिए एक प्रेरणादायक बात है। प्रतिभा और परिश्रम का समन्वय सहल-परिवार में पर्याप्त मात्रा में है। डॉ० कन्हैयालालजी ने इस परिश्रम और प्रतिभा का विविध क्षेत्र के साहित्यानुशीलन की दिशा में एकनिष्ठ प्रवर्तन कर और उसकी निरन्तर साधना करके अपने

---

१. उदाहरणार्थः डॉ० सहल के ही इतने ग्रन्थों में कहीं भी मुझे इनका जीवन-परिचय या चित्र उपलब्ध नहीं हुआ जबकि किसी प्रकाशन की जाकिट में या फ्लैप पर, या भूमिका में आजकल लेखक का कुछ परिचय मिल ही जाया करता है। पिछली पीढ़ी की यह आत्मप्रकाशन पराङ्मुखता शायद उनकी संस्कृति का एक अपरिहार्य अंग थी।

आप में एक अनुकरणीय सामजस्य स्थापित किया है। विद्वान्, कवि, लेखक, अध्यापक आदि होने के साथ-साथ अब वे प्रशासक भी हैं। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, उत्तर प्रदेश शासन, राजस्थान विश्वविद्यालय, बगाल हिन्दी मडल आदि क्षेत्रों ने पारितोषिक और सम्मान के रूप में तथा आकाशवाणी, राजस्थान पाठ्य-पुस्तक राष्ट्रीयकरण मडल, लोक सेवा आयोग, आदि में वरिष्ठ एव सम्मान्य स्थान के रूप मे इन्हे 'रिकग्नीशन' देकर समाज ने अपना कर्तव्य भी पूरा किया है किन्तु इनके व्यक्तित्व के विविध पक्षों का समन्वय इनके कृतित्व में किस प्रकार हुआ है, इसका मूल्यांकन राजस्थान और देश के भावी अध्येता के लिए कितना मूल्यवान् होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

वैयक्तिक सतहों पर :

डॉ० सहल को मैंने सर्वप्रथम एक ऐसे सन्दर्भ में देखा था, जिस प्रकार के प्रसगों में आज का प्रबुद्ध साहित्यकार या प्राध्यापक सभवत: बहुत कम दिखलायी देता है। बात भारत को स्वतन्त्रता-प्राप्ति के वर्ष की या उसके आस-पास की होगी। मैं उन दिनों निरा बालक था और जयपुर के महाराजा संस्कृत कॉलेज में उत्तर माध्यमिक कक्षा का छात्र था। मेरे पिता (अब स्वर्गत) कविशिरोमणि भट्ट मथुरानाथ शास्त्री संस्कृत कॉलेज के साहित्य-विभागाध्यक्ष पद से कुछ वर्ष पूर्व सेवा-निवृत्त हो चुके थे और उन दिनों भी साहित्य-सेवा, संस्कृत पत्रिकाओं के सम्पादन और ग्रन्थ-लेखन में व्यस्त रहते थे। उन्हीं दिनों अचानक रिमझिम बरसात में एक अधेड़ उम्र के सज्जन छाता लगाये हुए घर पर आये और पिताजी को पूछने लगे। मैंने उन्हें सूचित किया। इन सज्जन के हाथ में बड़ी सावधानी से बरसात से सुरक्षित की हुई एक मोटी पुस्तक थी। पिताजी ने इन्हें देखते ही स्नेह से स्वागत किया और इन सज्जन ने उनके चरण छुए। ऐसा लगा कि इन सज्जन ने पहले से ही जयपुर आकर उनसे मिलने का कार्यक्रम निश्चित कर रखा था। थोड़े औपचारिक वार्तालाप के बाद दोनों ने उस पुस्तक का गम्भीर अध्ययन आरम्भ कर दिया। यह अध्ययन कोई १५-२० दिन तक निरन्तर चलता रहा।

मुझे पिताजी ने बतलाया कि ये सज्जन कन्हैयालालजी सहल हैं जो पिलानी में हिन्दी के प्रोफेसर हैं। महाराजा कालेज में ये पिताजी के विद्यार्थी रहे थे और तब से उन पर श्रद्धाभाव रखते हैं। वर्षों से राजस्थान के निवासी इस परिवार से पूर्व-परिचित होने के कारण तथा इन सभी सहलों के अद्भुत प्रतिभाशाली होने के कारण इन सभी पर पिताजी प्रगाढ़ स्नेह व आदर भी रखते थे, इस परिवार के सभी सदस्यों की स्वभावानुरूप अध्ययन व जिज्ञासा की प्रवृत्ति में कितना आकर्षण हो सकें, वे परखना चाहते थे, ऐसा उन्होंने मुझे बतलाया। कन्हैयालालजी ने यह [illegible]

दिनों भारतीय काव्यशास्त्र का विशेष अध्ययन कर रहे होंगे। उन्हीं दिनों आचार्य अभिनव गुप्त की 'अभिनवभारती' टीका की, जो उन्होंने भरत के नाट्य शास्त्र पर लिखी है तथा जिसमें भरत के प्रसिद्ध सूत्र "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" (जो नाट्य-शास्त्र का ही है तथा रस-सिद्धान्त का जन्मदाता होने के कारण काव्य-शास्त्रियों में 'कलमा' का-सा आदर पाता है।) पर अभिनवगुप्त की व्याख्या (जो काव्य-शास्त्र में शताब्दियों से प्रमुख रसविवेचना-सरणि मानी जाती रही है) समाहित है, साहित्य-जगत् में बड़ी चर्चा थी। यह अभिनवभारती टीका वर्षों से अनुपलब्ध थी। बड़ोदा संस्कृत सिरीज़ द्वारा ज्यों ही यह प्रकाशित हुई और विद्वज्जनों को सुलभ हुई, त्यों ही इसकी सभी प्रतियाँ (जो वहाँ की परम्परा के अनुसार सीमित संख्या में ही छपती हैं) खप गईं और यह अलभ्य (आउट आफ प्रिंट) हो गई। डॉ० साहब इसे शायद खरीदना चाहते होंगे किन्तु यह नहीं मिली। यहाँ तक कि राजस्थान में किसी पुस्तकालय में भी यह उन्हें नहीं मिल पाई (यदि कहीं होगी भी तो इन्हें जानकारी नहीं होगी या इश्यूड होगी या उपलब्ध नहीं हुई होगी, ऐसा कुछ उन्होंने बतलाया था) जब कि इसके उद्धरण तथा समीक्षाएं देखकर इस मूलग्रन्थ को संपूर्ण पढ़ जाने की उनकी इच्छा अदम्य हो गई और उन्होंने बड़े प्रयत्नों के फलस्वरूप इसे इम्पीरियल (नेशनल) लायब्रेरी, कलकत्ता से कुछ डिपाजिट्स भेज कर मंगवाया। इस टीका के कुछ स्थल या तो स्पष्ट नहीं हुए या उन पर कुछ विशद अध्ययन, मनन या मीमांसन करने की इच्छा इन्हें हुई और उसके फलस्वरूप पिताजी से (जो राजस्थान में संस्कृत साहित्य-शास्त्र पर अधिकारी विद्वान् माने जाते थे) इसके कुछ स्थलों पर विमर्श का उन्होंने समय चाहा।

इसी विमर्श-हेतु ये घर आये थे। बरसात हो रही होने के बावजूद छाते में तथा अन्य उपकरणों से सुरक्षित कर लाई गई यह पुस्तक वही 'अभिनवभारती' थी। बरसात के बावजूद छाता लेकर आने का कारण शायद निर्धारित समय रहा हो। इसमें रससिद्धान्त-संबंधी कुछ स्थलों का अध्ययन व विमर्श उन्होंने अभिनवगुप्त की अन्य कृतियों (जैसे ध्वन्यालोक पर 'लोचन' नामक भाष्य) के संदर्भ में कुछ दिनों तक जयपुर रह कर पिताजी के साथ किया, यह मुझे आज भी स्पष्ट याद है। बाल-सुलभ कुतूहलवश प्रतिदिन तीसरे पहर यथासमय आने वाले इन सज्जन से मैं परिचित हुआ इस भूमिका के साथ। यद्यपि इस विमर्श के समय तथा हमारे यहाँ उपलब्ध काव्य-शास्त्र के बहुत से अन्य ग्रन्थों को निकाल-निकाल कर खोले व देखे जाते समय मैं उपस्थित रहता, था पर उस समय इतना विशद अभ्यास मैं नहीं कर पाया कि जो स्थल विमृष्ट हुए, वे क्या थे और उनसे पिताजी ने या डॉ० साहब ने आसन्न भविष्य में क्या लाभ उठाया (शायद डॉ० साहब को यह ज्ञात हो, वैसे नाटक

में थ्री यूनिटीज के सिद्धान्त को जिसे डॉ० साहब ने 'संकलन' और 'अन्विति' दोनों ही नामों से अभिहित किया है, अभिनवभारती के माध्यम से ही उन्होंने नाट्य-शास्त्र में पाया हो, यह सम्भव है, साधारणीकरण और रस-विघ्नों आदि विषयों पर उन्होंने अभिनवभारती के आधार पर बहुत कुछ लिखा ही है) किन्तु यह घटना मुझे बड़ी स्पष्टता के साथ याद है। इस घटना की उस समय मेरे किशोर मन पर जो तात्कालिक प्रतिक्रिया हुई, उसे आज मैं कुछ इस प्रकार अभिलिखित कर सकता हूँ।

पहली बात तो यह कि ये सज्जन स्वयं प्रोफेसर होकर किसी से पढ़ने क्यों आते हैं? दूसरी यह कि जब ये हिन्दी के प्रोफेसर हैं ही, तो संस्कृत इतनी बारीकी से क्यों पढ़ते हैं? तीसरी यह कि मझोले उम्र के होने पर भी तथा स्वयं प्रोफेसर होने पर भी ये "गुरु" का चरण छू कर इतना आदर क्यों करते हैं? चौथी यह कि इस पुस्तक को कलकत्ता से मँगवाने की जो कथा इन्होंने सुनाई तथा उसे पूरा पढ़ जाने की व कुछ स्थलों का किसी अन्य प्राचीन संस्कृत विद्वान् से विमर्श करने की इच्छा जो व्यक्त की, उससे इनकी "पढ़ाकू" प्रवृत्ति पर क्या प्रकाश पड़ता है। पाँचवीं यह कि पिलानी से ये केवल इसी काम के लिए जयपुर आये हैं क्या? (शायद और कोई काम भी रहा हो या नहीं, यह मुझे स्पष्ट याद नहीं है।)

नम्र और निष्ठावान् :

आज जब मैं सुनता हूँ कि मेरे एक मित्र प्राध्यापक, डॉ० सहल पर एक अध्ययनात्मक ग्रन्थ का संपादन कर रहे हैं तो मेरे स्मृतिकक्ष में आज बीस-बाईस वर्ष पूर्व का यह एक क्षण-चित्र बरबस कौंध जाता है, जहाँ मैंने इन्हें पहली बार देखा था। आज डॉ० सहल एक लब्धप्रतिष्ठ रचनाकार, राजस्थान-क्षेत्र के प्रमुख विद्वानों में से एक, बिड़ला शिक्षा संकाय के एक महत्त्वपूर्ण स्तंभ, वरिष्ठ, वर्षिष्ठ और घनिष्ठ हैं और संभवतः उनकी ये वैयक्तिक व्यवहार-प्रकृतियाँ तथा जिज्ञासु भावनाएं किसी कदर आज तक उनमें विद्यमान है और कुछ नई निसर्ग-प्रवृत्तियाँ भी विकसित हुई हों जिनमें मैं इन दिनों घनिष्ठ रूप से परिचित नहीं रहा होऊं। किन्तु मैं वर्षों पहले के इस स्मृतिचित्र के आधार पर ही उनके कुछ नैसर्गिक पहलुओं का विश्लेषण कर सकता हूं। "एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिमन्यते" की पुरानी परंपरा के अनुसार चाहे आज के प्रबुद्ध विद्वान् अपने प्रत्येक गुरु पर इतनी श्रद्धा नहीं रखते हों किन्तु कन्हैयालालजी में, बल्कि यों कहें कि सारे सहल-परिवार में, विद्यादाता गुरु के प्रति एक सहज निष्ठा तथा गहरी विनय-भावना प्रेरणाप्रद मात्रा में विद्यमान है। डॉ० नागरमल सहल (अंग्रेजी के प्राध्यापक, वर्तमान में जोधपुर विश्वविद्यालय में अंग्रेजी विभागाध्यक्ष), प्रो० मक्खनलाल सहल (अंग्रेजी विभागाध्यक्ष डूंगर कालेज, बीकानेर), श्री फूलचन्दजी सहल आदि सभी भाइयों में, जो शिक्षा-

क्षेत्र मे प्रतिष्ठित स्थान रखते हैं और जिनमे से आदिम दो मेरे स्वर्गीय पिताजी पर गुरुभाव रखते थे, गुरुजनों के प्रति ऐसी श्रद्धा मैंने सदा से देखी है।

काव्य-शास्त्र के अध्ययन के प्रति, विशेषतः मूल 'आकर-ग्रन्थों' के तलस्पर्शी विवेचन तथा शब्दशः उनका अध्ययन कर एक प्रकार का इतमीनान प्राप्त करने के प्रति इनकी उत्सुकता भी इसमे स्पष्ट है। प्राच्य और पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के समन्वित आलोक मे हिन्दी काव्य-शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन इसीलिए डॉ० सहल कर सके हैं। डॉ० साहब ने एक पत्र मे मुझे लिखा था "मैं तो संस्कृत और अंग्रेजी के बल पर ही हिन्दी का प्रोफेसर बन गया था।"

अध्ययन-अध्यापन और शोध के लिए की जाने वाली मेहनत के प्रति ईमानदारी और गुरु का चरण छूने जैसी "फनावडा" बना देने वाली क्रिया के बावजूद सच्ची सहजता के साथ अपनी जिज्ञासा के प्रति वफादारी एक अध्येता विद्वान् का आत्म-विश्वास ही व्यक्त करती हैं। लगता है, आज की नई पीढ़ी में ये प्रवृत्तियां विरल होती जा रही है। एक और प्रवृत्ति जो सहलजी में दिखाई देती है, वह है "कान खुले रखने की आदत"। अर्थात् प्रत्येक वस्तु, घटना, शब्द, प्रवाद, परपरा या लोक-रचना के प्रति सजग रह कर उस पर मनन करना शुरू कर देने को सहज आदत विद्वान् को रखनी चाहिए, यह पुराने लोग कहा करते थे। लोक-व्यवहार मे कोई शब्द सुना या कथा सुनी, उसे नोट कर, उसका मूल खोजना, व्युत्पत्ति निकालना अथवा उस पर एक प्रकार का आटोमेटिक चिन्तन आरभ हो जाना, शोधार्थी की, विशेषकर भाषा-शास्त्री तथा लोक-साहित्य के अध्येता की, एक आवश्यक अर्हता है। शब्दो पर इस प्रकार का जो विमर्श डॉ० सहल के "शब्द-चर्चा" स्तंभ में ("मरु भारती" शोध त्रैमासिकी का क्रमिक स्तंभ) मिलता है, वह इसी प्रकार की प्रवृत्ति का परिणाम लगता है। "राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवादो" का शृंखलाबद्ध सग्रह भी इसी प्रकार की आदत का फल प्रतीत होता है। इनके प्रमुख शोध-विषय "राजस्थानी कहावतो" के लिए तो उन्हे कागज-कलम लेकर बिखरे जीवनो और क्षेत्रो मे से लोकोक्तियो का सग्रह करना पड़ा ही होगा।

गहन चिन्तन :

ऐसा भी लगता है कि कक्षा मे पढ़ाते समय किसी पाठ्यग्रन्थ मे किसी विषय-विशेष को जिज्ञासा के दिमाग मे कौंध जाने पर उस पर चिन्तन आरभ कर देने की कुछ घटनाएं इनके जीवन में घटी हो और उन पर कुछ तथ्य पाने के लिए इन्हे स्वय उस ग्रन्थ के लेखक या अन्य वरिष्ठ विद्वानो से खतो-किताबत भी करनी पड़ी हो। प्रसादजी के नियतिवाद पर इन्होने मैथिलीशरण गुप्त तथा राय कृष्णदासजी से पत्र द्वारा जो कुछ जानकारियां चाही, वे इसी प्रकार की जिज्ञासा की परिणति प्रतीत

होती है। "साकेत" का गहन अध्ययन इन्होंने किया है और उस पर बहुत कुछ लिखा है, उसी बीच ऊर्मिला के विरह-वर्णन में भावनाओं के उदात्तीकरण और विश्वजनीन औदार्यवृत्ति व हित-भाव के सयोजन में जब इन्हें गुप्त जी की एक विशेष उद्भावना नई-सी बात लगी तो इन्होंने पत्र लिखकर गुप्तजी से इस पर उनके विचार जानने चाहे जो उन्होंने सविस्तार इन्हें लिखे। जिज्ञासा-शान्ति के लिए मूल तक पैठ कर खोज करने की यह प्रवृत्ति है।

6624

गद्यकार :

इसके अतिरिक्त, गंभीर चिन्तक होने का एक और पक्ष इनमें उभरा है। वह है दार्शनिक अध्ययन की रुचि। प्रत्येक मार्मिक विद्वान् में दर्शन के प्रति निष्ठा व जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है। डॉ० सहल के काव्यशास्त्रीय अध्ययनों में तो मार्क्सवादी दर्शन, अद्वैत दर्शन, शैव दर्शन आदि के सिद्धान्तों का निर्वचन समाहित है ही। उन्होंने शुद्ध दार्शनिक चिन्तन पर आधृत कुछ निबन्ध भी लिखे हैं जो उनकी इस जिज्ञासा के परिचायक हैं।

गीता के दर्शन पर, सत् और असत् के विवेक पर, मृत्यु-तत्त्व पर, सभ्यता और संस्कृति पर और उपनिषदों पर उन्होंने संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित निबन्ध लिखे हैं।

'दृष्टिकोण' [१] का निबंधकार एक गद्यकार है। इसके कुछ "पर्सनल एसेज" को पढ़ने ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वे वैयक्तिक अनुभव, एकान्त चिन्तन और जीवन की कड़वी मीठी छोटी-छोटी घटनाओं से उद्भूत हुए हैं। "मन की करतूत" "टैक्ट" "हीन भावना", "बुड्ढे बच्चे" "उतार फेंक इस बुखड़ को" आदि कुछ निबंध इस प्रकार के चिन्तन के परिणाम हैं। 'मन को आराम कुर्सी पर बैठे-बैठे अनायास ही जो प्रयास बन गया' उसे उन्होंने निबन्धों के रूप में अभिव्यंजित कर दिया और इनका संकलन ही "दृष्टिकोण" में छपा है।

"योग और वेदान्त" शीर्षक से योग की मनस्तात्त्विक पृष्ठभूमि पर, पाश्चात्य दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए एक निबन्ध इन्होंने हाल ही में लिखा है। इस प्रकार के दार्शनिक अनुचिन्तन के लिए वे आजकल भी विविध प्रबन्धात्मक कार्यों से कुछ समय निकाल ही लेते हैं।

अन्वेषक :

डॉ० सहल के शोधात्मक अध्ययन का प्रमुख विषय "राजस्थानी कहावतें" रहा है। आनुषंगिक रूप से उन्होंने राजस्थान के ऐतिहासिक[२] दवावा, राजस्थान[३]

---

१. आत्माराम एण्ड सन्स द्वारा प्रकाशित।
२. "मरुभारती" में अमिका स्तम्भ के रूप में।
३. जयपुर क्षेत्र की बोलियां: "मूल्यांकन" पृ० २०६, आबू-सिरोही क्षेत्र की भाषा : वही, पृ० २११।

की भाषाओं तथा प्राचीन राजस्थानी साहित्य एवं कुछ देशी शब्दों[1] की व्युत्पत्ति तथा उनके संभावित मूल उद्गम-शब्दों पर भी लिखा है। इन शोध-क्षेत्रों में पर्याप्त अध्ययन कर इनके समग्र पक्षों पर लिखते रहना एक शोध-विद्वान् का गुरुतर कार्य है जो उन्होंने किया है। हिन्दी के प्राध्यापक और आलोचक होने के नाते साहित्य-समालोचना की परंपरा के अनुरूप प्रसाद के नाटकों की आलोचना अथवा साकेत का गंभीर आलोचनात्मक[2] अध्ययन जैसी समीक्षाएं भी उन्होंने प्रस्तुत की हैं। इसमें यदि कट्टर अन्वेषकों की सी दुर्लभ तथ्यान्वेषण-तत्परता कहीं-कहीं पाई जाती है तो वह उनकी मर्मस्पर्शिनी मीमांसा-पद्धति की परिचायक है। साधारणीकरण और रस-विघ्नों पर, नाट्य शास्त्र की[3] अन्वितियों (यूनिटीज्) पर तथा हिन्दी-साहित्य के विविध वादों पर उन्होंने जो निबन्ध लिखे हैं, वे भी पर्याप्त शोधप्रकृतिक हैं। इससे भी परे, इनमें सच्चे अन्वेषक की एक और खूबी दृष्टिगत होती है। वह है अपने मुख्य शोध-विषय तथा अध्ययन-अध्यापन के विषयों के अतिरिक्त भी जहा कोई विवेचन-सापेक्ष बिन्दु दिखलाई दिया, उस पर शोधात्मक अध्ययन कर नये तथ्यों के क्षितिज उद्घाटित करना।

पुराने रिसर्च इंस्टीट्यूशन के पारंपरिक खोजियों की भांति कुछेक विषयों पर इन्होंने अच्छे मौलिक शोध प्रस्तुत किये हैं जो अपने विषय के रिसर्च मोनोग्राफ्स के रूप में उल्लेखनीय है। प्रसादजी के नियतिवाद पर लिखते हुए अपनी सभी कृतियां में शैवागमों व अन्य हिन्दू दर्शनों के आलोक में नियतिवाद का विश्लेषण एवं पाश्चात्य डिटर्मिनिज्म आदि से उसकी तुलना उन्होंने की है। डॉ० सहल ने नियतिवाद को ही एक शोध-बिन्दु बनाकर "नियति का स्वरूप"[4] नामक एक मोनोग्राफ भी प्रस्तुत किया है जिसमें नियति की व्युत्पत्ति, परिभाषा तथा प्रयोग देते हुए योगवासिष्ठ की नियति (प्रकृति नटी) Rational Mysticism की Law Governing Universe, पाश्चात्यों की शुद्ध भाग्यवादी नियति, भारतीयों द्वारा स्थापित नियति और पुरुषार्थ का समन्वय इत्यादि पक्षों पर लिख कर जैनदर्शन-कार मक्खलि गोशाल के नियतिवाद की भी व्याख्या प्रस्तुत की है। क्या नियतिवाद पाश्चात्यों के The Law Governing the Universe, teleology तथा भारतीयों के कर्मवाद के बीच की एक व्याख्या प्रस्तुत करता है? इस पर गुण रत्नसूरि, सिद्धसेन दिवाकर

---

१. शब्द-चर्चा, मरु भारती का क्रमिक स्तंभ, तथा "विमर्श और व्युत्पत्ति" का "व्युत्पत्ति" खंड (चिन्मय प्रकाशन, जयपुर, १९६३)।

२. दे. "आलोचना के पथ पर"।

३. दे. "विवेचन" संस्कृत के नाट्याचार्य और नाटक की तीन अन्वितियां, पृ० ८८।

४. दे. "विमर्श और व्युत्पत्ति, पृ० ५७।

आदि भाषाओं के शब्दों के साथ लोकजीवन के सिद्धान्तों का भी समन्वय करते हुए डॉ० सहल ने विचार की अच्छी सामग्री प्रस्तुत की है।

भाषा शास्त्र व ध्वनि-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र आदि के आधार पर शब्दों को ग्रहण करना ही "शब्द विज्ञान"[1] है, जैसे विदुर की तरह 'हंस', कुंवर की तरह "अवर" "नवर" अथवा 'Aryan' की तरह 'Banyan' तथा "मैनोफ्ना"[2] के आधार पर अर्थ-भेद कैसे हो जाते हैं, इस पर भी दो तीन निबन्ध डा० सहल ने लिखे हैं। इनमें कुछ स्थलों पर लेखक की मौलिक उद्भावनाएं प्रकट हैं। भाषा शास्त्र[3] के कुछ अन्य बिन्दुओं पर भी इनके लेख मिलते हैं।

"हिन्दी पत्रों के सवा सौ वर्ष" नामक निबन्ध में डॉ० साहब ने विभिन्न सूत्रों से तथ्य संकलन कर "उदन्त मार्तण्ड" (कलकत्ते से सन् १८२६ में प्रकाशित) पत्र से लेकर स्वतन्त्रता के पहले तक के हिन्दी पत्रों का संक्षिप्त वर्णनात्मक इतिहास प्रस्तुत किया है जिसमें आधार-सामग्री तथा साहित्यिक-सूचनाओं के साथ-साथ इतिहासकार की भी व्यापक दृष्टि भी समाहित है।[4]

लोक-कथाओं के "मोटीफ्स" को लेकर उनके वर्गीकरण, विभिन्न संस्कृतियों की लोक-कथा प्रवृत्तियों के तुलनात्मक अध्ययन, राजस्थानी लोक-कथाओं में उनके समन्वय तथा देशी-विदेशी मूल अभिप्रायों के उद्गम की खोज पर भी इन्होंने पर्याप्त लिखा है। "लोक कथाओं की कुछ प्रवृत्तियां" (राम प्रसाद एण्ड सन्स, आगरा १९६१) "राजस्थानी लोक कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय" तथा "लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु" (किताब महल, १९६५) इस प्रकार के ग्रन्थ हैं जिनमें इस विषय का व्यापक विवेचन उपलब्ध है। "Motif" शब्द की अर्थ-छाया को द्योतित करने के लिए "मूल अभिप्राय", "रूढ़ तन्तु" "प्ररूढ़ि" "कथानक रूढ़ि", रूढ़ घटना आदि अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिससे यह लगता है कि लेखक को ज्यों-ज्यों अधिक "समर्थ" शब्द मिलते गये, वह उनमें "इम्प्रूवमेंट" करता गया।

वैदिक पुरुरवा और उर्वशी का आख्यान एक ऐसी लोक-कथा है जिसमें विभिन्न प्रकार की प्ररूढ़ियां खोजी जा सकती हैं और खोजी गई है। विश्व की प्राचीनतम

---

१. देखें "विवेचन", पृ० ९७।

२. वही, पृ० १०२।

३. देखें, विमर्श और व्युत्पत्ति "भाषा के भेदक तत्व, पृ० १२८, यूरोपीय भाषाओं और भारत की आर्य-भाषाओं का अभिन्न संबंध, पृ० १८४, "डिंगल के संबंध-सूचक परसर्ग", मूल्यांकन, पृ० १६७।

४. देखें, विमर्श और व्युत्पत्ति, पृ० १३०।

लिपिबद्ध लोक-कथा होने के कारण इसका महत्त्व स्पष्ट है। डॉ० सहल ने इस लोक-कथा में हंसकुमारी (Swan Maiden) का मूल अभिप्राय पाया है, स्वर्गीय बाला नाम भी उसे दिया जा सकता है। किसी दिव्य स्त्री का मर्त्य-पुरुष के साथ संबंध और अवधि व्यतीत होने पर उसे छोड़कर चला जाना एक तन्तु है। किसी अन्य लोक की स्त्री का किन्हीं शर्तों पर अन्य लोक के पुरुष के साथ संबंध और उस शर्त का उल्लंघन होने पर अदृश्य हो जाना भी इसका एक आंशिक तन्तु है। इस प्रकार के तत्त्वों का अन्वेषण ब्रज लोक-साहित्य के अन्वेषक डॉ० सत्येन्द्र ने भी किया है।

"सतसई की परंपरा" पर भी बिहारी की समीक्षा के प्रसंग में एक शोधात्मक निबंध इन्होंने लिखा है जिसमें संस्कृत-साहित्य की सप्तशती परंपरा (विशेषतः प्राकृत की सप्तशतियों के आधार पर) से लेकर आधुनिक काल तक की सतसइयों का स्पर्श किया गया है। इस दिशा में और भी अध्ययन संभव है। "सिरस नीति सतसई" ०० शिवरत्न शुक्ल "सिरस" द्वारा कुछ वर्षों पूर्व ही लिखी गई थी।[2] आधुनिक काल तक यह परंपरा चलती रही है। अब तो, युगानुरूप, इस प्रवृत्ति में परिवर्तन स्वाभाविक ही है। सतसई की तरह "दससई" भी लिखी जाने लगी थी। हमारे पूर्वज, प्रसिद्ध ब्रजभाषा कवि श्री द्वारकानाथ भट्ट "बानी" कवि की लिखी एक "दससई" हाल ही में प्राप्त हुई है। बानी कवि ईसा की अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए थे (सन् १७२०–१८०० के बीच) और जयपुर राजवंश के मान्य कवि रहे थे।

कहना न होगा कि शोध-कार्य में डॉ० सहल की अविच्छिन्न गति का एक प्रमुख कारण है उनका संस्कृत एवं अंग्रेजी का अध्ययन तथा बंगला, मराठी व गुजराती भाषाओं का परिज्ञान। वस्तुतः अन्वेषक के लिए विविध भाषाओं का, विशेषकर हिन्दी के शोधार्थी के लिए संस्कृत और अंग्रेजी का पूर्ण परिज्ञान आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। अंग्रेजी जैसी भाषा में भी विद्वानों की यह उक्ति प्रसिद्ध है "What does he know of English who only English knows.?" फिर, ईमानदारी के साथ देखें तो हिन्दी-साहित्य विशेष कर हिन्दी का "साहित्य-शास्त्र" है ही क्या ? संस्कृत और अंग्रेजी काव्य-शास्त्रों का समन्वय ही तो ! ब्रजभाषा व अवधी के काव्य-ग्रन्थों और संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों से इसका मध्यकालीन साहित्य बना तथा इसका आधुनिक साहित्य, अंग्रेजी साहित्य की विविध विधाओं तथा प्रवृत्तियों का स्पष्ट प्रतिफलन है। इसीलिए संस्कृत व अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन के बिना हिन्दी का अध्ययन पूर्ण हो ही नहीं सकता। केवल मातृभाषा का ज्ञान,

१, "बिहारी और सतसई की अविच्छिन्न परंपरा" (विवेचन)।
२. रायबरेली से १९३९ में प्रकाशित।

ही रहा, भाषा का वैदुष्य नहीं कहा जाता। अतएव हिन्दी के लिए ऊपर उद्धृत अंग्रेजी कहावत का सर्वथा चरितार्थ होती है कि जो केवल "हिन्दी" का विद्वान् है, वह हिन्दी जान ही नहीं सकता। डॉ० सहल में संस्कृत व अंग्रेजी के विद्वान् व प्रादेशिक भाषाओं के परिज्ञाता होने के कारण हिन्दी के सही अर्थों में "विद्वान्" होने का एक आदर्श-स्वरूप परिलक्षित होता है।

कवि —

आलोचक, अन्वेषक, प्राध्यापक तथा सम्पादक के साथ-साथ डॉ० सहल के व्यक्तित्व का एक पक्ष है उनका कवि। उनकी कविताएं पढ़ने में एक सामान्य पाठक में (मेरा तात्पर्य प्रबुद्ध पाठक से है, अशिक्षित या अर्धशिक्षित पाठक इन कविताओं के मर्म तक पहुंच नहीं पा सकता शायद) सामान्यतः तीन प्रकार की प्रतिक्रियाएं होती हैं—एक तो यह कि इनकी कविता बुद्धि-तत्त्व से प्रसूत है—प्रत्येक कविता में कोई तर्कपुष्ट विचार-बिन्दु या बौद्धिक लहर है, मात्र संवेग या संवेदना नहीं है। उनसे यह स्पष्ट होता है कि वे एक विचारक और बुद्धिवादी की कविताएं हैं, गायक या भावुक की नहीं। दूसरी यह कि कविता 'हृद्याद्युष्टाना कविरुदाना' समूह-मात्र नहीं है, कविता लिखने के उद्देश्य से लिखी गई कविताएं नहीं हैं बल्कि किसी विचार के अकस्मात् कौंध जाने पर उसे किसी भी प्रकार अभिव्यक्ति देने की उद्दाम इच्छा के सहज अभिलिखित तर्कों व टिप्पणी का सम्प्रेषण हैं। वे वर्ड्सवर्थ की परिभाषा 'Overflow of powerful feelings' पर तो सही उतरती है पर 'emotion recollected in tranquillity' में 'emotion' के स्थान पर 'idea' शब्द स्थापित करने की अभिलाषा भी जगाती है। 'Feeling' को 'idea' या 'thought' के रूप में व्याख्यात करना उचित जान पड़ेगा, उनके सदर्भ में। बुद्धिवादी कविता आज तो आम बात हो गई है, टी. एस. एलियट के जमाने से उसका चलन बढ़ा था किन्तु हिन्दी जगत् में जिन दिनों इसका चलन शुरू हो रहा था, उन दिनों की कृति होने के कारण इनका अपना ऐतिहासिक महत्त्व भी है और कलात्मक महत्त्व भी। तीसरी उल्लेखनीय बात है, इनमें से प्रत्येक पर रचनाकार के चेतन या अवचेतन मन पर जमी हुई अध्ययन की परतों के स्पष्ट प्रतिबिम्बों का होना। प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के निबन्धों की तरह, जिनके प्रत्येक वाक्य में संस्कृत और हिन्दी वाङ्मय के बहुत से सन्दर्भ अनायास हो, हल्के-से संकेत द्वारा, जुड़े हुए मिलते थे और जिनके कारण उनके निबन्धों को रामचन्द्र शुक्लजी ने *'बहुश्रुत पाठक' के लिए ही बोधगम्य* बतलाया था, डा० सहल की कविताओं में भी कुछ सदर्भ छिपे हैं। अन्तर इतना ही है कि उन्हें पूर्णतः समझे बिना कविता ही समझ में न आवे, सो बात नहीं है। कविता का केन्द्रीय विचार स्पष्टतः बुद्धिगम्य है, पर अन्तः कथाएं या निहित सदर्भ समझ लेने पर वे निम्नलिखित श्लोक की परिभाषा को चरितार्थ करने लगती हैं—

"ओ रे मयूर
सुन्दर मयूर
चमक मयूर
एक बात पूछूं
उत्तर दोगे ?
शहरों में तुम रहे नहीं
फिर क्यों कर तुमने
बाहर से कमनीय कलेवर
अन्दर से छलिया बन कर के
सीख लिया विषधर का बाना।"

शीर्षक संस्कृत व्याकरण का है, आइडिया आधुनिक शहरियों की स्थितियों पर व्यंग्य करने की इच्छा से उद्भूत है। इसी प्रकार साप को लक्ष्य कर कही गई 'अज्ञेय' की यह कविता भी प्रसिद्ध है—

"साप तुम सभ्य तो हुए नहीं
शहर में बसना भी तुम्हें नहीं आया
एक बात पूछू ?
उत्तर दोगे ?
कहा सीखा डसना ?
कहा विष पाया ?

संदर्भ-बहुलता इन सभी कविताओं की विशेषता है।

"ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः" कविता में जीभ को सबोधित कर दांत उत्तर देते है.—

"जानती क्या तू नहीं, युद्ध का कारण अरी
क्यों महाभारत हुआ ? "अन्ध सुत भी अन्ध हैं"
शक्ति तेरी थी जगी, पक्ष तेरे थे उगे
+ + +
डर हमें लगता यही, तू तुड़ायेगी हमें
पाठ हम करते यही, ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः
(प्रयोग)

अन्ध-सुत (धृतराष्ट्र-पुत्र) दुर्योधन को लक्ष्य करके द्रौपदी आदि का ताना ही महाभारत का कारण बना था (राजसूय यज्ञ में) यह संकेतित है। (इससे अगली ही कविता में राजसूय का जवाब "प्रजासूय यह यज्ञ कि जिसमें जन जन की कल्याणी"

द्वारा दिया गया लगता है)[1] ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः से टी. एस. एलियट की कविता 'लन्दन ब्रिज' भी समाप्त होती है। सहलजी की कविताओं में तन्त्र, पुराण और बौद्ध साहित्य के भी सदर्भ निहित है। कुछ कविताओं का जन्म विचार-बिन्दु के कौंधने से हुआ है, यह स्पष्ट होता है 'प्रयोग' को "नहीं पहचान पाया मैं अरे आवाज अपनी ही" (ध्वनि मुद्रित वाणी सुनने का आइडिया) क्षणों के धागे की "नाम अंकित किया चन्द्रमा पर" "क्या ये पलकें भी कृत्रिम हैं?" आदि कविताओं से।

इनके अनुशीलन से स्पष्ट है कि सहलजी का कवि संस्कृत वाङ्मय, (पुराण, कथाएँ, साहित्य, दर्शन), अंग्रेजी साहित्य के आधुनिक कवि (विशेषकर[2] टी. एस. एलियट), बदलते समाज की बदलती मान्यताएँ, विज्ञान की चमत्कृतियाँ (जो मानव की सहजता को निगल जाने की धमकी दे रही हैं, अतः कवि को प्रिय नहीं हैं) आदि विभिन्न प्रभावों के समन्वित संघात में ढला है। वह प्रमुखतः चिन्तक है।

कविताओं में सदर्भों के बीच मूल संस्कृत उद्धरण, राजस्थानी, गुजराती व हिन्दी उक्तियाँ या वैदिक ऋचाएं उसी प्रकार निविष्ट हैं जैसे एलियट की कविताओं में ग्रीक व संस्कृत से लेकर स्विस जुबान तक के उद्धरण उपलब्ध होते हैं।[3]

इन कविताओं पर कुछ लिखना उचित व आवश्यक दोनों नहीं है। वे स्वयं पठनीय हैं। विचारोत्तेजक हैं। छोटे-छोटे विचार-सूत्र हैं। 'प्रयोग' व 'क्षणों के धागे' दोनों की लेखकीय भूमिकाएं भी उसी प्रकार पठनीय हैं। डॉ० बच्चन को 'क्षणों के धागे' की भूमिका बड़ी पसन्द आई। भूमिका बहुत सारगर्भित है। मंथिलीशरणजी ने लिखा है "आपके क्षणों के धागे स्थायी होते दिखते हैं।"

सहलजी ने १५ अगस्त, २६ जनवरी व ३० जनवरी ('सत्य पुरुष' गांधी का स्मृति दिवस) पर तो लिखा ही है, ३० मार्च पर भी लिखा है, जिस दिन देशी रिया-

---

१. "धरती धन्य धन्य हम जानी"

२. 'विडम्बना' (क्षणों के धागे, १८), पुरानी बोतल में नयी शराब (प्रयोग, पृ०२३) आदि पर एलियट के 'डिसइल्यूजनमेंट' की-सी छाप लगती है।

३. सहस्र शीर्षाः पुरुषः सहस्रपात्, माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः आदि वैदिक उद्धरण, 'न जातु कामः कामानाम्' जैसे श्लोक व श्लोकांश तथा गुजराती 'को नथी माणस कोण छे' (एक कविता का शीर्षक, 'प्रयोग' में) एवं "निर्जन गुफा[illegible] निगिगा राहू" जैसे अवधी आदि के उद्धरण द्रष्टव्य हैं।

तन्त्र, शिव में से प्राणरूप 'इकार' के निकल जाने से 'शव' रह जाने का सिद्धान्त 'बात वह खटक गई' (प्रयोग पृ० ११) में, पुराणः ययाति को पुत्र का यौवन दान 'कामधन्तिज' (प्रयोग) आदि कविताओं में बौद्ध साहित्यः 'बाहुर न भवार मभार' प्रज्ञापारमिता 'शोर प्रवचन, नागार्जुन का शून्यवाद आदि' ने [illegible] हजार वर्ष का' '(क्षणों के धागे)' कविता के परिप्रेक्ष्य में उपलब्ध है।

सतों के सघो का एकीकरण होकर राजस्थान राज्य पुनर्गठित हुआ था। इस दिन का ऐतिहासिक महत्त्व चाहे भारत की अधिकांश जनता को पूर्णत: ज्ञात न हो किन्तु राजस्थानवासियों तथा इतिहासकारों की दृष्टि मे इस दिन का महत्त्व कितना होना चाहिए, सहज ही अनुमेय है। राजस्थान के ही कवि इस दिन पर कुछ लिख सकते थे।

एक बुद्धिवादी, बहुश्रुत कवि की इन रचनाओं पर प्रभावों का अध्ययन या समीक्षात्मक विश्लेषण जैसी दिमागी कसरत के लिए पर्याप्त अवकाश है पर यह सब साहित्य के परवर्ती इतिहासकारों के लिए छोड़ देना उचित होगा। कवि सहल की काव्य-रचनाएं परिमाण मे विपुल नही है किन्तु उनमे समसामयिक साहित्य का अनुशीलन तथा युग को बुद्धिवादी विचार-सरणि का प्रतिफलन उपलब्ध है। कवि पर प्राचीन संस्कृत वाड्.मय के अतिरिक्त टी. एस. एलियट-जैसे आधुनिक अंग्रेजी कवियों तथा अज्ञेय जैसे हिन्दी कवियों का प्रभाव परिलक्षित होता है किन्तु उनने इन सभी विभिन्न प्रभावों का समन्वयात्मक सगुम्फन अपनी कविता मे किया है।

सम्पादक :

डॉ० सहल के सम्पादन-कार्यों पर विस्तारपूर्वक यहाँ नही लिखा जा रहा। इस क्षेत्र मे इनका विशेष रूप से उल्लेखनीय कार्य कुछ प्राचीन पुस्तकों का संपादन (Textual editing) तथा उन पर विद्वत्तापूर्ण भूमिका-लेखन का रहा है। 'चौबोली' शीर्षक से चार राजस्थानी लोककथाओं का संपादन इन्होंने श्री पतराम गौड के सहकार मे किया है। इसमे कहानियों का हिन्दी पैराफ्रेज तथा उनका आलोचनात्मक अध्ययन साथ ही दिया हुआ है। कविया रामनाथजी की लिखी (राजस्थानी) 'करुण बहतरी' (अपर नाम द्रोपदी विनय) जिसका संपादन, टीका, विद्वत्तापूर्ण भूमिका तथा कवि-परिचय डॉ० साहब की विद्वत्ता का परिचायक है, बंगाल हिन्दी मंडल, कलकत्ता से प्रकाशित हुई। महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण की 'वीर सतसई' का बहुत सुन्दर संपादन इन्होंने श्री ईश्वरदान आशिया और पतरामजी गौड के सहकार मे किया है। इसमे विद्वत्तापूर्ण भूमिका, टीका और राजस्थानी दोहों की साहित्यिक परम्परा पर विवेचन उपलब्ध है। 'निहालदे सुलतान' की लोक कथा जो ५२ पवाडो के रूप में प्रचलित थी, इन्होंने पद्यात्मक पवाडों से गद्य मे परिणत कर तीन भागो मे प्रकाशित की। इस प्रकार की राजस्थानी साहित्य-सेवा के लिए तो ये सुप्रसिद्ध हैं ही, 'मरु भारती' नामक शोध त्रैमासिकी का बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट से प्रकाशन व संपादन प्रारंभ कर इन्होंने अत्यन्त बहुमूल्य साहित्य-सेवा की है, जिसके लिए राजस्थान का साहित्यिक समाज इनका चिरकाल तक आभारी रहेगा।

आलोचक :

डॉ० सहल के कृतित्व का एक महत्त्वपूर्ण अंग है उनका आलोचक-पक्ष। उन्होंने हिन्दी और राजस्थानी की विभिन्न महत्त्वपूर्ण कृतियों की समीक्षा भी की है और उनका प्राच्य और पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों के आलोक में समालोचनात्मक विश्लेषण भी किया है। 'साकेत'[1] 'कामायनी'[2] 'प्रसादजी के नाटक'[3] 'लहर' 'गुंजन'[4] आदि पर गंभीर आलोचनात्मक अध्ययन तो उन्होंने प्रस्तुत किये ही हैं. सियारामशरण गुप्त के 'बापू' नामक गीति-काव्य पर, प्रेमचन्दजी के 'गबन'[6] उपन्यास की औत्सुक्य-व्यंजना पर, 'हरिकृष्ण प्रेमी' के 'अनन्त के पथ पर'[7] काव्य के रहस्यवाद पर तथा इस प्रकार की अन्य कृतियों[8] के पक्ष-विशेष पर समीक्षात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। इस प्रकार उनका आलोचक एक व्यापक धरातल पर कृतियों की समीक्षा के रूप में अवतरित हुआ है। 'चौबोली' 'करुण बहत्तरी' 'बार सतसई' आदि कृतियों के सम्पादन के साथ-साथ उनकी विमर्शात्मक भूमिकाएं भी डॉ० सहल की पैनी समीक्षात्मक अन्तर्दृष्टि की परिचायिका हैं। यह हुआ उनका समीक्षक-पक्ष। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने आलोचना-क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, वह है प्राच्य और पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों का अध्ययन प्रस्तुत करना और उनमें समन्वयात्मक व्यावहारिक

---

1. 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य वैभव' उर्मिला का विरह वर्णन और गुप्तजी के साथ पत्राचार. विवेचन, साकेत में सर्गों का अनुक्रम, साकेत पर [illegible] प्रभाव: मूल्यांकन, साकेत में प्रधान रस: आलोचना के पथ पर आदि।
2. कामायनी-दर्शन तथा 'कामसर्ग' 'लज्जा सर्ग' आदि निबन्ध।
3. प्रसादजी के नाटकों पर नियतिवादी दृष्टि से अध्ययन विविध निबंधों में मिलता है. देखें विवेचन 'प्रसादजी के नाटकों में नियतिवाद' 'मूल्यांकन'।
4. 'गुंजनगरिमा' शीर्षक से गुंजन के विविध पक्षों पर १० निबंध समीक्षांजलि में संगृहीत हैं।
5. बापू विमर्श समीक्षांजलि पृ० १०३।
6. गबन की औत्सुक्य योजना. आलोचना के पथ पर पृ० २१०।
7. अनन्त के पथ पर. आलोचना के पथ पर पृ० २४६।
8. जैसे 'कबीर की साखियों का सम्पादन' 'काव्य [illegible]' '[illegible] और [illegible]' 'देवा [illegible] का आनुमानिक [illegible]' 'महादेवी के [illegible] रचना का वैभव' 'प्रिय प्रवास के [illegible]-वर्णन पर [illegible]' राम की शक्ति-पूजा का [illegible]' आदि निबंधों द्वारा [illegible] और रचना के किसी एक पहलू को लेकर उसका आलोचनात्मक [illegible] प्रस्तुत किया गया है।

सम्भावनाओं का पता लगाना। इस दिशा में 'आलोचना के पथ पर' मूल्यांकन 'समीक्षांजलि' 'विवेचन' जैसे ग्रन्थों द्वारा उन्होंने पर्याप्त विचारोत्तेजक निबन्ध प्रस्तुत किये हैं।[1] यह, उनका आलोचक स्वरूप कहें या काव्यशास्त्री रूप, भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

भारतीय काव्यशास्त्र :

काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का अध्ययन संस्कृत के अध्येता के रूप में और पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों का अध्ययन अंग्रेजी साहित्य के विद्यार्थी के रूप में करके हिन्दी के अध्यापक के रूप में हिन्दी कृतियों की समीक्षा में उनका समन्वय डॉ० सहल ने किस प्रकार किया है, यह उनकी कृतियों में स्पष्ट होता है। लगता है, अध्यापक के रूप में जिन ग्रन्थों का अध्यापन किया जाता रहा होगा, उनमें लेखक ने जो जो खूबियाँ पाईं, उनको एक प्रबुद्ध समीक्षक के नाते उल्लिखित कर निबन्धों का रूप बाद में दे दिया गया होगा और इस प्रकार कामायनी, साकेत, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, जनमेजय का नागयज्ञ, लहर, गुंजन, गबन आदि ग्रन्थों पर समीक्षात्मक आलेखन[2] का आरम्भ हुआ होगा। साकेत और कामायनी के अध्ययन तो पर्याप्त पूर्णता तक पहुँच गये हैं। हिन्दी में विविध वादों के स्वरूप पर भी इन्होंने काफी कुछ लिखा है 'वाद-समीक्षा' में तो छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, अभिव्यंजनावाद पर उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि से लेकर प्रायोगिक पक्ष तक का संक्षिप्त समीक्षण करते हुए निबन्ध ही संगृहीत हैं।

इसके साथ ही 'रस सिद्धान्त' 'औचित्य सिद्धान्त' 'साधारणीकरण और रसास्वाद के विघ्न' 'अलंकार और मनोविज्ञान' 'कुन्तक और काव्य' 'स्वभावोक्ति का अलंकारत्व' जैसे प्राच्य काव्यशास्त्रीय विषयों पर (आलोचना के पथ पर) काव्य में विराट् भावना, 'कालरिज का कल्पना सिद्धान्त' 'लांजीनस का भावोत्कर्ष' 'कला का त्रिकोण' 'शैली और व्यक्तित्व', 'संवेदना का हेत्वाभास' आदि पाश्चात्य[3] आलोचना-सिद्धान्तों को स्पष्ट करने वाले विषयों पर तथा 'संकलनत्रय और हिन्दी एकांकी'

१. सामान्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों पर कुछ विवेचन एवं वर्णनात्मक निबंध जैसे 'महाकाव्य की परिभाषा' 'कहानी का तंत्र' 'कला की उत्पत्ति' 'रहस्यवाद की भारतीय परंपरा' आदि आगे सूचित विशेष काव्यशास्त्रीय बिन्दुओं पर विमर्शात्मक आलेख।

२. जगन्नाथदास रत्नाकर के 'उद्धवशतक' पर या केशव पर त्रिविक्रम भट्ट के प्रभाव पर लिखे निबंध अध्यापन के समय ध्यान में आये विषयों को बाद में विवेचनात्मक आलेख का रूप दे दिया गया हो, इस प्रकार का संकेत देते हैं।

३. देखें: विवेचन, मूल्यांकन, विमर्श और व्युत्पत्ति नामक पुस्तकें।

या नाट्यशास्त्र की अन्विंतियों पर अथवा 'रस प्रक्रिया का त्रिकोण और पाश्चात्य समीक्षक' 'ट्रैजेडी में अहं का विगलन' जैसे निबन्धों द्वारा प्राच्य और पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के समन्वय पर लिखकर इन्होंने शुद्ध काव्य-शास्त्र पर भी उल्लेखनीय पाठ्य-सामग्री दी है जिसका साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन कृतियों से यह तो स्पष्ट ही है कि डॉ० सहल का मुख्य दृष्टिकोण प्राच्य और पाश्चात्य आलोचना सिद्धान्तों में एकवाक्यता या सामंजस्य प्रस्तुत करने का है जिससे यह भी प्रतीत हो जाता है कि जो बात पाश्चात्य काव्य-शास्त्री शताब्दियों बाद कह पाये, उसका सूत्र भारतीय विद्वानों ने वर्षों पूर्व ही भली भांति स्थापित कर दिया था और इसीलिए भारतीय काव्यशास्त्र की गहनता विश्व-साहित्य में अद्वितीय है, यह भी प्रकारान्तर से लेखक की स्थापना है। "Objective Correlative and the Indian theory of Aesthetic Emotion" शीर्षक एक अंग्रेजी निबन्ध में तो उन्होंने बड़े चमत्कारपूर्ण विवेचन के साथ टी. एस. एलियट के 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूप' वाले अत्याधुनिक माने जाने वाले बीसवीं शताब्दी के एक सिद्धान्त की ठीक दो हजार वर्ष पूर्व प्रतिपादित भरत के स्थायिभावविभावानुभावव्यभिचारिभावसंयोग के सिद्धान्त के साथ तुलना करते हुए यह सिद्ध किया है कि जिस बारीकी के साथ भरत ने मानसिक रसास्वादन प्रक्रिया का विश्लेषण कर के काव्य के प्रभाव की मानवमन पर प्रतिक्रिया का चित्र खींचा है, उतना आधुनिक पाश्चात्य समीक्षक भी नहीं कर पाये हैं।

रस-सिद्धान्तः

वस्तुतः भारतीय रस-सिद्धान्त इतना सूक्ष्म और गहन है कि उस पर आज भी बहुत अध्ययन की गुंजाइश बनी हुई है और उसका जितना ब्यौरे में पैठ कर मीमांसन किया जाता है, उतनी ही गहराइयां नजर आती जाती हैं। वर्षों से समीक्षक और विद्वान् रस-सिद्धान्त का विविध कोणों से अध्ययन करते आ रहे हैं। पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्र (एस्थेटिक्स) और भारतीय रस-शास्त्र के समन्वयात्मक ग्रन्थ लिखे गये हैं (डॉ० के एन. पांडे की 'कंपेरेटिव एस्थेटिक्स' पर तीन वाल्यूम्स चौखंबा प्रकाशन, बनारस से निकली हैं) अंग्रेजी लेखकों ने, जिनमें डॉ० सेनगुप्त और अमलेन्दु बोस भी शामिल हैं, अंग्रेजी आलोचना-शास्त्र की गहराइयों को आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त की अन्तर्दृष्टि से परखा है। डॉ० छैलबिहारी राकेश ने "Psychological Studies in Rasa" नामक अंग्रेजी शोध-निबन्ध लिख कर डी. फिल्. प्राप्त करली

1. Towards a theory of Imagination: Dr. Sen *Gupta*.
2. Aristotle's catharsis and Bharata's Sthayi Bhavas-" *Dr. K. C.* Raja, Theosophical society, Advar, Madras.

है और अपना नाम डॉ० राकेश गुप्त प्रसिद्ध कर दिया है। हिन्दी लेखकों में से तो अनेक इस क्षेत्र में उतरे हैं। प्रसिद्ध प्राच्यतत्वज्ञ डॉ० कुन्हन् राजा ने भी एक बार अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त का भरत के स्थायी भावों के माध्यम से व्याख्यान करने हेतु एक बड़ा गम्भीर मीमांसात्मक अध्ययन (अंग्रेजी में) शुरू किया था पर शायद वह पूरा प्रकाशित नहीं हो पाया। हिन्दी में संभवतः सब से अर्वाचीन ('लेटेस्ट') अध्ययन डॉ० नगेन्द्र का है जो रस-सिद्धान्त के श्रद्धालु भक्त हैं और जिनकी पर्याप्त विचार-मन्थन के बाद उद्भूत नवनीतात्मक कृति 'रस-सिद्धान्त' शायद हिन्दी में रस पर 'लास्ट वर्ड' मानी जा रही है और जिसे स्वयं डॉ० नगेन्द्र ने अपनी समस्त साहित्य-साधना की चरम परिणति कह कर पुकारा है। वैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रस-सिद्धान्त की मनस्तात्विक मीमांसा 'रस-मीमांसा' से प्रारम्भ की और बड़ी विद्वत्तापूर्ण स्थापनाएं उसमें प्रारंभ हुईं। तभी से रस के विभिन्न सिद्धान्तों, उपसिद्धान्तों, व्याख्याओं और पक्षों पर हिन्दी में बहुत कुछ लिखा गया है। डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, डॉ० रमाशंकर तिवारी, डॉ० भोलाशंकर व्यास आदि ने भी इसके विविध पक्षों पर आधुनिक दृष्टिकोणों से लिखा है। डॉ० तिवारी रस-सिद्धान्त को आधुनिक साहित्य-सर्जना के परिप्रेक्ष्य में पुराना और अप्रयोजनीय मानते हैं, इस प्रकार का उनका एक निबन्ध मैंने 'आलोचना' (त्रैमासिक) में पिछले दिनों देखा था। डॉ० राघवन् ने अंग्रेजी में रस-सिद्धान्त की बड़ी मार्मिक व्याख्या की है और शंकरन् जैसे विद्वानों ने उसे पल्लवित किया है किन्तु डॉ० गणेश त्र्यंबक[1] देशपांडे ने मराठी में जितना गहन अध्ययन रस-सिद्धांत (बल्कि समूचे साहित्य सिद्धान्तों) का प्रस्तुत किया है, उतना अन्य भारतीय भाषाओं में एक जगह कम ही मिल सकेगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि रस-सिद्धांत एक इतनी व्यापक, गहन और मनस्तलवतलस्पर्शी स्थापना है जिसका प्रत्येक युग और प्रत्येक भाषा में अपने-अपने ढंग से विवेचन हुआ है और हर बार इसमें से विद्वानों को अपने दृष्टिकोण से सामंजस्य रखने वाली सामग्री उपलब्ध हुई है। यह एक ऐसा पीयूष-समुद्र है कि इसमें जो जितना गहरा पैठता है, उसे उतना ही अधिक अमृत मिलता है। इसे आप जितना देंगे, उतना ही पायेंगे। इसका जो विवेचन जगन्नाथ पंडितराज जैसे दिग्गज विद्वान और दर्शन-मीमांसक ने प्रस्तुत किया है, उसके आलोक में इसका समन्वयात्मक अध्ययन करते हुए मैंने भी पिछले दिनों यह अनुभव किया कि इस मनस्तात्विक व्याख्या को विश्व के किसी भी मनस्तत्वज्ञ अथवा सौन्दर्य-शास्त्री के सिद्धांतों की कसौटी पर कसा जा सकता है और अनेक समन्वय-स्थल (Points of contact) खोज जा सकते हैं। चूंकि मानव मन और उसकी सांवेगिक प्रतिक्रियाएं युगों-युगों

1. "भारतीय साहित्य शास्त्र" देशपांडे (बम्बई)

से, एक नही तो समान अवश्य रहती हैं, और देश और काल के भेद से उनमे मौलिक अन्तर नही आता। (सहस्राब्दियों के बीतने पर शायद मानवीय मानस की क्रियाओ की प्रकृति मे अणु के लक्षांश जितना परिवर्तन भले ही सभव हो) और चूंकि रस-सिद्धांत का आधार मानसिक प्रक्रिया है और किसी भी काव्यानन्द की अनुभूति में किस प्रकार की सूक्ष्म क्रियाएँ मानव मन पर होती हैं, इसका विवेचन ही रस शास्त्र का विधेय है, अतः इस सिद्धात को किसी भी देश और काल के काव्यास्वाद-क्रिया-विवेचन मे समाहित किया जा सकता है। आई. ए. रिचर्ड्स के 'Impulses and References ; (Thought)' तथा 'Co-aenesthesia' के सिद्धात के साथ रस-शास्त्र के तन्मयीभवन और विगलितवेद्यान्तरता के सिद्धान्त का समन्वयात्मक अध्ययन बखूबी किया जा सकता है। विचारवादी (आइडियलिस्ट) मनोदार्शनिकों के सिद्धांतो का समन्वय तो इसमे होता ही है क्योंकि यह भी विचारवादी दर्शनधारा का ही एक अग है, किन्तु अत्याधुनिक, वामपथी मनस्तत्वज्ञों ने मनोभौतिकी (Psychophysics) नाम से जो नया मनः शास्त्र निकाला है, उसके आलोक मे भी इसकी सच्चाई परखी जा सकती है, अतः द्रव्यवादी (मैटीरियलिस्ट) दार्शनिको के सिद्धान्तो के विरुद्ध भी यह नही जाता, इसलिए आधुनिक 'अकविताकारों' का दावा कि 'रस-सिद्धान्त की आधुनिक परिप्रेक्ष्य मे कोई सत्ता[1] नही,' सतही ही है, इत्यादि विवेचन का यहां न तो प्रसग ही है, न अवकाश ही।

निवेदन का आशय यह है कि प्रत्येक जीवन्त बुद्धिवादी काव्यशास्त्री को जिस प्रकार रसवाद के गहन, समन्वयात्मक अध्ययन की पिपासा रहती है, उसी प्रकार डॉ० सहल को इस विषय मे पर्याप्त जिज्ञासा एवं कुतूहल रहे हैं, यह उनके कुछ[2] निबन्धो से स्पष्ट होता है। टी. एस. एलियट के एक 'टकसाली पारिभाषिक शब्द' 'Objective Correlative' का काव्यशास्त्रीय अध्ययन करते हुए इन्होंने अपने हिन्दी निबन्धो (जैसे 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता तथा रस-सिद्धान्त,' 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता तथा ध्वनि सिद्धान्त')[3] मे स्पष्ट किया है कि वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता जिस भावोद्रेक प्रक्रिया के साधन के रूप मे स्वीकारी गई है, उसी का विवेचन तो हमारे काव्यशास्त्रियों ने किया है। भावोद्रेक और काव्यास्वाद के लिए भाव या विभाव जिस प्रकार आधार-भूत माने गये हैं, उसी प्रकार कलाभाव (Art emotion) के उद्रेक के लिए इस

---

१. इसीलिए शायद डा० तारकनाथ वाली जैसे विद्वानों ने "बौद्धिक रस" जैसी एक नई थ्योरी को जन्म देना चाहा था।

२. "रस सिद्धात और कीथ" "प्रसाद जी और रस सिद्धात" आदि कुछ निबन्ध (विवेचन) भी इस प्रकार के अध्ययन है।

३. देखें (अनुसधान और आलोचना)

सिद्धान्त में, घटना-शृंखला तथा उनके प्रतिरूपात्मक 'Set of objects' को प्रारम्भक मानकर उसे मूर्त प्रतीक, प्रतिरूप या वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता कह दिया गया है।

तुलनात्मक समीक्षण :

इस प्रकार का प्रध्ययन तुलनात्मक काव्यशास्त्रीय विवेचन की एक सराहनीय जिज्ञासा का प्रतीक है जो डॉ० सहल के 'आलोचक' और 'काव्यशास्त्री' रूप में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। इसका वास्तविक अन्दाजा लगाने के लिए उनके इस प्रकार के निबन्धों को पढ़ते ही बनता है, उसका अन्यत्र विवेचन सम्भव नहीं।

इसके साथ ही एक रुझान जो डॉ० सहल में प्राप्य है, वह है कबीर, वाल्मीकि जैसे हिन्दी संस्कृत-कवियों की कृतियों में पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की योजना करना तथा शेक्सपियर के नाटकों में प्राच्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की परख। इन्होंने कवितावली के प्रसिद्ध सवैये 'दूलह श्री रघुनाथ बने' में 'Objective Correlative' का सिद्धान्त लागू किया है[1] तथा

> अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।
> अहो विचित्रा दैवस्य गतिर्नास्ति समागमः ॥[2]
>
> (ध्वन्यालोक में उदाहृत)

इस गुणीभूतव्यंग्य के उदाहरण में भी वस्तुनिष्ठ प्रतिमानों के विवेचन के आधार पर डॉ० सहल ने उत्तम कोटि का काव्य पाया है।

मैं यह नहीं कहता कि इस प्रकार के सभी विवेचन अन्तिम रूप से सब को मान्य होंगे या सिद्धान्तत: सत्य स्वीकार्य होंगे किन्तु व्यक्तिश: मैंने इस प्रकार के प्राच्य-पाश्चात्य अध्ययनों में बड़ी रोचक, कुतूहलपूर्ण और आनन्दजनक अध्ययन-सामग्री पाई है।

'अनुरागवती' वाले श्लोक में गुणीभूत व्यंग्य क्यों माना गया, ध्वनि-काव्य क्यों नहीं ? 'मेरी दृष्टि में वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता को लक्ष्य में रखकर ध्वनि-सिद्धान्त पर पुनर्विचार अपेक्षित है' डॉ० सहल ने लिखा है। यह छोटा-सा प्रश्न भी एक छोटे से दिलचस्प विचारोत्तेजक चिन्तन को प्रेरित कर देता है।

श्लोक में बात पते की कही गई है और बड़े चुटीले ढंग से कही गई है, फिर *यह मध्यमकाव्य क्यों ? आज की कविता के वर्ण्य-विषय की दृष्टि से तो यह मध्यम*

---

१. "वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता तथा ध्वनि-सिद्धांत" (अनुसंधान और आलोचना)।

२. सन्ध्या में कितना अनुराग है, दिवस भी उसके आगे आगे ही चल रहा है, पर हाय किस्मत ! इतना होते हुए भी, दोनों का समागम कभी नहीं हो पाता !

डॉ० सहल का रस-विवेचन

• डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित

हिन्दी-समीक्षा-जगत् मे डा० कन्हैयालाल सहल का नाम इतना सुख्यात है कि उनके उस व्यक्तित्व के विषय में अनेकविध दृष्टिकोणों से चर्चा की जा सकती है। वे एक सजग प्राध्यापक है और अनुभव-विस्तार के साथ उनमे ज्ञान-विस्तार और उसके गाभीर्य के लक्षणों का उदय इसीलिए आश्चर्यजनक नही है। उनके लेख इस बात के प्रमाण हैं कि अध्यापन-काल मे बार-बार एक ही प्रश्न से उलझने की प्राध्यापकीय नियति को उन्होने विवशता के रूप मे ग्रहण नहीं किया है, अपितु वे ज्ञानार्जन को नवीन दिशाओ मे जिज्ञासु-भाव से पैठते चले गए हैं। स्वाभाविक है कि वे परीक्षण या निरीक्षण के लिए चिन्तन की प्रक्रिया मे आत्मालोचन का सहारा लेते है और महत्त्व-पूर्ण विषयो का पुनः पुनः व्याख्यान करते रहते हैं। आज तक उनके प्रकाशित लेख-सग्रहो से इस प्रवृत्ति का प्रमाण सहज ही मिल जाता है। मै केवल रस-विवेचन के संदर्भ मे ही यहाँ कुछ उल्लेख करना चाहूँगा।

डा० सहल की प्रकाशित पुस्तको में से "आलोचना के पथ पर", "समीक्षायण" तथा "विमर्श और व्युत्पत्ति", यह तीन ऐसी हैं जिनमे रस-विवेचन-सम्बन्धी कई लेख सगृहीत है, साथ ही "साकेत का नवम सर्ग" तथा "कामायनी दर्शन" से भी उनके उस विवेचन का थोडा-बहुत सम्बन्ध है ही। प्रथमोल्लिखित [illegible]ो पुस्तको मे निम्नाकित शीर्षको मे रस के सम्बन्ध मे विचार किया गया है—

१. आलोचना के पथ पर—
  १. साधारणीकरण और रसास्वाद के विघ्न।
  २. नाट्यदर्पणकार का रस-विवेचन।
  ३. करुण-रस की सुखात्मकता।

२. समीक्षायण—
  १. ट्रेजेडी पर रवीन्द्र और रिचर्ड्स के विचार।

३. विमर्श और व्युत्पत्ति—
1. रस-प्रक्रिया का त्रिकोण और पाश्चात्य समीक्षक।
2. ट्रैजेडी में अहं का विगलन।
3. दुःख से सुख की समस्या।
4. ट्रैजेडी के सम्बन्ध में नूतन मानवीय दृष्टिकोण।

उक्त आठ लेखों के अतिरिक्त इस प्रसंग में "आलोचना के पथ पर" में संगृहीत लेख "साकेत में प्रधान रस" तथा "विमर्श और व्युत्पत्ति" में निहित (i) "साकेत में वियोग-वर्णन का विशिष्ट रूप" एवं (ii) डॉ० नगेन्द्र की पुस्तक "कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ" की आलोचना में लिखा गया इसी शीर्षक का लेख प्रसंगतः उल्लेख्य हैं। साथ ही पत्रिकाओं में प्रकाशित उनके तीन लेख, (१) दुःख में सुख क्यों : कालिदासीय समाधान, (२) वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता तथा रस-सिद्धान्त तथा (३) वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता तथा ध्वनि-सिद्धान्त भी इस सदर्भ में पठनीय है। इस प्रकार डॉ० सहल के चौदह (१४) निबंधों का सम्बन्ध रस-विवेचन से है।

उक्त लेख-शीर्षकों पर ध्यान दें तो डॉ० सहल की रुचि मूलतः करुण रस, या ट्रैजेडी से सम्बन्धित प्रश्नों को हल करने में अधिक प्रतीत होती है। यही कारण है कि उक्त तीनों पुस्तकों के कुल लेखों में से ६ इसी विषय से सम्बन्धित हैं, साथ ही "साकेत" *सम्बन्धी रस-विवेक का सम्बन्ध भी दुःखात्मक (वियोगात्मक) प्रसंग से ही है।* स्पष्ट है कि डॉ० सहल को अध्यापन के समय "दुःख के प्रसंगों से रसानुभूति" (?) के प्रश्न ने बार-बार झकझोरा है, सोचने और नयी राह निकालने को विवश किया है। शेष-लेखों में से "साधारणीकरण और रसास्वाद के विघ्न" तो किन्हीं नवीन विचारणाओं को सामने नहीं लाता, विद्यार्थि-हेतुक है और "कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ" शीर्षक में केवल डॉ० नगेन्द्र द्वारा प्रतिपादित "आनन्दरस" का विचार अन्य समस्याओं के साथ स्पर्श-वृत्ति से ही गृहीत है। "विमर्श और व्युत्पत्ति" का प्रथम लेख "रस-प्रक्रिया का त्रिकोण और पाश्चात्य समीक्षक" अर्जन की समस्याओं को भी छूता है और अनुभूति को भी, अतः उल्लेख्य ही नहीं, नवीन भंगिमा के कारण विचार्य भी है। इन लेखों में से भी "आलोचना के पथ पर" में संगृहीत "करुण-रस की सुखात्मकता" लेख में स्वयं लेखक के शब्दों में "प्रस्तुत विषय-सम्बन्धी विभिन्न मतों का स्पष्टीकरण मात्र ही लेखक का इष्ट रहा है।"

अस्तु, डॉ० सहल के रस-विवेचन के सन्दर्भ में हमारे विवेचन का क्षेत्र दुःखात्मक प्रसंगों में रसानुभूति, आनन्दरस और अर्जन तथा अनुभूति के सन्दर्भ में रस-

प्रक्रिया के विचार तक ही सीमित रह जाता है। संभव और आवश्यक नहीं है कि हम यहां उनके प्रत्येक क्षेत्र का पृथक्‌शः विवेचन करें, फिर भी सुविधा की दृष्टि से हम विवेचन के समय ऐतिहासिक दृष्टिकोण का भी आश्रय लेंगे जिससे डॉ० सहल के विचारों के सन्निर्वाह को जानने में सरलता हो सके।

काव्य के करुण रस के स्थायीभाव शोक, शृंगार के विप्रलम्भ भेद और भयानक, बीभत्स तथा रौद्र के स्थायीभाव भय, जुगुप्सा तथा क्रोध की स्थिति जगत में दुःखात्मक या चित्त-संकल्प-कारिणी दिखाई पड़ती है, किन्तु काव्यानुभूति को पंडितों ने रसानुभूति और रस को आनन्दात्मक मानकर इसको आनन्दानुभूति ही मान लिया है। ऐसी स्थिति में, स्वाभाविक है कि शास्त्र-विवेचकों ने दुःखात्मक दृश्यों तथा दुःखान्त नाटकों से सुखानुभूति होने की कल्पना के सम्मुख प्रश्न चिह्न अंकित किया है और इनके विभिन्न समाधान भी खोज निकाले हैं। अतः इस प्रसंग में मुख्यतः दो प्रकार के प्रश्न चर्चित हुए हैं और काव्य-पाठक का ध्यान आकर्षित करते हैं—

१. दुःखात्मक प्रसंगों और कृतियों तथा दुःखान्त (ट्रेजेडी) नाटकों से आनन्दानुभूति का कारण क्या है ?

२. कलाकार दुःखात्मक नाटकों की रचना क्यों करते हैं और दर्शक उन्हें क्यों देखते हैं ?

इन दोनों प्रश्नों से मिलाजुला सदर्भित तीसरा प्रश्न है—हमें ऐसे दृश्यों (कृतियों) से दुःख से दुःख की ही अनुभूति न होकर सुखानुभूति (आनन्दानुभूति) क्यों होती है ? यह प्रश्न वस्तुतः प्रथम प्रश्न में ही अन्तर्भुक्त होने पर भी कदाचित् कुछ पृथक् है, पहले प्रश्न को अभावात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करता है। प्रथम प्रश्न के अन्तर्गत विषय का विवेचन प्रायः पश्चिम और पूर्व में सहृदय की दृष्टि से ही किया गया है, किन्तु दूसरे प्रश्न के पूर्वार्द्ध में स्वयं सर्जक को भी इस प्रश्न से सम्बन्धित मानकर डॉ० सहल ने दृष्टि-विस्तार का परिचय दिया है।

डॉ० सहल अपनी प्राध्यापकीय वृत्ति से परिचालित होते हैं, अतएव लेखों का आरम्भ, मध्य और अन्त प्रायः विद्वानों, प्राचीन आचार्यों, पश्चिमी समीक्षकों के कथनों से युक्त रहता है। इसमें भी वे मुख्यतः रवीन्द्र, रिचर्ड्स और आधुनिक-मनोविज्ञान से प्रभावित हैं। अतः उनके एतद्विषयक निष्कर्ष प्रायः इन विद्वानों और धारणाओं से प्रभावित हैं। अपनी बात की पुष्टि भी वे उन्हीं से करते-कराते हैं। आश्चर्य नहीं कि उनके विचारों में अदृष्ट रूप में इन्हीं का हाथ भी रहता है। साथ ही नव्यता के साथ विचारों की प्रकारान्तर-पुनरावृत्ति भी लक्षित की जा सकती है।

करुणरस, ट्रैजेडी, दु खात्मकता के प्रश्नो के सदर्भ मे डॉ० सहल ने जिन महत्त्वपूर्ण कारणों पर बल देते हुए काव्यगत ग्रानन्दानुभूति का समर्थन किया है, वे हैं—(१) ग्रात्म-प्रसार (२) ग्रह का विगलन (३) स्वस्थता या ग्रात्म-संप्राप्ति (४) भावमग्नता या प्रबल ग्रनुभूति (५) मानवीय शील के ग्रौदात्य द्वारा जनित सहानुभूति ग्रौर (६) भावसामजस्य।

इन छहों कारणो से ही लोकानुभूति ग्रौर काव्यानुभूति (रसानुभूति) के बीच ग्रन्तर प्रमाणित होता है। ग्रर्थात् लोक से ही विषय-वस्तु को ग्रहण करते हुए भी काव्य ग्रपना प्रभाव कुछ भिन्न प्रकार से ग्रंकित करता है, दुःख से दुःख नही उत्पन्न करता बल्कि सुख ग्रौर ग्रानन्द में डुबो देता है। ग्रात्म-प्रसारण ही वह पहला कारण है जिसकी ग्रोर सहल जी का ध्यान ग्राकर्षित हुग्रा है। जैसा कि स्वयं सहल जी के विवेचन से प्रकट है, ग्रात्म-प्रसार, ग्रह का विगलन ग्रौर स्वस्थता या ग्रात्मसप्राप्ति (ग्रात्मोपलब्धि) का पारस्परिक गहरा सम्बन्ध है। ग्रात्मप्रसार के मूल मे जहाँ ग्रपनी व्याप्ति की भावना काम करती दीखती है, वही ग्रपनी स्थिति के ज्ञान की, ग्रपने वास्तविक स्वरूप के ज्ञान की भावना भी काम करती है। ग्रतः ग्रात्मप्रसार ग्रात्मसप्राप्ति को ग्राधार मानकर ही हो सकता है। इसी प्रकार ग्रह का विगलन, ग्रपनेपन (ममत्व) का निरास एक ग्रोर जहा ग्रपने को घुलाकर दूसरो से एक करने ग्रौर उसी मे ग्रपना प्रसार मान लेने (ग्रात्मविस्तार) मे है, वहीं दूसरी ग्रोर वह ग्रहकार के विनाश द्वारा ग्रपनी ग्रात्मा की सत्य-स्थिति का परिचय होने से स्वस्थता ग्रौर ग्रात्मसप्राप्ति या ग्रात्मोपलब्धि भी है। क्रिया की दृष्टि से क्रमशः प्रसार, कुछ छूटना या कुछ की प्राप्ति के बोध से इनमें पारस्परिक भिन्नता भले ही दीख पडती हो, तीनों यत्किंचित् भेद से परिणाम मे एक ही हैं। भेद पर ही ध्यान रखें तो ग्रह का विगलन तीनो मे मध्यवर्ती है ग्रौर प्रसार ग्रौर प्राप्ति दोनो का मूलवर्ती भी। "ग्रात्मप्रसार" ग्रौर "ग्रह का विगलन" का सम्बंध स्वयं सहल जी के विवेचन से भी स्पष्ट हो जाता है।

"ग्रालोचना के पथ पर" मे 'नाट्यदर्पणकार का रस विवेचन" शीर्षक के ग्रतर्गत सहल जी ने नाट्यदर्पणकार की इस त्रुटि का निर्देश करते हुए, कि उनकी दृष्टि शोक ग्रौर करुणा के भेद पर नही गई है, कहा है कि करुणा के रूप मे ही काव्य मे शोक व्यक्त हुग्रा करता है, शुद्ध लोकानुभव (शोक) के रूप मे नहीं। लौकिक शोक दुःखकारक होता है, जबकि काव्यगत करुणा का स्वरूप सुखात्मक है। करुणा किसी को दुःखी देखकर उसके प्रति सहानुभूतिशील होने से जगती है ग्रौर ससार का नियम है कि दूसरे का दुःख दूर करने से सुख मिला करता है, क्योंकि वहा मनुष्य का मन स्वार्थ-भूमि पर नही, त्याग-भूमि पर सचरण किया करता है। स्वार्थ-त्याग

में सुख मिलता है, इसका प्रमाण यह है कि यही समझ कर प्राचीनों ने "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" का उपदेश दिया है। स्वार्थ का त्याग तो परार्थ की अनुभूति से उत्पन्न होता है या उस ओर प्रवृत्त करता है। यह परार्थ या स्वार्थत्याग व्यक्ति तभी करता है, जब वह अपने ममत्व के भेद से मुक्त हो जाता है। "मैं" और "हूँ" की हुंकार के स्थान पर "तू" की पुकार, जिसका उपदेश कबीर ने दिया है, जब चित्त का स्वभाव बन जाता है, तब समझिए, व्यक्ति स्वार्थत्याग की प्रक्रिया से होकर गुजर चुका है, गुजर रहा है। यही तो अहं का विगलन है, यही "अहं के कारागार से ऊपर उठकर परिधि को विस्तृत करने वाला" आत्मप्रसार भी है (सहल) और इसी को (शुक्ल जी) "संकुचित मंडल से ऊपर" उठना कहते हैं। इसी को "आत्मा का विस्तार" भी कहा गया है जो स्वयं डॉ० सहल द्वारा "आलोचना के पथ पर" में संगृहीत "करुण रस की सुखात्मकता" शीर्षक लेख के उद्धृत अंश से स्पष्ट हो जाता है। यथा, "बाबू गुलाबराय जी के मतानुसार जिस प्रकार और कोई नाटक या काव्य हम को प्रसन्नता देते हैं, उसी प्रकार, उन्हीं कारणों से, दुःखान्त नाटक भी प्रसन्नता देते हैं। काव्य या नाटक से हमको क्यों प्रसन्नता होती है ? इसके भी कई उत्तर हो सकते हैं। उनमें से एक यह भी है कि काव्य के द्वारा हमारी आत्मा का विस्तार होता है। हम शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बंध में आते हैं। नाटक चाहे दुःखांत हो चाहे सुखान्त, उसके पात्र हमारे जैसे हाड़, मांस, चाम के पुतले होते हैं और जो हमारी तरह ही इच्छा, द्वेष और प्रयत्न कर सुख या दुःख के भागी बनते हैं। मनुष्य स्वभाव से सहानुभूतिशील है। वह अपने कुल और गोत की वृद्धि चाहता है।" (पृ० ५३-५४)

इस आत्मप्रसार का ही एक रूप आत्मोपलब्धि है। स्वयं आगे चलकर सहल जी ने कहा ही है : "प्रकृत रूप में जब मनुष्य की आत्मा का प्रसार होता है, उस समय वह अहं की शृंखला को तोड़कर संपूर्ण विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित करने लगता है। संकीर्णता आत्मा का सहज गुण नहीं है, वह उपाधिजन्य है। मनुष्य की आत्मा है ही विभु स्वरूप और जब वह अपने उपाधिग्रस्त रूप को छोड़कर अपना असली रूप धारण करती है, तब वह आनंदित हो उठती है। अपने स्वरूप को पहचानकर सभी प्रसन्न होते हैं। "भूमा वै सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति" का भी यही अर्थ है। मनुष्य जब तक केवल अपने सुख के लिए प्रयत्न करता है, सच्चा सुख उससे दूर ही रहता है। एक ही जगह बंधा हुआ तालाब का पानी भी गँदला हो उठता है। आत्मप्रसार होने पर ही अहं की कारा से मुक्ति मिलती है और, सच कहा जाय तो, यही आत्म-साक्षात्कार का आनंद है, यही मुक्त दशा भी है।" (वही, पृ० ४४-५)

उद्धृत अंश का अंतिम वाक्य ध्यान से पढ़ें तो स्पष्ट हो जायगा कि जिस आत्मप्रसार को एक क्षण पूर्व सहल जी ने "अहं के विगलन" के द्वारा होता बताया

था, उसी को लौटकर वे "ग्रह के विगलन" का कारण मान लेते है। साथ ही इसी वाक्य मे सचाई का सहारा लेते हुए वे इसी को "ग्रात्मसाक्षात्कार का ग्रानन्द" भी वह ही देते हैं। यहाँ ग्राकर इस बात मे सदेह नही रह जाता कि इन तीनो स्थितियो की परस्पर कार्यकारणता को उन्हे भी स्वीकार करना पडा है ग्रौर वह भी इस रूप मे नहीं कि तीनो ग्रलग-ग्रलग हो, बल्कि एक दूसरे के सहज परिणाम के रूप मे ग्र तिम स्थिति की वास्तविकता की, खोज ने ही उन्हे वहाँ तक पहुँचाया है ।

ग्रौर भी स्पष्टता के लिए डॉ० महन की नई पुस्तक "विमर्श ग्रौर व्युत्पत्ति" के ग्र तर्गत उनके लेख "ग्रह का विगलन" का उल्लेख करना ठीक होगा। यहाँ ग्राकर उन्होने स्पष्ट कर दिया कि इस सिद्धात की कल्पना इलियट द्वारा प्रतिपादित "ग्रहं से मुक्ति" सिद्धात के मेल मे है (ग्रौर भारतीय सिद्धातो के मेल मे भी)। महन जी ट्रेजेडी मे ग्रानन्द का मूलकारण "ग्रह का विगलन" ही मानते हैं। "यह विगलन जितना ट्रेजेडी द्वारा सम्भव है, उतना साहित्य की ग्रन्य किसी भी विधा द्वारा सम्भव नही।" उनकी दृष्टि मे "जीवन की एक बडी भारी विडम्बना है कि ग्रनेक वर्षो तक जीवित रहने पर भी उसे (मनुष्य को) यो ही ग्रात्मोपलब्धि नही होती, वह ग्रपने स्वरूप को नही पहचान पाता। वह ग्रपने स्वरूप को भूला रहता है ग्रौर इस "ग्रात्मविस्मृति" को स्मृतिपथ पर लाने के उपायो मे से एक उपाय है दु:खानुभूति। रवि बाबू ने तो इसीलिए दु:ख को विभु का वरदान बतलाया है क्योकि उसके द्वारा ग्रात्मोपलब्धि होती है।" इस दु:खानुभूति ग्रौर उससे परिणमित ग्रात्मोपलब्धि की प्राप्ति कराती है ट्रेजेडी ग्रौर वह भी इस तरह कि "दु:ख की लोकानुभूति कराये बिना ट्रेजेडी हमे दुःख से उत्पन्न होने वाला लाभ पहुँचा देती है ग्रौर वह है 'ग्रह के विगलन' द्वारा ग्रात्मोपलब्धि की झलक।" (पृ० १७)। इसी ग्रात्मोपलब्धि को वे "ग्रात्म-स्वरूप", "ग्रात्मभाव" ग्रौर "स्वभाव" पर्यायो से भी समझाते हैं ग्रौर फिर "ग्रह के विगलन" ग्रौर "ग्रात्मोपलब्धि" को "ग्रात्मप्रसार" से जोड देते हैं—"ग्रह की स्थिति सकोच ग्रौर ग्रल्पत्व की स्थिति है, ग्रात्मा का स्वरूप विभु है जिसका बहुत्व, विस्तार ग्रथवा भूमा से सम्बध है। ग्रल्पत्व दु:ख का कारण है ग्रौर भूमा ग्रानन्द का हेतु है" (पृ० १८)। तात्पर्य यह कि उक्त तीनो सिद्धातो का पारस्परिक सम्बध कुछ इतना घनिष्ठ है कि उन्हे ग्र तरवलबित स्थिति मे ही स्वीकार करना पडता है ग्रौर कहा जा सकता है कि "ग्रहं का विगलन" कारण है "ग्रात्मोपलब्धि" एव "ग्रात्मप्रसार" का ग्रौर "ग्रात्मोपलब्धि" या "ग्रात्मप्रसार" की प्राप्ति ही ग्रानन्द की प्राप्ति है। इस रूप मे यह "ग्रह का विगलन" भट्टनायक के निविडनिजमोहसंकटतानिवारण" का ही दूसरा नाम है जिसके माध्यम से साधारणीकरण रूप "ग्रात्मविस्तार" होता है ग्रौर

"परमभोग" अथवा अभिनव गुप्त के "आत्मगत वासनारूप स्थायी की निर्विघ्न प्रतीति" होती है, रस (आनन्द) प्राप्त होता है।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि प्राचीन आचार्यों के कथनों से जो बात स्पष्ट नही हो पा रही थी और बाद मे, जिसका विवेचन बहुत प्रभावपूर्ण ढग से हुआ भी नहीं, वह थी कवि का साधारणीकरण। डॉ० सहल इसे इलियट के सहारे तुलसीदास और उनके "रामचरितमानस" के उदाहरणो द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न करते है। तुलसीदास के विषय मे वे कहते है : "अपने उपास्यदेव की कृपा से उनका "अह" भाव दूर हो गया है, कही भी ऐसा नही लगता कि तुलसी "अहं" तथा तज्जन्य मोह से आक्रात है।" साथ ही "रामचरितमानस" मे प्रभु-कृपा पर ही निर्भर रहने वाले हनूमान जैसे पात्र भी इसी बात की प्रतीति कराते जान पडते हैं। किन्तु यहाँ यह भी न भूलना चाहिए कि इस प्रश्न का समाधान एकमात्र भक्त-कवियों को उदाहृत करके नही किया जा सकता, अन्य कवियों के द्वारा भी इस बात का प्रमाण मिलना चाहिए और वह केवल शास्त्रीय वार्ताओ से ही उपलब्ध है, प्रत्यक्ष नही। जो हो, सहल जी ने कविगत "अह के विगलन" पर ध्यान अवश्य दिया है और नये विचारो के आलोक मे प्राचीन शास्त्र के कथनों को प्रमाणित भी किया है, भले ही उसी शब्दावली मे न किया हो।

इस प्रसग मे उल्लेखनीय है कि डॉ० सहल इस मत का प्रतिपादन करते-करते स्वस्थता तक जा पहुँचे हैं। अतः वे कहते है—"ट्रेजेडी देखते अथवा पढते समय मनुष्य चाहे थोडी देर के लिए सही, स्व-स्थित अथवा स्वस्थ हो जाता है, अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है जिसमे अह का विसर्जन है, अह् से मुक्ति है।" (वि. व्यु. पृ. १८)। इस स्वस्थता की थोडी-बहुत चर्चा उन्होने अपने आरम्भिक लेख "नाट्यदर्पणकार का रस-विवेचन" मे भी की है। यथा, "आनन्द का मूल कारण स्वस्थता है, परस्थता नही।" (आ. प. पृ. ४५)। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि दोनो स्थानो पर सहल जी एक ही बात कहकर छुट्टी पा लेते हैं, क्योंकि "आलोचना के पथ पर" मे जिस स्वस्थता की चर्चा की गई है, वह न तो आत्मप्रसार-रूप "अह का विगलन" है और न ही वह "अह" की "सकोच" और "अल्पत्व" की स्थिति से मुक्त होने की बात कर रहे है। इस स्थान पर उनकी व्याख्या अभिनव गुप्त की "विश्राति" को छूती हुई चलती है और साथ ही मनोविज्ञान के दूसरे पहलू को भी उद्घाटित करती है। वस्तुतः वे यहाँ ममत्व भावना से मुक्ति चाहते है, दु.ख-सुख के द्वन्द्व से मुक्ति चाहते हैं किंतु यहाँ वे धरातल पर "आभास" से बचकर "विमर्श" की दशा मे रसानुभूति का रहस्य ढूँढते हैं। यहाँ वे "अह" (अहकार) के त्याग की बात न कहकर "मोहत्याग" की बात करते

है और तब "विमर्श" रूप "अहं" स्वस्थता तक पहुँचते हैं, जो नितान्त विश्रांति की अवस्था है। इसी को रसना, आस्वादादि नामों से पुकारा जाता है (तथा हि—लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलय-विश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते।—अभिनव-भारती, भा० १, पृ० २८०)। अभिनव गुप्त के विचार में इस "विमर्श" की दशा "अहमिति" अर्थात् "मैं" के ज्ञान से प्राप्त होती है। इस ज्ञान के न रहने पर ही जगत् का "आभास" प्रतीत होता है जो विकल्प की स्थिति है। "अहं" ज्ञान का बोधक है और ज्ञान का सम्बन्ध शक्ति और चित् से है। विमर्श तथा अहं एक स्थिति के द्योतक है। विमर्शदशा चित् या शक्ति से सम्बन्धित है। किन्तु यह शिव तथा शक्ति के अभेद के बिना सिद्ध नहीं होती, अतः यह निर्विकल्प अवस्था है। इसी अवस्था में आनन्द है, क्योंकि इस दशा में परमशिव इच्छारहित और आत्मस्थ होता है, जिसमें चित् तथा आनन्द मात्र शेष रहता है। इच्छारहित होने से उसमें द्वैतबोध नहीं रहता, अतः वह देशकाल की बाधा से भी मुक्त है। स्वतन्त्रता ही आत्मस्थता या स्वस्थता (स्व + स्थता) है। स्पष्ट है कि जहां अहं = अहंकार = ममत्व से छूटकर आत्मप्रसार की सिद्धि होती है, वहीं इस "विश्रान्ति" में केवल आत्मज्ञान या आत्मानुभूति की प्राप्ति होती है। आत्मप्रसार यही साधारणीकरण के धरातल पर ही छूट जाता है और स्वस्थ होकर व्यक्ति आत्मोपलब्धि करता है। यही भावमग्नता है और डॉ० सहल इसी को लक्ष्य करके स्वस्थता की चर्चा करते हुए कहते हैं—

"जब तक हमारी वृत्तियाँ चंचल हैं, तब तक हम अन्तर्मुख होकर भावमग्न नहीं हो सकते और बिना भावमग्न हुए सुख नहीं मिल सकता। परमात्मा ने भी सामान्यतः मनुष्य की वृत्तियों को बहिर्मुखी बनाया है, अन्तर्मुखी नहीं। वास्तव जगत् में इसलिए सुख के साथ दुःख का स्पन्दन देखने को मिलता है। जब किसी मनुष्य पर विपत्ति आती हो तो वह प्रकृतिस्थ अथवा स्वस्थ नहीं रह सकता, वह परवश हो जाता है—इन्द्रियों का चांचल्य उसे व्यथित कर लेता है। इससे यह न समझिए कि शोक में ही वृत्तियाँ चंचल होती हैं। वास्तव जगत् की सुखानुभूति में भी चांचल्य पीछा नहीं छोड़ता। किन्तु काव्य अथवा नाटक में पाठक तथा दर्शक को जो रसानुभूति होती है, उसमें भावमग्नता के कारण वृत्तियों की चंचलता जाती रहती है और सब प्रकार के विघ्नों के तिरोहित हो जाने के कारण दर्शक स्वस्थ रहता है। भावमग्नता के कारण बाह्य घटनाएँ उसे विचलित नहीं कर पातीं। वास्तव जगत् में यदि किसी का प्रेयसी स्वर्ग सिधार जाता हो तो वेचारा उसके विरह में रो-रोकर व्याकुल और अधीर हो उठता है। उसके दुःख एवं उसकी विह्वलता का कारण है उसकी परवशता। किन्तु काव्य में हमारी वृत्तियाँ रसास्वादन के अवसर अन्तर्मुखी हो जाती हैं, वासना रूप से जो भाव हमारे हृदय में स्थित हैं, उन्हीं के

हम मग्न हो स्वास्थ्य-लाभ करते हैं, भावमग्न होने के लिए भावों को कही से उधार नही लाना पड़ता, वे हमारे ही भाव हैं जिनमे हम मग्न होते हैं। (आ. प., पृ. ४५-४६)। यहाँ डॉ० सहल अभिनव गुप्त का अनुमोदन करने के साथ-साथ उस धारणा को नई शब्दावली मे मनोविज्ञान की अंतर्मुखता-बहिर्मुखता से भी जोड़ देते हैं।

स्पष्ट है कि यदि यह अभिनव गुप्तकृत व्याख्या का पुनरुद्धार है तो उनकी यह व्याख्या आध्यात्मिक या दार्शनिक दृष्टिकोण को ही व्यक्त करती है और मनोविज्ञान के शब्दो का प्रयोग करके भी उसका स्वरूप आध्यात्मिक ही बना रहा है। विमर्श और व्युत्पत्ति तक आते-आते डॉ० सहल के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित हो गया है कि "आज का व्यवहारवादी (Pragmatic) दार्शनिक संभवत. यही कहेगा कि मनुष्य का असली स्वभाव, अहवाद तथा दुनिया के सुखों से सबद्ध है।" (पृ० १८)। किन्तु उस दिशा मे वे उत्तर की खोज मे प्रवृत्त नही होते और अततः उसी दार्शनिक व्याख्या के सहारे निष्कर्ष उपस्थित करते हुए कहते हैं—

"जब कामनाओ के नदी-नद मनुष्य के हृदय-समुद्र मे पहुँचकर उसे विक्षुब्ध न करे, तब समझना चाहिए कि वह उच्च धरातल पर स्थित है। शांति कामनाओ की कामना मे नही, सब प्रकार की कामनाओ के सामंजस्य मे है।" (वही, पृ० १६)।

स्वस्थता से "सामजस्य तक की इस यात्रा मे सहल जी अकस्मात् ही "समीक्षायण" मे लिखे गए अपने "ट्रेजेडी पर रवीद्र और रिचर्ड्स के विचार" शीर्षक लेख के पास लौटते चले गए हैं। आत्मोपलब्धि (रवीद्र की "आत्मसप्राप्ति") और स्वस्थता की दार्शनिक पीठिका भारतीय है तो "सामजस्य" मे भी भारतीय समरसता आदि सिद्धांतो की खोज की जा सकती है, किंतु यह लेख सहल जी की अवधारणा का सहज ही रिचर्ड्स के विचारो से सम्बन्ध स्थापित करता जान पड़ता है।

उक्त लेख मे रवीद्र की ओर से कहा गया है—"जो वस्तु हमारे मन पर जबरदस्त छाप छोड़ जाती है, उसका प्रभाव भी बड़ा प्रबल होता है। जिस वस्तु का हम विशेष रूप से अनुभव करते हैं, उसके द्वारा हम अपने आपको ही प्राप्त करते हैं। यह आत्मसप्राप्ति ही आनन्द है। (समीक्षायण, पृ० ७६)।

रवीन्द्र की यह "आत्मसप्राप्ति" सहल जी के शब्दो मे ज्ञान का ही दूसरा रूप है। अध्यात्मवादी दार्शनिको ने आत्मा को ज्ञान रूप ही माना है, अत. ज्ञान की प्राप्ति आत्म-प्राप्ति ही है। यह ज्ञान मिलता है साहित्य से, उसमें वर्णित नाना प्रकार की स्थितियो से, जिनका उसमें सामजस्य दिखाया जाता है। अतः आत्मप्राप्ति का सम्बध सामंजस्य मे भी है और सामजस्य के माध्यम मे आनन्द से भी। ट्रेजेडी में

इस सामंजस्य की सम्भावना प्रायः रहती है, अतः उसमें आनन्द की कल्पना की गई है। उनके इन भावों का अनुभव क्योंकि बिना उनके झंझट में पड़े उपलब्ध होता है, अतः प्रभाव होता है और सार हो गहन भी। विशुद्ध अनुभूति के कारण ही इसका प्रभाव प्रबल होता है। यहाँ आत्मसम्प्राप्ति होती है और आनन्दोपलब्धि भी। सहल जी के शब्दों में कहें तो—"सबको अपेक्षा दुःख की अनुभूति हमें सचेत बनाये रखती है किन्तु संसार में दुःख के साथ क्षति एवं आघात भी लगा रहता है, इसलिए हमारा प्राण-पुरुष दुःख की सम्भावना के कारण कुंठित हो उठता है। किन्तु साहित्य में जीवन-यात्रा के आघात और क्षति का अभाव होने के कारण हम विशुद्ध अनुभूति का उपभोग कर सकते हैं। गल्प में भूत के भय की अनुभूति से बच्चे पुलकित हो उठते हैं क्योंकि बिना दुःख का मूल्य चुकाये उनका मन इस प्रकार की अनुभूति से परिचय प्राप्त कर लेता है। काल्पनिक भय के आघात से भूत उनके निकट वास्तव हो उठते हैं और यही वास्तव की अनुभूति भय के योग से ही आनन्दजनक होती है। इससे स्पष्ट है कि भय की अनुभूति तो हम करना चाहते हैं किन्तु भय का बिना मूल्य चुकाये। साहसी लोग अकारण ही एवरेस्ट के शिखर पर चढ़ने का प्रयत्न करते हैं। उनके मन में भय नहीं, भय के कारण की सम्भावना में ही उनको निविड़ आनन्द प्राप्त होता है। हमारे मन में भय है तो हम दुर्गम पर्वत पर चढ़ने नहीं जायेंगे किन्तु दुर्गम यात्राओं के विवरण को घर बैठे पढ़ना पसन्द करेंगे, क्योंकि इसमें बिना विपत्ति की आशंका के स्वाद मिल जाता है। जो भ्रमण-वृत्तान्त यथेष्ट भीषण नहीं है, उसे पढ़ने को जी नहीं करता। वस्तुतः प्रबल अनुभूति मात्र ही आनन्दजनक है क्योंकि उस अनुभूति के द्वारा प्रबल रूप में हम अपने आपको जान पाते हैं। साहित्य-जगत् में हम अनेक रूपों में अपने आपको जान पाते हैं और वहाँ हमारा कोई दायित्व है नहीं। साहित्य में मनुष्य के आत्म-परिचय के सहस्रों निर्झर प्रवाहित होते रहते हैं—कुछ पंकिल, कुछ स्वच्छ, कुछ क्षीण और कुछ परिपूर्णप्राय। (समीक्षायण, पृ० ८७)।

वस्तुतः स्वस्थता की बात कहते-कहते डॉ० सहल जी "सामंजस्य" में शांति का ध्यान करने लगे हैं, वह अपने इसी लेख और रिचर्ड्स की मान्यताओं के प्रचलनाधिक्य के कारण। रिचर्ड्स की बात ट्रेजेडी के प्रसंगों में ही ठीक हो सकती है और इसीलिए डॉ० सहल ने भी सिद्धान्त का उल्लेख दोनों प्रसंगों में उसी के कारण किया है। इससे करुण रस और बीभत्सादि रसों से प्राप्त (आनन्द की) अनुभूति की समस्या का समाधान नहीं होता और सम्भवतः इसीलिए सहल जी ने जहाँ कहीं दुःख से सुख का प्रश्न उठाया है, वहाँ इस सिद्धांत का उल्लेख नहीं किया। सच तो यह है कि यह सामंजस्य-सिद्धान्त एक प्रकार से भारतीय सिद्धांत के विरोध में पड़ता है। सम्भवतः जाने या अनजाने सहल जी भी "विमर्श और व्युत्पत्ति" वाले

पूर्वोक्त लेख में दु:ख और सुख के सामंजस्य की बात नहीं कहते, "कामनाओं सामजस्य" की ही कहते हैं। यो भी संसार "विषवृक्ष" हो चाहे "भवसागर हमारे यहां के दार्शनिकों की दृष्टि मे यह दुःख का ही कारण है, त्याज्य है। फि भी यहां जो "सुख-दुःख की आंख मिचौनी" होती रहती है, वह केवल "सुख-दु:ख मधुर मिलन से जीवन की परिपूर्णता" है, एकांगिता नही। जीवन की सपूर्णत का वर्णन तभी हो सकता है जब दोनो का वर्णन हो। किन्तु इनका सामजस्य क्य है ? सुख और दुःख दोनों तो एक साथ कभी नही होते, परस्पर परिवर्तित होते रहते हैं और दुःख उठाते ही व्यक्ति सुख की कामना करने लगता है। अतः दु:ख और सुख का सामजस्य केवल इतना ही अर्थ रखता है कि दोनों की मात्रा मे सामजस्य हो, न कि दोनो के एकत्र होने मे। एकत्र होने की संभावना ही नही है और मात्रा की समानता भी केवल इसी रूप मे अर्थवती है कि उसके कारण जीवन भार नही बनता, अन्यथा केवल दु:ख या दुःखाधिक्य दोनो ही आत्महत्या या हत्या के कारण बन जाते है। इस स्थिति मे लोक मे सामजस्य की कल्पना न युक्तियुक्त है, न उससे आनन्द का ही सम्बन्ध है। यही कारण है कि इस संसार मे ही प्रभु का विस्तार देखते हुए भी भारतीय दार्शनिक किसी अन्य की बात करता रहा है। दूसरे, ट्रेजेडी या करुणरसात्मक नाटको मे भी यह सामजस्य भले ही लक्षित किया जा सके, विशुद्ध करुणरस की किसी रचना मे जैसे टेनीसन के In Memorium मे, इस सामजस्य का अवसर नही रहता। वहां पर प्राप्त होने वाले आनन्द का उत्तर रिचर्ड्स के इस सिद्धान्त से नही मिल सकता। भारतीय मेधा ने तो वहां रस ही माना है। अतएव वहां स्वस्थता के अन्य पूर्वोक्त कारणो की खोज करनी चाहिए, रिचर्ड्स के सामंजस्य की नही। यदि बिना सामंजस्य के एक स्थान पर काम चल जाता है जहां दु:ख की गहन अनुभूति होती है, तो जहां दु:ख के साथ सुख या करुणा का भाव मिला रहता है, वहां तो उसकी सिद्धि और भी होनी चाहिए। ऐसी स्थिति मे रिचर्ड्स का सिद्धात हमारे किसी काम का नही।

यहीं एक और बात का भी निर्णय कर लिया जाय। इसी प्रसंग में डॉ० सहल ने कहा है कि "ट्रेजेडी मे न इच्छाओ के दमन के लिए अवसर है, न उनके उन्नयन के लिए" (वही, पृ० ८९)। इच्छाओ का दमन उनको स्वीकार न करना है, उन पर विजय प्राप्त करना है और उन्नयन है उन्हे किसी आदर्श या अच्छे काम में लगा देना। इसी अर्थ मे ट्रेजेडी या नाटको में इच्छाओ का दमन या उन्नयन नहीं होता, इसी अर्थ मे अनिवार्यतः अभिप्रेत भी नही है। वस्तुतः नाटक के प्रसग में दमन या उन्नयन का अर्थ केवल इतना हो सकता है कि जिस अनुभूति को हम ग्रहण कर रहे हैं, उसका हमारी इच्छा-अनिच्छा और हमारे अन्य सम्बंधो से कोई सम्पर्क स्थापित नही होता। वह विशुद्ध अनुभूति होती है साधारणीकृत, अतः सात्विक होती

है। सात्विकता ही उन्नयन है। अतः लोकार्थ में उन्नयन या दमन भले ही सम्भव न हो, भारतीय दृष्टि को सात्विकता उनका उन्नयन ही स्वीकार करती है और वही सही मार्ग भी है। यही स्वस्थता भी है। दुःख में करुणा का उदय भी उसका उन्नयन ही है।

उन्नयन एक और अर्थ में भी होता है, जिसे डॉ० महल ने सीधे शब्दों में स्वीकार तो नहीं किया है, किन्तु वह उनके दो अन्य लेखों के विवेचन से ध्वनित है। दोनों लेख उनकी नवीनतम पुस्तक में संगृहीत हैं, अतः उनमें व्यक्त विचारों को उनके विशेष आधिकारिक या अपेक्षाकृत प्रौढ़ विचार माना जा सकता है। यह दोनों लेख हैं क्रमशः (१) दुःख से सुख की समस्या और (२) ट्रेजेडी के सम्बन्ध में नूतन मानवीय दृष्टिकोण। प्रथम लेख में महल जी फिर ट्रेजेडी के चक्कर में पड़कर "जीवन के अन्य अभावों अथवा आवश्यकताओं की तरह यह दुःख भी एक हविस या कामना है और कामना की पूर्ति में तो सुख है ही" (पृ० १११) कहते हैं जिससे प्रतीत होता है कि कवियों, भक्तों की दुःखाकांक्षा उनकी दृष्टि में मात्र दुःख को ओढ़ लेने की आकांक्षा है। किन्तु उन्होंने इस प्रसंग में रवीन्द्र की जो कविता उद्धृत की है, उसमें ध्वनित परिश्री के अनुरागाकर्षण की ओर ध्यान नहीं दिया। वस्तुतः वह दुःख इसलिए काम्य हो जाता है कि कहीं उसके पीछे अनुराग की, करुणा की लालिमा दिखाई देती है। दुःख से सुख के इस कारण की ओर इस लेख के अंत में वे स्वयं इंगित करते हुए कहते हैं—"साहित्य में हम ऐसे व्यक्ति को नहीं देखना चाहते जो सदा सुखी रहता है, तथा जो आशा-निराशा के द्वन्द्वों से कभी व्यथित नहीं होता। साहित्य वस्तुतः देवत्व को मानवत्व की चुनौती है। निराला द्वारा रचित "राम की शक्ति पूजा" का एक आकर्षण यह भी है कि राम हमारी ही तरह विपत्ति में उद्वेलित होते हैं किन्तु हिम्मत नहीं हारते—शक्ति की पूजा करते हैं और अंत में विजय का सेहरा उन्हीं के सिर बँधता है।" (पृ० १२०)। स्पष्ट है कि राम का मानसिक सतुलन ही यहाँ महत्त्वपूर्ण नहीं है, अपितु महत्त्वपूर्ण है उनके सिर विजय का सेहरा बँधना, विजय की भावना हमें उदात्तता की ओर ले जाती है, उन्नयन की ओर ले जाती है। अतः जहाँ केवल सतुलन या सामंजस्य दिखाई देता है, वहाँ भी उन्नयन होता है और जहाँ विजय होती है या किसी आदर्श की स्थापना होती है, वहाँ भी। पहला साधारणीकरण रूप है और दूसरा उदात्तता की सरल मार्ग से सिद्धि। इस उदात्तता की सिद्धि महल जी ने दूसरे शीर्षक के अंतर्गत स्पष्टतः स्वीकार की है और वहाँ भी "राम की शक्ति पूजा" तथा स्व० लाल बहादुर शास्त्री के चरित्र की भव्यता का उल्लेख करके हमारे कथन की पुष्टि ही की है। वे कहते हैं—

(१) "संघर्ष होता है वस्तुतः त्रासदी के नायक द्वारा किये गये प्रयत्नों तथा उस शक्ति के बीच जो अपरिहार्य अथच अजेय है। नायक के प्रयत्नों में जो उदात्तता

पाई जाती है, उससे हमें मनुष्य होने के नाते एक प्रकार के गौरव का अनुभव होता है और उस गौरवानुभूति से हमें सुखोपलब्धि होती है। त्रासदी का नायक अपनी पराजय में भी महान् दिखलाई पड़ता है। जिस शक्ति से वह लोहा लेता है, वह अपराजेय किंवा अपरिहार्य भवितव्यता की बाह्य शक्ति होती है जिसकी अतुलता हमें आश्चर्यचकित तथा भयभीत कर सकती है किंतु ऐसी विराट् शक्ति के साथ भी नायक जब संघर्ष करता है तो नायक की आत्मिक शक्ति के सम्मुख हमारा मस्तक झुक जाता है, हम उसके प्रशसन-हेतु श्रद्धांजलियाँ अर्पित करने लगते हैं।"

(२) "श्लेगेल ने शायद कहा है कि जगत् का कार्य-व्यापार किसी अदृष्ट शक्ति द्वारा संचालित होता है और त्रासदी में इस शक्ति के समक्ष मानव का बल-वैभव तुच्छ प्रतीत होने लगता है। श्लेगेल का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता। इसकी अपेक्षा निकल का वह सिद्धान्त अधिक समाधानकारक लगता है जिसके अनुसार वीर के पतन में भी एक प्रकार की गरिमा होती है जो दुःख को दिव्य आभा से मंडित कर देती है।"

(३) "त्रासदी में मानवीय शील के औदात्य का उद्घोष सुनाई पड़ता है, उससे मनुष्य को बल मिलता है। शीलसंपन्न नायक के गुणों को पढ़-सुनकर अथवा अभिनीत होते हुए देखकर दर्शकों की आँखों में आँसू आ जाते हैं। आग में तपकर जैसे सोना कुंदन बन जाता है, उसी तरह त्रासदी में नायक का शील भास्वर होकर दर्शक पर गहरा प्रभाव डालता है।"

(४) "त्रासदी में सहानुभूति के कारण आत्म-विस्तार होता है, नायक के औदात्यपूर्ण शील से मानव के महत्त्व की तीव्रानुभूति होती है जिसके कारण हमें संतोष या सुख की प्रतीति हुए बिना नहीं रहती। दर्शक भी तो मानव ही है, मानव की भव्यता, नायक की उदात्तता, उसे आनन्दित क्यों नहीं करेगी ?"

और अन्त में 'कालिदासीय समाधान' के अन्तर्गत अन्य समाधानों के साथ वे पुनः इसी बात को दुहराते हैं कि (५) "जब दर्शक उदात्त स्वभाव वाले नायक को कष्टों की आँच में तपकर निखरता हुआ देखता है तो वह नायक के शील-स्मरण में रोमांचित हो अश्रु बहाता है और शीलजन्य सुख का अनुभव करता है।"

इससे अधिक स्पष्ट शब्दावली में उदात्तता (और प्रकारांतर से तज्जनित सात्विक उन्नयन) की स्वीकृति और क्या हो सकती है ?

इस उदात्तता के कारण रसानुभूति (आनन्दानुभूति) करने वाले सहृदय को डॉ० सहल "तटस्थ द्रष्टा" की संज्ञा देते हैं और कवि को भी रसास्वादकर्ता बताते हैं। (रस का आस्वादन करता है कवि तथा तटस्थ द्रष्टा—आ० प०, पृ० ४५)।

'तटस्थ' से यदि सहल जी का तात्पर्य ममत्व-परत्वहीन स्थिति वाले व्यक्ति का है तो ठीक है किन्तु यदि वे उसे भाग न लेने वाले द्रष्टा के रूप मे मानते हैं तो सर्वथा प्राचीन के, विशेषत. अभिनव गुप्त के, विरोध मे जा पड़े प्रतीत होते है। कारण कि अभिनवगुप्त तो स्पष्टत: तटस्थता का निषेध करते है और इसीलिए कहते है कि सहृदय के चित्त मे भयभीत हरिण द्वारा प्रदर्शित भय निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्य होने से साक्षात् प्रवेश करता हुआ, आँखों के सामने घूमता हुआ-सा जान पड़ता है। देशकाल आदि से असम्बद्ध होने के कारण "मै भीत हूँ, वह भीत है, अथवा यह शत्रु, मित्र या मध्यस्थ है", इस प्रकार के दु:खकारक ज्ञान की स्थिति वहाँ नही रहती। (तस्या च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद् भयमेव पर देशकालाद्यनालिंगित, तत एव 'भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा' इत्यादि प्रत्ययेभ्यो दु:खसुखादिकृतहानादिबुध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्न-बहुलेभ्यो विलक्षण निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्य साक्षादिव हृदये निविशमान' विपरि-वर्तमान भयानको रस.। (अ० भा०, पृ० २७६)। अत जब सहल जी "यहाँ भयानक रस की निष्पत्ति हुई है किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि हरिण को भयभीत देखकर दर्शक भी भयभीत हो रहा है" कहते है, तब उसका अर्थ यही मानना चाहिए कि उसे भय की लौकिक अनुभूति नही होती, रसात्मक अनुभूति होती है। लौकिक अनुभूति न होने के कारण ही उनका द्रष्टा "तटस्थद्रष्टा" है, अभिनवगुप्त के साथ उनके कथन की इसी अर्थ मे सगति हो सकती है, अन्यथा भावमग्नता मानने का कोई अर्थ नहीं रह जायगा।

यहाँ 'तटस्थ' शब्द से एक बात के भ्रम की सभावना है—उसका भट्टनायक के मत मे उल्लेख देखकर यह सोचने लगने की सभावना कि सहल जी उनके विरोध मे भी उपस्थित है। वे उनके पक्ष मे हो या न हो इतना स्पष्ट है कि उनका तटस्थ-द्रष्टा रस का आस्वादन करता है और भट्टनायक ने जिस तटस्थ द्रष्टा का विरोध किया है, वह रसास्वाद नही करता बल्कि भट्टलोल्लट और शकुक के मत मे अनुकार्य या नट मे ही रस हुआ करता है। अतएव दोनों मे परस्पर भेद को ध्यान मे रखना चाहिए, नाममात्र के आधार पर एकता की कल्पना करना अनुचित होगा।

तटस्थता सम्बन्धी धारणा ही डॉ० सहल के द्वारा उनके "दु:ख से सुख क्यों : कालिदासीय समाधान" शीर्षक लेख मे भी व्यक्त हुई है। वहाँ वह तटस्थता 'राहत' या 'कष्टों से मुक्ति' की सास बन जाती है। उदाहरणतः वे कहते हैं :—

(१) "जब मनुष्य कोई कठिन काम कर लेता है अथवा विपत्तियों के जाल से मुक्त हो जाता है तो वह पिछली कठिनाइयों अथवा विपत्तियों के स्मरण मे सुख का अनुभव करता है।"

रूपता' का नाम दिया है। अभी तक हिन्दी में इसके संबंध में बहुत कम विचा किया गया है। डॉ० सहल की इस ओर प्रवृत्ति अभिनन्दनीय है।

'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता और रस-सिद्धान्त' के अन्तर्गत डॉ० सहल ने प्रति पादित किया है कि इलियट के सैद्धान्तिक कथन "कला के रूप में भावाभिव्यक्ति की एक ही पद्धति है और वह है 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता' का सन्धान, दूसरे शब्दों में ऐसा वस्तु-समुदाय, ऐसी परिस्थिति तथा घटनाओं की ऐसी शृंखला नियोजित की जाए जो उस भाव-विशेष के सूत्र का काम दे सके ताकि ये बाह्य तथ्य, जि परिणति मूर्त्त मानस अनुभव में हो, जब प्रस्तुत किए जाएं तो तत्काल भाव हो जाय, की समानता भरत (वस्तुतः भरत और उनके व्याख्याकार दोनं मिलाकर) के इन शब्दों से की जा सकती है कि" जब काव्य, संगीत तथा अ की सहायता से विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव रंगमंच पर प्रदर्शित किए हैं, तब दर्शकों के हृदय में स्थायीभाव की जागृति होती है तथा यह भाव उस सीमा तक पहुँच जाता है जब, परिस्थिति के साथ संपूर्ण कल्पनात्मक सहानु द्वारा, दर्शकगण व्यक्ति, काल और स्थानविषयक भेद को भूल जाते हैं और णामस्वरूप उनका हृदयस्थित भाव आनंदपूर्ण चैतन्य के रूप में अभिव्यक्त है। अर्थात् यह साम्य इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है :—

इमोशन = संस्कृत काव्यशास्त्रियों का रस।

सेट ऑव आब्जेक्ट्स = विभाव।

सिचुएशन = साँचे में ढला हुआ सुसंगठित प्रस्तुतीकरण।

चेन ऑव ईवेंट्स = न केवल प्रबन्धधारा से सबद्ध अवान्तर घटनाएं ही, ब उन घटनाओं तथा अनुभाव एवं संचारी भाव आदि प्रति पात्रों की प्रतिक्रिया भी।

साथ ही परस्पर विरोधी से प्रतीत होने वाले इलियट के कथनों को वि यमसन ने जिस प्रकार संगठित करते हुए कहा है : "यदि कवि-कर्म में ता सामान्य मनोवेगों को काम में लेना है और उन्हें काव्यात्मक रूप देने में कवि ऐ भावों को व्यक्त करता है जो वास्तव में मनोवेग हैं ही नहीं, तो मूलभूत मनोवेग साथ संचरणशील भावों को संलग्न कर वह ऐसा कर सकता है जिससे नये कलात्म मनोवेग की निष्पत्ति हो सकेगी। "उसका सीधा" साम्य-स्थापन निम्नलिखित में किया गया है :—

बेसिस ऑव स्ट्रक्चरल इमोशन = स्थायीभाव।

द फ्लोटिंग फीलिंग्स = व्यभिचारीभाव और अनुभाव।

न्यू ग्राट इमोशन=स्थायीभाव, जो रस के रूप में परिणत होकर ग्रास्वाद्य हो जाता है।

डा० सहल का यह साम्य-प्रतिपादन निश्चय ही महत्वपूर्ण है, किन्तु ग्रागे चलकर जब वे विवास ग्रौर विण्टर्स कृत इलियट की ग्रालोचना की साक्षी देकर इलियट के कथन में "वैज्ञानिक तथा विशद विवेचन" की न्यूनता की चर्चा करते हैं तो उनकी धारणाएं बहुत स्पष्ट नहीं हो पाती। ग्रवश्य ही डा० सहल ग्रपने ग्रनुभव के ग्राधार पर "मैंने हैमलेट पढ़ते समय सदा रस का ग्रास्वादन किया है" कहकर इलियट की धारणाग्रों से ग्रपना नाता तोड़ लेते हैं, ग्रौर संभावना व्यक्त करते हुए कहते हैं : "संभव है, भारतीय काव्यशास्त्रियों का इस संबंध में भिन्न मत हो ग्रौर ग्रपने काव्यसिद्धान्तों की कसौटी पर कसकर वे इसे उत्कृष्ट कोटि का नाटक ठहराएं", तथापि उनके स्वर में निश्चयात्मक दृढ़ता का ग्रभाव खटकता है। ग्रन्त में वे इतना ही कहकर रह जाते हैं कि 'देश, काल, दर्शन ग्रौर संस्कृति ग्रादि की भिन्नता के कारण यदि दोनों सिद्धान्तों में यत्र-तत्र ग्रनिवार्य भिन्नता प्राप्य हो तो उसकी ग्रोर दुर्लक्ष्य नहीं किया जाना चाहिए।"

डा० सहल के इन ग्रन्तिम दोनों कथनों का महत्त्व है ग्रौर इन पर सम्यक् विचार होना चाहिए। इलियट ने राबर्टसन द्वारा की गई हैमलेट नाटक की ग्रालोचना को ग्रखण्डनीय बताते हुए नाटक की मूल कथा-सामग्री को ग्रदम्य कहा है ग्रौर माता के ग्रपराध के कारण पुत्र पर हुई प्रतिक्रिया की सही ग्रभिव्यक्ति में ग्रक्षम माना है। इस नाटक को ग्रनेकविध रूपों में पहेलीपूर्ण ग्रौर ग्रशान्तिकारक मानते हुए इसके दृश्य एवं छन्द-विधान के प्रति ग्रसन्तोष व्यक्त किया गया है। इलियट का यह कथन इस संदर्भ में मननीय है कि "ग्रनेक लोगों ने इस नाटक को वस्तुत: इसके द्वारा उत्पन्न रंजकता के कारण ही कलाकृति मान लिया है, कलाकृति के रूप में उसकी रंजकता पर संभवतः ध्यान ही नहीं गया है।"[1]—

इलियट के इस कथन के पीछे राबर्टसन की यह उक्ति काम कर रही है कि "नाटक में किसी माता के ग्रपराध की ग्रभिव्यक्ति लगभग ग्रसह्य ही होगी। हैमलेट में उसका निर्वाह करने ग्रौर उस पर विशेष बल देने की ग्रावश्यकता—किसी कलात्मक ग्रनिवार्यता के कारण नहीं—मनोवैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करने की

1. And probably more people have thought Hamlet a work of art because they found it interesting, than have found it intersting because it is a work of art.

वाच्यता के कारण हुई है।"¹ इलियट की स्पष्ट धारणा है कि विभाव—एक्सटर्नल की पूर्ण औचित्य—कम्प्लीट एडीक्वेसी—पर ही 'रसात्मक अनिवार्यता'—आर्टिस्टिक इनएविटेबिलिटी—निर्भर होती है। हैमलेट में इसी का अभाव है। कठिनाई यह कि हैमलेट का वह भाव अतिरेकपूर्ण है जिसके कारण उसकी अभिव्यक्ति सहज न है। हैमलेट की वितृष्णा उसकी मां को आलम्बन बनाकर ही प्रकट हुई है कि उसकी मां इसके लिए "उपयुक्त प्रतिमान"—एडीक्वेट इक्वीवेलेंट—नहीं है।¹ पर हैमलेट की वितृष्णा इतना ही नहीं जाती, उसका अतिक्रमण भी कर जाती है 'वस्तुनिष्ठ प्रतिमानता—ऑब्जेक्टिव इक्वीवेलेंस—की सिद्धि ही समस्या बन जाती है। यदि गर्ट्रूड में उस अपराध की प्रबल अभिव्यक्ति दिखाई जाय तो हैमलेट में नितान्त भिन्न समीकरण—फार्मूला—उपस्थित करना होगा। उसका गौण और अप्रतिक्रियात्मक चरित्र ही ऐसा है कि उससे जिस भाव की उत्पत्ति नाटककार ने हैमलेट में प्रदर्शित की है, उसका वह सबल आधार प्रस्तुत नहीं कर पाती। इस प्रकार के मोहक या भयप्रद मनोवेग युवावय की देन है और नाटक की अपेक्षा चिकित्सा के विषय हैं।

इलियट के इस विवरण से कुछ बातें स्पष्ट होने में सहायता मिलती है और उससे भारतीय दृष्टि को भी समाधान प्राप्त होता है। यथा, १–इलियट की दृष्टि में विभाव-विधान में औचित्य का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। विभाव-विधान से तात्पर्य आश्रय तथा आलम्बन के परस्पराश्रय का है और इस बात का भी कि आलंबन का क्रियाकलाप, रूप-रंग इस प्रकार का हो कि आश्रय के मन में अनुकूल मात्रा में अनुकूल भाव उत्पन्न हो सके। ऐसा न हो कि पहले के क्रियाकलाप और रंग-ढंग उसकी सामाजिक स्थिति आदि के कारण किसी भाव को अपेक्षित प्रबलता के साथ उत्पन्न करने में साधक न हो और आश्रय द्वारा प्रदर्शित भाव बचकाने या असंबद्ध प्रतीत होने लगें। हैमलेट के भावों के विषय में इलियट की आपत्ति यही है कि वे असंबद्ध और अनुचित होने के साथ ही युवा—अप्रौढ़—काल की देन हैं।

इलियट की इस धारणा का संबंध भारतीय औचित्य सिद्धान्त से पूरी तौर से बैठाया जा सकता है और औचित्य का संबंध रस से बहुत गहरा है, अतएव कहा जा सकता है कि इलियट का यह सिद्धान्त रस-सिद्धान्त के मूलभूत प्रश्न, रसाभास या शुक्ल जी की मध्यम कोटिक रसानुभूति और औचित्य-निर्वाह से संबद्ध है।

दूसरे, इलियट ने कलाकृति की रंजकता और रंजक होने से किसी कृति का कलाकृति मान लिया जाना, इन दोनों स्थितियों के बीच अन्तर किया है। वह इस

---

¹ The guilt of a mother is an almost intolerable motive for drama, but it had to be.······maintained and empasized to supply solution, or rather a hint of one."

बात का उत्तर देने के लिए पर्याप्त है कि किसी दूसरे व्यक्ति को हैमलेट नाटक, त्रुटिपूर्ण होने पर भी, एक कलाकृति क्यों जान पड़ता है। डॉ॰ सहल को जिस रसास्वाद का अनुभव हुआ है, उनका उत्तर या तो इस कथन में मिल सकता है या फिर वह वही है जिसकी ओर स्वयं डॉ॰ सहल ने उचित ही निर्देश किया है कि देश, काल, दर्शन और संस्कृति आदि के कारण ऐसा हो सकता है। अन्तर इतना ही है कि डॉ॰ सहल इनके कारण दोनों सिद्धान्तों की भिन्नता की संभावना करते हैं और हमारे विचार में यह केवल इलियट और डॉ॰ सहल के योरोपीय और भारतीय सन्दर्भों का अन्तर है।

रस-सिद्धान्तों के सन्दर्भ में ही डॉ॰ सहल का दूसरा लेख 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता और ध्वनि-सिद्धान्त' भी विचारणीय है। इस लेख में सहल जी ने कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित किए हैं। यथा,

१–"स्वभावोक्ति में वस्तुओं का यथावत् तथा प्रत्यक्ष वर्णन किया जाता है किन्तु फिर भी वहाँ रसोद्रेक तो है ही। इसी से स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष बिम्ब भी कभी-कभी संवेदनात्मक बिम्ब का रूप धारण कर लेता है।"

२–"कविता में किसी बिम्ब को संवेदनात्मक शक्ति इसीलिए प्राप्त हो जाती है कि वह वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता का उदाहरण प्रस्तुत करता है और मात्र इसलिए नहीं कि प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होने के स्थान में वह परोक्ष रूप से कुछ व्यंजित करने की क्षमता रखता है।"

अतः दोनों प्रश्नों का तात्पर्य यह है कि संवेदनात्मक शक्ति उत्पन्न करने के लिए ध्वनि या व्यंजना की आवश्यकता नहीं "वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता" की सिद्धि ही पर्याप्त है।

३–"यह सच है कि रस प्रायः ध्वनि के माध्यम से व्यंग्य होता है किन्तु रस यदि काव्य की आत्मा है तो वह किसी के माध्यम से आए, उक्ति की रसात्मकता ही काव्य की अनिवार्य शर्त है, न कि उसकी ध्वनि-प्रक्रिया।"

४–अभिनवगुप्त के मतानुसार वस्तु एवं अलंकार-ध्वनि भी रस-ध्वनि में परिणत हो जाती है। "इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ध्वनि की प्रक्रिया से रस-निष्पत्ति नहीं होती, बल्कि रसोद्रेक होता है वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के कारण।"

५–*उपयुक्त, स्पष्ट, निश्चित और परस्परानुमोदित वस्तुनिष्ठ प्रतिमान* लाने पर गुणीभूत व्यंग्य के स्थलों पर रसात्मकता में न्यूनता नहीं माननी चाहिए।

उक्त कथनों में से प्रथम दो वस्तुतः एक-दूसरे के विस्तार-मात्र हैं, पूरक हैं। सहल जी का अभिप्राय केवल इतना है कि व्यंजना के वक्र पथ से चलकर नहीं, अपितु

वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता का पालन करते हुए स्वभावोक्ति के प्रत्यक्ष बिम्ब उपस्थित करने वाले मार्ग पर चलने से ही—भी—संवेदनात्मक बिम्ब द्वारा रसोद्रेक प्रतिफलित होता है। अतः वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता का पालन ही पर्याप्त है, व्यंजना के पीछे भटकना आवश्यक नहीं। केवल व्यंजना से तो रसोद्रेक संभव भी नहीं होता, जैसे, 'सात बज गए' कहने से।

हमारा निवेदन है कि स्वभावोक्ति के प्रत्यक्ष बिम्ब से संवेदनात्मक बिम्ब अवश्य उभरता है, और ऐसा होता है वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के कारण ही, किन्तु संवेदनात्मक बिम्ब और उसमें प्रतिफलित रसोद्रेक प्रत्यक्ष कथित नहीं होते, वाच्य नहीं होते, व्यंग्य ही होते हैं। वाच्य वस्तुतः शब्दों का अर्थ होता है। रस शब्द नहीं है, अतः उसकी प्रतीति सदैव व्यंग्य रूप में ही होती है। वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता उस व्यंजना के लिए भूमि तैयार करती है, वातावरण का सृजन करती है, सम्बद्ध सन्दर्भों से सम्बन्धयुक्त करती है। 'सात बज गए' कहने से व्यंजना होने पर भी रसोद्रेक इसीलिए नहीं होता कि वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के माध्यम से वांछित वातावरण का सृजन नहीं होता, मात्र अर्थवहन होता है। रस अर्थ से भिन्न एक अनुभूत्यात्मक स्थिति है जो सुचारु संगठन के परिणामस्वरूप अन्तर्द्रवण के रूप में प्रकट होती है और प्रत्यक्ष शब्दावली से कथित न होकर अन्तर में ही स्पर्श उत्पन्न करती है।

इसी प्रकार स्वभावोक्ति के स्थलों पर भी यही व्यंजना काम करती है। उदा०, संस्कृत काव्यशास्त्र में 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का 'ग्रीवाभंगाभिरामम्.....' इत्यादि स्वभावोक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है, किन्तु कालिदास ने जिस भंगिमा का पूर्ण बिम्ब तैयार किया है, उससे उद्रिक्त भयानक रस केवल सहृदय को ही अनुभूत होता है, कालिदास द्वारा कथित नहीं है।

वस्तुतः ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादकों की यह धारणा नहीं है कि व्यंजना चाहे किसी भी प्रकार की हो, वह रसोद्रेक करेगी ही। उनकी धारणा तो केवल यह है कि रसोद्रेक जब भी होगा, व्यंजित होकर ही होगा। डॉ० सहल ने इसे अपने दूसरे प्रश्न के अन्तर्गत सर्वथा अयुक्त रूप में रखते हुए 'मात्र इसलिए नहीं कि प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होने के स्थान में वह परोक्ष रूप से कुछ व्यंजित करने की क्षमता रखता है' कहकर भ्रम उत्पन्न किया है।

हमारी दृष्टि में इलियट का सिद्धान्त फलप्राप्ति तक जाकर रुक जाता है और ध्वनि-सिद्धान्त फल-प्राप्ति की प्रक्रिया को और सूक्ष्मता से विवेचन का विषय बनाता है। ऐसी स्थिति में डॉ० सहल का यह कथन भी अपना महत्त्व खो देता है कि "यह सच है कि रस प्रायः ध्वनि के माध्यम से व्यंग्य होता है किन्तु रस यदि

काव्य की आत्मा है तो वह किसी भी माध्यम से आए, उक्ति की रसात्मकता ही काव्य की अनिवार्य शर्त है, न कि उसकी ध्वनि-प्रक्रिया।" साथ ही उनका यह अगला तर्क भी कुंठित हो जाता है कि "ध्वनि-प्रक्रिया से रस-निष्पत्ति नहीं होती बल्कि रसोद्रेक होता है वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के कारण।" इस अन्तिम कथन से डॉ० सहल का तात्पर्य यदि यही है कि ध्वनि सदैव रसात्मक नहीं होती, जैसे वस्तु ध्वनि या अलंकार-ध्वनि, रसात्मक वहीं स्थल होता है जहाँ वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता होती है, तो इसका उत्तर हमारे सद्यः उक्त पूर्व-कथनों में मिल जायगा। साथ ही हमें इतना और कहना है कि वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता भी कथन के अत्यधिक अलंकार या उसकी नग्नता से दब या नष्ट हो जाती है और ऐसे ही स्थलों का विवेच प्राचीन आचार्यों ने रस-विघ्न, रस-दोष और गुणीभूत व्यंग्य के रूप में किया है जैसा स्वयं डॉ० सहल स्वीकार करते हैं, रस को ही प्रधानभूत मानने के कारण वस्तु तथा अलंकार-ध्वनि की परिणति भी रसध्वनि में मानी गई है, उसका कारण यही है और काव्य के उत्तमादि भेदों का आधार भी यही है।

यह बात तब और भी स्पष्ट हो जाती है जब काव्यशास्त्र-प्रसिद्ध गुणीभू व्यंग्य के उदाहरण "अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः।
अहो विचित्रा दैवस्य गतिर्नास्ति समागमः॥"

को उद्धृत करते हुए डॉ० सहल आत्मविरोधी तर्क का सहारा लेते हुए प्रश्न करते हैं "वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता की दृष्टि से यदि उक्त पद्य का विवेचन किया जाय तो कह जा सकता है कि कवि जिस भाव की व्यंजना करना चाहता है, उसके लिए यहाँ ज वस्तुनिष्ठ प्रतिमान सामने लाए गए हैं, वे न केवल बहुत उपयुक्त हैं, किन्तु स्पष्ट निश्चित तथा साहित्यिक परम्परा द्वारा अनुमोदित भी हैं। अत व्यंग्य के गुणीभू हो जाने के कारण ही इस पद्य की रसात्मकता कम हो जाती है, ऐसा क्यों मा लिया जाय?"

कहने की आवश्यकता नहीं कि वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के रहते भी "कवि जि भाव की व्यंजना करना चाहता है" उसके गुणीभूत हो जाने पर रसात्मकता ही जो भाव की परिणतावस्था है, गुणीभूत अर्थात् कम हो सकती है। अत: इस "मानने न मानने" का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि "भाव" का अर्थ "कथ्य" लिय जाय तो भी यदि वह गुणीभूत अर्थात् दूसरे की तुलना में कमजोर पड़ गया त कितनी भी वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता का पालन हुआ हो, वह प्रभावशाली नहीं र सकता। स्वाभाविक है कि ऐसे स्थलों पर रसात्मकता को हानि ही पहुँचेगी। य भी वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता अलंकार-चमत्कार की तुलना में सहृदय का ध्यान आक र्षित नहीं करती, अतः उसका रसात्मक प्रभाव न्यून हो जाता है।

इस सारे विवेचन से एक महत्त्वपूर्ण बात उपस्थित होती है, जिसकी ओ
स्वयं डॉ० सहल ने अपने लेख में संकेत किया है : "वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता को ध्
में रखकर ध्वनि-सिद्धान्त पर पुनर्विचार अपेक्षित है।" साथ ही उनका यह कथ
भी सत्य है कि "दो सिद्धान्तों की पारस्परिक तुलना यद्यपि खतरे से खाली नहीं
तथापि इस प्रकार की तुलना की भी अपनी उपयोगिता है।" डॉ० सहल ने जि
समानताओं और विषमताओं की ओर इन लेखों में ध्यान आकर्षित किया है, वे
मननीय भी हैं और विवेचनीय भी। रस-सिद्धान्त के सर्वांग का स्पर्श न करते हुए
भी डॉ० सहल ने जिन प्रश्नों पर विचार किया है, वे महत्त्वपूर्ण ही नहीं हैं, बल्कि
उनका विचार भी डॉ० सहल ने गंभीर अध्ययन और चिन्तन के साथ ही किया है।
उनके इन समस्त लेखों में अनेक स्थलों पर नवीन दीप्ति है जो अभिनन्दनीय है।
मतभेद और मत-परिष्कार कहाँ नहीं होता ?

•••

'मरु भारती' की कुछ प्रतियाँ मैंने देखी हैं। यह उच्च श्रेणी की शोध-पत्रिका है। इसके सब ही लेख अध्ययन के योग्य होते हैं। राजस्थान में इस प्रकार की पत्रिका की बड़ी आवश्यकता है। इसके द्वारा एतद्देशीय कला और साहित्य की समुचित सेवा हो रही है।

—डॉ० मथुरालाल शर्मा

डॉ० सहल के समीक्षा-सिद्धान्त

• डॉ० शिवनाथ

विद्वान् आलोचक कन्हैयालाल सहल ने बहुत पढ़ा है, बहुत सुना है। साहित्य की आलोचना के लिए मददगार नाना शास्त्र भी उनकी मनीषा के अनदेखे नहीं हैं। यह सब करने से साहित्य को अपनी बारीकियों में देखने की उनकी जो दृष्टि बनी है, वह निश्चय ही मार्मिक है, पारदर्शी है और ऐसे व्यक्तित्व की दृष्टि का इस तरह का होना स्वाभाविक ही है। अपनी ऐसी दृष्टि, अपनी बहुपठता और बहुश्रुतता से वे इस तत्त्व को हासिल करते हैं कि साहित्य को यदि देखना है तो उसे साहित्य की नजर से देखा जाय—साहित्य को देखने का मान साहित्य ही है, यह बात दूसरी है कि नाना शास्त्र, नाना विद्या इस मान की मदद करें। उनकी बात यों है :

> "साहित्य का मानदंड स्वत. साहित्य होना चाहिए, न कि बाहर से आरोपित राजनीतिक, सामाजिक अथवा मनोवैज्ञानिक आदर्श"।
>
> (मूल्या०, ५०५)।

इस तरह के आदर्श साहित्य के भीतर आकर जब उस पर छाने लगते है या छा जाते हैं, तब किसी ऐसे वाद का जन्म होता है जिससे साहित्य का साहित्यपन नही रह जाता, वह वाद ही उस पर हावी हो जाता है। सहल का मत है कि किसी वाद का सहारा लेकर साहित्य-रचना मे प्रधानता वाद की हो जाती है, साहित्य की अपनी बात नही रहती। वे कहते हैं कि कोई वाद साहित्य के मूल्यांकन का प्रतिमान नही दे सकता (दे० वही, पृ० २-३)। किसी वाद-विशेष का हिन्दी के कथा-साहित्य मे जोरदार हो जाना हम लोग प्रायः देख पाते हैं। आजकल ज्यादातर अस्तित्ववाद का दौर चल रहा है। एक समय फ्रायड के कामविज्ञान और युंग, एडलर आदि के सिद्धान्तो का—अधिकतर फ्रायड के कामविज्ञान का—हिन्दी के कथासाहित्य पर हावी होना हम देख चुके हैं। हम यह भी देख चुके है

कि मार्क्सवाद एक युग में किस तरह हिन्दी की कविता और उसके कथासाहित्य पर छा गया था। इस प्रकार साहित्य में किसी वाद के प्रधान हो जाने से साहित्य का अपनापन नहीं रह जाता, साहित्य गौण बन जाता है, किसी वाद के प्रचार-प्रसार का एक औजार बन कर रह जाता है। मैं तो कहूँ कि जयशंकर 'प्रसाद' जैसे सजग कलाकार की 'कामायनी' के उत्तरार्द्ध में भी कश्मीरी शैववाद जोर से बोल रहा है। साहित्यकार अपनी रचना में जरूर कोई न कोई जीवन-दर्शन और समाज-दर्शन रखता है या रखने की कोशिश करता है। किसी साहित्यकार की रचना साहित्यकोटि की होती है और किसी की रचना में साहित्य गौण हो जाता है और कोई दर्शन या कोई वाद चिल्लाने लगता है, लगता है कि मंच से कोई उपदेश दिया जा रहा है। ऐसा क्यों होता है? इसका जवाब यह है कि किसी दर्शन, किसी वाद, किसी उपदेश की चिल्लाहट तब साहित्य में सुनाई पड़ती है जब दर्शन, वाद, उपदेश साहित्यकार के अपने जीवन का दर्शन, वाद, उपदेश बन कर, उसका अपना नहीं बन जाता, उसके जीवन में घुलमिल नहीं जाता। जब इनका घुलाव साहित्यकार के जीवन में हो जाता है, तब उसकी रचना में ये आकर साहित्य की रीति से प्रकाश पाते हैं। इस सवाल के बारे में सहल का जवाब भी इस विवेचना से भिन्न नहीं है :

> "वाद अथवा दार्शनिक विचार साहित्यकार के जीवन-दर्शन का अभिन्न अंग होकर ही साहित्य में स्थान पाने योग्य है, अन्यथा नहीं।...जीवन से सिद्धान्त उद्भूत हों, सिद्धान्तों से जीवन नहीं" (मूल्या०, पृ० ३-४)।

सब मिलाकर जो साहित्य हमारे सामने है, उसके दो भाग साफ-साफ हम देखते हैं। उसका एक भाग है—रचित साहित्य का और दूसरा भाग है आलोचित साहित्य का। मतलब, पहले साहित्य-सर्जना होती है और तब उस सिरजे साहित्य की समालोचना की जाती है। इस तरह रचना पहले होती है और आलोचना बाद में। कुम्भकार पहले घड़ा बनाता है, तब उसकी भलाई-बुराई की छानबीन करके लोग उसका संग्रहण करते हैं। रचना के साथ ही समालोचना की बात भी की जा रही है, इसलिए कि साहित्य के मूल्यांकन की बात आने पर सहल ने कहीं-कहीं दोनों को मिलाकर विचार किया है। जहाँ साहित्य-सर्जना पर और उसके महत्त्व पर सहल की दृष्टि है, वहाँ वे अतीत से या परम्परागत शास्त्रीय नियमों से साहित्य को तौलने-मापने के खिलाफ हैं। उनकी यह खिलाफत सही इसलिए मानी जानी चाहिए कि समय बदलता है, परिस्थिति बदलती है, बदली एक नई परिस्थिति में अपने हृदय-मन को घुला-मिला कर, साहित्यकार, अपनी सर्जना को प्राण और शरीर देता है—कथ्य लेता है और उस कथ्य को रूप देता है। अब, अगर ऐसे साहित्य का

मूल्यांकन करना हो तो परम्परागत शास्त्रीय नियमों से उसको परख कैसे की जा सकती है ? बदली परिस्थिति के साहित्यकार की साहित्य-सृष्टि के मूल्य को आंकने के लिए तो नया मान चाहिए, जो मान शायद ऐसा साहित्यकार, या ऐसे साहित्यकार की नई रचना ही देगी। सहल का यही पक्ष है :

> "....साहित्य का मूल्यांकन केवल परम्परागत शास्त्रीय नियमों के आधार पर नहीं किया जा सकता। साहित्य-सर्जना नियमों का परिणाम नहीं है, वस्तुत: साहित्यकार का कृतित्व ही नियमों को जन्म देता है, उसका समर्थ साहित्यिक व्यक्तित्व ही मूल्यांकन के नए मान भी निर्धारित कर जाता है" (वही, पृ० २)।

सहल के पक्ष का बड़ा अच्छा उदाहरण है-छायावाद-रहस्यवाद युग का प्रथम महाकाव्य 'कामायनी', जिसकी सही साहित्य-समीक्षा उसी से निकाले गए मान से करना आवश्यक हो जाता है, जिस मान की रचना में उक्त युग की गति-प्रकृति सहायक होगी। मगर, एक दूसरी जगह सहल अतीत को नकार जाना नहीं चाहते; यानें वे यह बात भी कहना चाहते हैं और वह बात भी, यानें वे अतीत के पक्ष में भी हैं और विपक्ष में भी। जहाँ वे अतीत के पक्ष की बात कहते हैं, वहाँ भी उनका तर्क हल्का नहीं है कि वर्तमान और भविष्य दोनों अतीत से जुड़े हैं, ऐसी हालत में अतीत को नकारा कैसे जाय ? किन्तु, उनका मत है कि अतीत के विवेकपूर्वक संग्रह और त्याग की वृत्ति को भी सजग रखना पड़ेगा, और तभी गतिशीलता की शर्त पूरी होगी और भविष्य की सम्भावना का प्रकाश भी तभी मिलेगा :

> "साहित्य के मूल्यांकन में परम्परा का क्या स्थान है, ' अतीत को अपने से सर्वथा विच्छिन्न करके हम वर्तमान में नहीं जीते। परम्परा का विवेकपूर्ण त्याग और ग्रहण ही हमें वर्तमान में गतिशील बनाता है, जिसके परिणामस्वरूप उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना प्रकट होने लगती है" (वही, पृ० ५)।

साहित्य का मूल्य आंकने के लिए सहल ने ऐसा ही मान ठीक किया है और इसी के सहारे, साहित्य की, विशेष रूप से काव्य की, समीक्षा की है। उन्होंने व्यावहारिक समीक्षा भी कम नहीं लिखी है। मगर, मुझे यहाँ मतलब है उनके द्वारा निर्धारित समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष से, जिस सैद्धान्तिक पक्ष को देखकर व साहित्य का मूल्य आंकने वाली, उनके द्वारा ठीक की गई उनकी समीक्षा—सैद्धान्तिक समीक्षा दृष्टि बहुत ही साधा वहन करना है। कहें कि साहित्य को देखने की उनकी ठीक नजर से हम वाकिफहाल हो गए।

साहित्य, कला, काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में सहल ने नाना जगहों पर तरह-तरह की विवेचना कर अपने निष्कर्ष कहे हैं। इन तीनो को हम एक साथ ही देख रहे हैं, क्योंकि इन्हे सहल ने और अन्य लोगों ने भी प्रायः समान मानकर देखा है। कविता भावमय, कविता अनुभूतिमय है। यह तो जानी बात है कि भाव और अनुभूति दो चीजें हैं। दोनो का एक दूसरे से सम्बन्ध जरूर है, यह इस प्रकार कि अनुभूति भाव की होती है। नाना तरह के भाव परिस्थिति के दबाव से हमारे हृदय मे उठते हैं। ऐसे उठे भावों का ठीक-ठीक बोध ही अनुभूति है। वस्तुतः अनुभूति बाद की उत्पत्ति है—भावों के उदय के बाद की उत्पत्ति। सहल द्वारा निर्धारित काव्य के दो स्वरूप हम यों पाते हैं :

> "काव्य है ही आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति" (विवे०, पृ० १७४)।
> "भावो का स्वतः निःसृत उद्‌गार ही तो सच्ची कविता है"
> (विम०, पृ० १७३)।

सहल का यहाँ कहना यही है कि जब कवि अपने हृदय के भाव बिना किसी श्रम के-यो ही-अभिव्यक्त कर पाता है, तब सच्ची कविता का स्वरूप सामने आता है; श्रम-जनित कविता को वे सही कविता नहीं कह सकते। वैसे, श्रम से रची गई कविता में कारीगरी मिल सकती है। कहने की जरूरत नहीं कि 'स्वत. नि:सृत उद्‌गार' तभी सम्भव है जब हृदय के अन्तरतम में कवि को उन भावो का घना बोध हो, जिन्हे वह उद्‌गीरित करना चाहता है। सहल काव्य को आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति मानते हैं। यदि मैंने प्रसग को ठीक समझा है तो यहाँ 'सकल्पात्मक' का तात्पर्य है 'समग्र'। आत्मा को अगर दर्शन के क्षेत्र मे न खीचा जाय तो कहे कि हृदय-मन-बुद्धि सब उसी से लगी है। ऐसी आत्मा द्वारा उपलब्ध समग्र अनुभूति की अभिव्यक्ति काव्य मे होती है। एक स्थान पर काव्य मे सौंदर्य का कारण बतलाते हुए काव्य का स्वरूप वे यो स्पष्ट करते है :

> "वस्तुतः भाव और अभिव्यक्ति दोनो का सम्मिलित चारुत्व ही काव्य-सौंदर्य का प्रमुख हेतु है" (आलो०, उपक्रम, पृ० ख)।

काव्य मे भाव-सौंदर्य का मतलब इसके अलावा और क्या हो सकता है कि उस (काव्य) में निहित भाव उदात्त हो और अपनी बारीकियों के साथ ठीक-ठीक आए हो ? काव्य मे अभिव्यक्ति के सौंदर्य का सम्बन्ध है काव्य-शिल्प से अर्थात् काव्य के भाव और भावों के संसर्ग मे आई वस्तुओ का ऐसा अंकन कि पाठक, श्रोता की मानसी आँखो के सामने उनका रूप आ जाय, मतलब 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' (रसगगाधर, प्रथमानन)। सहल कहेगे कि ये दोनो सौंदर्य जब मिलकर आएँ तो कहा जाय कि काव्य सुन्दर है।

काव्य-स्वरूप को स्थिर करते वक्त कल्पना को भी सहल ने ध्यान में रखा है। काव्य में कल्पना के लिए भी एक जगह है; मगर कल्पना के बारे में इतना विचार हुआ है कि ठीक एक बात उनके सम्बन्ध में वह डालना भीति का कारण हो सकता है। यहे, तो कहें कि कल्पना वह अनुमान है जिसके सहारे कवि नाना भावों के बोध को स्थिति में प्रतने को डाल लेता है, वर्णन करते वक्त वस्तुओं के रूप को हृदय की आँखों से देख लेता है। मगर, ऐसा और ऐसा ही और कुछ करते हुए, वह यथार्थ का पल्ला नहीं छोड़ता। जहाँ यथार्थ का पल्ला छोड़ देता है, वह कथन या वर्णन गिनवाड़ लगता है। बात यह है कि कल्पना का सम्बन्ध काव्य-शिल्प से है। इस प्रसंग में सहल कविता का स्वरूप यों मानते हैं

> "कल्पना के साहचर्य एवं सहयोग से कागज पर उतरा हुआ हृदय ही तो कविता है" (विवे०, पृ० ५५)।

पाठक और श्रोता के सवाल से भी कविता के स्वरूप के बारे में सहल ने विचार किया है :

> "जब तक किसी कविता से हमारी हृत्तन्त्री झंकृत न हो उठे, जब तक कवितागत भाव-व्यंजना के साथ-साथ हमारा हृदय भी सामान्य भाव-भूमि पर न आ जाय, तब तक, वास्तव में देखा जाय तो, कविता सरस नहीं कही जा सकती" (वही, पृ० ५४)।

इस स्वरूप में भी बात विशेष रूप से शिल्प की ही कही गई है, अर्थात् कहा गया है कि कवि भाव को इस कौशल से अभिव्यक्त करे कि पाठक और श्रोता का हृदय भी उसी भाव की स्थिति का बोध करे जिस भाव की स्थिति में अपने को डालकर कवि ने भाव को अभिव्यंजित किया है। यदि 'सामान्य भावभूमि' का तात्पर्य यही है तो हमने ठीक ही कहा है। और, यदि इसका तात्पर्य पाठक, श्रोता का सामान्य भाव-भूमि पर आना है तो सहल यहाँ 'साधारणीकरण' की, रस के दायरे की बात कहना चाहते हैं।

सहल काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति मानते हैं और हमने आत्मा को हृदय-मन-बुद्धि की समग्रता कहा है। भाव और उसकी अभिव्यक्ति की बात पर भी उन्होंने विचार किया है। संगीत-तत्त्व को भी काव्य से दूर नहीं रखा जा सकता। गीति-काव्य में सहल इन सब कुछ का समाहार पाना चाहते है :

> "भाषा और भाव का यदि सामंजस्य हो, हृदय और मस्तिष्क, दर्शन और काव्य यदि कंधे से कंधा मिलाकर चल सकते हो तो ऐसा गीति-

> काव्य अवश्य ही सफल कहा जायगा (पृ० ९४)। उपयुक्त शब्द-चयन, संगीतात्मकता और प्रवाह के कारण भी गीति-काव्य का सौंदर्य बहुत कुछ बढ़ जाता है" (आलो०, पृ० ९५ और दे० समीक्षां०, पृ० १०६)। कविता के बारे में भी यही समझिए (दे० समी०, पृ० १२०)।

साहित्य, काव्य, कला के मूल्य को दृष्टि में रख कर भी सहल ने विचार किया है। उनका मत है कि कला के दो मूल्य हैं। उसका एक मूल्य है कि उसमें शिल्प-सौंदर्य हो। इसे हम उसका बाह्य मूल्य कह सकते हैं। उसका अंतर्मूल्य उसे कह सकते हैं कि जिसमें लोक-कल्याण की उदात्त भावना हो। उनका कहना है कि इन दोनों मूल्यों के एकत्र समाहार से कला को अमरता मिलती है :

> "वस्तुतः कला के मूल्य दो तरह के होते हैं—(१) कलात्मक तथा (२) कलेतर। कलात्मक मूल्यों का सम्बन्ध शब्दार्थ तथा सुन्दर अभिव्यक्ति से होता है, जबकि कलेतर मूल्य लोक-संग्रह तथा लोक-कल्याण से संबद्ध होते हैं। कलात्मक मूल्य कला को सौंदर्य प्रदान करते हैं, जब कि कलेतर मूल्य कला की व्यापकता और उपयोगिता में योग देते हैं। उक्त दोनों प्रकार के मूल्य-समुच्चय से ही कला को अमरता प्राप्त होती है" (विम०, पृ० १२)।

इससे स्पष्ट है कि सहल के लिए एक ओर कला के बाह्य सौंदर्य का मूल्य है, तो दूसरी ओर उसके अंतः सौंदर्य का भी मूल्य है, उसका अंतः सौंदर्य है-उसकी उदात्तता भरी उपयोगिता। और, जब दोनों एकत्र मिलते हैं तब कला का अमर चेहरा सामने आता है।

साहित्य, काव्य, कला के स्वरूप को देखने के बाद बात यह भी सामने आती है कि ये सब रचे कैसे जाते हैं, ये अस्तित्व में आते कैसे हैं; अर्थात् साहित्य की रचना-प्रक्रिया क्या है ? साहित्यकार कैसे, क्या-क्या करके बहुत से तत्वों को एक साथ मिलाता है और तब साहित्य अपने अस्तित्व का रूप लेता है। जो सहल मानते हैं, उसे हम भी स्वीकार करते हैं कि साहित्य-रचना बाहर से भीतर और भीतर से बाहर की प्रक्रिया है :

> "बाह्य जगत् में जो कुछ सुन्दर है, कवि उसे अपने अंतर्जगत् में बसा लेना चाहता है, किन्तु साथ ही साथ उसके अंतर्जगत् में जो कुछ है, उसे वह बहिर्जगत् को दे देना चाहता है। बाहर को अन्दर करना और अन्दर को बाहर करना—वास्तव में कला का मूल तो इसी सूत्र में निहित है" (समी०, पृ० १२७)।

में समझता हूँ, यहाँ सहल का 'सुन्दर' मात्र 'अच्छा' के व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है। इसे हम और अर्थ दे दें, यदि सुन्दर के साथ शिव और सत्य भी मिला दें। कवि अपनी दृष्टि से बाहर जिसे सत्य, शिव, सुन्दर समझता है, उसे अपने भीतर ले जाता है, जिन्हें वह साहित्य-रचना के सामान्य उपकरण के रूप में व्यवहार करता है। उसके भीतर भी बहुत-सी चीजें हैं, जिन्हें वह इनके साथ मिलाता है। कल्पना, भाव-विचार, भाषा, अभिव्यक्ति आदि की तरह-तरह की शक्तियाँ उसके भीतर हैं। संक्षेप में कहें, तो कहें कि 'रचना की शक्ति' है, जिसे मैं दैवी ही मानता हूँ; क्योंकि दुनिया में अधिक लोगों को साहित्यकार होते नहीं देखा जाता। इसी शक्ति से बाहर-भीतर की सभी चीजों को संयम के साथ ठीक-ठीक मिकदार में मिलाकर साहित्य के रूप में वह बाहर करता है, अभिव्यक्त करता है।

एक प्रसंग में सहल ने साहित्य, काव्य, कला के भीतर जीवन की अनुकृति की बात भी उठाई है। वे कहते हैं :

> "जीवन की यथार्थ अनुकृति कला में सम्भव नहीं है। 'जीवन की अनुकृति का व्यापक अर्थ यही है कि जो वस्तु काव्य में गृहीत होगी, वह जीवन के बाहर की नहीं होगी" (वही, पृ० १०)।

यह विचार इसलिए सही है कि साहित्य में जीवन जरूर है, मगर वह जीवन की अनुकृति नहीं है। अगर अनुकृति है तो वह फोटोग्राफी है और फोटोग्राफी है, तो कला नहीं है। कला चित्र है और साहित्य भी चित्र है। अगर साहित्य चित्र है तो उसमें यथार्थ जीवन के आधार पर कल्पना भी है, जीवन के भाव-विचार के आधार पर बने साहित्यकार के अपने भाव-विचार भी हैं, जीवन से मिली वाणी और अभिव्यक्ति के आधार पर बनी साहित्यकार की अपनी वाणी और अपनी अभिव्यक्ति भी है। साहित्य जीवन से लिए गए कच्चे माल से रची गई, कला की एक उत्कृष्ट चीज है।

हम लोग साहित्य-रचना की प्रक्रिया के प्रसंग में हैं और यह रचना भी संयम के दौर में पूरी होती है, साहित्य-रचना भी एक साधना है। साहित्य-रचना के जितने उपकरण साहित्यकार के हाथों में हैं और इन उपकरणों को अपने भीतर संजोकर इन्हें बाहर करने—प्रकाश देने—की जितनी शक्ति उसमें है, साहित्य इस शक्ति की साधना है। *सहल भी साहित्य को कुछ ऐसी ही साधना मानते हैं।* वे यह भी मानते हैं कि साहित्य-रचना हृदय की योग-दशा है। योग-दशा के माने यह कि यह तल्लीनता की दशा है। 'तत्' है साहित्य रचना के सारे उपकरण और इन्हीं सबके लीनता का स्थिति है मेल-योग की दशा। साहित्य-रचना इसी दशा का फल है। सहल की बातें यों हैं :

"साधनाजन्य ऐसे आवेश के क्षणों में चिरंतन साहित्य की सृष्टि होती है" (समी०, पृ० ६६)।

"कवि भी जब हृदय की योग-दशा में पहुँचता है, तभी वह सुन्दर काव्य की सृष्टि कर पाता है। इस प्रकार भाव-योग ही कवि का 'स्वास्थ्य' कहा जा सकता है"। (वही, पृ० ११६)।

साहित्य-रचना का 'आवेश का क्षण' वह कहा जा सकता है, जिसमें साहित्यकार रचना के लिए संजोए समस्त सभार को साहित्य का रूप देने के लिए हृदय-मन-बुद्धि की एकाकारिता की स्थिति में स्फूर्ति का तीव्र बोध करता है।

फ्रायड के स्वप्न-सिद्धान्त की गवाही पर भी सहल ने साहित्य-रचना की प्रक्रिया की ओर देखा है। इस सिद्धान्त के आधार पर कहा गया है कि जैसे अतृप्त आकांक्षाएँ स्वप्न में रूप धर कर आती हैं, वैसे ही साहित्यकार की अतृप्त कामनाएँ उसके साहित्य में भी अपना रूप-ग्रहण करती हैं और उनका ऐसा रूप-ग्रहण साहित्यकार के लिए अतीव आनन्द का विषय होता है (समीक्षा, पृ० १-३)।

साहित्यकार की तटस्थता की बात कही जाती है, जिसका मतलब है कि वह जीवन और समाज के तथ्य और सत्य को तटस्थ भाव से देखता है; वह किसी वस्तु, भाव आदि में गर्क नहीं हो जाता; किसी घटना, किसी पात्र से अपने को चस्पा नहीं कर लेता। यदि ऐसा करता है तो उसका कुफल साहित्य में अपनी छाया दिखलाता है :

"नाटक के किसी एक पात्र अथवा प्रत्येक पात्र के साथ यदि नाट्यकार अपना तादात्म्य स्थापित कर ले और दूसरे पात्रों को यदि वह अपने हृदय की सहानुभूति न दे तो यह नाट्यकार की दुर्बलता ही समझिए। नाट्यकार में जिस अनासक्त दृष्टि की आवश्यकता होती है, उसका अभाव होने पर प्रचारात्मकता, उपदेशात्मकता, दार्शनिकता, सिद्धान्त-प्रियता, आदि के समावेश से नाटकीय रचना-तंत्र त्रुटिपूर्ण हो उठता है" (मूल्या०, पृ० २२)।

इसे रचनाकार की वस्तुगत तटस्थता कहें। रचनाकार की एक भावगत तटस्थता भी हो सकती है—जब वह रचना करने बैठता है। भावगत तटस्थता से हमारा मतलब है कि रचना करने की स्थिति में भी रचनाकार का भावाधार हृदय अपने में रहता है, अपने शुद्ध रूप में रहता है, अपने पवित्र रूप में रहता है। तभी तो जिन-जिन भावों को व्यक्त करने की आवश्यकता होती है, यहाँ तक कि यदि

विरोधी भावों को भी व्यक्त करने की जरूरत होती है, प्रेम-भाव के साथ ही जुगुप्सा-भाव का भी व्यक्त करना होता है, तो क्षणों के समान दौरान में रचनाकार व्यक्त कर पाता है। रचनाकार में भावगत तटस्थता न होने पर ऐसा करना मुमकिन नहीं है। सहल इस चीज को यों कहेंगे :

> "काव्य-सृष्टि के उदात्त क्षणों में कवि राग-द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठा रहता है" (विम०, पृ० २)।

अन्य 'आलोचना के पथ पर' ग्रंथ में सहल ने माना है कि सभी साहित्यालंकार मनःशास्त्र के आधार पर बने हैं और इस आधार पर इनका विवेचन भी सम्भव है। (पृ० १५) स्वभावोक्ति अलंकार पर भी काफी दूर तक इन्होंने विचार किया है। वे इसके पक्ष-विपक्ष दोनों के मतों को सामने रखते हैं और लगता है कि इसके बारे में बातें करते वक्त वामन के 'सौंदर्यमलंकारः' की ओर झुके हैं। वे साहित्यकार के 'निरीक्षण और अभिव्यक्ति' की ताकत का उल्लेख भी स्वभावोक्ति को अलंकार मानने के पक्ष में करते हैं। अन्त में इन्होंने यह भी कहा है कि विषय विवादास्पद है, विवेच्य है। और, इसे अलंकार मानने, न मानने का सवाल बड़ा पुराना है। स्वभावोक्ति को अलंकार मान लेना श्रोता, पाठक के स्वभाव, अभ्यास पर आश्रित है। वस्तुस्थिति यह है कि जहाँ लोग स्वभावोक्ति अलंकार मानते हैं, वहाँ साधारणतः अत्यधिक लोग यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण समझते हैं, जो रस-बोध का भी एक साधन माना जा सकता है।

'निबन्ध' शब्द की व्युत्पत्ति और असल निबन्ध की गति-प्रकृति दोनों को सामने रखकर सहल ने विचार किया है। वे निबन्ध की गति-प्रकृति को मद्दे नजर रखकर उसका रूप खड़ा करना अच्छा समझते हैं। वे यह मानते हैं कि यदि निबन्ध की गति-प्रकृति को सामने रखा जाय तो :

> "निबन्ध और निर्बन्ध दोनों प्रकार की रचनाओं का समाहार 'निबन्ध' के अन्तर्गत हो सकेगा। किन्तु मेरी दृष्टि में व्युत्पत्तिनिमित्त की अपेक्षा प्रवृत्तिनिमित्त को ही विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिए"।
>
> (मूल्यां०, पृ० ११३)।

और, सब कुछ पर विचार कर, सहल निबन्ध का समग्र रूप यों निर्धारित करते हैं :

> "निबन्ध सरस शैली में अभिव्यक्त किया हुआ लेखक का निजी दृष्टिकोण है जिसमें आकार-लघुता के साथ-साथ गद्य की कलात्मकता के भी दर्शन होते हैं"। (वही, पृ० ११४)।

इसी प्रसंग में शैली की बात भी देखी जा सकती है। शैली है—कहने का ढंग, यहाँ मतलब है—रचनाकार के कहने का ढंग, और यह एकदम सही है कि आदमी का अपना-अपना कहने का ढंग होता है, वह चाहे आला हो चाहे अदना। मगर, आला आदमी के कहने का अपना एक विशेष ढंग होता है और किसी रचनाकार को आला आदमी कैसे न कहा जाय ? वैसे प्रत्येक रचनाकार के कहने में अपनापन होता है, किन्तु शैलीकार के नाम से वे ही रचनाकार विख्यात हुए देखे जाते हैं जो रचनाकार भी हैं और चिन्तक भी; उनकी चिन्तना साहित्य, समाज, जीवन में से एक क्षेत्र की अथवा इन समस्त क्षेत्रों की भी हो सकती है। यदि कोई चिन्तक है तो उसकी अपनी दृष्टि भी है, अपनी दृष्टि से मिला उसका अपना अनुभव, बोध, ज्ञान भी है। इन सब तत्त्वों से समृद्ध चिन्तक रचनाकार अपना अन्तर जब भाषा के जरिए व्यक्त करता है, तब उसके व्यक्तीकरण में एक अपनापन, उसका अपना व्यक्तित्व, वह अपने बाहर-भीतर से जो कुछ है वह सब उसकी रचना में प्रकाश देने लगता है। ऐसा होने से उसकी भाषा और अभिव्यक्ति की समग्रता में भी एक नयापन, अनोखापन झलमलाता है। इन सब बातों को सहल यों कहना चाहेंगे :

> "शैली में प्रभविष्णुता और सजीवता इसी आत्म-तत्त्व के कारण आती है। और यह आत्म-तत्त्व स्वानुभूति के बिना नहीं आ पाता। जहाँ स्वानुभूति है, वहाँ भव्य शब्द-विन्यास भी अपने आप चला आता है"।
> (समी०, पृ० १२४)

शुरू में ही हमने निवेदन किया है कि सहल ने नाना शास्त्रों की परीक्षा-निरीक्षा की है, इसलिए उन्होंने साहित्य-शास्त्र को भी अच्छी तरह परखा है। इस शास्त्र का परम साध्य है—रस की गहरी छानबीन। सहल ने अपने ग्रंथों के कई लेखों में रस के सम्बन्ध में विचार किया है और कुछ अपनी बातें भी कही हैं। व्यावहारिक जीवन में सुख-दुःखात्मक भावों का बोध जिस प्रकार हम सुख-दुःख के रूप में करते हैं, उसी प्रकार रस-रूप में इनकी परिणति होने पर भी ये सुख-दुःख के रूप में ही बोध में आते हैं। ऐसा एक अति नवीन मत रामचन्द्र शुक्ल ने कायम किया है। सहल सभी तरह के भावों की रस-रूप में परिणति को आनन्दमय मानते हैं, जैसा कि पुरातन आचार्यों ने माना है। रस-दशा को जब आनन्द की दशा कहा गया, तब यह माना गया कि सुख और दुःख सापेक्षिक सत्य हैं; मतलब सुख है, तो दुःख का आना अनिवार्य है और दुःख है, तो सुख का आना भी अनिवार्य है। आनन्द निरपेक्ष सत्य है, उसमें सुख-दुःख का आवागमन नहीं रहता। ब्रह्म और उसके बोध को भी आनन्दमय या आनन्दस्वरूप कहा गया है। प्रत्येक साहित्याचार्य

दार्शनिक भी थे, इसलिए सब ने कहा है कि रस 'ब्रह्मानन्दसहोदर' है। लगता है कि ब्रह्म और उससे उत्पन्न आनन्द की ऊँचाई उनकी नजर में अमेय थी; इन दोनों तत्वों को वे किसी के बराबर नहीं रखना चाहते थे, इसीलिए रसोपलब्ध आनन्द को उन्होंने 'ब्रह्मानन्द' नहीं कहा, उस आनन्द का सहोदर कहा। उनके कहने का मतलब यदि यही था, जैसा कि कहा जा रहा है, तो यहाँ सहोदर का अर्थ 'छोटा भाई' भी कर सकते हैं।

एक जगह कहा है कि रस-दशा को समझने के परिप्रेक्षण में सांख्य दर्शन का सहारा लिया जा सकता है। इस सहारे को उन्होंने साफ नहीं किया है। लगता है, इस सहारे से उनका मतलब पुरुष की 'तटस्थता, कूटस्थता' से है, उसकी सुख-दुःख की परता से, उसकी मात्र आनन्द में निमग्नता से है.

> "रसदशा तन्मयता की सात्त्विक अवस्था है जिसके विशेष स्पष्टीकरण के लिए सांख्य दर्शन का आश्रय ग्रहण करना होगा। रस की दशा तन्मयता का वह पारावार है जिसमें न जाने कितने सत्-असत्, सुख तथा दुःख डूबे रहते हैं" (विवे०, पृ० १३१)।

दुःखात्मक भावों का बोध भी रस की परिपक्वावस्था में आनन्दात्मक ही क्यों होता है ? इसका जवाब सहल ने अपने ढंग से देते हुए कहा है कि इसका कारण है—साहित्यकार अपने कर्म के कौशल द्वारा साहित्य के माध्यम से भावों को ऐसे पके-पकाए रूप में श्रोता, पाठक, दर्शक को देता है कि उस (साहित्य) से उस (श्रोता, पाठक, दर्शक) का आत्म-प्रसार होता है, उसकी आत्मा सुख-दुःख से बँधी नहीं रह पाती, वह व्यापक होकर मात्र आनन्द का बोध करती है। सहल शायद कहेंगे कि रस दशा आत्म-दर्शन है और आत्मा सुख-दुःख के बन्धन से परे रहे, तो वह आनन्दमय ही है—ब्रह्म की भाँति :

> "दुःखात्मक नाटकों में करुणा का भाव जागृत होने से आत्म-प्रसार का अवसर मिल जाता है और आत्म-प्रसार ही आनन्द का मूल कारण है...."(पृ० ४५)। वास्तव में सभी रस सुखात्मक हैं और इसका मूल कारण है भावमग्नता" (आलो०, पृ० ४७)।

इस आत्म-विस्तार में मानव के महत्त्व की तीव्र अनुभूति को वे सहायक मानते हैं :

> "त्रासदी में सहानुभूति के कारण आत्म-विस्तार होता है, नाटक के औदार्यपूर्ण शील से मानव के महत्त्व की तीव्रानुभूति होती है, जिसके

कारण हमे संतोष अथवा सुख की प्रतीति हुए बिना नही रहती"। (विम०, पृ० २०१)।

इस प्रसग मे 'सहानुभूति' और 'तीव्रानुभूति' की बात सहल सोचते हैं। मैकबेथ अपनी एक महत्त्वाकाक्षा पूरी करने के लिए सब कुछ करता है और हत्या का काम भी नही छोडता। वह सभी साहसिक काम करता है, कर सकता है। उसके ऐसे साहस के कामो मे उदात्त शील का बोध समझना साहस ही है। अलौकिक तत्त्वों को लेकर सब मौको पर उसने भूल समझा-समझा कर जो मृत्युमय खेल खेला है, उससे उसके प्रति सहानुभूति नही, उस पर मात्र दया आती है। सहल त्रासदी से अहं के विगलन द्वारा अपने को पा लेने मे भी आनन्द का बोध महत्त्व मानते है :

> "जहाँ तक मैं समझता हूँ, ट्रेजेडी मे आनन्द का मूल कारण है 'अहं का विगलन'। यह विगलन (वही पृ० १६) जितना ट्रेजेडी द्वारा सम्भव है, उतना साहित्य की अन्य किसी विधा द्वारा सम्भव नहीं (पृ० १७)।""दु.ख की लोकानुभूति कराए बिना ट्रेजेडी हमे दुःख से उत्पन्न होने वाला लाभ पहुँचा देती है और वह है 'अहं के विगलन' द्वारा आत्मोपलब्धि की झलक (पृ० १७),""जिससे आनन्द प्रादुर्भूत होता है (पृ० १८)।""अहं के विगलन मे मनुष्य को आत्म-स्वरूप और स्वभाव अथवा आत्म-भाव की उपलब्धि होती है।""किसी उसका खोया हुआ स्वरूप मिल जाए तो निश्चय ही उसे अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होगी"। (वही, पृ० १८)।

आनन्दमय रस की परिपक्वता किन स्थितियों को पार होने के बाद आती है, रस आनन्दमय रूप किस प्रक्रिया से ग्रहण करता है, इसके बारे में सहल ने विचार किया है। वे इस प्रक्रिया की तीन स्थितियाँ बतलाते हैं—विषय, विषयवस्तु को रसास्वाद्य बनाने में कवि-कर्म और तीसरी स्थिति है इन दोनों के सहयोग से रस-व्यंजना। उनका मतलब है किसी वस्तु को लेना, उसे काव्य का रूप देना और इस प्रकार ऐसे काव्य-रूप से रस का व्यंजित होना; रस-प्रक्रिया का यह साधारण खुलासा कह सकते हैं :

> "यदि विचार कर देखा जाए तो रस-प्रक्रिया की तीन स्थितियाँ हमारे सामने स्पष्ट हैं। पहली स्थिति अभिधा अथवा वर्ण्य-विषय से सम्बन्धित है, किन्तु निरी अभिधेय वस्तु काव्य का रूप धारण नहीं कर सकती। अभिधेय को आस्वाद्य बनाने के लिए कवि अथवा नाट्यकार को रस

प्रक्रिया की दूसरी स्थिति अर्थात् कल्पना का सहारा लेना पड़ता है, जिसके द्वारा रस अभिव्यक्त अथवा व्यंजित होता है।—व्यंजना को तीसरी स्थिति समझिए" । (वही, पृ० ३) ।

महल के साहित्य-सिद्धान्तों को इस तरह हमने देखा है। देखते वक्त बराबर कोशिश में रहा कि कहीं उनको गलत न समझा जाय। इस विचार के आधार पर देखा जा सकता है कि महल ने साहित्य के, ज्यादातर काव्य के, नाना क्षेत्रों में झाँका है और उसके चरम साध्य रस पर बड़े मन से विवेचन किया है। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने जो कुछ कहा, उस पर काफी दूर तक मनन किया और तब उसे सामने रखा है। बड़ी बात यह है कि उनकी बात, उनके मत में कहीं उलझाव नहीं है।

संदर्भित ग्रंथ :

(क) आलो०=आलोचना के पथ पर, भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली, सन् १९५९ ई०।

(ख) मूल्यां०=मूल्यांकन, राजस्थान पुस्तक मंदिर, जयपुर, सन् १९६३ ई०।

(ग) विम०=विमर्श और व्युत्पत्ति, चिन्मय प्रकाशन, जयपुर, सन् १९६६ ई०।

(घ) विवे०=विवेचन, साहनी प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९५३ ई०।

(ङ) समी०=समीक्षायण, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, सन् १९५० ई०।

(च) समीक्षा०=समीक्षांजलि, रमेश बुक डिपो, जयपुर, सन् १९५५ ई०।

•••

ने किया है। आचार्य शुक्ल की इस परम्परा को अग्रसर करने वालों में स्व. बाबू गुलाबराय और डॉ० नगेन्द्र के नाम उल्लेखनीय हैं। बाबू गुलाबराय जहाँ पौरस्त्य एवं पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों के समन्वय के लिए उनके मूल में व्याप्त समान तत्वों की खोज और समर्थन के लिए प्रयत्नशील रहे, वहाँ डॉ० नगेन्द्र उनसे बढ़कर 'रस-सिद्धान्त' को सार्वभौम आलोचना-प्रणाली का आधार सिद्ध करने में सफल हुए। आज इसी को ओर सब का लक्ष्य है और यह उचित है।

आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय और डॉ० नगेन्द्र के मार्ग पर चलने वाले अन्य कितने ही आलोचक हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र में सजग रहे हैं और उनका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किन्तु ऐसे आलोचकों की ओर अभी तक अध्येताओं का ध्यान नहीं गया है। इसका एक कारण तो हिन्दी-जगत् की धाराधारी है और दूसरा कारण उन आलोचकों की अपने मौन भाव से साधना-रत रहने की प्रवृत्ति है। डॉ० कन्हैयालाल सहल इसी प्रकार के व्यक्तित्व वाले आलोचक हैं। हिन्दी-जगत् की हल-चल-भरी सीमाओं वाले क्षेत्र से अलग, राजस्थान के एक विद्या-क्षेत्र में बैठे वे तिन वर्षों से रहे हैं जब से कि बाबू गुलाबराय ने 'साहित्य-संदेश' का सम्पादन-भार सम्हाल कर हिन्दी में समन्वयवादी आलोचक के रूप में ख्याति अर्जित करना प्रारम्भ किया और जब से उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से डॉ० नगेन्द्र ने आचार्य शुक्ल द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण जैसे विषयों पर मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रकाश में नये विचारों को व्यक्त करना प्रारम्भ किया था। डॉ० नगेन्द्र की भाँति उनके लेख भी 'साहित्य-संदेश' में प्रकाशित होते थे और उन पर बाबू गुलाबराय की टिप्पणियाँ भी रहती थीं। अन्तर इतना ही है कि जहाँ डॉ० नगेन्द्र में पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र की गहरी पकड़ थी, वहाँ डॉ० सहल भारतीय काव्य-शास्त्र के गम्भीर अनुशीलन का परिचय देते थे। उस समय तक डॉ० नगेन्द्र संस्कृत काव्य-शास्त्र पर वह अधिकार प्राप्त नहीं कर पाए थे जो आगे चलकर उन्होंने किया और जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने कभी के मनोविश्लेषणवादी आलोचक के स्थान पर आज के रसवादी आलोचक के रूप में अखिल भारतीय ख्याति प्राप्त की। डॉ० नगेन्द्र अपनी कर्मठता और गम्भीर अध्ययन के बल पर आचार्य शुक्ल के बाद हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक के रूप में स्वीकृत हुए, जबकि डॉ० सहल की शक्तियाँ एक ओर स्फुट आलोचनाओं में व्यय हुईं तो दूसरी ओर राजस्थानी साहित्य के उत्थान में भी उनका पर्याप्त समय गया। परिणामस्वरूप आलोचना के क्षेत्र में जो काम करना चाहिए था, वह वे नहीं कर सके। यही नहीं, उन्होंने जो कुछ महत्त्वपूर्ण लिखा भी, उसका भी यथोचित मूल्यांकन नहीं हो सका। इसे विधि की विडम्बना ही कहा जा सकता है। हमारा ऐसा विश्वास है कि यदि डॉ० सहल एक निश्चित दिशा लेकर आलोचना-क्षेत्र में आगे बढ़े होते तो आज हिन्दी को एक युग-निर्माता आलोचक को प्राप्त कर और भी

अधिक प्रसन्नता होती। यहाँ यह कह देना उचित ही होगा कि डॉ० सहल की आलोचनात्मक पुस्तकों में संगृहीत विभिन्न विषयों, कलाकारों और कृतियों पर लिखे निबन्धों को पढ़कर ही हमारी उक्त धारणा बनी है। सम्भव है, कुछ लोग इससे सहमत न हों। लेकिन बार-बार उनके निबन्धों को पढ़ने पर जो धारणा बनी है, उसे व्यक्त न करना भी अनुचित है। अस्तु।

डॉ० कन्हैयालाल सहल की आलोचना-प्रणाली की पहली विशेषता, जो हमारा ध्यान आकर्षित करती है, उनका गहन अध्ययन और तलस्पर्शी विवेचन है। वे चाहे रस-सिद्धान्त और उससे सम्बद्ध किसी विषय का विवेचन करें अथवा किसी काव्य, नाटक और उपन्यास का विश्लेषण करें, विवेच्य विषय से सम्बन्धित भारतीय और यूरोपीय काव्य-शास्त्र का पूरा-पूरा उपयोग करते हैं। दर्शन-शास्त्र, काव्य-ग्रन्थ एवं काव्य-शास्त्र तीनों को एक साथ आलोचना का आधार बनाकर चलने के कारण उनकी आलोचना-प्रणाली अपनी अलग विशेषता रखती है। स्वर्गीय आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने उनकी आलोचनात्मक कृति 'आलोचना के पथ पर' की भूमिका में जो कुछ लिखा था, वह आज तक की उनकी लिखी समस्त आलोचनात्मक कृतियों पर लागू होता है। हाँ, मात्र इतना ही और जोड़ा जा सकता है कि ज्यों-ज्यों वे प्रौढ़ होते गये हैं, उनके विचारों में स्पष्टता और शैली में स्वच्छता आती चली गयी है। आचार्य वाजपेयी ने लिखा था, "समीक्षा-कार्य करते-करते साहित्य के जिन तात्त्विक प्रश्नों और समस्याओं पर सहलजी की दृष्टि गयी है, उनकी अत्यत सरल और सुस्पष्ट व्याख्या इन निबंधों में की गई है। कहीं किसी साहित्यिक समस्या के उपस्थित होने पर यदि तद्विषयक कोई प्राचीन उल्लेख, निर्णय या सिद्धान्त सहलजी के सम्मुख आ गया है तो उसे भी उन्होंने 'आलोचना के पथ पर' में उपयोग में लिया है। भारतीय और विदेशी दोनों ही शास्त्रीय मतों को उन्होंने अपनाया है और हम देखते हैं कि आधुनिक हिन्दी-काव्य की समीक्षा-भूमि पर उक्त दोनों मतों का अनायास समन्वय किया है।········· इस प्रकार सहलजी ने साहित्यिक धरातल पर पूर्व और पश्चिम के विचार-समन्वय के उस प्रयत्न में अपना योग दिया है, जो आज भी एक साहित्यिक आवश्यकता है।"

लेकिन पूर्व और पश्चिम के विचार-समन्वय को वे आँख मूँद कर अपनी आलोचना का आधार बनाते हों, ऐसा नहीं है। उसकी परीक्षा वे दर्शन और काव्य-शास्त्र, दोनों के आधार पर करते हैं और अन्त में अपना स्वतंत्र अभिमत भी देते हैं। वह स्वतंत्र अभिमत निश्चय ही भारतीयता की ओर झुका रहता है और यह स्वाभाविक है। उनकी आलोचना-प्रणाली की इस विशेषता का बहुत अच्छा परिचय उनके उन लेखों में मिलता है जिनमें उन्होंने प्रसाद के नाटकों में उपलब्ध नियतिवाद का विश्लेषण किया है। इस प्रसंग में उन्होंने भारत और यूरोप, दोनों ही की दृष्टि से

नियतिवाद का निरूपण किया है। भारत के दृष्टिकोण को महाभारत, गीता और अरविन्द के 'दिव्य-जीवन' ने उदाहरण देकर उपस्थित किया है तो यूरोप के दृष्टिकोण को ग्रीक-नाटकों, इस्लाम के 'किस्मत'-विषयक विचारों, ईसाइयों के सेंट आगस्टाइन के पूर्वनिर्दिष्टवाद, यहूदियों की स्वतंत्र इच्छा-शक्ति आदि के द्वारा दिग्दर्शित किया है। इन सबके उदाहरण देकर प्रसाद के 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में अभिव्यक्त नियतिवादी विचारों की व्याख्या की है। निष्कर्ष यह निकला है- -"प्रसाद ने जिस नियति का चित्रण किया है, उसे क्रूर कहीं नहीं दिखाया है। ग्रीस में दुखान्त नाटक लिखे गये। उनमें नियति की क्रूरता का चित्रण हुआ है किन्तु प्रसाद की नियति शान्तिमयी और रहस्यमयी है।" इसके साथ ही उसे कर्मवाद और भाग्यवाद के सदर्भ में भी देखा है और वेदों में जो 'ऋत' की कल्पना की गई है, उसे नियतिवादी विचारधारा का आदि-स्रोत माना है। अपने इस विवेचन में डॉ० महल ने समस्त भारतीय एवं यूरोपीय चिन्तन का सार सन्निविष्ट रूप में रख दिया है, फिर भले हो वह दार्शनिक ग्रंथों में वर्णित हो अथवा काव्य-ग्रंथों में। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय पर लिखने से पूर्व उन्होंने देश-विदेश का कोई दार्शनिक अथवा महाकवि पढ़े बिना नहीं छोड़ा। इस कारण प्रसाद का नियतिवाद अपने यथार्थ रूप में स्पष्ट झलक उठा है। तथ्य को गहराई में पकड़ने की यह प्रवृत्ति उनकी आलोचना-प्रणाली को ऐसी विशिष्टता है कि वे सबसे अलग खड़े दिखाई देते हैं। एक बात और—अपने अभीष्ट विषय के विवेचन के साथ विचारोत्तेजक सूत्र भी देते चलते हैं। प्रसाद के नियतिवाद के विवेचन में ही 'अजातशत्रु' के नियतिवाद का विवेचन करने के पश्चात् वे कहते है—"प्रसाद के नियतिवाद का अभी पूर्ण अध्ययन नहीं हुआ है। आवश्यकता इस बात की है कि उनके ग्रंथों के आधार पर नियतिवाद की विद्वानों द्वारा सम्यक् विवेचना हो, जिससे रहस्यमयी नियति का आवरण कुछ दूर किया जा सके।" "ये सूत्र एक ओर उनकी विनम्रता के सूचक हैं तो दूसरी ओर शोधार्थियों को नई दिशा में कार्य करने की प्रेरणा भी देते है।

डॉ० महल की आलोचना-प्रणाली की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता व्याख्या-परक शैली है। हो सकता है कि एक कर्तव्य-परायण अध्यापक के नाते उन्हें अपने विद्यार्थियों की शंकाओं के समाधान एवं विषय की वास्तविक जानकारी देने के लिए ऐसा करना पड़ा हो। यह स्वाभाविक भी है। उनकी आलोचना का अधिकांश कृतियों अथवा विवादास्पद साहित्यिक विषयों की व्याख्या से परिपूर्ण है। साकेत के नवम सर्ग का काव्य-सौन्दर्य जिस लघु पुस्तिका में उद्घाटित हुआ है, वही इसका उदाहरण नहीं है प्रत्युत 'कामायनी' के 'काम' अथवा 'लज्जा' सर्ग की व्याख्या, 'साकेत' के सर्गों का अनुक्रम, 'गबन की औत्सुक्य योजना' आदि उनके ऐसे लेख हैं जिनमें उनकी

व्याख्यापरक शैली का स्वरूप निखरे रूप में हमारे समक्ष आता है। इन लेखों में डॉ० सहल इतने सहज भाव से विषय को स्पष्ट करते चलते हैं कि उनकी तीक्ष्ण दृष्टि और गहन अध्यापन के प्रति आश्चर्य-मिश्रित श्रद्धा का भाव जाग्रत होता है। इसमें अनेक नूतन उद्‌भावनाएँ हैं जिनका समर्थन पुरातन तथा नूतन काव्य-दृष्टि के आधार पर ही उन्होंने नहीं किया, समस्त देशी-विदेशी वाङ्‌मय के ग्रंथ-रत्नों की साक्षी भी उन्होंने दी है। काव्य-सृजन की प्रक्रिया और विषय-वस्तु के मूल स्रोतों की सर्वांगीण जानकारी के कारण ही यह सम्भव हुआ है।

जहाँ तक विवादास्पद साहित्यिक प्रश्नों का सम्बन्ध है, वे उपलब्ध सामग्री और विद्वानों के अभिमतों को पूर्व पक्ष के रूप में रखकर उत्तर पक्ष के रूप में अपना विवेचन प्रस्तुत करते हैं। यहाँ उनकी दृष्टि सारग्राहिणी रहती है। जटिल से जटिल विषय पर विद्वानों द्वारा व्यक्त विचारों का सार प्रस्तुत कर वे अपने विवेचन अथवा नूतन उद्‌भावना को विनम्रता से रख देते हैं, जिसमें कहीं पांडित्य का गर्व प्रदर्शित नहीं होने पाता। इसका बहुत अच्छा उदाहरण 'नाट्‌यदर्पणकार का रस विवेचन' शीर्षक लेख है। इस लेख में करुण रस के विषय में चर्चा की गयी है। प्रश्न यह है कि करुणरस-पूर्ण नाटकों अथवा काव्यों से दर्शक या पाठक को दुःख होता है या सुख? साहित्य के सामान्य विद्यार्थी तक यह जानते हैं कि इस प्रश्न पर संस्कृत के महान् आचार्यों के विचारों पर प्रश्न चिन्ह लगाने वाले आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र हैं, जिन्होंने अपने नाट्‌यदर्पण में शृंगार, हास्य, वीर, अद्‌भुत और शान्त को सुखात्मक तथा करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक को दुःखात्मक दो श्रेणियों में रखकर आश्चर्य-चकित कर दिया है। डॉ० सहल ने इस विषय पर विचार करते हुए नाट्‌य-दर्पण-कार के विवेचन का सार प्रस्तुत करके जो अपना मत दिया है, वह दो तथ्यों की ओर संकेत करता है। एक तो यह कि नाट्‌य-दर्पणकार ने शोक और करुणा, दोनों को एक मान लिया है और दूसरे दुःखात्मक नाटक अथवा काव्य के देखने अथवा पढ़ने में जो आनन्द आता है, वह भावमग्नता के कारण आता है। पहले तथ्य को स्पष्ट करते हुए जहाँ उन्होंने यह लिखा है कि दूसरे के दुःख को देखकर करुणा का भाव जाग्रत होता है और अपने दुःख को देखकर शोक का, वहाँ यह भी लिखा है कि करुणा में हमको दुःखी व्यक्ति के साथ आत्मीयता स्थापित करने का अवसर मिलता है, जिससे हम 'अहं' की संकुचित परिधि से निकलकर आत्म-प्रसार के क्षेत्र में विचरण करने लगते हैं। इससे आनन्द प्राप्त होता है। दूसरे तथ्य के विषय में उनका मत है,—"आनन्द का मूल कारण भाव-मग्नता है अथवा स्वस्थता है, परस्थता नहीं। जब तक हमारी वृत्तियाँ चंचल हैं, तब तक हम अन्तर्मुख होकर भावमग्न नहीं हो सकते और बिना भावमग्न हुए सुख नहीं मिल सकता।" अपने इस मत के समर्थन में उन्होंने आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के इस मत को उद्‌धृत किया

है, "हृदय की मुग्धता होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।" इस प्रकार डॉ० सहल का यह विवेचन नितान्त मौलिक और विश्वसनीय है।

साहित्य-शास्त्र के सम्बन्ध में उन्होंने सर्वत्र इसी पद्धति पर अपने विचार प्रकट किए हैं। यह सिद्ध करता है कि उन्होंने प्रत्येक विषय पर गहन चिन्तन और पर्याप्त मनन किया है। न केवल प्राचीन विषयों पर उन्होंने ऐसा किया है, प्रत्युत नवीन विषयों पर लिखते समय भी इसी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। विशेष रूप से छायावाद, प्रगतिवाद प्रयोगवाद और नई कविता तथा गद्य-विधाओं—कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि पर उनके विचार माननीय हैं। इन विषयों पर उन्होंने आधुनिक दार्शनिक तथा साहित्यिक सिद्धान्तों के सदर्भ में विचार किया है और अतिवाद से बचने का प्रयत्न किया है। दृष्टि उनकी यह रही है कि अपने देश की परम्परा और संस्कृति के अनुकूल तत्त्वों को महत्त्व दिया जाय और विदेश के केवल उन्हीं सिद्धान्तों को ग्रहण किया जाय, जो हमारे लिए उपयोगी हैं। इस प्रकार के निबन्धों में डॉ० सहल ने अपनी प्रतिभा का और भी अच्छा परिचय दिया है। 'हिन्दी-साहित्य के नये माध्यम,' 'कविता और किशोरमन' 'अलंकार और मनोविज्ञान,' 'आलोचना और मनोविश्लेषण,' 'निबन्ध का स्वरूप-लक्षण' आदि निबंधों में उनका आलोचक अपनी उच्चतम भूमि पर उपस्थित है। यदि उदाहरण देना ही हो तो हम उनकी निबंध की इस परिभाषा को उद्धृत करना चाहेंगे—"निबंध सरस शैली में अभिव्यक्त किया हुआ लेखक का निजी दृष्टिकोण है, जिसमें आकार की लघुता के साथ-साथ गद्य की कलात्मकता के दर्शन होते हैं।"

हिन्दी-साहित्य में आलोचना के क्षेत्र में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। राजस्थानी साहित्य को अपने शोधकार्य और विवेचन से समृद्ध करने में वे अग्रणी है। राजस्थानी भाषा और उसकी विविध बोलियों, छन्द और काव्य-रूप, कला और लोकोत्सव आदि पर उन्होंने साधिकार लेखनी चलाई है और कितने ही अज्ञात विषयों पर प्रकाश डाला है। आलोचना-प्रणाली यहाँ भी वही है, जो हिन्दी-साहित्य विषयक निबंधों में गृहीत है। अन्तर केवल इतना है कि इनमें उनका हृदय और भी खिल-खुलकर सामने आया है।

डॉ० सहल की आलोचना-प्रणाली में उनकी भाषा-शैली भी विषय-विवेचन के समान ही अत्यन्त सरल और सुबोध है। उसमें उनका आडम्बरहीन व्यक्तित्व बोलता है। कहीं भी क्लिष्ट शब्दों अथवा घुमावदार वाक्यों द्वारा व्यर्थ का वाग्विस्तार करने की चेष्टा हमें नहीं मिलती। विषय पर सीधे विचार करना और अपनी बात कह कर चुप हो जाना, यही उनका स्वभाव है। हम उनकी तुलना एक ऐसे यात्री से कर सकते है, जो घर से गतव्य की ओर जाते समय न तो इधर-उधर

डॉ० सहल की मनीषा

• डॉ० रामदत्त भारद्वाज

डॉ० कन्हैयालाल सहल विचारशील विद्वान् हैं। मुझे उनके तीन रचना-संग्रहों तथा एक स्वतन्त्र लेख को पढ़ने का अवसर मिला। मेरी धारणा है कि डॉ० सहल की मनीषा चतुर्मुखी है—साहित्यिक, दार्शनिक, भाषाविज्ञानीय एवं काव्यशास्त्रीय।

लगभग इकतालीस साहित्यिक लेखों में डॉ० सहल ने मुख्यतः कबीर, जयशङ्कर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, सुमित्रानन्दन पन्त, अयोध्या-सिंह उपाध्याय आदि की कृति-परक आलोचनाएँ उपस्थित की हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ० सहल ने अपने व्यक्तित्व को सदैव पृष्ठभूमि में रखने का प्रयत्न किया है, जो उनकी विनम्रता का परिचायक है। किन्तु जब वे किसी नयी बात की ओर संकेत करते हैं अथवा उसकी कुछ शास्त्रीय चर्चा करने लगते हैं तो अनुसंधित्सु को वह व्यक्तित्व झलकने भी लगता है। निश्चित रूप से उनके लेखों में प्रायः कुछ न कुछ नवीन अथवा आवृत तथ्य विद्यमान रहते हैं, किन्तु यह नवलता प्राचीन किन्तु ठोस प्रमाणों पर आधृत रहती है, अतएव अनुपेक्ष्य है। साहित्यिक निबन्धों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—कबीर और माधुर्य, कबीर और मरण-तत्त्व, विहंगम-योग और कबीर, राम की 'शक्तिपूजा' का स्रोत, मुक्ति तथा बन्धन पर पन्त के विचार, प्रिय-प्रवास' के वियोग-वर्णन पर महाकवि कालिदास की छाप, राजस्थान की पहेलियों में वर्षा, राजस्थानी साहित्य में वीरतामूलक मानववाद, राजस्थानी भाषा के कुछ लौकिक न्याय, राजस्थानी कहावतें, प्रसादजी और रस-सिद्धान्त, प्रसादजी का नियतिवाद, 'स्कन्दगुप्त' के पदाधिकार-सम्बन्धी शब्द, 'कामायनी' का अद्वैत, ध्रुवस्वामिनी: एक समीक्षा।

कवि-समीक्षा में भी डॉ० सहल की प्रवणता जयशङ्कर प्रसाद की ओर है, अतएव इस यशस्वी कवि के सम्बन्ध में डॉ० सहल के कतिपय निष्कर्ष अरुचिकर न होंगे।—

"प्रसादीय विचार-धारा का सम्यक् अनुशीलन करने पर वैदिक तथा काश्मीर शैवागमों के आनन्दवाद की छाप ही उस पर स्पष्ट दिखाई पड़ती है""प्रसादजी का नियतिवाद कर्मयोग की ओर मनुष्य को प्रेरित करता है; वह कोई निष्क्रिय, जड़-सिद्धान्त नही है, उसके पीछे गतिशीलता की प्रेरणा है।"[1]

"प्रसाद के नियतिवाद का अभी[2] पूर्ण अध्ययन नही हुआ है। आवश्यकता इस बात की है कि उनके ग्रन्थों के आधार पर नियतिवाद की विद्वानों द्वारा सम्यक् विवेचना हो, जिससे रहस्यमयी नियति का आवरण कुछ दूर किया जा सके।"[3]

" 'कहो उसे जड या चेतन' को लेकर यदि कोई यह प्रश्न उपस्थित करना चाहे कि प्रसाद जड के उपासक थे अथवा चेतन के? तो मैं समझता हूँ, यह कहना उचित होगा कि प्रसाद, विशेषतः 'कामायनी' के प्रसाद, उस तत्त्व के उपासक थे, जिसमे जड और चेतन का भेद ही तिरोहित हो जाता है।"[4]

'ध्रुवस्वामिनी' की आलोचना करते समय डॉ० सहल कितने सरल और सरस हो गये हैं? "नर्तकियो का गीत उस समय गाया जाता है जब शकराज अधीरता-पूर्वक ध्रुवस्वामिनी के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है। अस्ताचल पर युवती-सन्ध्या की घुँघराली अलकें खुली हुई हैं। सन्ध्या-लालिमा के रूप मे मानिक-मदिरा की निराली धारा अब बहने लगी है। पहाड़ियों ने झीलो की रत्नमयी प्याली इस मदिरा से भर ली है। वल्लरियों से लिपटी हुई तरु की डाली चूमने के लिए झुक चली है। मृदु प्रणय-रोष से भरा हुआ मानिनियो का हृदय अब पिघलने लगा है। ऐसे उद्दीपक वातावरण मे मानवती नायिकाएँ भला कब तक अपने मान को बनाये रह सकती हैं? मधुर हास्य के साथ वे अब दुलार-भरी मधु लहर उठाने वाली हैं। कुंजो की झुरमुट से प्रेमी-युगल अपनी प्याली को इस मादक मदिरा से भरने के लिए निकल पडे हैं। आश्चर्य तो यह है कि इस मधुर अँधेरी में अब तक इनकी प्याली खाली कैसे रह गई? प्यालियाँ अब उभर उठी है और सुमनों ने अपना सौरभ-मकरन्द मिला दिया है। कामिनियो ने अपने अनुराग-भरे अधरो से प्यालियाँ लगाली हैं। इधर वसुधा मदमाती हो गई और उधर आकाश झुकने लगा। सब अपने प्रसन्न सुख मे झूम रहे हैं, तूने क्यो बाधा डाली है?"

"यह एक प्रकार का उद्दीपन-गीत है और इसमें ऐन्द्रियता मुखर हो उठी है, किन्तु इसमे कोई सन्देह नही, यह गीत अवसर के अत्यन्त उपयुक्त है। हिन्दी-साहित्य

१. विवेचन, पृष्ठ २८-२९।
२. अभी=१९५३।
३. विवेचन, पृष्ठ ४४।
४. वही, पृष्ठ १६७।

से ऐन्द्रियता और दार्शनिकता की उद्दाम और गभीर सरिताएँ एक साथ प्रखर वेग से प्रवाहित हुई है।"[1]

एक लेख में डॉ० नहरू की शोध-प्रवृत्ति श्लाघनीय है। इस गभीर शोध-पूर्ण निबन्ध के अन्त में वे लिखते हैं : "'देवीचन्द्रगुप्तम्' का जो आनुमानिक कथानक मैंने प्रस्तुत किया है, उसमें ऐतिहासिक तत्त्वों की कट्टरता नहीं है। यह विषय अध्ययन-सापेक्ष है। ध्रुवस्वामिनी को लेकर भारतीय भाषाओं में जिस साहित्य की सृष्टि हुई है, उसके तुलनात्मक अध्ययन में यह आनुमानिक कथानक सहायक होगा, ऐसी आशा है।"[2]

कवि सुमित्रानन्दन पन्त के 'गुञ्जन' की आलोचना में डॉ० सहल की स्पष्ट-वादिता स्वयं स्पष्ट है : "किन्तु 'गुंजन' के भावपक्ष पर विचार करते समय हमें इस बात को ध्यान में रखना होगा कि 'पल्लव' की कविताओं में जो सहज काव्योन्मेष मिलता है, वह 'गुंजन' की कविताओं में नहीं है। 'गुंजन' में शुष्क उपदेशात्मकता और दार्शनिकता ही अधिकांश कविताओं में मिलती है जिसके कारण चिन्तन अनुभूति को दबा लेता है और कविताओं के अर्थ को हृदयगम करने के लिए बुद्धि का व्यायाम ही अधिक करना पड़ता है। 'गुंजन' में आवेश नहीं, आयास अधिक है। 'जाने किस छल पीड़ा से' वाले गीत में भी जिसमें कवि का आत्माभिव्यंजन है, कवि अपनी दार्शनिकता नहीं भुला सका है। 'इच्छा है जग का जीवन, मिथ्या ही बनता देती मिथ्या का रे मिथ्यापन' के दार्शनिक गोरखधन्धे को हल करने का भार पाठक वहन करना नहीं चाहता, दार्शनिकता उसकी अनुभूति में भी बाधक होने लगती है। हाँ, यह अवश्य है कि इस प्रकार की कविताओं में भी, जिनमें आत्माभिव्यंजन मिलता है, साधारणीकरण हो जाता है क्योंकि मानव-हृदय इस प्रकार की छलमयी इच्छाओं से हमेशा से पीड़ित होता आया है। इस प्रकार आश्रय की पीड़ा सबकी पीड़ा बन जाती है। किन्तु 'गुंजन' की कुछ कविताओं में भावावेश की भी कमी नहीं है। 'आती ही जाती नित लहरी, कब पास कौन किसके ठहरी ?' कौनसा मानव-हृदय है जो इन पंक्तियों के मार्मिक सत्य से प्रभावित न होगा ? अनुभूति की कैसी मार्मिक व्यंजना इन पंक्तियों में हुई है :—

'कुसुमों के जीवन का पल हँसता ही जग में देखा।
इन मलिन म्लान अधरों पर स्थिर रही न स्मिति की रेखा !॥'

किन्तु फिर भी, हमें यह स्वीकार करना होगा कि 'गुंजन' के कवि में (जैसा उसने स्वयं स्वीकार किया है) बौद्धिक विश्लेषण अधिक है, काव्य का सहज आवेग उसमें उतना नहीं है।"[3]

१. विवेचन, पृष्ठ १५७-१५८।
२. वही, पृष्ठ ६६।
३. वही, पृष्ठ १७०-१७२।

दार्शनिक क्षेत्र में भी डॉ० सहल का सुदूर प्रवेश है। 'योग और वेदान्त' नामक प्रमाण-बहुल लेख में वे निष्कर्ष-रूप से कहते हैं :

सार्त्र आदि के मानववादी दर्शनों में निराशा और संत्रास के दर्शन होते हैं, किन्तु कठोपनिषद् में जिस पुरुष के लिए कहा गया है—

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

वह पुरुष निराशा और संत्रास का शिकार क्यों हो? योग मनुष्य को स्वस्थ बनाने में सहायक होता है तथा वेदान्त पुरुष को जीवन्मुक्त-स्थिति में पहुँचाकर मानव की सर्वोच्च भूमिका प्रस्तुत करता है।[1]

'भावात्मक एकता' नाम के निबन्ध में डॉ० सहल ने ऋग्वेद, भगवद्गीता, विष्णुपुराण, पद्मपुराण तथा अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि प्राचीन काल से भारत में मूलभूत सांस्कृतिक एकता रही है। 'सत् और असत् का विवेक' नामक लेख वेद, ब्राह्मण, गीता आदि के प्रमाणों पर आधृत है और पठनीय भी है। 'अर्जुन का विषादयोग—एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण' इस लेख में 'महाभारत' तथा पश्चिमी मनोवेत्ताओं के प्रामाण्य पर यह निष्कर्ष है कि "वस्तुतः जब तक ममत्व बुद्धि बनी रहती है, तब तक आसक्ति दूर नहीं होती और सच्चा स्वास्थ्य-लाभ भी तभी होता है जब हम ममत्व और आसक्ति से ऊपर उठ जाते हैं।"[2] 'इन्द्र का वैदिक स्वरूप' में डॉ० सहल का मत है कि "वैदिक साहित्य में जो देवताओं का विभाजन किया गया है, उसके अनुसार इन्द्र अस्पष्ट, धूमिल अथवा अन्धकार-पूर्ण (Opaque) देव हैं क्योंकि उनका रूप स्पष्ट नहीं है।"[3]

'एक समाधान' में राजस्थान की एक उक्ति का समाधान महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज के द्वारा किया गया है। उक्ति है :

बहत्तर कोठा नो हैं नाड़ी
दस दरवाजा जडी किंवाडी।
पाँच मोहल्ला एक गुवाडी॥
काया में करार अन्न के हैं।
मिजमान चार दिन के हैं॥

इस उक्ति में ७२ कोठे=७२ तत्त्व अर्थात् २४ वर्तमान के, २४ भूतकाल के और २४ भविष्यत् काल के। गुवाड़ी=महाबिन्दु, जहाँ आत्मा अपना रूप दिखाती

---

१. योग और वेदान्त, पृष्ठ १४।
२. विमर्श और व्युत्पत्ति, पृष्ठ १७२।
३. वही, पृष्ठ १८३।

है। नौ नाड़ी=सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला, वज्रा, चित्रा, ब्रह्मनाडी, ग्रलम्बुषा, पुरा तथा मालिनी। पाँच अवस्थाएँ=जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, और तुरीयातीत। दसद्वार= मुख, नाक, कान, और, गुदा और उपस्थ के छिद्र।[1]

'नवीन नैतिक मूल्यों का पर्यीकरण' इस विषय में डॉ० महन का मत है कि "नैतिक मूल्यों की सापेक्षता के कारण उनमें युगानुरूप परिवर्तन होते रहते हैं। एक ओर जहां देशकाल और परिस्थितियों की भिन्नता के कारण नैतिक मूल्य नये-नये रूप धारण करते रहते हैं, वहाँ युग-पुरुषों की विशिष्ट एवं प्रभावशाली विचार-धाराएँ भी नैतिक मूल्यों का कारण बन जाती हैं।"[2]

'संस्कृति' शीर्षक में डॉ० महन व्यक्त करते हैं कि 'धर्म, कला, साहित्य आदि का 'संस्कृति' शब्द में अन्तर्भाव किया जाता है। इसके विरुद्ध सभ्यता शब्द के अन्तर्गत रेल, तार, जहाज, विशाल भवन आदि भौतिक उपकरणों का समावेश होता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से सभा में बैठने योग्य व्यक्ति को सभ्य कहा जाता है और *आजकल सभा में बैठने की योग्यता साज-सज्जा, वेश-भूषा आदि के बल* पर उपलब्ध समझी जाती है। इससे स्पष्ट है कि सभ्यता जहाँ बाह्य वस्तुओं *पर निर्भर करती है, वहाँ संस्कृति आन्तरिक उपकरणों पर आश्रित है। आजकल के* बुद्धिवादी वैज्ञानिक युग में धर्म शब्द का अपकर्ष दिखाई पड़ रहा है। उसके स्थान *में संस्कृति शब्द अधिक मान्य हो रहा है इस प्रसंग में एक विरोधाभास का* उल्लेख भी आवश्यक है। यह सम्भव है कि कोई देश सभ्य हो और संस्कृत न हो, इसी प्रकार कोई देश संस्कृत हो और सभ्य न हो। कोई देश ऐसा भी हो सकता है जहाँ सभ्यता और संस्कृति उचित अनुपात में घुलमिल गई हों। यह तथ्य जैसे किसी राष्ट्र के लिए लागू है, वैसे ही व्यक्ति के लिए भी। इसके अतिरिक्त एक दूसरे महत्वपूर्ण तथ्य की ओर भी हमारा ध्यान गये बिना नहीं रहता। सभ्यता का रथ यदि एक बार चल पड़ता है तो निरन्तर गतिशील रहता है। रेल, तार, जहाज एक बार आविष्कृत हो गये तो इनकी गति अब रुकने की नहीं। किन्तु संस्कृति का रथ मन्द गति से चलता है, रेल, तार, जहाज अथवा राकेट की गति उसमें नहीं आ सकती और कभी-कभी तो उसमें गतिरोध भी आ जाता है। महावीर, बुद्ध, शंकर, गांधी जैसे महापुरुष युगों के बाद पैदा होते हैं' ......रूस और अमरीका परस्पर विरोधी विचार-धाराओं से आक्रान्त होकर एक-दूसरे को नीचा दिखाने में लगे हैं। पता नहीं, इस स्पर्धा का परिणाम क्या हो ?"[3]

---

१. विमर्श और व्युत्पत्ति, पृष्ठ १८७-१८८।

२. वही, पृष्ठ ६७।

३. वही, पृष्ठ ११४-११६।

'रहस्यवाद का स्वरूप' इस विषय का निरूपण करते हुए डॉ० सहल का कथन है कि "सामान्यतः रहस्यवाद के अन्तर्गत दो प्रकार की रचनाएँ आती हैं—(१) जिनमें आत्मा और परमात्मा के मिलन का दार्शनिक निरूपण किया जाता है, और (२) जिनमें जीवात्मा और परमात्मा के मिलन की अपरोक्षानुभूति का वर्णन होता है। रहस्यवाद के सैद्धान्तिक विवेचन का सम्बन्ध दर्शनशास्त्र से है और रहस्यानुभूति का सम्बन्ध मनोविज्ञान अथवा व्यक्तिगत धर्म से। यह अनिवार्यतः आवश्यक नहीं है कि रहस्य-तत्त्व का जैसा दार्शनिक विवेचन किया गया है, ठीक उसके अनुरूप ही रहस्यानुभूति का रूप भी प्रत्यक्ष होता है। मनुष्य की व्यक्तिगत अनुभूति के असंख्य प्रकार हो सकते हैं, उसकी कोई इयत्ता नहीं, उसकी किसी सीमा-रेखा का निर्धारण नहीं।"[1]

डॉ० सहल की धारणा है कि "भारतीय अद्वैतवाद और सर्ववाद का सूफी धर्म पर बड़ा भारी प्रभाव है"[2] इसकी पुष्टि में वे 'सूफीधर्म' नामक लेख में जलालुद्दीन रूमी की मसनवी से यह उद्धरण उपस्थित करते हैं :

'परमात्मा ही एक मात्र तथ्य है और वह सब प्रकार के पापों तथा परिभाषाओं से परे है। वह केवल परमसत्ता ही नहीं, वह परम सौन्दर्य भी है। सौन्दर्य स्वभावतः अपने आपको अभिव्यक्त करना चाहता है। यह नामरूपात्मक जगत उस आकांक्षा का परिणाम है जिसके वशीभूत होकर परमात्मा कहता है 'मैं एक निधि के रूप में प्रच्छन्न था। मेरी इच्छा स्वभावतः अभिव्यक्त होने की रहती है। इसलिए मैंने प्राणियों की सृष्टि की, जिससे सब पर मैं अपना रूप प्रकट कर सकूँ। मनुष्य की आत्मा का सम्बन्ध आध्यात्मिक जगत् से है और आत्मा अपने उद्गमस्थल से मिलना चाहती है। शारीरिक उपाधि इसमें बाधक होती है, किन्तु 'हाल' की अवस्था में कुछ समय के लिए यह उपाधि टूट जाती है और साधक परमात्मा से सम्मिलन के आनन्द का अनुभव करता है।[3]

संजीवनी बूटी लाते समय हनुमान् जी बाण से गिर पड़े तो भरत जी बोले :

"जो मोरे मन वच अरु काया""तौ कपि होउ विगत श्रम मूला।"

डॉ० सहल ने 'सत्यक्रिया और रामचरितमानस' नामक लेख में ऐसी सत्यक्रिया का साक्ष्य अथर्ववैदिक 'कृणोमि सत्यम्' (४.१८.१) ऋग्वेदीय 'विश्वानि' 'सत्यान्ग्निराचकार' (५/४५/७) तथा रामायण, महाभारत, देवी भागवत, रघुवंश आदि प्रमाणों में प्राप्त किया है।

---

१. आलोचना के पथ पर, पृष्ठ ६८।
२. वही, पृष्ठ १११।
३. वही।

डॉ० सहल की अभिरुचि भाषा-विज्ञान में भी है। 'भाषा के भेदक तत्त्व' नामक निबन्ध में वे हिन्दी और उर्दू को एक ही भाषा की दो शैलियाँ कहना अधिक उचित समझते हैं। 'यूरोपीय भाषाओं और भारत की आर्य भाषाओं का अभिन्न सम्बन्ध' इस शीर्षक से उन्होंने लैटिन, ग्रीक, और संस्कृत की, वैदिक संस्कृत तथा अवेस्ता की प्रत्न, फारसी तथा संस्कृत की समानताओं पर कुछ सोदाहरण प्रकाश डालते हुए भारोपीय भाषाओं की चर्चा की है।

'भेदीकरण का नियम' इस शीर्षक के अन्तर्गत डॉ० सहल ने एक एक शब्द से निष्पन्न अनेक शब्दों की ओर ध्यानाकर्षण किया है, यथा तात से चाचा, ताऊ, दादा; फारसी के बाबा से बाप, बापू, बाबू। उन्होंने दया, कृपा, अनुकम्पा, अनुक्रोश, सहानुभूति, समानुभूति आदि अनेक पर्यायों के अर्थ में सूक्ष्म भेदों की ओर इंगित भी किया है। 'सादृश्य का सिद्धान्त' इस लेख में डॉ० सहल का मत है कि सादृश्य ने व्युत्पत्ति-शास्त्र को प्रभावित किया है। कँवर, तँवर, भँवर, बेफायदा, बेफिजूल आदि शब्द इसी नियम के परिणाम हैं। डॉ० सहल की कल्पना है कि 'सुर' (देवता के अर्थ में) कोई अलग शब्द न था, किन्तु प्रतिकूल-सादृश्य का आश्रय लेकर इस शब्द का निर्माण कर लिया गया है। किन्तु मेरी समझ में, इस सम्बन्ध में पुनर्विचार की आवश्यकता है, क्योंकि वाल्मीकि रामायण का श्लोक है :

सुराः प्रतिग्रहाद्देवाः सुर इत्यभिविश्रुताः।
अप्रतिग्रहणात्तस्या दैतेयाश्चासुरास्तथा ॥

'विमर्श और व्युत्पत्ति' के व्युत्पत्ति-खण्ड में चौरासी शब्दों का व्युत्पत्ति-निरुक्ति-परक विचार किया गया है, जो सुन्दर एवं प्रेरक है।

डॉ० सहल ने काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में जो कार्य किया है, वह और भी अधिक मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण है। मुझे उनके केवल तेईस काव्यशास्त्रीय निबन्ध देखने का अवसर मिला है। वे हैं : कला कला के लिए, नई आलोचना, शाब्दी व्यञ्जना, कवि में अन्तःस्फूर्ति, रस प्रक्रिया का त्रिकोण और पाश्चात्य सर्वेक्षण, दुःख में सुख की समस्या, ट्रेजेडी में अहं का विगलन, ट्रेजेडी के सम्बन्ध में नूतन मानवीय दृष्टिकोण, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और प्रगतिवाद, साहित्य में स्वच्छन्दतावाद, गीतिकाव्य और उसके भेद, मानटेन शैली के निबन्ध, संकलनत्रय, रस-सिद्धान्त और बोध, साधारणीकरण का भावोत्कर्ष, संस्कृत के नाट्याचार्य और नाटक की तीन अन्वितियाँ, डॉ० नगेन्द्र और उनकी भावकता, आलोचना और मनोविश्लेषण, अलङ्कार तत्त्व, साधारणीकरण और रसास्वाद के विघ्न, नाट्यदर्पणकार का रस-विवेचन, और करुणरस की सुखात्मकता।

'रस-सिद्धान्त और कीथ' नामक निबन्ध में डॉ० सहल ने ए० बी० कीथ के विकृत दृष्टिकोण को स्पष्ट कर उसका उचित प्रत्याख्यान किया है। उन्हें यह मान्य नही कि भारतीय कविता रसमय तो रही पर जीवन-स्पर्शी न हो सकी; रस की कल्पना को एकाङ्गी और सङ्कीर्ण नही कहा जा सकता। "पाश्चात्य समीक्षा भावपक्ष और कलापक्ष के समन्वय की समीक्षा मे व्यस्त रही। बडी कठिनाइयो के बाद क्रोचे का अभिव्यंजनावाद वस्तु और रूप की एकता पर पहुँच सका, किन्तु भारतीय आचार्यों ने रस-सिद्धान्त के द्वारा रूप और वस्तु का समन्वय अधिक सुदृढ़ आधार पर किया है।"[1]

'लॉन्जीनस और भावोत्कर्ष' में डॉ० सहल को 'लांजीनस के आनन्दातिरेक' तथा मम्मट के 'विगलितवेद्यान्तर' मे बहुत कुछ साम्य दिखलाई पड़ता है""लाजीनस मूलतः यद्यपि रीति-सिद्धान्त का अनुयायी है तथापि इस सिद्धान्त का जो मनोवैज्ञानिक स्वरूप उसने प्रस्तुत किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।"[2]

'संस्कृत के नाट्याचार्य और नाटक की तीन अन्वितियाँ' तथा 'सकलनत्रय' मे डॉ० सहल ने ए० बी० कीथ की इस भ्रान्ति का निराकरण किया है कि संस्कृत नाट्यकार काल और स्थानसम्बन्धी ऐक्य के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ थे। यह लेख डॉ० सहल ने 'अभिनव भारती' के हिन्दी अनुवाद से पूर्व लिखा था, अतएव इसका महत्त्व और भी अधिक हो जाता है; दूसरे, कीथ ने अनेक भारतीय विद्वानों को इस विषय मे भ्रान्त कर रखा था। डॉ० सहल ने अनेक ठोस प्रमाणो को उद्धृत कर निर्विवाद रूप से यह स्पष्ट कर दिया है कि प्राचीन भारतीय विद्वान् संकलनत्रय से सुपरिचित थे।

'डॉ० नगेन्द्र और उनकी भावकता' इस निबन्ध में डॉ० सहल ने डॉ० नगेन्द्र की आलोचनात्मक कृतियो की प्रशंसा की है और साधारणीकरण पर स्व० जयशङ्कर प्रसाद एवं डॉ० नगेन्द्र के विचारसाम्य को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है।[3] डॉ० नगेन्द्र के अनुसार साधारणीकरण का अर्थ है 'कवि की अनुभूति का साधारणीकरण'; किन्तु भट्टनायक ने भरतमुनि के रस-सूत्र के 'संयोग' का अर्थ साधारणीकरण के अर्थ मे ग्रहण किया है, न कि तादात्म्य के, ऐसी धारणा डॉ० सहल की है। डॉ० नगेन्द्र का यह प्रश्न कि 'यदि उपन्यास का नायक घृणित व्यक्ति हो तो क्या आप उससे तादात्म्य कर सकेंगे?' डॉ० सहल के अनुसार 'साधारणीकरण' को तादात्म्य के अर्थ में ग्रहण करने के कारण उठ खड़ा हुआ

१. विवेचन, पृष्ठ ७।
२. वही, पृष्ठ २१-२४।
३. वही, पृष्ठ १२८-१२९।

है।[1] "रसानुभूति", डॉ० सहल का कथन है, "वस्तुतः तादात्म्य की स्थिति नहीं है; *रस-दशा चित्त की एकाग्रता अथवा अभिनव गुप्त के शब्दों में 'सविद्विश्रान्ति' की* स्थिति है... डॉ० नगेन्द्र साधारणीकरण को बहुत नीचे स्तर पर ले आते हैं... रसदशा तन्मयता की सात्विक अवस्था है...रस की दशा तो तन्मयता का वह पारावार है जिसमें न जाने कितने मत्-अमत्, सुख तथा दुःख डूबे रहते हैं।"[2] किन्तु मेरे विचार में, डॉ० नगेन्द्र ने प्रधानतया प्राचीन परिपाटी का अनुसरण किया है और प्राचीन आचार्यों को ठीक-ठीक समझाने का अपने ढंग से, प्रयत्न भी। प्राचीनों का 'विभावादि' और डॉ० नगेन्द्र का 'कवि की अनुभूति' पर्याय से ही हैं, जिनका साधारणीकरण होता है[3], सत्त्वगुणी अवस्था में भावकत्व के कारण। परन्तु 'साधारणीकरण' का क्या अर्थ है, यह विषय अवश्य विवादग्रस्त हो सकता है, जिसकी विस्तृत चर्चा मैं अपने एक ग्रन्थ में कर चुका हूँ।[4]

'आलोचना और मनोविश्लेषण' में डॉ० सहल का निष्कर्ष है कि कवि-विशेष *के मनोविश्लेषण "कविता के मर्म को समझाने में हमारी सहायता करते हैं, किन्तु* किसी काव्य में कवि के आत्मचरित की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को प्रस्तुत करने में बड़ा खतरा है। आवश्यकता इस बात की है कि मनोविश्लेषण का समुचित प्रयोग हो। अच्छा सिद्धान्त भी दुरुपयोग से बदनाम हो जाता है। सीमा का अतिक्रमण वाछनीय नहीं। जीवन से मनोविज्ञान के सिद्धान्त निकलने चाहिए, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से जीवन नहीं।[5]

डॉ० सहल ने श्लेष और शाब्दी व्यंजना का अन्तर इस प्रकार व्यक्त किया है "श्लेष में सयोग आदि के द्वारा शब्द का अर्थ नियन्त्रित नहीं होता, दोनों ही अर्थ *श्लेष में अभिधेय होते हैं जब कि शाब्दी व्यंजना में सयोग आदि के द्वारा एक अर्थ* नियन्त्रित हो जाने पर दूसरा अर्थ ध्वनित होता है। प्रदीपकार ने दोनों के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है : यत्र उभयोरर्थयोस्तात्पर्यं स श्लेषः। यत्र तु एकस्मिन्नेव तत् सामग्री महिम्नात् द्वितीयार्थप्रतीतिः सा व्यंजना इति।[6]

'नई आलोचना' में डॉ० सहल का "प्रश्न यह है कि नव्यालोचन का कोई *रूप क्या आज हमारे सामने है? यदि है तो उसकी कोई विशिष्ट पद्धति (methodo-*

१. विवेचन, पृष्ठ १३०।
२. वही, पृष्ठ १३०-१३२।
३. रस-सिद्धान्त, पृष्ठ २०९-२१०।
४. काव्यशास्त्र की रूपरेखा (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ १३२-१३६।
५. आलोचना के पथ पर, पृष्ठ ६।
६. विमर्श और निष्पत्ति, पृष्ठ ५६।

logy) है ? साथ ही यह भी विचारणीय है कि पुरालोचन और नव्यालोच[illegible] विभेदक-रेखा कहाँ से प्रारम्भ होती है ?"[1]

'नाट्यदर्पणकार का रस-विवेचन' इस निबन्ध में रामचन्द्र तथा गुण[illegible] की रस-परक इन मान्यताओं की सप्रमाण मीमांसा की गई है : सब रस सुखा[illegible] हैं, यह अनुभवसिद्ध नहीं; जननी से उत्सुक होकर ही लोग करुणरसात्मक ना[illegible] देखने के लिए प्रेरित होते हैं; दुःखानुभूति के बाद सुखानुभूति अपेक्षाकृत अधिक सु[illegible] रूप धारण कर लेती है; यदि करुण-रस भी सुखद जान पड़े तो यह अभिनेता [illegible] दोष है। परन्तु डॉ० सहल का मत है कि "वास्तव में सभी रस सुखात्मक हैं; इस[illegible] मूल कारण है भाव-मग्नता।"[2]

किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र पर पुनर्विचार करना स्यात् समस्या-समाधान में कु[illegible] सहायक होगा। नाट्य-दर्पण में उनका वाक्य है : सुखदुःखात्मको रसः (३,७) तथापि वे यह मानने के लिए प्रस्तुत है कि जिस प्रकार पानक की मधुरता दु:खास्वाद को उत्पन्न करने वाले तीक्ष्ण पदार्थ के मेल से मुख्य स्वाद को अधिक स्वादिष्ट बना देती हैं, उसी प्रकार करुणादि किसी रस में दु:ख के मिश्रण से सुख की प्रतीति-सी होती है : पानक-माधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दुःखाऽऽस्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते इव इति। यहाँ पर 'स्वदन्ते' के पश्चात् 'इव' विचारणीय है। इस 'इव' के प्रयोग से वे करुणादि रसो में 'सुख' की तो नहीं, 'सुखाभास' की स्थिति मानते हैं। उनके अनुसार शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त सुखात्मक है। उनके तर्क इस प्रकार है—प्रथमतः, करुण, भयानक आदि रसो के द्वारा सहृदयो मे दुःखद दशा उत्पन्न होती है। सीता के हरण से अथवा रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या-विलाप से किसी सहृदय को सुख नहीं पहुँचता। द्वितीयतः, काव्य में लौकिक व्यवहार का यथार्थ चित्रण होता है अर्थात् सुखों का वर्णन सुख रूप में और दु:खों का दु:ख रूप में होता है। यदि दु:खात्मक चित्रण से प्रेक्षण को आनन्द प्राप्त होता है तो क्या वह चित्रण वास्तविक समझा जाना चाहिए ? दु:खात्मक चित्रण से तो दुःख ही उत्पन्न होता है। तृतीयतः, रस को सुखात्मक मानने वाले ऐसा समझते हैं कि जिस प्रकार किसी दुखी व्यक्ति को अन्य दुखी व्यक्ति से मिलकर सान्त्वना मिलती है, उसी प्रकार नाटक के करुण, बीभत्स आदि रसो से सुख की प्राप्ति होती है, दु:ख की नहीं। इस तर्क का खण्डन करने के निमित्त रामचन्द्र-गुणचन्द्र कहते है कि करुण दृश्य को देख कर प्रेक्षक की सहानुभूति दुःखपूर्ण ही होती है, तथापि सहृदय को जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, वह केवल कवि के कौशल या नट के चमत्कार से। पश्चिम में एरिस्[illegible]

१ आलोचना के पथ पर, पृष्ठ ४२–४७।
२. विमर्श और व्युत्पत्ति, पृष्ठ १८१।

वर्क का सतर्क मत है कि जब भय और त्रास का अधिक दबाव पड़ता है तो वे कु
भी मोद देने में असमर्थ रहते हैं; वे केवल भयावह होते हैं; परन्तु कुछ दूरी पर र
कर और उपान्तरित (मौडिफ़ाइड) होकर वे सुखदायी हो सकते हैं और होते भी हैं
जैसा कि हम नित्य अनुभव करते हैं। इसी प्रकार जोसिफ़ एडिसन की धारणा
कि देखने पर जो कुछ अननुकूल लगता है, वह हमें समुचित वर्णन के द्वारा सुख दे
है, क्योंकि हम कभी यह सोच कर तनिक भी प्रसन्न नहीं होते कि हम उनके संग
में हैं। अपनी बात कहूँ—मेरा सप्तवर्षीय पौत्र ऐसी सभी फ़िल्मों और कहानियों
बचता है, जिनमें भय का तनिक भी पुट हो। क्यों ? कारण स्पष्ट है, उसमें वास
विक और अवास्तविक परिस्थिति-विषयक भेद-भ्रान्ति है। स्यात् इसी कार
भारतीय नाट्य-शास्त्र में मृत्यु, वध आदि के अभिनय वर्जित है।

डॉ० सहल का, तथा कुछ अन्य आधुनिक काव्यशास्त्रियों का भी, मत है
वास्तव में सभी रस सुखात्मक हैं[1] जो पुनर्विचार की अपेक्षा रखता है। रस
सङ्ख्या प्रदान करने अर्थात् उनके छः से ग्यारह अथवा अधिक भेद मान लेने में
सिद्ध है कि 'रस' और 'आनन्द' पर्याय नहीं, रस से आनन्द उत्पन्न होना है
भरतमुनि ने भी रस और सिद्धि में भेद किया है।[2] जिस प्रकार मन्तरे और फ़ान
के स्वादों में अन्तर है, उसी प्रकार शृंगार और करुण के आस्वादों में भी अन्त
है। सुखद रसों का आस्वाद आनन्दप्रद होता ही है, करुण रस का आस्वाद
कुछ न कुछ आनन्दप्रद है। परवल और करेला के स्वादों में अन्तर है। कच्चा करे
खाने में बहुत कड़वा होता है, किन्तु जब उसको नमक तथा अन्य मसालों के सा
कड़ाही में तल लेते है तो कुछ लोग उसे स्वाद से खाते हैं, फिर भी उसमें कुछ
कुछ कड़वाहट तो बनी ही रहती है। उसी प्रकार शोक नामक स्थायिभाव कटु होत
है, किन्तु विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभावों के द्वारा भावित होकर वह आ
प्रतीत होता है।

'ट्रैजडी में अहं का विगलन' इस शीर्षक के अन्तर्गत डॉ० सहल के अनुसा
"ट्रैजेडी से आनन्द क्यों मिलता है, इस सम्बन्ध में बहुत से सिद्धान्त प्रचलित हैं। ट्रैजे
में अहं का विगलन और तज्जन्य आत्मोपलब्धि का सिद्धान्त भी समीक्षकों के विचार
विषय बन सकता है।"[3] वे अहं भाव को आत्मा का असली रूप नहीं मानते, क्यों
प्लेटो से लेकर आधुनिक युग तक के हमारे दार्शनिकों ने भी यह बात नहीं मा

१. आलोचना के पथ पर, पृष्ठ ४७।
२. सौन्दर्य तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त (डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे), पृष्ठ १२८।
३. विमर्श और व्युत्पत्ति, पृ० १६।

डॉ० सहल की समीक्षा-उपलब्धियाँ : मूल्यांकन और नये क्षितिज

• डॉ० प्रेमकान्त टंडन

पिछले २५-३० वर्षों मे जिन विद्वानो ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे उल्लेखनीय योगदान दिया है, उनमें डॉ० कन्हैयालाल सहल का विशिष्ट स्थान है। डॉ० सहल का आलोचक-व्यक्तित्व एक बहु-अधीत, प्रतिभा-संपन्न आलोचक का व्यक्तित्व है। डॉ० सहल ने न केवल संस्कृत काव्यशास्त्र और अभिनव हिन्दी-आलोचना-दृष्टियों का गहन अध्ययन किया है, अपितु उन्होंने पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र की सुविस्तृत परम्परा के अंतर्गत विकसित विविध आलोचना-दृष्टियों के स्थूल-सूक्ष्म पक्षों पर भी विधिवत् अध्ययन-मनन किया है। सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक आलोचना-विषयक देशी-विदेशी साहित्य के अतिरिक्त डॉ० सहल ने उधर अंग्रेजी और इधर संस्कृत, हिन्दी, बंगला और राजस्थानी भाषाओं के उदात्त सर्जनात्मक साहित्य से भी गहरा सम्पर्क बनाए रखने की चेष्टा की है। इसके सहज परिणामस्वरूप डॉ० सहल की आलोचना-दृष्टि मात्र सैद्धान्तिक ज्ञान पर आधृत आलोचना की नीरसता, शिथिलता और एकांगिता से मुक्त होकर सहज, सरस और परिपूर्ण रूप मे प्रतिफलित हो सकी है।

सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र मे डॉ० सहल ने किसी स्वतन्त्र, सम्पूर्ण-ग्रन्थ ग्रंथ का प्रणयन नहीं किया; अंग्रेजी के मूर्धन्य कवि-आलोचक टी० एस० इलियट की भाँति उनकी आलोचना-दृष्टि का परिचय उनके स्फुट आलोचनात्मक निबंधों से ही होता है। ये निबंध संख्या में पचास से ऊपर हैं, और इनके [illegible] [illegible]—(१) समीक्षाञ्जलि, (२) समीक्षायण, (३) आलोचना के [illegible], (४) विवेचन, (५) मूल्यांकन, (६) विमर्श और [illegible] [illegible]

सद्य. प्रकाशित ग्रंथ, (७) अनुसंधान और आलोचना में संकलित हैं। इन निबंधों में से अधिकांश हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ निबंध 'साहित्य संदेश' नामक आलोचना-पत्रिका में भी प्रकाशित हुए थे, जिन पर मूर्धन्य आलोचक एवं 'साहित्य संदेश' के तत्कालीन सम्पादक डॉ० गुलाबराय ने प्रशंसा-परक टिप्पणी देते हुए डॉ० सहल की आलोचक-प्रतिभा का समुचित आकलन किया है। डॉ० सहल के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक आलोचना-सम्बन्धी निबंधों की एक प्रमुख विशेषता उनमें निहित समन्वय-दृष्टिविषयक रही है। व्यापक अध्ययन के सुविस्तृत फलक पर डॉ० सहल ने पाश्चात्य और पौरस्त्य साहित्य और संस्कृति का सफल, सार्थक समन्वय किया है। हिन्दी के प्रायः सभी वरिष्ठ आलोचकों ने डॉ० सहल के निबंधों के इस वैशिष्ट्य को रेखांकित किया है। उदाहरण के लिए, 'समीक्षाञ्जलि' के 'दो शब्द' के अन्तर्गत डॉ० गुलाबराय का कथन है : "प्रस्तुत संग्रह के निबंधों में यद्यपि पूर्व और पश्चिम के सिद्धान्तों का समावेश किया गया है तथापि उनमें प्रमुखता भारतीय सिद्धान्तों को ही दी गई है।" 'आलोचना के पथ पर' की भूमिका में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जी का कथन है : "भारतीय और विदेशी दोनों ही शास्त्रीय मतों को उन्होंने अपनाया है और······ आधुनिक हिन्दी-काव्य की समीक्षा-भूमि पर उक्त दोनों मतों का अनायास समन्वय किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी साहित्यिक विचारधाराओं पर अपने अधिकार-पूर्ण अध्ययन का ही परिचय नहीं दिया, 'आलोचना के पथ पर' में दोनों के समन्वय की भी सम्भावना प्रकट करदी है।"

परन्तु इस सम्बन्ध में सर्वाधिक व्यंजक टिप्पणी डॉ० नगेन्द्र की है जो डॉ० सहल के आलोचनात्मक निबंध-संकलन 'समीक्षायण' की भूमिका का एक अंश है। "इन निबंधों की परिधि अत्यन्त विस्तृत है : लेखक को प्राचीन और नवीन, पाश्चात्य और पौरस्त्य सभी के प्रति श्रद्धा है। उसके मन में रवीन्द्र और गांधी के प्रति सम्भ्रम है तो मार्क्स और रिचर्ड्स भी उसके आदर के पात्र हैं ···। भारतीय सिद्धान्तों में निष्ठा रखते हुए भी, सहलजी नवीन से नवीन सिद्धान्त के प्रति जागरूक हैं······। वे बहु-अधीत पंडित हैं। संस्कृत-साहित्य, काव्य-शास्त्र, हिन्दी-साहित्य, हिन्दी-साहित्य-शास्त्र और अंग्रेजी साहित्य का उन्होंने सम्यक् अध्ययन किया है।"

डॉ० सहल मूलतः रसवादी आलोचक हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा के मेरुदण्ड रस-सिद्धान्त ने जिस प्रकार अनेक शीर्षस्थ आलोचकों को अपनी सर्वातिशायी क्षमता से अभिभूत किया, उसी प्रकार डॉ० सहल भी उससे अभिभूत रहे हैं। डॉ० सहल का निर्भ्रान्त मत है : "आलोचना के भी नये-नये प्रकार आज चल रहे हैं, मनोविश्लेषण तथा मार्क्सवाद को लेकर साहित्यिक कृतियों का समीक्षण किया

जा रहा है, समीक्षा के पुराने सिद्धान्तों की जड़ें हिल रही हैं, किन्तु इतना सब होते हुए भी, रस-सिद्धान्त अपना सिर ऊँचा किये हुए है। उसकी नित नये ढंग से व्याख्या हो रही है।...... रस-सिद्धान्त एक प्रकार से काव्यानंद का ही सिद्धान्त है। पाश्चात्य समीक्षा काव्यगत आनन्द और नीति के ऊहापोह में व्यस्त रही, किन्तु भारतीय आचार्यों ने आनन्द-पक्ष को इतनी ऊँची भूमि पर पहुँचा दिया था कि नीतिसम्बन्धी संशय के लिए इसमें स्थान ही नहीं रह गया।" (विवेचन, पृ० ६)। डॉ० सहल का समस्त काव्य-विवेचन रस-सिद्धान्त और उसकी आनन्दलक्षणीयता के परिप्रेक्ष्य में ही किया गया है। आनन्द न केवल काव्यास्वादक को मिलता है अपितु रचयिता भी तत्वतः अभिन्न आनन्द का लाभ करता है। आस्वादक-पक्ष में यह आनन्द 'काव्यानंद' है और कवि-पक्ष में 'सृजनानंद'। निस्संदेह ही, भारतीय आचार्यों ने काव्यानंद को सत्त्वोद्रेक से सम्बद्ध कर अत्यन्त उच्च धरातल पर अधिष्ठित किया है: वह 'स्वप्रकाशानंद' और 'ब्रह्मानंद सहोदर' है। साक्षात् ब्रह्मानंद से उसका कोई उल्लेख्य गुणात्मक अंतर नहीं है, मात्रात्मक अंतर है। यत्किंचित् गुणात्मक अंतर यह है कि काव्यानंद में रज और तम का ईषत् स्पर्श मात्र शेष रह जाता है, जबकि ब्रह्मानंद शुद्ध सत्त्व पर आधारित है। पर यह अंतर नगण्य-सा ही है; रसानंद के गौरव का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि जिस आनन्द की सम्प्राप्ति कोई साधक अथवा योगी आत्मशुद्धिपरक साधना की सुदीर्घ प्रक्रिया से गुजर कर, कर पाता है, सहृदय प्रायः उसी आनन्द की प्राप्ति काव्य-पारायण मात्र से कर लेता है; आत्मशुद्धि की प्रक्रिया रसानंद-प्राप्ति की प्रक्रिया में अनिवार्यतः अंतर्भूत है। डॉ० सहल ने काव्यानंद की भारतीय अवधारणा को उसके सही परिप्रेक्ष्य में हृदयंगम किया है, और अपने उक्त कथन में उन्होंने इसी तथ्य का अपेक्षाकृत सरल और निर्भ्रान्त रूप में निर्वचन किया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में, इसीलिए, काव्यानंद और नीति के पारस्परिक द्वन्द्व के लिए कोई स्थान ही नहीं है। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में काव्यानंद की अवधारणा का विकास इस रूप में नहीं हुआ, इसीलिए वहाँ आनन्द और नीति के ऊहापोह के लिए अवकाश है।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में सृजन की अवधारणा के सम्बन्ध में कहीं स्वतंत्र चर्चा नहीं मिलती; 'काव्य-हेतु' के अंतर्गत विभिन्न आचार्यों के जो विवेचन मिलते हैं, उन्हीं के आधार पर सृजन की भारतीय अवधारणा का निर्माण किया जा सकता है। संस्कृत के आचार्यों ने प्रतिभा, अभ्यास और व्युत्पत्ति, इन तीन को काव्य-हेतु के रूप में स्वीकार करते हुए प्रतिभा को सर्वोपरि महत्त्व दिया है। रसवादी आचार्यों ने भी प्रतिभा को सर्वोच्च स्थान दिया है; और किसी-किसी रसवादी आचार्य ने तो प्रतिभा को ही एकमात्र काव्य-हेतु माना है। काव्य-मीमांसाकार राजशेखर का मत इस सम्बन्ध में कुछ भिन्न है, यद्यपि अन्य आचार्यों से उनका कोई तात्त्विक अंतर

नहीं है। काव्य-मीमांसा के चतुर्थ अध्याय में राजशेखर का कथन है कि 'शक्ति' ही काव्य का एकमात्र हेतु है, और वह प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति से भिन्न है, यद्यपि *शक्ति में उन दोनों का समाहार हो जाता है।* परन्तु *काव्य-मीमांसा* के कवि-शिक्षापरक 'कवि-चर्या और राज-चर्या' शीर्षक दशम अध्याय में किसी दूसरे आचार्य का मत उद्धृत करते हुए राजशेखर ने 'कवित्व की आठ माताओं' का उल्लेख किया है, यथा—

स्वास्थ्य प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता ।
स्मृतिर्दार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य ॥

अर्थात्, स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृति की दृढ़ता और उत्साह, ये आठ कवित्व की माताएँ हैं।

अनुमान किया जा सकता है कि यदि यह स्वयं राजशेखर का मत होता तो वे इन सब 'माताओं' को 'शक्ति' के अंतर्गत परिगणित और विवेचित करते। राजशेखर ने उक्त उद्धरण एतद्विषयक अपने मत के समर्थन में प्रस्तुत किया है; उनका मत है कि सुजनोपजीव्य कविसन्निधि, देशवार्ता, विदग्धों की सूक्तियाँ, देशाटन, विद्वद्गोष्ठी तथा प्राचीन कवियों के प्रबन्धों का अध्ययन—ये छह काव्य की जननी हैं (काव्यमीमांसा, दशम अध्याय)।

उक्त उद्धरण में 'स्वास्थ्य' से मूल कर्त्ता अथवा राजशेखर का चाहे जो आशय रहा हो, *डॉ० सहल ने अपने एक निबंध (समीक्षायण: 'काव्य की आठ माताएँ')* में 'स्वास्थ्य' शब्द की सर्वथा मौलिक और बहुत ही उपयुक्त व्याख्या की है। उनका कथन है : "इस शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को लेकर यदि हम विचार करें तो कहा जा सकता है कि काव्य के लिए सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि "......कवि अपने में स्थित हो, प्रकृतिस्थ हो। 'स्वास्थ्य' शब्द का अर्थ है 'अपने में स्थित होना।'........ *कवि भी जब हृदय की योग-दशा में पहुँच जाता है,* तभी वह सुन्दर काव्य की सृष्टि कर पाता है। इस प्रकार का भावयोग ही कवि का 'स्वास्थ्य' कहा जा सकता है।" डॉ० सहल के अनुसार यह 'भावयोग' ही काव्यानंद का कारण है। भावयोग की स्थिति में अंतर्वृत्तियों की बहिर्गामिता, उनकी चंचलता स्थगित हो जाती है और कवि लौकिक राग-द्वेषों से मुक्त होकर आनन्द लाभ करने में समर्थ हो जाता है। अपने एक अन्य निबंध (आलोचना के पथ पर : 'नाट्य-दर्पणकार का रस-विवेचन) में डॉ० सहल ने इसी प्रसंग को प्रसारित करते हुए कहा है : "आनंद का मूल कारण भावमग्नता अथवा स्वस्थता है, परस्थता नहीं। जब तक हमारी वृत्तियाँ चंचल हैं, तब तक हम अन्तर्मुख होकर भाव-मग्न

कला द्वारा ही विकसित हो सकता। ... रसवाद द्वारा रस का ही उन्नयन और परिष्कार होता है और भविष्य में भी यह तब तक ऐसा ही होता रहेगा जब तक मानव-जाति के मूल स्वभाव में ही कोई मौलिक परिवर्तन न हो जाए।" (मूल्यांकन, पृ० ७)।

डॉ० महल ने स्वार्थसिद्ध बुद्धिवादी आलोचकों की 'प्रज्ञा नास्तिक' को अभिहित करते हुए उन्हें 'रस के नाश' ठहराया है। तथ्य यह है कि सृजन से आस्वादन तक की प्रत्येक स्थिति में बुद्धि-व्यापार का अनवरत योगदान रहता है। उसके आस्वादन का नकारा किसने है? और फिर, क्या बुद्धि और भाव में विभाजन सम्भव है, उनका पृथक्करण सम्भव है? काव्य को भावाश्रित कहने का तात्पर्य केवल यही है कि उसमें बुद्धि-तत्व भावाश्रित होता है, अनुशासित नहीं। जो इतना भी नहीं समझते, उन्हें 'अनाड़ी' के अतिरिक्त और क्या ही कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में डॉ० महल का भी स्पष्ट मत है 'काव्य में जिस रागात्मक तत्त्व को अनिवार्य ठहराया जाता है, उसका बौद्धिकता से कोई विरोध नहीं होता ......। साहित्य की सार्थकता राग और बुद्धि के साहित्य में है, साहित्य में नहीं।"—(मूल्यांकन : साहित्य मूल्यांकन के नये मान)।

परन्तु सर्जनात्मक साहित्य के नित नये रूपों से घनिष्ठ सम्पर्क बनाए रखने वाला आलोचक किसी सिद्धान्त-विशेष के प्रति दुराग्रह व्यक्त नहीं कर सकता। डॉ० महल रस-सिद्धान्त के प्रति आस्थावान् हैं लेकिन उनकी यह आस्था, आस्था ही है, दुराग्रह नहीं। यदि रस-सिद्धान्त किसी साहित्य विशेष के सौन्दर्य का समुचित आकलन कर पाने में असमर्थ है, तो उन्हें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। इनकी स्वीकारोक्ति है "*साहित्य का मूल्यांकन केवल परम्परागत शास्त्रीय नियमों के आधार पर नहीं किया जा सकता। साहित्य-सर्जना नियमों का परिणाम नहीं है, वस्तुतः साहित्यकार या कृतित्व ही नियमों को जन्म देता है, उसका समर्थ साहित्यिक व्यक्तित्व ही मूल्यांकन के नये मान भी निर्धारित कर जाता है।*" डॉ० महल का यह मत भी है कि "कोई भी वाद, चाहे वह कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, साहित्य के मूल्यांकन के लिए माप-दण्ड नहीं बन सकता।"—(मूल्यांकन)।

डॉ० महल ने अपनी तत्त्वदर्शी प्रतिभा के आधार पर साहित्य के समुचित मूल्यांकन के निमित्त निम्नलिखित कतिपय नियमों का विधान किया है :—

(१) साहित्य का मूल्यांकन परम्परागत शास्त्रीय नियमों अथवा किसी वाद-विशेष के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए।

(२) परन्तु यदि कोई विशिष्टवाद अथवा दार्शनिक विचार साहित्य के जीवन-दर्शन का अंग बन चुका है, तो वह मूल्याकन का उचित माप-दण्ड बन सकता है। दूसरे शब्दों मे, यदि मूल्याकन का कोई सिद्धान्त जीवन से उद्भूत हो, चाहे वह फ्रायड से लिया गया हो, चाहे मार्क्स से, तो वह मूल्यांकन का समुचित सिद्धान्त कहा जा सकता है।

(३) किसी विशिष्ट शैली अथवा किसी सर्वथा अभिनव शिल्प-विधान वाली रचनाएँ अपने मूल्याकन के लिए स्वयं प्रतिमान बन जाती हैं, इसलिए उनका मूल्यांकन उन्ही के आधार पर किया जाना चाहिए। "शेखर एक जीवनी जैसे आधुनिक उपन्यास मे कही लघु-कथा, कही यात्रा-विवरण,........कही गद्य-गीत, कही व्याख्यान-कथन, कही सिद्धान्त-कथन–सभी प्रकार की शैलियों का समावेश हुआ है। इस प्रकार के उपन्यास अपने मूल्याकन के लिए स्वयं प्रतिमान बन जाते हैं।" —(मूल्याकन)।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, डॉ० सहल के समीक्षात्मक निबंधो मे समन्वय-दृष्टि की प्रधानता है। वे भारतीय सिद्धान्तो के प्रति आस्था रखते हुए भी, पाश्चात्य अथवा आधुनिक समीक्षा-पद्धति को स्वीकार करते है। सस्कृत काव्य-शास्त्र और संस्कृत आलोचना मे सिद्ध कलाकृति पर ही बल दिया गया है, कवि-व्यक्तित्व पर नही; दूसरी ओर सस्कृत आलोचना सिद्धान्त-प्रधान रही है, व्यावहारिक-समीक्षा का सूत्रपात तो पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतियो के सम्पर्क के फलस्वरूप ही हुआ है। डॉ० सहल ने (३) के अतर्गत पाश्चात्य-समीक्षा की इस विशिष्ट दृष्टि को उदारता-पूर्वक स्वीकार किया है। उक्त उद्धरण मे उनका आशय है कि किन्हीं विशिष्ट कृतियों के सन्दर्भ मे कभी-कभी सर्जनात्मकता (Creativity) अपने आप मे एक मूल्य बन जाती है। उस स्थिति मे कृति के समुचित मूल्याकन के लिए किसी बाह्य सिद्धान्त के आरोपण की अपेक्षा नही रह जाती। डॉ० सहल की उक्त विचारधारा निश्चय ही आधुनिक समीक्षा के क्षेत्र मे नये क्षितिजो के उद्घाटन की सामर्थ्य रखती है। प्रस्तुत सदर्भ मे सर्जनात्मकता की अवधारणा को बड़े व्यापक रूप मे परिकल्पित किया जाता है : उसमे कृति की शैली, उसका शिल्प-विधान और उसकी विषय-वस्तु–सभी का विवेचन अपेक्षित होता है।

डॉ० सहल ने अपने निबधों मे विभिन्न मनोविश्लेषणात्मक आलोचना दृष्टियों (फ्रायड और एडलर के मनोविश्लेषण-शास्त्र पर आधारित) पर सुविचारित

गौर तर्कपुष्ट विवेचन प्रस्तुत करते हुए उनकी शक्ति और सीमा का सर्वथा मौलिक
नर्वचन किया है (द्रष्टव्यः समीक्षाञ्जलिः 'कला का त्रिकोण'; और आलोचना के
त्य पर : 'आलोचना और मनोविश्लेषण') । 'कला का त्रिकोण' शीर्षक निबंध में
डॉ० सहल ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि केवल फायड अथवा केवल एडलर
की मान्यताओं के प्रकाश में कलाकृति का समुचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता
क्योंकि उक्त दोनों मनोविश्लेषण-शास्त्रियों की मान्यताएँ अव्याप्ति दोष से दूषित
हैं। मनोविश्लेषण-शास्त्र के आधार पर यदि किसी सम्यक् आलोचना-दृष्टि के
विकास की सभावना हो सकती है तो वह आलोचना-दृष्टि दोनो मनोविश्लेषण-शास्त्रियों
की सम्मिलित मान्यताओं के आधार पर ही विकसित हो सकती है। परन्तु चिन्तन
की परिपक्वता के साथ ही डॉ० सहल को अपनी उक्त मान्यता में किंचित् संशोधन
करना पड़ा है। उनकी एतद्विषयक संशोधित विचारधारा का अत्यन्त निर्भ्रान्त
उपस्थापन उनके दूसरे निबंध 'आलोचना और मनोविश्लेषण' में मिलता है।
डॉ० सहल ने साहित्य की आलोचना में मनोविश्लेषण-शास्त्र की सार्थकता को
सर्वथा नकार दिया हो, ऐसा नहीं है। उनकी स्वीकारोक्ति है : "साहित्य की
आलोचना में मनोविश्लेषण का निश्चित स्थान है ।.........मनोविश्लेषण की
मर्यादाओं को मानते हुए, विषय के स्पष्टीकरण के लिए उसका समुचित प्रयोग किया
जा सकता है।......इस प्रकार के विश्लेषण कविता के मर्म को समझाने में हमारी
सहायता करते हैं।"

डॉ० सहल ने मनोविश्लेषण की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए भी एक
अत्यन्त मौलिक प्रश्न उठाया है - "क्या विश्व के सभी बड़े कलाकारों की कृतियाँ
उनकी कुण्ठित इच्छाओं का परिणाम हैं?"—और इस प्रश्न का उत्तर देते हुए
उन्होंने कहा है - "यह सच है कि ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जिनके विश्लेषण करने
पर हम उनमें कलाकारों की दमित इच्छाओं की तृप्ति पाते हैं, किन्तु सभी रचनाओं
के लिए यह कह देना काव्यकारों के साथ अन्याय करना होगा।" इसके अतिरिक्त
"अनासक्त साहित्य के सम्बन्ध में मनोविश्लेषण-पद्धति का आलोचक क्या
कहेगा?" इसलिए डॉ० सहल के अनुसार आलोचना की यह पद्धति अव्याप्ति-दोष
से दूषित है। वास्तव में "जीवन से मनोविज्ञान के सिद्धान्त निकलने चाहिएँ, मनो-
विज्ञान के सिद्धान्तों से जीवन नहीं।" डॉ० सहल ने इस ... पद्धति की
एक अन्य सीमा का भी निर्देश किया है : "इस प्रकार की ...
प्रतिभा और रचना-तन्त्र पर विचार नहीं हो ... ।"

वास्तव में यदि ...
नहीं हुआ ...

विश्लेषणात्मक-आलोचना पद्धति की ही दोनों दृष्टियो को लीजिए : फ्रायड और एडलर दोनों के सिद्धान्तों मे वासना के उदात्तीकरण पर बल दिया गया है—चाहे उसका रूप कोई भी हो। लेकिन तथ्य यह है कि वासनाएँ यहाँ उदात्तीकृत होकर भी वैयक्तिक ही रह जाती है। कहा जा सकता है कि कलाकार अपनी अवदमित वासनाओ अथवा अपने हीनता-भाव को अपनी कलाकृति मे अपने ऊपर घटित करके अथवा अपने से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध करके नही, दूसरे पात्रों पर घटित करके अभिव्यक्त करता है जिससे उसका 'व्यक्तिगत रूप तिरोहित हो जाता है'। ठीक है; लेकिन इससे क्या ? इस रूप मे क्या उनकी वैयक्तिकता का विसर्जन हो जाता है ? स्पष्ट ही ऐसा नही हो पाता, क्योंकि तब वे पात्र-विशेष से सम्बद्ध हो जाती हैं। इसलिए वैशिष्ट्य के तिरोधान के लिए इस पद्धति मे कोई विधान नही है। रस-सिद्धान्त में जिस प्रकार व्यक्ति-संसर्ग और वैयक्तिक राग-द्वेष से मुक्ति का विधान है, उस प्रकार का कोई विधान इसमें नही है। इसलिए, रस-शास्त्र मे काव्यानंद की अवधारणा जिस उच्चतर फलक पर अधिष्ठित है, उस उच्चतर फलक की सम्प्राप्ति के लिए इसमे कोई स्थान नही। रसवादी आलोचक डॉ० सहल की दृष्टि इस तथ्य पर न गई हो, ऐसा नही है। इसीलिए एक स्थान पर तो उन्होने यहाँ तक कह डाला है कि "रस की सत्ता से इन्कार करना काव्य की सत्ता से ही इन्कार करने के समान है।"

डॉ० सहल ने काव्यास्वादन-पक्ष से सम्बन्धित एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर अपने एक निबन्ध मे संकेत किया है। यह संकेत 'उदात्त' अथवा 'विराट्' के तात्त्विक-विवेचन के संदर्भ मे किया गया है : "जिस क्षण कोई यह कहने लगे कि यह विराट् तो है किन्तु कितना विराट् है, यह मैं जानता हूँ, उसी क्षण काव्यगत भव्यता अदृश्य हो जाती है।" (समीक्षाञ्जलि : 'काव्य मे विराट्-भावना')। आपाततः यह वक्तव्य बहुत सीधा और सरल प्रतीत होता है, लेकिन इसके मूल में जाकर देखिए तो काव्यास्वाद की प्रकृति का पूरा निर्वचन झलकता दिखाई देगा। उदात्त या विराट् का तत्त्व भी सौन्दर्य का एक प्रकार है। सौन्दर्य एक व्यापक अवधारणा है, बृहत्तर कॉन्सेप्ट है; रमणीय, उदात्त आदि उसके विविध प्रकार हैं, रूप हैं, उसी प्रकार, जिस प्रकार 'प्रेम' एक बृहत्तर अवधारणा है और स्नेह, वात्सल्य, प्रीति आदि उसके विविध रूप हैं। डॉ० सहल का उक्त कथन तीन तथ्यों की ओर संकेत करता है—

(१) सौन्दर्य अज्ञेय है, अनिर्वचनीय है। वह 'नेति-नेति' है। उसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है।

(२) काव्यास्वाद अथवा सौन्दर्यानंद हृदय का व्यापार है, वह विशुद्ध अनुभूतिस्वरूप है। जहाँ उसको बुद्धि के आधार पर पकड़ने अथवा विश्लेषित करने का प्रयास किया, वहाँ सौन्दर्य का बोध ही हवा हो जाता है।

(३) वह वेद्यान्तर-सम्पर्कशून्य है। इस वेद्यान्तर-सम्पर्कशून्यता में वैयक्तिक चेतना भी समाविष्ट है। किसी भी इतर वेदना अथवा चेतना के अस्तित्व में उसका स्वयं का अस्तित्व तिरोहित हो जाता है।

यह एक तथ्य है कि काव्यास्वाद के स्वरूप की जिन तीन विशेषताओं का निदर्शन ऊपर किया गया है, वे तीनों 'रस' में भी सुलभ हैं। डॉ० सहल ने काव्यास्वादविषयक अपने उक्त कथन के माध्यम से वास्तव में 'रस' की सार्वभौमता का ही निर्देश किया है।

डॉ० सहल ने अपने एक निबंध 'अलंकार और मनोविज्ञान' में अलंकार-दर्शन का अत्यन्त सारगर्भित मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस निबंध को पढ़ने के अनन्तर ऐसा लगता है कि अलंकार-दर्शन और अलंकारों के विभाजन पर डॉ० सहल द्वारा निर्दिष्ट रीति से शोध-कार्य होना चाहिए। डॉ० सहल ने अलंकारों को वामन की परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करते हुए, अलंकारों के वर्गीकरण के तीन सर्वथा मनोवैज्ञानिक आधारों का विवेचन किया है। ये आधार निम्नलिखित हैं :—

(१) सादृश्य
(२) विरोध
(३) भाव-साहचर्य

इनमें से पहले दो, अर्थात् सादृश्य और विरोध तो हमारे यहाँ परम्परा से स्वीकृत हैं। तीसरे आधार को डॉ० सहल की मौलिक उद्भावना कहा जा सकता है। उनके निबंध सर्वप्रथम 'साहित्य-संदेश' में प्रकाशित हुए थे। पत्रिका के तत्कालीन सम्पादक डॉ० गुलाबराय ने उस पर टिप्पणी देते हुए लिखा है - "लेखक ने मनोभाव और अलंकारों का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है कि अलंकारों के मूल में कवि के हृदय का उत्साह है। उसका साधारण बात से जो न करना उसे अलंकारिकता की ओर ले जाता है।........जो अलंकारों को ऊपर की चीज समझते हैं, उनके लिए यह लेख नेत्रोन्मीलन का काम करेगा।"

विवेच्य निबंधों के अतिरिक्त डॉ० सहल के अन्य अनेक मौलिक निबंध हैं, जिनमें उनकी मौलिक उद्भावना-शक्ति, सूक्ष्म विश्लेषण-प्रतिभा, एवं बहु-अधीत आलोचक की पारदर्शी मेधा के दर्शन होते हैं। निबंधों में (१) 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता और रस-सिद्धान्त', (२) 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता तथा ध्वनि-सिद्धान्त' और (३) 'ललित-कलाओं का तारतम्य'-(अनुसंधान और आलोचना); (४) 'रस-प्रक्रिया का त्रिकोण और पाश्चात्य समीक्षक', (५) 'ट्रेजेडी में अहं का विगलन'-(विमर्श और अनुभूति); (६) 'स्वभावोक्ति का अलंकारत्व' और (७) 'करुण रस की सुखात्मकता'-(आलोचना के पथ पर) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

...

राजस्थानी कहावतों पर आपका ग्रन्थ मिला। निःसन्देह यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, जिसे आपने विधिवत् सम्पन्न किया है। कहावतों में युगान्तर की अनुभूतियाँ सूत्र रूप में सावित रहती हैं। ऐसा कार्य प्रत्येक जनपदीय भाषा के लिए होना चाहिए।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

विमर्श और व्युत्पत्ति : एक मूल्यांकन

• आचार्य विनयमोहन शर्मा

डॉ॰ कन्हैयालाल सहल हिन्दी के ख्यातिलब्ध समीक्षक और चिन्तक हैं। उनका अध्ययन-क्षेत्र शिष्ट साहित्य की विशेष विधा तक ही सीमित नहीं है, उन्होंने लोक-साहित्य, दर्शन, भाषाशास्त्र आदि विषयों पर भी अध्ययन किया है जिसका प्रमाण उनका प्रस्तुत निबन्ध संग्रह है। इसके दो खण्ड हैं। विमर्श-शीर्षक प्रथम खंड में 'रस-प्रक्रिया' से लेकर 'ट्रैजेडी के सम्बन्ध में नूतन मानवीय दृष्टिकोण' तक ३५ निबन्धों का संकलन है। व्युत्पत्ति शीर्षक द्वितीय खण्ड में 'राठोड' से लेकर 'आवड़ना' तक ८४ शब्दों की व्युत्पत्ति-चर्चा है।

"विमर्श" विमर्श के कई निबन्ध छोटे हैं पर उनमें जो गंभीर-विवेचन है, उससे 'देखन में छोटे लगत, घाव करें गंभीर' उक्ति चरितार्थ होती है। 'रस-प्रक्रिया का त्रिकोण और पाश्चात्य समीक्षक' निबन्ध में उन्होंने अभिधा, कल्पना और व्यंजना के त्रिकोण से रस-प्रक्रिया को समझाने का प्रयास किया है। अभिधा वर्ण्यविषय से संबधित है, किन्तु निरी अभिधेय वस्तु काव्य का रूप धारण नहीं कर सकती। अभिधेय को आस्वाद्य बनाने के लिए कवि अथवा नाटककार को रस-प्रक्रिया की दूसरी स्थिति अर्थात् कल्पना का सहारा लेना पड़ता है जिसके द्वारा रस अभिव्यक्त होता है अथवा व्यंजित होता है। व्यंजना को तीसरी स्थिति समझिए, जिसे भट्ट नायक ने भावकत्व का नाम दिया है। इसी त्रिकोण को दृष्टिगत कर उन्होंने भरत-सूत्र की व्याख्या की है जिसके अनुसार 'विभावादि' के संयोग अर्थात् कल्प्य-कल्पक भाव रूप सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति अर्थात् व्यंजना होती है। लेखक का यह विचार ठीक है कि भट्ट नायक का भावकत्व-व्यापार व्यंजना के अन्तर्भुक्त नहीं हो सकता। वह तो विभावादि को

साधारणीकृत करने में सहायक होता है। उसे मन की एक प्रवृत्ति मान सकते हैं। इसी छोटे लेख में लेखक ने रस-सिद्धान्त और पाश्चात्य समीक्षा के सिद्धांतों पर भी विचार किया है, जो अधिक विस्तार चाहता था। दूसरे निबन्ध में 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त के तत्त्व को समझाने की चेष्टा की गई है। इस सिद्धान्त के प्रचारक कला में नैतिकता का निषेध करते हैं पर सभी पाश्चात्य समीक्षक इस मत के समर्थक नहीं हैं। किसी भी महान् साहित्यिक कृति के लिए नैतिक धरातल का होना आवश्यक होता है। मार्क्सवादी समीक्षा ने इस सिद्धान्त का तो टेंटुआ ही घोट दिया है। प्रत्येक कला का लक्ष्य सहृदय व्यक्ति में आनन्द का संचार करना है पर आनन्द के साथ-साथ उसमें उदात्त भावनाओं का संचार भी हो तो सोने में सुगन्ध आ जाती है। कला में अनुदात्त असामाजिकता के उन्मेष से विकृति उत्पन्न हो सकती है जो आनन्द-सर्जन की बाधक है। 'ट्रेजेडी' से आनन्द क्यों मिलता है? इसका उत्तर लेखक ने 'अहं' के विगलन के रूप में दिया है। इसे हम साधारणीकरण की अनिवार्य शर्त कह सकते हैं। साधारणीकरण की आदर्श स्थिति में विभावादि के साथ प्रमाता का भी अहं विगलित हो जाता है। "दुःख की लोकानुभूति कराये बिना ट्रेजेडी दुःख से उत्पन्न होने वाला लाभ पहुँचा देती है और वह है अहं के विगलन द्वारा आत्मोपलब्धि की झलक। "कबीर और मरणतत्त्व" में कबीर ने मरण को त्योहार के रूप में किस तरह स्वीकार किया है, इसकी विवेचना है। पर कबीर उसी मृत्यु को श्लाघ्य समझते हैं जो जीवनमुक्ति का रूप धारण करे-मुक्ति प्रदायिनी हो। वासनाओं का मरण ही कबीर को इष्ट था। वही उनके लिए काव्य था। 'राम की शक्ति-पूजा के स्रोत' के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है। देवीभागवत में राम द्वारा देवी की उपासना के प्रसंग का सविस्तार वर्णन है पर 'निराला' ने बँगला की कृत्तिवास-रामायण से अधिक प्रेरणा ली है। इसे लेखक ने सोदाहरण निर्दिष्ट किया है। नव साहित्यकार भारतीय समीक्षा-सिद्धान्त, विशेष कर रस-सिद्धान्त के प्रति उदासीन ही नहीं, उसे अव्यावहारिक मानता है। आज के साहित्य के मूल्यांकन में उसे असमर्थ मानता है। नई कविता में बिम्ब और प्रतीकों का अधिक प्रयोग हो रहा है और शब्दों में नवीन अर्थ भरे जा रहे हैं। अतः नई समीक्षा में इन्हीं का विश्लेषण अपेक्षित है। पाश्चात्य समीक्षक काव्य में बुद्धि, कल्पना और भावना-तत्त्वों का अन्वेषण करते रहे हैं, पर आज प्रतीक और बिम्बों की प्रधानता होने से इन्हीं पर समीक्षक की दृष्टि जाती

. . . . .

जो उसकी अपनी न हो, सबकी हो। लेखक ने इसे ही प्रतिपादित किया है। नई कविता जब तक निर्वैयक्तिक नहीं बनेगी, सामाजिक के लिए आस्वाद्य नहीं बन पायेगी।

एक प्रबुद्ध समीक्षक

• डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र

सहलजी ने सन् १६४० के लगभग हिन्दी आलोचना-क्षेत्र मे प्रवेश किया था और तब से अब तक आप अनवरत रूप से इस क्षेत्र मे कार्य कर रहे हैं। साहित्य-सिद्धान्तों एवं प्रयोगात्मक समीक्षा के विभिन्न सामयिक एव शाश्वत प्रश्नो पर यह विद्वान् समीक्षक पिछले प्रायः तीन दशको से विचार कर रहे हैं। आपके ये विचार अधिकांशतः छोटे-बड़े निबन्धों के रूप मे अभिव्यक्त हुए हैं। सहलजी के आलो[illegible] रूप के प्रेरणा-स्रोतो के कुछ प्रमुख रूपों का विवेचन हो सकता है। यह निि[illegible] है कि सहलजी प्रमुखतः अध्यापक-आलोचक है। अध्यापन के लिए तैयार की अधिकांश सामग्री नही, तो कम से कम इस प्रसग मे उठे हुए मौलिक प्रश्न निबन्धो का रूप धारण करते ही गये हैं। जिस समय सहलजी ने हिन्दी-साहि[illegible] का अध्यापन प्रारम्भ किया था, उस समय कवियों, काव्य-धाराओ और साहि[illegible] ग्रन्थों पर समीक्षाएँ प्रायः विरल ही थी। अतः प्रत्येक प्रबुद्ध चिन्तक एवं स[illegible] अध्यापक के लिए यह भी एक अनिवार्यता थी कि वह एक सजग आलोचक [illegible] रहे। मैं समझता हूँ कि अध्यापक की यदि इस चेतना को ही सहलजी [illegible] मूलतः आलोचक बनाने का पूर्ण श्रेय नही है तो कम से कम इससे उनके आलोच[illegible] रूप को विकसित होने एवं विशेष दिशा मे बढाने की एक महती प्रेरणा अवश्य मिल[illegible] है। मुझे स्मरण है कि 'गुंजन', 'पन्तजी', 'उर्मिला के विरह वर्णन' आदि पर लि[illegible] गये उनके बहुत से महत्त्वपूर्ण निबन्धो का गठन उनके उन विचारो से हुआ है जो उनको कक्षा मे पढ़ाते समय अकस्मात् प्रतिभात हुए थे। इनमे उनके मनन, चिन्तन एव अध्ययन का मिश्रण भी हो गया है पर इन निबन्धो की मूल आधार-भूमि [illegible] [illegible]र ही हैं जो कक्षा मे पढ़ाते समय वे व्यक्त करते रहे हैं। प्रबुद्ध अध्यापक कक्षा [illegible]चानक अत्यन्त मौलिक एव महत्त्वपूर्ण बात कह जाते है। उनको पल्लवित

रूप में दार्शनिक [illegible] बन जाते हैं, वहीं सहृदयता के साथ भी है। साहित्य और कला [illegible] यह अवश्य कौतूहल है कि इनके विचार [illegible] रूप में [illegible] गोष्ठियों [illegible] में [illegible] नहीं रह अपितु हिन्दी-जगत् के सभी पाठकों के लिए उपलब्ध हो सके। इस प्रकार इन निबन्धों के द्वारा सहृदयों के भावात्मक एवं बौद्धिक, दोनों पक्षों का ही बहुत सुन्दर प्रसार और विकास हुआ है।

सहलजी के आलोचक-रूप को साहित्य-क्षेत्र में उठे हुए महत्त्वपूर्ण विवादों से प्रेरणा प्राप्त हुई। सहलजी समय-समय पर उठे हुए साहित्यिक विवादों और प्रश्नों के प्रति उदासीन तथा उनके मूक द्रष्टा मात्र नहीं रहे। वे अपने विचार निबन्धों अथवा पत्रों के द्वारा बराबर व्यक्त करते रहे हैं। यह उनके समीक्षक-रूप का दूसरा प्रेरणा-स्रोत रहा। तीसरा स्रोत है हिन्दी के कतिपय प्रमुख आलोचकों, कवियों एवं साहित्य के मनीषियों से साहित्य-सम्बन्धी प्रश्नों पर पत्र-व्यवहार। यह पत्र-व्यवहार समीक्षा-सम्बन्धी विवादों के प्रसंग में भी हुआ पर अनेक अवसर ऐसे भी आये हैं जब सहलजी ने अनेक तत्त्वों के स्पष्टीकरण, अपने विचारों की पुष्टि तथा अपनी शंकाओं के समाधान के लिए भी पत्र-व्यवहार किया है। पर यह कहना भी ठीक है कि सहलजी के अधिकांश आलोचनात्मक निबन्धों का मूल प्रेरक उनका अध्यापक-रूप ही रहा है।

इस प्रेरणाधारा का ही परिणाम है कि जहाँ सहलजी के 'गुंजन' 'साकेत', 'कामायनी' आदि पर लिखे गये निबन्ध विस्तृत एवं प्राय सर्वाङ्गीण समीक्षा के उदाहरण कहे जा सकते हैं, वहाँ 'श्रृंगार और माधुर्य' 'निराशावाद और प्रसादजी' 'कामायनी का अद्वैत' जैसे निबन्ध केवल एक विशेष दृष्टिकोण का प्रतिपादन मात्र करते जान है। साहित्य के सिद्धान्तों पर लिखे गये अधिकांश निबन्धों में उनके सर्वाङ्गीण विवेचन की अपेक्षा सिद्धान्त के किसी एक पक्ष का सूक्ष्म विवेचन अधिक हुआ है। यह निबन्ध की विधा एवं सहलजी की मनोवृत्ति दोनों के ही अनुरूप है। साहित्य-सिद्धान्तों पर व्यापक एवं सर्वाङ्गीण विवेचन तो विभिन्न समीक्षा-ग्रन्थों में उपलब्ध होता ही है। उनकी पुनरावृत्ति में तो सहलजी जैसे व्यक्ति का मन विशेष रम नहीं सकता था। अतः उनके किसी पूर्णतः अथवा प्राय. उपेक्षित पक्ष का उद्‌घाटन ही सहलजी को अधिक समीचीन प्रतीत हुआ। सिद्धान्तों के ऐसे उपेक्षित-प्राय. अथवा गूढ़ एवं अन्तर्भूत पक्षों पर सहलजी की दृष्टि भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तन की तुलना की प्रवृत्ति के कारण अधिक गई है। उदाहरणार्थ 'संस्कृत के नाट्याचार्य और नाटक की तीन अन्विंतियाँ' नामक निबन्ध में उन्होंने अभिनव गुप्त की उन पंक्तियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिनसे तीन 'अन्विंतियों' का संकेत मिलता है। इसी प्रकार सहलजी ने वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता (Objective Correla-

tion) के सिद्धान्त की तुलना भारतीय ध्वनि सिद्धान्त और रस-सिद्धान्त से की है। इस प्रकार की तुलनात्मक दृष्टि समीक्षक की एक प्रमुख प्रवृत्ति ही है। सहलजी के द्वारा की गई ये तुलनाएँ दुराकृष्ट कल्पना के दोष से तो सर्वथा मुक्त हैं ही, पर इनमें प्रायः इनके साम्य का ही अंकन किया गया है। पाश्चात्य एवं भारतीय सिद्धान्तों में जो पारमार्थिक सूक्ष्म अन्तर है, वह सर्वत्र उभर कर सामने नहीं आया है। यह शायद निबन्ध की सीमाओं के कारण अधिक हुआ है। वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के सिद्धान्त का जो विवेचन विद्वान् समीक्षक ने किया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्धान्त प्रधानतः उस सामग्री का विवेचन करता है जिसका अन्तर्भाव विभाव, अनुभाव और अप्रस्तुत विधान में होता है पर ध्वनि वह प्रक्रिया और उस प्रक्रिया से प्राप्त मन स्थिति है जिसके लिए इस सामग्री का उपयोग होता है। उक्त निबन्ध में इस सारे अन्तर की ध्वनि, ध्वनि-मात्र हो पाई है।

सहलजी ने अनेक स्थानों पर काव्य-सिद्धान्तों की गहराई में पैठकर उनकी आत्मा का साक्षात्कार किया है और उनकी सूक्ष्म एवं मौलिक व्याख्या की है। *औचित्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए उन्होंने कहा है 'यह समग्र-औचित्य'* शब्दार्थ के चारु सम्मेलन में है, कल्पना की रमणीयता में है, बुद्धि और भावना के प्राति-भासिक विरोध-परिहार में है, रसनिष्पत्तिगम्य आनन्द में है अथवा आवेगों के *सन्तुलन-जन्य सुख की प्रतिष्ठा में है, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा* जा सकता है किन्तु काव्य या साहित्य में समग्र औचित्य जैसी कोई वस्तु है।' औचित्य काव्य का प्राण है। वह सम्पूर्ण काव्य में व्याप्त रहता है। प्रत्येक अंग की सचेतनता के साथ ही सम्पूर्ण शरीर की भी एक सचेतनता है। यह प्राण का एक समग्ररूप है। शरीर की सचेतनता अपने आप में एक स्वतन्त्र इकाई है। आत्मा की सापेक्षता में तो उसकी रमणीयता है ही, इसके साथ ही उसकी अपनी भी रमणीयता है। वैसे ही औचित्य की रस की सापेक्षता में रहने वाली रमणीयता और इकाई के अतिरिक्त अपनी एक स्वतन्त्र इकाई और रमणीयता भी है। इसी तथ्य की ओर सहलजी का ध्यान गया है। औचित्य को प्राण मानने से निकलने वाली एक ध्वनि को सहलजी की सूक्ष्म दृष्टि एवं मौलिक चिन्तन ने पल्लवित कर दिया है। सहलजी के 'विवेचन' में ऐसे आभास कई जगह मिलते हैं। उन्होंने भारतीय ही नहीं, अपितु पाश्चात्य-काव्य सिद्धान्त का भी प्रामाणिक-विवेचन किया है। 'कला का त्रिकोण' 'काव्य में विराट् भावना', 'संवेदना का हेत्वाभास' जैसे निबन्धों में उन्होंने पाश्चात्य समीक्षा-तत्त्वों का अच्छा परिचय देते हुए, भारतीय साहित्य के मूल्यांकन के लिए एक सफल मान-दण्ड के रूप में उनके प्रयोग की क्षमता का संकेत किया है। इस प्रकार का चिन्तन समन्वयवादी मानदण्ड के निर्माण में बहुत अधिक सहायक होता है।

जिस समय सहलजी ने समीक्षा-क्षेत्र मे प्रवेश किया था, उस समय तक हिन्दी ने समीक्षा की अपनी एक शैली निर्मित करली थी। उसने कतिपय मानदण्डों और पद्धतियों को स्वीकृति भी दे दी थी। शुक्लजी की नीति और रस पर आधारित प्रबन्धकाव्योचित समीक्षा-शैली तथा प्रधानतः छायावादी काव्य के लिए उपयुक्त स्वच्छन्दतावादी एवं सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। मार्क्सवादी और मनोविश्लेषणवादी समीक्षा-शैलियों ने भी अपना व्यवस्थित कार्य प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार सहलजी को ये सभी शैलियाँ तथा इनके मानदण्ड एक प्रकार से विरासत के रूप मे प्राप्त हो गये। सहलजी पर इन सबका प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। सहलजी का व्यक्तित्व पूर्वाग्रहों से मुक्त, सहृदय, सजग, तार्किक एवं गुणग्राही है। अतः उनकी सारग्राहिणी बुद्धि ने इन सभी समीक्षा-पद्धतियों के साथ संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला से भी मुक्त हृदय से समीक्षा तत्त्व-स्वीकार किये हैं। यही कारण है कि उनकी समीक्षाओं मे इन सभी स्रोतों मे आये हुए तत्त्वों के दर्शन होते हैं। सहलजी की समीक्षाओं मे यथावसर इन सबका मिश्रण और समन्वय मिलता है। सहलजी वादों के कठघरों मे कवियों को बन्द करना पसन्द नही करते। वास्तव में देखा जाय तो किसी भी स्वतन्त्रचेता कवि को किसी एक वाद से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार स्वतन्त्रचेता समीक्षक को भी किसी वाद या सम्प्रदाय में बाँध कर नहीं देखा जा सकता। यह बात सहलजी के लिए भी लागू है। उनको भी किसी वाद या सम्प्रदाय-विशेष का समीक्षक नही कहा जा सकता। पर फिर भी प्रामाणिक विवेचन के लिए पारिभाषिक शब्दों के घेरे में तो बाँधना ही पड़ता है। सहलजी उस शुक्लोत्तर समीक्षा-पद्धति के समीक्षक हैं जिसमे शुक्ल एवं स्वच्छंदतावादी दोनों पद्धतियों का मिश्रण हो गया है और जिसको हम प्राध्यापकीय समीक्षा कह सकते हैं। हाँ, सहलजी मे स्वच्छंदतावादी चेतना का अंश अधिक माना जा सकता है।

सहलजी ने आलोच्य रचना या कवि के काव्य-सौन्दर्य पर विचार करने के साथ ही उसके विचार-दर्शन, कवि की मनःस्थिति, तत्कालीन परिस्थितियों के प्रभाव आदि पर भी पर्याप्त विचार किया है। उन्होंने पाश्चात्य एवं भारतीय, दोनों ही काव्य-शास्त्रों के तत्त्वों के आधार पर कृतियों का मूल्यांकन किया है। उन्होंने 'कामायनी के महाकाव्यत्व, रूपक-तत्त्व, दर्शन, नियतिवाद' आदि कई पक्षों का संक्षिप्त पर सम्यक् परिचय दिया है। महाकाव्यत्व पर विचार करते समय सहलजी के समक्ष परम्परावादी दृष्टिकोण था, पर उससे बँधकर वे नहीं चलना चाहते थे, इसीलिए उनके समीक्षक ने महाकाव्य-सम्बन्धी नवीन एवं स्वच्छन्दतावादी धारणा का आश्रय लिया है। सहलजी की समीक्षा में महाकाव्य की तरह आलोचना के अन्य तत्त्वों में भी भारतीय और पाश्चात्य दोनों दृष्टियों का मिश्रण है। सहलजी पर

पाश्चात्य समीक्षकों का पर्याप्त प्रभाव है। इसी से सहलजी भी काव्य-सौष्ठव की अपेक्षा कवि के विचारों एवं भावों का अधिक परिचय देते हैं। अनेक स्थानों पर तो ये निबन्ध काव्य की शुद्ध समीक्षा के स्थान पर जीवन का विश्लेषण अधिक हो जाते हैं। अतः इनमें काव्येतर तत्त्वों पर अधिक विचार हुआ है, यह कहना असमीचीन नहीं है। नियतिवाद-सम्बन्धी प्रसादजी की धारणा ने उनकी भाव-राशि और चरित्र-कल्पना को किस प्रकार प्रभावित किया, उनमें किस प्रकार की मर्म-स्पर्शिता को जन्म दिया, ऐसे प्रश्नों को सहलजी ने नहीं उठाया है। अतः ये सब बौद्धिक परिचय के क्षेत्र की वस्तु अधिक कही जा सकती है। सहलजी की समीक्षाएँ भी चिन्तन की संक्षिप्तता, बौद्धिकता एवं एक झलक मात्र देने की विशेषता से विभूषित हैं।

सहलजी उदार, सहृदय, मननशील एवं मौलिक समीक्षक हैं। उनमें चिन्तन की सूक्ष्मता, प्रौढ़ता और प्रामाणिकता के साथ ही विचारों की स्पष्टता एवं शैली की सरलता तथा प्रसादमयता के दर्शन होते हैं। सहलजी का समीक्षक चिन्तन, प्रति-पादन, शैली एवं भाषा, किसी भी दृष्टि से अस्पष्ट और उलझा हुआ नहीं है।

•••

गीता और मानसिक स्वास्थ्य

आपका लेख मिला। आपने मानसिक समता के लिए मानसिक स्वास्थ्य का प्रयोग किया है न ? व्युत्पत्ति की दृष्टि से दोनों एक हैं भी। आपका लेख मैंने रुचि और लाभ के साथ पढ़ा है। आपके पांडित्य से हम लोगों का मस्तक ऊँचा रहता है।

—डॉ० मथुरालाल शर्मा

अनुसंधान और आलोचना : एक विवेचन

• डॉ० प्रेमशंकर

'अनुसंधान और आलोचना' एक अनुभवी शिक्षक और शोधकर्त्ता के व्यक्तित्व द्वारा निर्मित ग्रन्थ है। प्रथम खंड में तेईस निबंध हैं, जिनमें राजस्थानी साहित्य और संस्कृति का विवेचन है। द्वितीय खंड में हिन्दी साहित्यालोचन से सम्बद्ध सोलह निबंध हैं। अपना समस्त जीवन राजस्थान में गुजारने वाले डॉ० महल उस प्रदेश के विषय में साधिकार कह सकते हैं। 'राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन' उनका प्रसिद्ध शोध-प्रबंध है, जिसे विद्वानों ने पर्याप्त आदर दिया है। वास्तव में लोक-साहित्य की चर्चा केवल 'अकादमिक' अथवा 'पुस्तकीय स्तर' पर नहीं की जा सकती। लोक-साहित्य का प्रारंभ मूलतः मौखिक रूप में होता है, और उसे लिखित रूप में आते-आते समय लगता है। इसके विभिन्न पक्षों से परिचय प्राप्त करने के लिए स्वयं को लोक-जीवन की प्रवहमान धारा से जोड़ना पड़ता है। डॉ० महल एक साथ परम्परा, लोकजीवन और शोध-सामग्री पर अपनी दृष्टि रखते हुए आगे बढ़ना चाहते हैं। भारतीय दर्शन और संस्कृत वाङ्मय से वे सुपरिचित हैं, जैसा कि अनुसंधान और आलोचना के कई निबंधों में स्पष्ट है। प्रायः प्राचीन साहित्यशास्त्र समीक्षा को साहित्य के भार से इतना आहत करता आया है कि समीक्षकों की मौलिक विवेचना-क्षमता के कुण्ठित हो जाने का खतरा बना रहता है। डॉ० महल अपने शास्त्र-ज्ञान का उपयोग जब साहित्य के विवेचन और आकलन के लिए करते हैं, तब उन्हें इसका थोड़ा-थोड़ा अहसास बराबर रहता है कि कहीं शास्त्र का अतिरिक्त आरोपण न हो जाय। 'कामायनी का अलंकार-विधान' इस दृष्टि से एक उल्लेखनीय निबंध है। 'कामायनी' एक आधुनिक काव्य है और उसे प्राचीन समीक्षा-निकष पर पूर्णतया मूल्यांकित नहीं किया जा सकता, इसलिए डॉ० महल स्वयं को अलंकार-विवेचन तक सीमित रखते हैं। लक्षणों के आधार पर काव्य में सटीक दृष्टान्त खोज लेना बहुत सरल नहीं होता, विशेषतया जब 'लक्षण' प्राचीन हों और काव्य नवीन। फिर भी डॉ० महल ने जितनी अधिक मात्रा में अलंकार

खोज निकाले हैं, उतने सभवतः दीर्घाकारी शोधग्रंथो मे भी प्राप्त नहीं होते। शास्त्र का सार्थक प्रयोग वे जानते है। इसी निबंध मे उन्होने पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के अलंकारो की तलाश कामायनी मे की है, जो इस प्रकार का पहला प्रयत्न है।

डॉ० कन्हैयालाल सहल मूलतः एक अनुसन्धान-दृष्टि के साहित्यकार हैं और प्रस्तुत ग्रंथ के अधिकांश निबंध तथ्यो का विश्लेषण करते दिखाई देते हैं। 'वीर सतसई' से सम्बद्ध सात-आठ निबंधों में उन्होने महाकवि सूर्यमल्ल के काव्य पर विस्तार से विचार किया है। सूर्यमल्ल के व्यक्तित्व मे उन्होंने कवि, इतिहासवेत्ता तथा विद्वान् तीनो की समष्टि देखी है। डॉ० सहल ने उनके अनेक पत्रों को उद्धृत किया है जिससे १८५७ के स्वतन्त्रता-सग्राम मे उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका का सकेत मिलता है। डॉ० सहल की शोध-दृष्टि राजस्थानी लोकोक्तियो के विवेचन मे सर्वाधिक सक्रिय नजर आती है। इस क्षेत्र मे वे गहराई तक प्रवेश करते है और पूर्ण रुचि के साथ उसका अनुशीलन करते हैं। 'कहावत–एक विवेचन' निबंध मुख्यतया राजस्थानी कहावतो के संदर्भ मे लिखा गया है। इसमे लेखक ने लोकोक्तियों के स्वरूप-निर्धारण मे अपने अध्यवसाय का परिचय तो दिया ही है, उसकी दृष्टि सर्वत्र सामाजिक भी है। डॉ० सहल की यह स्थापना आधुनिक कही जायगी कि लोकोक्तियां मूलत. जीवन-व्यापार से निर्मित होती है और उनमे जनता के सहज सवेदन सुरक्षित हैं। सम्पूर्ण निबंध लेखक की शोधवृत्ति को प्रमाणित करता है।

'अनुसंधान और आलोचना' के निबंध प्रमुख रूप से राजस्थानी लोकसाहित्य को आधार बनाकर रचे गए है, पर उसके द्वितीय खड मे सैद्धान्तिक समीक्षा से सम्बद्ध कुछ निबंध भी है, जो डॉ० सहल के प्राचीन साहित्यशास्त्र से सम्पर्क के साथ नये साहित्य-सिद्धान्तों से परिचय की इच्छा का भी सकेत करते हैं। 'रस अभिव्यक्त है अथवा अनुभूत' ग्रंथ का सबसे सक्षिप्त निबंध है, पर लेखक ने इसमे महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर पाठको का ध्यान आकृष्ट करना चाहा है। इसी क्रम मे आचार्य वाजपेयी और रस-सिद्धान्त' निबंध पठनीय है। डॉ० सहल ने आचार्य जी के मन्तव्य पर उचित टिप्पणी की है। वे लिखते है ·· ···· "इसका यह अर्थ नही कि वाजपेयीजी को भारतीय रस-सिद्धान्त मान्य नही है। स्थूल शास्त्रीयता से ऊपर उठकर रस के सम्बन्ध मे दृष्टिकोण की व्यापकता के वे पक्षपाती थे। काव्य में अनुभूति की तीव्रता को ही उन्होने प्रधानता दी है।" सभवतः डॉ० सहल भी यही धारणा रखते हैं कि भारतीय साहित्यशास्त्र का पुनर्निर्माण अपेक्षित है, ताकि उसके जीवन्त तत्वो का उपयोग आधुनिक युग मे किया जा सके। डॉ० सहल के निबंध प्रमाण हैं कि वे अपने अध्यवसाय के सहारे आगे बढ़ने की चेष्टा बराबर करते रहे हैं, और पाण्डित्य ने उन्हें बोझिल नहीं कर दिया है। •••

मूल्यांकन और मूल्यांकन

• डॉ० भोलाशंकर व्यास

इस ज़माने में जब कि मूल्यांकन के पैमाने दिन ब दिन बदलते जा रहे हैं, किसी भी चीज़ का सही मूल्यांकन करना बड़ा मुश्किल है। जहाँ मुद्रास्फीति के कारण मुद्रा का अवमूल्यन होता जा रहा है वहाँ मुद्रा के वास्तविक मूल्य और पण्य-मूल्य में निरन्तर उतार-चढ़ाव का अन्तर होता रहता है। यह दशा न केवल अर्थशास्त्र की दुनिया में, बल्कि साहित्यशास्त्र की दुनिया में भी नज़र आने लगी है। आज साहित्यिक मूल्यों की शाश्वतता को चुनौती देने की आवाज़ चारों कोनों से सुनाई पड़ रही है और इस माहौल में किसी भी साहित्यिक कृति या कृतिकार के मूल्यांकन के विषय में दूसरे लोग प्रश्न चिह्न उपस्थित करने लग जा सकते हैं। पर किसी साहित्यिक कृति या सांस्कृतिक विषय पर विद्वान् विचारक द्वारा प्रस्तुत मूल्यांकन की ईमानदारी पर शक करना अनुचित है। मेरे सामने हिन्दी के जाने-माने विद्वान् प्राध्यापक डॉ० कन्हैयालाल सहल का निबन्ध-संग्रह 'मूल्यांकन' मौजूद है जिसमें साहित्य, भाषा और शोध से सम्बद्ध समय-समय पर छिटके विचार-स्फुलिंगों की चमक है। डॉ० सहल, प्रसाद साहित्य के विशेषज्ञ होने के साथ ही, भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के भी निष्णात पण्डित हैं। लेकिन उनका एक दूसरा पहलू भी है; वे राजस्थानी भाषा और संस्कृति के कुशल व्याख्याता भी हैं और इस संग्रह में उनके व्यक्तित्व के सिक्के के दोनों पहलू बख़ूबी उजागर हुए हैं। इस सिक्के के मूल्यांकन के बारे में मुझे कोई फ़ैसला नहीं देना है। मैं इसे पाठकों के निर्णय पर ही छोड़ देना बेहतर समझूँगा।

यहाँ इतना ज़रूर कह दूँ कि मूल्यांकन के बारे में ख़ुद सहल जी का दृष्टिकोण समन्वयवादी जान पड़ता है। वे परम्परा और प्रयोग दोनों को गंगाजमुनी शैली के पक्ष में हैं और वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मानवतावाद के बटखरे को अनुचित नहीं मानते। पर साहित्य में शाश्वत मूल्यों या गुणों की अवहेलना को

वे बरदाश्त नही कर सकते। उन्होने अपनी यह कसौटी, संग्रह के पहले ही निबन्ध मे पेश कर दी है।

अगले कई निबन्ध प्रसाद के विविध पक्षो से सम्बद्ध है जिनमे प्रसाद के नियतिवाद पर विस्तार से विचार किया गया है। इस सम्बन्ध मे लेखक ने पश्चिमी दर्शन और बौद्ध दर्शन के परिप्रेक्ष्य मे प्रसाद के नियतिवाद की परीक्षा की है और प्रत्यभिज्ञा दर्शन की नियति के साथ ही प्रसाद की नियति को जोड़कर देखने का प्रयास किया है। कहना न होगा कि नियति नटी के चक्रनृत्य का जो प्रदर्शन प्रसाद के नाटको और काव्यो के मच पर दिखाई पडता है, उसकी एक झलक सहलजी ने दिखाने की कोशिश की है। प्रसाद का नियतिवाद मूलतः रोमेंटिक कवियो के नियतिवाद से मिलता है, जहाँ नियति अपार सौदर्य लिये हुए एक हाथ मे अमृतकुंभ और दूसरे मे विषघट लिए जीवन-समुद्र से उठती चित्रित की जाती है, वह आग्ल कवि कीट्स के शब्दो मे निष्करुण सुन्दरी (La Bela Dame Sans Merci) है और उसके सौन्दर्य-चक्र में फसकर मानव की वही स्थिति होती है जो दीप-शिखा के प्रति आकृष्ट पतंग की। प्रसाद ने तो कहा ही है, "जलता है यह जीवन पतंग" पर प्रसाद का नियतिवाद दुःखवाद और निराशवाद से बढ़कर 'कामायनी' के आशावाद में परिणत होता दिखाई देता है जो पश्चिमी रोमेंटिक कवियो के यहाँ नही मिलता। यहाँ इतना और सकेत कर दिया जाय कि यह नियतिवाद काफ्का, सार्त्र और यास्पर्स जैसे अस्तित्ववादी दार्शनिको के नियतिवाद से भी सर्वथा भिन्न है।

इस सग्रह मे कुछ ऐसे भी निबन्ध हैं जो डॉ० सहल के प्राध्यापकीय व्यक्तित्व का सकेत करते है। साकेत, रत्नाकर तथा केशव से सबद्ध निबन्ध इसी कोटि के है। डॉ० सहल राजस्थानी भाषा और सस्कृति के प्रकाड पण्डित हैं और प्रस्तुत सग्रह के अधिकाश निबन्ध इस पक्ष को उद्घाटित करते है। इन निबन्धो में लोक-भाषा और लोकतत्व के अनेक तथ्य सर्वप्रथम हमारे सामने प्रस्तुत किये गये हैं। लोकवार्ता, लोककाव्य और मुहाविरो के वे विशेषज्ञ हैं। 'ऋग्वेद की लोकोक्तियाँ' शीर्षक उनका निबन्ध पाठक को नई जानकारी देता है जहाँ वे ऋग्वेद में लोकोक्तियों की खोज करते व उनकी अविच्छिन्न परम्परा का सकेत करते हैं। लोक-साहित्य अपने आप मे एक विशाल अध्ययन का क्षेत्र है। यह साहित्य के साथ ही मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, नृतत्व और पुरातत्वशास्त्र के क्षितिजों का भी स्पर्श करता है। लोक-साहित्य की परम्परा एक अविच्छिन्न अवचेतन-परम्परा है, जिसमें सस्कृति-विशेष के अतीत का मानस सहराता मिलता है और जो वर्तमान और अनागत की चेतन-धारा को प्रवाहित करता रहता है। इस साहित्य के विवेचन के लिए न केवल उस सस्कृति-विशेष की भाषा के बाहरी ढाचे की जानकारी ही पर्याप्त है, बल्कि उसके

आत्मतत्व तक पैठने की क्षमता भी अपेक्षित है। उसे लोकवार्ता और लोककाव्य में प्रयुक्त अभिप्रायों (मोटिफ) और प्रतीकों को समझना ही नहीं होगा बल्कि उनके विकास की कहानी भी कहनी होगी। उसे उस संस्कृति के रीति रिवाजों, व्रत-त्योहारों, सामाजिक और नैतिक विधि-निषेधों का वैज्ञानिक विश्लेषण करना होगा और यह तभी हो सकेगा जब वह महज अध्यापक न रहकर जनजीवन की जीवन्त प्रकृति का निरीक्षक बन उसमें विचरण करे और किसी विशेष भाषाभाषी संस्कृति को समझने के लिए उस समाज के स्पंदन की हर उठती-गिरती लहर के साथ ताल देता रहे। डॉ० सहल के राजस्थानी खंड वाले निबन्धों में मुझे यही रूप देखने को मिला। मैं निदर्शन के तौर पर दो चार निबन्धों को गिना देना पर्याप्त समझूँगा—राजस्थानी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्परा, राजस्थानी चित्र-शैली, राजस्थानी साहित्य में राष्ट्रीय भावना, पाबूजी के पवाड़े और राजस्थानी लोक-कथाओं में सांस्कृतिक चेतना।

साहित्य को संस्कृति से जुदा करके कभी नहीं देखा जा सकता, इसलिए कि साहित्य अपना जीवनरस संस्कृति की भूमि से ही ग्रहण करता है और जो साहित्य अमरबेलि बन जाता है, वह संस्कृति के अपने अस्तित्व के लिए भी घातक सिद्ध होता है। संस्कृति स्थिर और रूढ़ वस्तु नहीं है। वह गत्वर प्रतिरूप है और इसकी गत्वरता के साथ साहित्य भी एक जगह ठहरा हुआ न रहकर आगे बढ़ता रहता है। डा० सहल के 'मूल्यांकन' शीर्षक निबन्ध-संग्रह में यह तथ्य प्रायः स्वीकृत मिलता है और इस अवमूल्यन के जमाने में मैं उनके 'मूल्यांकन' का मूल्यांकन और क्या कर सकता हूँ?

●●●

मन यदि बुद्धि का नियन्त्रण स्वीकार नहीं करें तो मनमानी होने लगती है किन्तु यदि हमारी मनोवृत्तियाँ विवेक द्वारा नियन्त्रित रहें तो अनुशासन के उस रूप का प्रत्यक्षीकरण होने लगता है जहाँ मन बुद्धि का शासन स्वीकार कर लेता है।

—डॉ० कन्हैयालाल सहल

'विवेचन' और विवेचन

• डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना

'विवेचन' श्रीयुत प्रो० कन्हैयालाल सहल द्वारा लिखित समीक्षात्मक निबन्धों का संकलन है। इसमें विद्वान् लेखक ने विविध कवियों, लेखकों, काव्य-ग्रंथों, नाटकों, काव्यशास्त्रीय विषयों, भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों आदि पर अपने स्वतंत्र एवं मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। कुल मिलाकर इस संकलन में चौबीस निबन्ध हैं, जो विद्वान् लेखक के गहन चिन्तन एवं मनन के द्योतक हैं और जिनमें बड़े तर्कपूर्ण ढंग से अपने मत उद्धृत करते हुए लेखक ने सर्वत्र संतुलन कायम रखा है। निबन्ध-कला स्वतः नीर-क्षीर विवेकिनी होती है और फिर समीक्षात्मक निबन्धों में तो और भी नीर-क्षीर-विवेक अपेक्षित होता है, क्योंकि कोई भी समीक्षक उस समय तक अपने संतुलित विचार प्रस्तुत नहीं कर सकता, जिस समय तक वह निष्पक्ष न हो, मर्मज्ञ न हो और किसी भी कवि या ग्रंथ को पूर्णतया समझने की क्षमता न रखता हो। इन निबन्धों का अनुशीलन करने पर स्पष्ट पता चल जाता है कि विद्वान् लेखक ने सर्वत्र निष्पक्ष भाव से अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं, विषय को भली प्रकार समझकर उस पर अपनी तर्कसम्मत राय दी है, कवियों की आत्मानुभूति में प्रवेश करके उनके गुणदोषों का विवेचन किया है, ग्रंथों को आद्योपान्त पढ़कर उनकी तुलनात्मक समीक्षा की है तथा अन्त में जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे पूर्णतया ग्राह्य एवं मान्य हैं।

'विवेचन' विविध प्रकार के आलोचनात्मक एवं विवेचनात्मक निबन्धों का संग्रह है। ये निबन्ध विषय-वैविध्य के साथ-साथ विचार-वैविध्य से भी ओत-प्रोत हैं और इनमें विद्वान् लेखक की रचनात्मक दृष्टि एवं स्वतंत्र चिन्तन-दृष्टि पग-पग पर दृष्टिगोचर होती है। इन निबंधों का अनुशीलन करने के लिए हम इन्हें निम्नलिखित शीर्षकों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) काव्यशास्त्रीय निबन्ध
(२) लेखक-सम्बन्धी निबन्ध
(३) रचना-सम्बन्धी निबन्ध
(४) भाषावैज्ञानिक निबन्ध
(५) मनोवैज्ञानिक निबन्ध
(६) संस्कृति-सम्बन्धी निबन्ध

काव्यशास्त्रीय निबन्ध :

सहलजी ने चार काव्यशास्त्रीय निबंध लिखे हैं, जो 'रस-सिद्धान्त और कीथ', 'प्रसादजी और रस-सिद्धान्त', 'लांजीनस और भावोत्कर्ष' तथा 'संस्कृत के नाट्याचार्य और नाटक की तीन भ्रान्तियाँ' के नाम से 'विवेचन' में संकलित हैं। इनमें से 'रस-सिद्धान्त और कीथ' में सहलजी ने पाश्चात्य समीक्षकों की प्रमुख आपत्ति यह घोषित की है कि "भारतीय कविता जीवन से सम्बन्ध नहीं रखती, ब्रह्मानंद-सहोदर रस काव्य को एकांगी बना देता है। काव्य का सीधा सम्बन्ध जीवन के चित्रण से है, न कि रस की उद्भावना से।" इस आपत्ति पर अन्य लेखकों के विचार व्यक्त करके सहलजी ने ठीक ही लिखा है कि "भारतीय समीक्षा में रस-सिद्धान्त एक प्रकार से काव्यानंद का ही सिद्धान्त है। पाश्चात्य समीक्षा काव्यगत आनन्द और नीति के ऊहापोह में व्यस्त रही, किन्तु भारतीय आचार्यों ने आनन्द-पक्ष को इतनी ऊँची भूमि पर पहुँचा दिया था कि नीति-सम्बन्धी संशय के लिए इसमें स्थान ही नहीं रह गया। आनन्द-पक्ष के अन्तर्गत ही नैतिक पक्ष का भी समाधान हो गया। इन विशेषताओं के होते हुए, रस की कल्पना को एकांगी और संकीर्ण नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य समीक्षा भावपक्ष और कलापक्ष के समन्वय की समीक्षा में व्यस्त रही। बड़ी कठिनाइयों के बाद क्रोचे का अभिव्यंजनावाद वस्तु और रूप की एकता पर पहुँच सका, किन्तु भारतीय आचार्यों ने रस-सिद्धान्त के द्वारा रूप और वस्तु का समन्वय अधिक सुदृढ़ आधार पर किया है।"

सहलजी का दूसरा काव्यशास्त्रीय निबंध है—"प्रसादजी और रस-सिद्धान्त"। इसमें सहलजी ने सर्वप्रथम प्रसाद के गम्भीर एवं चिन्तन-प्रधान व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए उनकी विद्वत्ता, दार्शनिक दृष्टि एवं कवित्वमयी प्रतिभा का कितना सटीक निरूपण किया है कि "कविता, दार्शनिकता और विद्या की त्रिवेणी का प्रवाह-स्थल है प्रसाद का व्यक्तित्व। वे एक साथ ही कवि, दार्शनिक और पंडित थे।" तदनंतर प्रसाद के रस-सम्बन्धी विचारों का उद्घाटन करते हुए, भारतीय प्रसाद

की रस-सम्प्रदाय एवं अन्य काव्य-सम्प्रदाय-सम्बन्धी विचारधारा का तथ्यपूर्ण उल्लेख किया है। निश्चय ही प्रसाद की दृष्टि में रस-सम्प्रदाय आनन्दवादी धारा से प्रभावित है और 'अलंकार, रीति एवं वक्रोक्ति सम्प्रदाय विवेकवादी धारा से प्रभावित है।' आपने प्रसाद के रसानुभूति-सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करते हुए ठीक ही लिखा है कि प्रसाद की दृष्टि में 'रसानुभूति केवल सामाजिकों में ही नहीं, प्रत्युत नटों में भी होती है और कवि को भी रस का भागी माना गया है।' इस प्रकार साधारणीकरण के समय कवि, नट और सामाजिक अभेद भाव से एकरस हो जाते हैं। सहलजी का विचार ठीक ही है कि 'प्रसाद ने रस-सिद्धान्त की अपने ढंग से अनूठी व्याख्या की है', क्योंकि प्रसाद ने भारतीय साहित्य में दुःखान्त काव्यों के अभाव का कारण बताते हुए कितना तथ्यपूर्ण विचार व्यक्त किया है कि "सम्भवतः इसीलिए दुःखान्त प्रबंधों का निषेध भी किया गया, क्योंकि विरह तो उनके लिए प्रत्यभिज्ञान का साधन, मिलन का द्वार था। चिर-विरह की कल्पना आनन्द में नहीं की जा सकती। शैवागमों के अनुयायी नाट्यों में इसी कल्पित विरह या आवरण का हटाना ही प्रायः दिखलाया जाता रहा। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' इसका सबसे बड़ा उदाहरण है।" इस प्रकार प्रसाद का रस-सिद्धान्त शैवागमों के आनन्दवाद से पूर्णतया प्रभावित है। प्रसाद ने इसी रस-सिद्धान्त के काव्यात्मक पक्ष को अपनी 'कामायनी' के द्वारा अभिव्यक्त किया है और इस आनन्दवादी रस-सिद्धान्त का सैद्धान्तिक विवेचन अपने रस एवं रहस्यवाद सम्बन्धी निबंधों में किया है। रस-सिद्धान्त को आनन्दवादी रूप देने का मूल कारण यह है कि रस-निष्पत्ति-सम्बन्धी अभिव्यक्तिवाद के प्रणेता अभिनवगुप्ताचार्य आनन्दवादी एवं शैवाद्वैतवादी थे और रस-निष्पत्ति के बारे में अभिनवगुप्त का मत ही सर्वाधिक मान्य है। प्रसादजी भी अभिनवगुप्त के ही अनुयायी थे। इसीलिए प्रसाद ने अभिनवगुप्ताचार्य द्वारा प्रतिपादित रस की आनन्दवादी धारा का सर्वत्र समर्थन किया है।

सहलजी का तीसरा काव्यशास्त्रीय निबंध है—'लांजीनस और भावोत्कर्ष'। इसमें आपने लांजीनस के भावोत्कर्ष-सम्बन्धी विचारों को हिन्दी के पाठकों के सम्मुख रखकर अत्यंत लोकहितकारी कार्य किया है। आपने स्पष्ट लिखा है कि 'लांजीनस ही पहला समीक्षक था जिसने भावोत्कर्ष को शैली के उत्कर्ष तथा काव्य की भव्यता का साधन माना।' इतना ही नहीं, सहलजी एक सुयोग्य आचार्य भी हैं। अतः आपकी विवेचन-शैली में अध्यापकीय गुणों का होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि आपने लांजीनस के भावोत्कर्ष-सम्बन्धी विचारों को शीर्षकों में विभक्त करके इस प्रकार रखा है, जिससे पाठकों को सहज ही उनकी जानकारी हो जाय और शीर्षकों के माध्यम से वे लांजीनस के विचारों को अपनी स्मृति में भी स्थान

दे सकें । यही कारण है कि आपने लांजीनस के भावोत्कर्ष-सम्बन्धी विचारों को पाँच सोपानों के द्वारा व्यक्त किया है—(१) विषय की गरिमा, (२) भावावेग की तीव्रता, (३) अलंकारों का प्रयोग, (४) शब्द-विन्यास और (५) संगीतात्मक प्रभाव के अनुकूल शब्द-योजना । इतना ही नहीं, आपने ग्रन्थ में लांजीनस को रीति-सिद्धान्त का अनुयायी सिद्ध किया है, जो आपकी मौलिक चिन्तन-पद्धति एवं तथ्यपरक बुद्धि का परिचायक है ।

सहलजी का चौथा काव्यशास्त्रीय निबंध है—'संस्कृत के नाट्याचार्य और नाटक की तीन अन्वितियाँ' । इसमें आपने अरस्तू के द्वारा प्रतिपादित कार्यान्विति (unity of action), समयान्विति (unity of time) तथा स्थानान्विति (unity of place) को संस्कृत के नाटकों में भी अपनाने का उल्लेख किया है । यह दूसरी बात है कि यूनानी आचार्य अरस्तू ने उक्त तीनों अन्वितियों के द्वारा अपने और ही विचार व्यक्त किए थे, परन्तु उन अन्वितियों का पूरा निर्वाह कोई नाटककार मुश्किल से ही कर पाया जिसकी ओर संकेत करते हुए सहलजी ने भी लिखा है कि "शेक्सपियर ने भी 'टेंपेस्ट' तथा 'कमेडी ऑफ एरर्स' में अन्वितियों की रक्षा की है, किन्तु अपने अन्य नाटकों में उसने समय और स्थान के ऐक्य की ओर ध्यान नहीं दिया । आधुनिक हिन्दी साहित्य के नाटकों में भी, एकांकियों को छोड़कर, समय और स्थान की एकता पर ध्यान नहीं दिया गया है । हाँ, कार्य की एकता अवश्य सभी प्रकार की कथात्मक कला-कृतियों के लिए आवश्यक है, चाहे वे नाटक हों, चाहे उपन्यास, चाहे प्रबंध-काव्य हों या आख्यायिकाएँ ।" सहलजी का विचार है कि संस्कृत-नाटकों में तीनों अन्वितियों का पूर्ण ध्यान रखा गया है, क्योंकि यहाँ नाटकों की पाँच *कार्यावस्थाओं, पाँच अर्थ-प्रकृतियों तथा पाँच संधियों में कार्य-सम्बन्धी* अन्विति पूर्णतया विद्यमान रही है । ऐसे ही सूच्य कथाओं के लिए प्रयुक्त प्रवेशक, विष्कम्भक आदि में हमें समयान्विति के दर्शन मिल जाते हैं और स्थानान्विति के बारे में सहलजी का विचार है कि यहाँ 'स्थानगत ऐक्य की ओर भी संस्कृत नाट्याचार्यों ने ध्यान दिया था । उनके मतानुसार एक अंक में जिन दृश्यों का समावेश किया गया हो, उनमें इतना अंतर न हो, इतनी दूरी उनके बीच में न हो कि नायक निर्दिष्ट समय में वहाँ तक पहुँच ही न सके । किन्तु यदि नायक के पास पुष्पक-विमान जैसा वायुयान हो तो फिर दूरी चाहे जितनी हो ।' इस तरह सहलजी ने संस्कृत के नाटकों में तीनों अन्वितियों की समायोजना दिखाकर एक अत्यंत उपयोगी कार्य किया है, जिससे न केवल भारतीय पाठकों का ज्ञानवर्द्धन होता है, अपितु भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों में समन्वय की भी स्थापना होती है ।

लेखक-सम्बन्धी निबंध :

सहलजी ने विभिन्न कवियों एवं लेखकों पर भी निबंध लिखे हैं, जिनमें से इस 'विवेचन' सकलन मे केवल आठ निबंध संकलित हैं—(१) रहस्यवाद की भारतीय परम्परा और कबीर का रहस्यवाद, (२) प्रसादजी का नियतिवाद, (३) उर्मिला का विरह-वर्णन और गुप्तजी के साथ पत्राचार, (४) कबीर और माधुर्य, (५) गत्यात्मक रहस्यवाद, (६) सांस्कृतिक संत-कवि तुलसीदास, (७) बिहारी एक विश्लेषण: सतसई की परम्परा और (८) डॉ० नगेन्द्र और उनकी भावकता। इनमे से 'रहस्यवाद की भारतीय परम्परा और कबीर का रहस्यवाद' मे सहलजी ने पहले तो जयशंकरप्रसाद से सहमत होकर रहस्यवाद को पूर्णतया भारतीय स्वीकार किया है और वैदिककाल से लेकर आज तक प्रचलित रहस्यवाद की धारा के अविच्छिन्न रूप का उल्लेख किया है। तदनंतर रहस्यवादी कवि की स्थिति का विवेचन करते हुए आपने ठीक ही लिखा है कि "रहस्यवादी एक प्रकार से दो लोकों का नागरिक होता है; भौतिक लोक मे वह शरीर द्वारा रहता है तो मन उसका आध्यात्मिक लोक मे रमता है। भौतिक जगत् के सामने वह आध्यात्मिक जगत् को उपस्थित करता है।" अपनी इसी मान्यता के आधार पर फिर सहलजी ने कबीर को जनता का कवि स्वीकार किया है और कबीर की रहस्यभावना का स्पष्टीकरण करते हुए आपने लिखा है कि "कबीरदास की सम्भवतः सबसे बडी विशेषता यह है कि आध्यात्मिक लोक के जीव होते हुए भी, वे इस लोक को कभी भूलते नही। आसमान की ओर देखते हुए भी, उनके पैर हमेशा जमीन पर दृढता से टिके रहते हैं; उनकी दृष्टि इतनी अन्तर्भेदिनी और सर्वव्यापिनी है कि वे भौतिक और आध्यात्मिक दोनों को उसी चरम सत्य की अभिव्यक्ति मानते हैं।" कबीर की रहस्यभावना का इससे सुन्दर स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। तत्पश्चात् आपने 'प्रसादजी का नियतिवाद' निबंध मे प्रसाद के नियतिवाद-सम्बन्धी विचारों का बडी सरलता एवं तत्परता के साथ निरूपण किया है। इस निबंध में आपने श्री रायकृष्णदासजी का वह पत्र भी अविकल रूप से उद्धृत कर दिया है, जिसमें उन्होंने अपने एक मित्र के प्रसादजी के नियतिवाद-सम्बन्धी विचारों का उद्घाटन किया है। तदनंतर सहलजी का यह निष्कर्ष बडा ही महत्त्वपूर्ण है कि 'यद्यपि प्रसाद के साहित्य मे जहाँ नियति का क्रूर रूप दिखलाई पडता है, वहाँ प्रसाद के साहित्य में वह प्रकृति की नियामिका शक्ति के रूप मे प्रकट हुई है, जो विश्वभर के हित को लक्ष्य मे रखकर प्रवृत्त होती है।' साथ ही यह निर्विवाद सत्य है कि प्रसाद का नियतिवाद, भाग्यवाद या प्रारब्धवाद नहीं है और न इसे विजयवाद ही कह सकते हैं। अतः सहलजी का यह विचार भी तथ्यपूर्ण है कि "वर्तमान विजयवाद (optimism) ने भी चाहे प्रसाद के नियति-सिद्धान्त को पुष्ट किया हो, किन्तु

प्रसादीय विचारधारा का सम्यक् अनुशीलन करने पर वैदिक तथा काश्मीर शैवागमों के आनन्दवाद की छाप ही उस पर स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। हाँ, यह सच है कि प्रसादजी का नियतिवाद निष्क्रियता और निश्चेष्टता की ओर नहीं ले जाता, बल्कि उससे कर्म करने की प्रेरणा मिलती है। वह कोई ऐसा भाग्यवाद या प्रारब्धवाद नहीं, जो पुरुषार्थ के प्रतिकूल पड़ता हो।" निस्संदेह प्रसाद के नियतिवाद का यही स्वरूप है और इसी का वर्णन उनके सम्पूर्ण साहित्य में मिलता है।

सहलजी ने 'उर्मिला का विरह-वर्णन और गुप्तजी के साथ पत्राचार' नामक अपने निबंध में उर्मिला की विरह-व्यथित मनोवेदना का विश्लेषण करते हुए संसार के सत्य का इस तरह उद्घाटन किया है कि जब मनुष्य पर विपत्ति के बादल टूट पड़ते हैं, तब वह कभी-कभी यह कहता देखा गया है कि हे भगवान्! जैसा कष्ट तूने मुझे दिया है, वह और किसी को न देना। यह एक जीवन का बड़ा भारी तथ्य है कि दुःख पड़ने पर मनुष्य की वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं।" इसी तथ्य के आधार पर आपने उर्मिला के विरह का मनोवैज्ञानिक निरूपण करके ठीक ही निष्कर्ष निकाला है कि 'गुप्तजी ने उर्मिला के विरह-वर्णन में जो नूतन परिपाटी ग्रहण की है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है। उर्मिला स्वयं दुःख उठा लेना चाहती है, किन्तु दूसरे को तनिक भी दुखी नहीं करना चाहती।' तत्पश्चात् आपने गुप्तजी का भी एक पत्र अविकल रूप से उद्धृत कर दिया है, जिसमें गुप्तजी ने उक्त विचार का समर्थन किया है। इसके पश्चात् 'कबीर और माधुर्य' नामक निबंध में सहलजी ने कबीर की सधुक्कड़ी एवं पचमेल खिचड़ी जैसी भाषा में भी माधुर्य की शीतल पयस्विनी को प्रवाहित देखा है और स्पष्ट लिखा है—"सांसारिक माया-जाल में फँसे हुए, आसक्त जीवों की सच्ची प्रवृत्ति का सुन्दर चित्रण करने वाले हे कबीर! धन्य है तुम्हें! कर्कश और कर्ण-कटु शब्दों का कितना भी बाहुल्य तुम्हारी कविता में क्यों न हो, किन्तु भक्त और अनुभवी व्यक्ति जब अपने हृदय में तुम्हारे भावों की मधुर प्रतिध्वनि सुनेंगे, तब जिस माधुर्य का आस्वादन वे कर सकेंगे, उसकी बराबरी तो कोई भी सानुप्रास-कविता-जन्य माधुर्य दाताय में भी न कर सकेगा।" तदनतर 'सत्यात्मक रहस्यवाद' नामक निबंध में सहलजी ने रहस्यवाद के सत्यात्मक स्वरूप का क्रमिक इतिहास प्रस्तुत करते हुए, कबीर के सत्यात्मक रहस्यवाद पर अत्यन्त मार्मिक विचार व्यक्त किये हैं—"सत्यात्मक रहस्यवाद का विवेचन करते समय हम कबीर को भी नहीं भुला सकते। शून्यवादी होने के कारण कुछ लोग कबीर को अभाववादी ठहरा दिया करते हैं, किन्तु उन्हें यह समझ रखना चाहिए कि कबीर का शून्यवाद निषेधात्मक नहीं है, वह भावात्मक है अथवा उनका शून्यवाद वह चरमस्थिति है जहाँ भाव और अभाव के द्वन्द्व विगलित हो जाते हैं। दूसरे, कबीर के सम्बन्ध में

'ध्रुवस्वामिनी' की कथा में धूमकेतु के प्रसग ने नाटकीय कौशल के साथ-साथ कथानक को भी रोचकतर बनाया है। साथ ही यह प्रसग नाटकीय व्यग्य का भी अत्यत उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित करता है। विद्वान् लेखक ने यह शका ठीक ही उपस्थित की है कि 'कोमा के निश्छल प्रेम को ठुकराने वाले शकराज के वध द्वारा काव्य-न्याय का निर्वाह हो जाता है, यह हम स्वीकार कर सकते हैं; किन्तु रह-रह कर यह प्रश्न अवश्य उठता है कि कोमा और मिहिरदेव का निर्मम वध कौन से न्याय द्वारा हुआ है ?" नाटक की हास्य-योजना का उल्लेख करते हुए सहलजी ने स्पष्ट लिखा है कि प्रसाद के नाटकों में हास्य की योजना में कोई मौलिकता दिखाई नही देती, क्योंकि प्रसाद का युग ही ऐसा था। "प्रसाद ने स्वय स्वीकार किया है कि वर्तमान युग में जहाँ रोने से ही फुरसत नही, विनोद का समाज में नाम ही नहीं, वहाँ उसका उत्तम रूप कहाँ से दिखाई दे।" सहलजी की यह मान्यता सर्वथा ग्राह्य है कि "चरित्र-चित्रण में प्रसादजी को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। उनके नाटकों में प्राय. देखा जाता है कि असत् की पृष्ठ-भूमि में एक सत्पात्र रख दिया जाता है जिसमें सत्पात्र का गौरव निखर उठता है और असत् पात्र की दुष्प्रवृत्तियाँ प्रकाश में आती हैं।" गीतों के बारे में सहलजी ने ठीक ही स्वीकारा है कि वे "पात्रों की मनोदशा तथा परिस्थिति के अनुरूप हैं।" साथ ही नाटक पूर्णतया अभिनेय है। सहलजी का यह अध्ययन 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की व्यापक एवं विशद समीक्षा प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त "कामायनी का अद्वैत" नामक निबंध मे सहलजी ने प्रसाद के दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि प्रसाद ने 'कामायनी' की रचना शैवागमों की दार्शनिक भित्ति पर की है। सहलजी ने उस दार्शनिक भित्ति का विशद विवेचन तो नही किया है, परन्तु प्रसाद के अद्वैत या अभेद-सम्बन्धी जो विचार व्यक्त किए है, वे पूर्णतः प्रभावशाली हैं। उनका यह विवेचन बड़ा ही मार्मिक है कि "कहो उसे जड या चेतन" को लेकर यदि कोई यह प्रश्न उपस्थित करना चाहे कि प्रसाद जड के उपासक थे अथवा चेतन के ? तो मैं समझता हूँ, यह कहना उचित होगा कि प्रसाद, विशेषतः 'कामायनी' के प्रसाद, उस तत्त्व के उपासक थे, जिसमे जड और चेतन का भेद ही तिरोहित हो जाता है।" वही प्रसाद का अद्वैत है, वही प्रसाद का अभेद है और वही प्रसाद का ब्रह्म है।

'स्कदगुप्त में पदाधिकार-सम्बन्धी शब्द' नामक निबंध मे सहलजी ने केवल उन शब्दों की सूची दी है, जिनका प्रयोग प्रसाद ने 'स्कदगुप्त' नाटक में किया है तथा जो तत्कालीन पदाधिकारों से सम्बन्धित हैं। सहलजी ने उन शब्दो की व्याख्या भी की है और साथ ही यह भी बतलाया है कि इन शब्दो के माध्यम से प्रसाद ने

तत्कालीन वातावरण की सृष्टि करके 'स्कंदगुप्त' नाटक की ऐतिहासिकता को अक्षुण्ण बनाये रखने का स्तुत्य कार्य किया है। इसके अतिरिक्त 'गुंजन के विविध पक्ष' नामक निबंध में सहलजी ने कविवर सुमित्रानंदन पंत के 'गुंजन' काव्य-संग्रह की मार्मिक समीक्षा की है। आपने 'गुंजन' के भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष का विवेचन करते हुए स्पष्ट घोषणा की है कि "गुंजन के भाव-पक्ष पर विचार करते समय हमें इस बात को ध्यान में रखना होगा कि 'पल्लव' की कविताओं में जो सहज काव्योन्मेष मिलता है, वह 'गुंजन' की कविताओं में नहीं है। 'गुंजन' में शुष्क उपदेशात्मकता और दार्शनिकता ही अधिकांश कविताओं में मिलती है, जिसके कारण चिन्तन अनुभूति को दबा लेता है और कविताओं के अर्थ को हृदयंगम करने के लिए बुद्धि का व्यायाम ही अधिक करना पड़ता है। 'गुंजन' में आवेश नहीं, आयास अधिक है।" ऐसे ही आपने पंत के 'गुंजन' गत कला-पक्ष का निरूपण करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'कल्पना की प्रचुरता भी पंतजी की पहले की कृतियों में जितनी है, उतनी 'गुंजन' में नहीं है।" इस प्रकार सहलजी ने अपनी संक्षिप्त समीक्षा के अंतर्गत 'गुंजन' काव्य का मूल्यांकन करके, उसके भाव-पक्ष, विभाव-पक्ष तथा कला-पक्ष का सम्यक् निरूपण किया है।

भाषावैज्ञानिक निबंध :

सहलजी के निबंध-संग्रह 'विवेचन' में उनके दो ऐसे निबंध भी संकलित हैं, जो भाषाविज्ञान से सम्बन्धित हैं तथा जिनमें सहलजी ने भाषाविज्ञान के कतिपय नियमों एवं सिद्धान्तों पर अपने मौलिक विचार व्यक्त किए हैं। ये निबंध हैं— (१) सादृश्य का सिद्धान्त और (२) भेदीकरण का नियम। इनमें से 'सादृश्य का सिद्धान्त' नामक निबंध में आपने पहले तो इस नियम के ऐतिहासिक महत्त्व का दिग्दर्शन कराया है और बताया है कि पहले इसे 'मिथ्या सादृश्य का नियम' कहकर कुत्सित दृष्टि से देखा जाता था, इसकी अवहेलना की जाती थी और इसे कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था; परन्तु यह नियम बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि 'सादृश्य केवल स्मरण-शक्ति को ही सहायता नहीं पहुँचाता, इसके द्वारा नये-नये शब्द भी गढ़ लिये जाते हैं।' इतना ही नहीं, आपने सादृश्य के उन दो उपकरणों की ओर भी संकेत किया है, जो सादृश्य के अत्यंत अभिन्न सहयोगी होते हैं तथा जो सादृश्य को सदैव सहायता प्रदान किया करते हैं। सहलजी ने उन दो उपकरणों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "स्मृति द्वारा पुनः सृजन तथा साहचर्य द्वारा अभिनव सृष्टि—ये दो सादृश्य के अनिवार्य उपकरण हैं।" आगे चलकर आपने सादृश्य पर निर्मित शब्दों के उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि भी की है। जैसे, 'बेफायदा' के सादृश्य पर कभी-कभी लोग 'बेफजूल' तक का प्रयोग भी करते देखे गये हैं।

'योरोप' के सादृश्य पर 'ईरानी' आदि शब्द बना लिये जाते हैं।' इतना ही नहीं, लेखक ने यहाँ तक सादृश्य का बोलबाला बतलाया है कि 'अंग्रेजी का एक शब्द है—'Banyan tree' जिसका अर्थ होता है बरगद का पेड़। बनिये लोग (व्यापारी वर्ग) बहुत बड़ी संख्या में इस पेड़ के नीचे बैठा करते थे। इससे यह बनियों का पेड़ हो गया। 'Aryan' आदि शब्दों के सादृश्य पर 'Banyan' शब्द भी गढ़ लिया गया।'

सहगलजी का दूसरा भाषावैज्ञानिक नियम है—"भेदीकरण का नियम।" यह नियम बौद्धिक नियमों के अन्तर्गत आता है और इसका सम्बन्ध अर्थ-विज्ञान से है। आपका मत है कि 'पहले जहाँ भेद न हो, वहाँ भेद स्थापित कर लेने के अर्थ में 'भेदीकरण' शब्द का प्रयोग होता है।' इस व्याख्या को और भी स्पष्ट करने के लिए आपने कतिपय उदाहरण दिये हैं। इसके लिए आपने 'तात' शब्द से ही चाचा, ताऊ, दादा आदि शब्दों का विकास सिद्ध किया है। आपका विचार है कि 'तात' के स्थान में 'ताच' हुआ, किन्तु 'ताच' के उच्चारण करने में कठिनाई होती है, इसलिए वर्ण-व्यत्यय द्वारा 'चाच' या चाचा हो गया। 'तात' के स्थान में 'ताद' और फिर वर्ण-साम्य द्वारा 'दादा' बन गया। 'तात' से 'ताय' हुआ, फिर 'ताय' से 'ताऊ' हो गया।' ऐसे ही आपने 'बाबा' शब्द से बाप, बापू, बाबा, बाबू आदि का विकास सिद्ध किया है और फिर केवल अर्थ-भेद से ही शब्द-भेद करने की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। इस प्रकार आपने भाषाविज्ञान के इस महत्त्वपूर्ण बौद्धिक नियम पर संक्षेप में ही बड़े तात्त्विक ढंग से विचार प्रकट किये हैं।

मनोवैज्ञानिक निबंध :

सहगलजी के निबंध-संग्रह 'विवेचन' में एक 'मानसिक स्वास्थ्य और गीता' नामक मनोवैज्ञानिक निबंध भी संकलित है। इस निबंध में आपने सर्वप्रथम मानसिक स्वास्थ्य-सम्बन्धी आन्दोलन के क्रमिक विकास का इतिहास प्रस्तुत किया है और बतलाया है किस प्रकार १९०८ ई० में क्लिफर्ड डब्ल्यू० बीयर्स ने इस आन्दोलन को गति प्रदान की थी और किस प्रकार ६ मई, १९०८ ई० में 'मानसिक स्वास्थ्य' सम्बन्धी पहली सभा की स्थापना हुई, जो १९०९ ई० में किस तरह 'राष्ट्रीय समिति' का अंग बन गई। १९३० ई० में वाशिंगटन के अंतर्गत मानसिक स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस हुई, जिसमें ५३ देशों ने भाग लिया। तदनन्तर आपने मानसिक स्वास्थ्य के विस्तृत क्षेत्र पर प्रकाश डाला है और 'शारीरिक कष्ट, मानसिक वेदना, घोर दारिद्रय, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का संघर्ष, सामाजिक अपमान, ईर्ष्या-द्वेष, धार्मिक द्वन्द्व, प्रेमियों का वैषम्य' आदि को इससे सम्बन्धित सिद्ध किया

है । इसके उपरान्त आपने गीता के 'अर्जुन विषाद-योग' नामक प्रथम अध्याय को अर्जुन के 'मानसिक स्वास्थ्य' के खोजाने से सम्बन्धित बतलाया है तथा गीता के अंतिम अध्याय मे जब कृष्ण अर्जुन से यह पूछते है कि 'हे अर्जुन ! यह तूने एकाग्र-चित्त से सुना ? हे धनजय ! इस अज्ञान के कारण जो मोह तुझे हुआ था, वह क्या नष्ट हो गया ?' तब अर्जुन यही कहता है कि 'हे भगवन् ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है, मुझे समझ आ गई है; शंका का समाधान हो जाने से मैं अब स्वस्थ हो गया हूँ, आपका कहा करूँगा ।'' इन दोनों उपक्रम एव उपसंहार से यह स्पष्ट पता चल जाता है कि 'गीता मे मानसिक स्वास्थ्य की समस्या का पूर्णतया समाधान किया गया है ।'

तदनतर आपने गीता के आधार पर ही यह बतलाया है कि मानसिक स्वस्थता प्राप्त करने के लिए बुद्धि को स्थिर करना चाहिए और उस बुद्धि के लिए आपने तीन रूप स्थिर किए हैं—(१) विवेक, (२) एकाग्रता या भक्ति और (३) दृढ़ सकल्प । जो बुद्धि सत् और असत् मे विवेक स्थापित करती है, वह ज्ञान की ओर ले जाती है । जो बुद्धि एक ही वस्तु पर ध्यान को केन्द्रित रखती है, वह भक्ति की ओर उन्मुख कर देती है तथा जिस बुद्धि का सम्बन्ध दृढ सकल्प अथवा निश्चय से होता है, वह मानव को दृढनिश्चयी बना देती है ।' आपने इसके पश्चात् मानसिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक बातो का उल्लेख करते हुए, यह सिद्ध किया है कि ये सभी बातें गीता मे मिल जाती है । आपने स्पष्ट लिखा है कि "आधुनिक मनोविज्ञान मानसिक स्वास्थ्य के लिए सन्तुलन, साम्य, समत्व, आनुरूप्य आदि को आवश्यक समझता है । गीता मे ये सब भाव रत्नों की भांति बिखरे पड़े है ।" इस प्रकार आपने मानसिक स्वास्थ्य के लिए अपेक्षित उपकरणो की ओर सकेत करके उनको प्राप्त करने के लिए गीता के अध्ययन पर बल दिया है तथा यह समझाया है कि गीता शास्त्र मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए अमूल्य एवं अद्वितीय ग्रंथ है ।

संस्कृति-सम्बन्धी निबंध :

सहलजी के निबंध-सग्रह 'विवेचन' मे एक सस्कृति-सम्बन्धी निबंध भी संकलित है, जो 'संस्कृति क्या है' के नाम से लिखा गया है और जिसमें संस्कृति की सम्यक् समीक्षा की गई है । आपने सस्कृति की परिभाषा करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'जिस प्रकार खेती के लिए जमीन तैयार करते समय ककर, पत्थर और अनावश्यक वस्तुओं को दूर कर दिया जाता है ताकि उसमें बीज डालने पर अच्छी फसल हो सके, उसी प्रकार मनुष्य के स्वभाव में, उसकी मनोवृत्तियों में जो सस्कार, जो परिमार्जन होता है, उसे सस्कृति कहते हैं ।' तत्पश्चात् आपने संस्कृति और सभ्यता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'संस्कृति अन्दरूनी वस्तु है अतः

सभ्यता उसकी बाह्य अभिव्यक्ति है। सभ्यता यदि देह है, तो संस्कृति है देह के भीतर रहने वाला प्राण।' 'संस्कृति आन्तरिक वस्तु है और सभ्यता है बाह्य वस्तु। सभ्यता यदि पुष्प है तो संस्कृति है उसके अन्दर रहने वाली सुगन्धि।' 'जिस योग्यता व बुद्धि के बल पर आग तथा सुई-धागे का आविष्कार हुआ, उस योग्यता को तो व्यक्ति-विशेष की संस्कृति समझिए और जो आविष्कार हुआ, उसे समझिए सभ्यता।' इन उद्धरणों से संस्कृति और सभ्यता का अन्तर पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

इसके उपरान्त आपने एक सुसंस्कृत व्यक्ति की विशेषताओं को स्पष्ट किया है और बतलाया है कि 'जिसका दिमाग दुरुस्त है, जिसका चरित्र ठिकाने है और जिस्म मजबूत है, वह सच्चे अर्थों में कल्चर्ड कहा जा सकता है। इसमें न शारीरिक बल की विशेष प्रशंसा है, न मस्तिष्क की शक्ति का आवश्यकता से अधिक समर्थन। बिना समन्वय के सच्ची संस्कृति का निर्माण नहीं हो सकता।' इसके पश्चात् आपने भारतीय संस्कृति के पुरातन एवं अद्यतन रूप की तुलना करके यह निष्कर्ष निकाला है कि 'जहाँ तक मेरा भारतीय संस्कृति का अध्ययन है, वहाँ तक मैं समझता हूँ कि अतीत संस्कृति में कल्चर के सच्चे उपादान मौजूद थे—आज के ऊपरी तड़क-भड़क और चकाचौंध से हवा हो रहे हैं। इस प्रकार आपने संस्कृति का सम्यक् विवेचन करके भारतीय संस्कृति के आधुनिक विकृत रूप पर बड़ी तत्परता के साथ प्रकाश डाला है।

इस प्रकार भट्टजी के चौबीस निबंधों का सम्यक् अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि आपने अत्यंत सयत, परिष्कृत एवं परिमार्जित भाषा में अपने मौलिक विचार व्यक्त किए हैं। आपकी भाषा परिनिष्ठित खड़ी बोली है, जो तत्सम-प्रधान है, किन्तु जहाँ-तहाँ अंग्रेजी एवं उर्दू-फारसी के शब्द भी आ गये हैं। जैसे, आपने एक ओर तो 'धर्मानुमोदित', 'परिवर्तमान' 'श्लाघनगुणता', 'मनोरंजक', 'गांभीर्य', 'वैयक्तिकता', 'समीक्षण', 'आत्मनाशक', 'विकल्पात्मक', 'नैतिक', 'एकदेशीय' आदि तत्समप्रधान शब्दावली का प्रयोग किया है वहाँ दूसरी ओर 'अंग्रेज़ी', 'आदाब अर्ज़', 'दुआ सलाम', 'खास', 'शामिल', 'मौजूद', 'मज़बूत', 'मालिक', 'लिहाज़न', 'दिल', 'परवाह', 'बर्दाश्त', 'सूरत-शक्ल', 'दगाही', 'तारीफ़' आदि उर्दू-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है और कहीं-कहीं 'कल्चर्ड', 'कल्चर' 'हिमालयन ब्लंडर', 'डाक्टर', 'फादर', 'मदर', 'टेन', 'टूर', 'टैन', 'टूर', Oligarchy, Polygarchy, Morphology, Banyan Tree, Aryan, Integrated personality आदि अंग्रेजी के शब्दों का भी स्वच्छ प्रयोग किया है। साथ ही, जहाँ-तहाँ विचारों की स्पष्टता के लिए आपने उद्धरणों का के लिए

उद्धरण भी दिये है और प्रचलित मुहावरों का प्रयोग करके भाषा को अधि प्राणवती एवं संजीवनी-शक्ति-पूर्ण बनाया है। कहीं-कहीं पर आपके आलंकारि प्रयोगो ने निबंधो मे कवित्व का आनंद भी उत्पन्न कर दिया है। जैसे 'तपस्या की ज्वाला मे जीवन का पुष्प विकसित होता है। धूप जब तक प्रज्वलित नही की जाती, सुगन्धि नही फैलती। धरा भी तपस्या के कारण वसुन्धरा है। यदि वह न तपे, तो ठडी पड जाय, उसकी उर्वरा-शक्ति नष्ट हो जाय; इतना ही नही, वह सील पाकर सड़ जाय; विश्व-वेदना और संघर्षो की ज्वाला मे तपकर ही मानव-मन जैसे कुन्दन के रूप मे बदल जाता है, जिससे जीवन की पूर्णतम मूर्ति का निर्माण हुआ करता है।"

कहीं-कहीं पर आपकी रचना-शैली मे विश्लेषणात्मक तत्त्वो का भी समावेश देखा जाता है। इससे न केवल आप किसी बात को अधिक-से-अधिक रोचक बना देते हैं, अपितु उसकी एक 'इमेज' (बिम्ब) भी पाठक के मस्तिष्क मे स्थापित कर देते है। इसीलिए आपने 'सात' की सख्या के रहस्यपूर्ण महत्त्व को समझाते हुए अपनी विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग इस प्रकार किया है कि 'सात की सख्या मे एक रहस्यात्मक आकर्षण मिलता है। मन्त्र-साहित्य मे भी सात की सख्या को विशेष महत्त्व दिया गया है। मन्त्र-शास्त्री 'सप्त बीज मन्त्र' की महिमा से भली-भाँति परिचित हैं। गायत्री-मन्त्र मे सात लोको का उल्लेख है, योग मे चित्तवृत्ति की सात भूमिकाएँ प्रसिद्ध हैं। पाणिनि की सात विभक्तियाँ विश्व-प्रसिद्ध है। कहाँ तक कहें, सूर्य के सात घोड़े, इन्द्र-धनुष के सात रग, गगन-मडल के सप्तर्षि, सप्तद्वीपा वसुमती और विश्व के सात आश्चर्य, इस 'सात' की संख्या का निरतर जयघोष कर रहे हैं।"

साराश यह है कि सहलजी के ये निबंध तात्विक एवं मौलिक विचारो से परिपूर्ण हैं, उनमे लेखक की गहन चिन्तन-शक्ति विद्यमान है और उनमें लेखक की बुद्धि एवं हृदय के समन्वय का सफल प्रयास दृष्टिगोचर होता है। सहलजी के ये निबंध कलात्मक हैं, तथ्यपूर्ण हैं और तत्वान्वेषी बुद्धि के कौशल एवं वैभव से परिपूर्ण हैं। इनमे लेखक की निगमन एवं आगमन, दोनो रचना-पद्धतियो के दर्शन होते हैं और ये लेखक के संतुलित एवं मर्यादित दृष्टिकोण के परिचायक हैं। इनमें लेखक ने तुलनात्मक दृष्टि से भी विचार किया है और विश्लेषणात्मक पद्धति का भी प्रयोग किया है। परन्तु कहीं भी लेखक अपने सिद्धान्त-पथ से विचलित नहीं हुआ है, मर्यादा के राज-पथ से भ्रष्ट नहीं हुआ है और संयम के शिखर से पतित नहीं हुआ है। इन निबंधों में लेखक के अन्वेषण, चिन्तन, विश्लेषण, वर्गीकरण, विवेचन एवं समीक्षण मे सर्वत्र मौलिकता एवं संयमशीलता के दर्शन होते है। निस्सदेह, सहलजी के ये निबंध प्रेरणा के स्रोत हैं, उत्साहवर्द्धक हैं, विचारोत्तेजक हैं, जीवनोपयोगी हैं एवं साहित्य के भूले-भटके पथिकों के लिए पथ-प्रदर्शक हैं।

•••

प्रसाद-साहित्य और डॉ० सहल की नियतिवादी भूमिका

• डॉ० भंवरलाल जोशी

डॉक्टर कन्हैयालाल सहल हिन्दी-जगत् के समर्थ समालोचकों में से ऐसे सुधी, विरल समीक्षक हैं जिन्हें अनेक भाषाओं के काव्यों, उनकी परम्पराओं, काव्य-शास्त्र, साहित्य के इतिहास, लोक-साहित्य और कलाओं की रसमयी परम्पराओं का उत्तम ज्ञान है। इस ज्ञान के साथ चिन्तन की प्रौढ़ता, विश्लेषण के नीर-क्षीर विवेक, अन्वेषण की ललक, कवि-हृदय की सहृदयता, निष्कर्षों की प्राञ्जल उदारता और अभिव्यक्ति-कला के संयम का उनमें ऐसा मणि-कांचन योग हो गया है कि उनकी समीक्षात्मक उपलब्धियाँ अपने क्षेत्र में प्राचीन होकर भी तत्सम्बद्ध नवीन खोजों से पीछे नहीं हैं और इस कारण प्रायः सभी चिन्तनशील अध्येताओं के लिए विश्वसनीय एवं मार्ग-दर्शक हैं।

डॉ० सहल की समीक्षक-दृष्टि राजस्थानी भाषा और साहित्य के अतिरिक्त हिन्दी के आधुनिक साहित्य पर विशेषतः केन्द्रित रही है। हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में उनकी समीक्षा का रूप आरम्भ में अध्यापक-धर्म की आवश्यकता की पूर्ति के रूप में पाठ्यग्रंथों से सम्बद्ध विविध विषयों पर गम्भीर चिन्तन और मननपूर्वक लिखे गए स्वतन्त्र निबन्धों में मिलता है। प्रसाद के साहित्य से सम्बद्ध विविध विषयों पर लिखे गए निबन्ध भी इसी प्रकार समय-समय पर लिखित एवं प्रकाशित निबन्ध हैं। प्रसाद की नियति-विषयक विचारधारा के स्वरूप, निर्मापक तत्वों एवं आधार-स्रोतों का अन्वेषण और विवेचन उन्होंने तब आरम्भ किया था जब इस क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय कार्य हुआ ही न था और फिर इस दिशा में अन्य विद्वानों को भी कार्य के लिए प्रेरित करते हुए वे अपने चिन्तनपूर्ण विवेचन को समय-समय पर लेखों के रूप में प्रकाशित करते रहे। उनके एतद्विषयक अधिकारी लेखों के प्रकाशन

के बाद इधर प्रसाद-साहित्य पर प्रचुर शोध-कार्य हुआ है और प्रसाद के काव्य तथा नाटकों पर लिखे गए शोध-प्रबन्धों में प्रसाद की विचारधारा के उद्घाटन के प्रसंग में यथास्थान उनकी नियति-विषयक दृष्टि की भी समीक्षा हुई है। अतः प्रसाद की नियति-विषयक विचारधारा के सम्बन्ध में अब तक हुई समीक्षाओं में डॉ० सहल की उपलब्धियों का मूल्यांकन सहज ही एक विचारणीय विषय बन जाता है।

प्रसाद के नियतिवाद के स्वरूप को स्पष्ट करने में डॉ० सहल द्वारा आन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के प्रमाण प्रस्तुत किये गए हैं। आन्तर प्रमाणों में स्वयं प्रसाद द्वारा अपने निबन्धादि में व्यक्त विचारों को और उनके नाटकों के विभिन्न पात्रों के वचनों को उद्धृत किया गया है और बाह्य प्रमाणों में प्रसाद के अन्तरंग मित्रों अथवा उनके वैयक्तिक जीवन के निकटस्थ लोगों के द्वारा विभिन्न अवसरों पर स्वयं प्रसाद जी से सुने हुए नियति-सम्बन्धी कथनों और प्रसाद की नियति के विषय में अन्य साहित्यकारों की धारणाओं की सहायता ली गई है। प्रमाणों की ऐसी व्यापकता के सहारे मुक्त आग्रह व समीक्षक-बुद्धि से उन्होंने निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि प्रसाद के साहित्य में नियति प्रकृति की नियामिका शक्ति के रूप में प्रकट हुई है, जो विश्व-भर के हित को लक्ष्य में रख कर प्रवृत्त होती है।"[1] उनका यह निष्कर्ष प्रसाद के नियति-विषयक मत के सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर है, इस तथ्य की व्यंजना उनके इन शब्दों से होती है—'प्रसादीय विचारधारा का सम्यक् अनुशीलन करने पर वैदिक तथा काश्मीर शैवागमों के आनन्दवाद की छाप ही उस पर (नियति-सिद्धान्त पर) स्पष्ट दिखलाई पड़ती है।' वैदिक आनन्दवाद अर्थात् वैदिक जीवन-दर्शन का आनन्द, कर्म-विरक्ति या निष्क्रियता के विपरीत कर्म से ओत-प्रोत है, स्वयं प्रसाद ने भी इसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए लिखा है—'सप्तसिन्धु के प्रबुद्ध तरुण आर्यों ने इस आनन्दवाली धारा का अधिक स्वागत किया।........भारत के आर्यों ने कर्मकाण्ड और बड़े-बड़े यज्ञों में उल्लासपूर्ण आनन्द का ही दृश्य देखना आरम्भ किया .. .. जिसके अन्तर में आत्मवाद था और बाहर यान्त्रिक क्रियाओं का उल्लास था।' काश्मीर शैवागम में तो ज्ञान और क्रिया के सामरस्य को ही सच्चा आनन्द है और क्रियाशून्य ज्ञान निरर्थक एवं निन्दनीय है। वहाँ जीवन्मुक्ति की स्वीकृति और बाहर-भीतर सर्वत्र आत्म-अद्वयता के आनन्द की प्रतिष्ठा होने से जगत् से विराग एवं कर्म-सन्यास नहीं है। वैदिक चिन्तन-धारा और उससे उपबृंहित काश्मीर शैवागम के सिद्धान्तों का डॉ० सहल को सुपरिचय रहा है। इसीलिए प्रसाद

---

१. देखिए डॉ० सहल का निबन्ध 'प्रसाद जी के नाटकों में नियतिवाद'
(मूल्यांकन, पृ० १४, प्रथम संस्करण)

के नियति-सिद्धान्त पर वैदिक और काश्मीर शैवागमों के आनन्दवाद की छाप बताने के अपने अन्वेषणात्मक निष्कर्ष के पश्चात् उन्होंने प्रस्तुत विषय पर लिखे अपने प्रायः सभी लेखों में यह स्पष्ट किया है कि "प्रसाद जी का नियतिवाद निष्क्रियता और निश्चेष्टता की ओर नहीं ले जाता बल्कि उससे कर्म करने की प्रेरणा मिलती है।"

डॉ० महल वर्तमान पीढ़ी के प्रबुद्ध चिन्तक और विचार-विवेक का व्यापक दृष्टि से गम्भीर विवेचन करने वाले सुधी समीक्षक हैं। यही कारण है कि उन्होंने प्रसाद के नियतिवाद के सैद्धान्तिक पक्ष पर वैदिक तथा काश्मीर शैवागमों के आनन्दवाद की स्पष्ट छाप बताकर उन सब आधार-स्रोतों और विचारधाराओं को भी खोजकर पाठकों के समक्ष रखा है जिनके साथ प्रसाद के नियति-विषयक विविध उल्लेखों का साम्य दिखाई पड़ता है। इस दिशा में उन्होंने भारतीय विचार-धाराओं के अतिरिक्त पाश्चात्य मान्यताओं को भी प्रस्तुत किया है। पाश्चात्य मान्यताओं के रूप में ग्रीक के नाटकों, दान्ते होमर आदि महान् विचारकों और ईसाई तथा यहूदी सम्प्रदायों के भाग्य-सम्बन्धी विचारों का स्वरूप-विवेचन करते हुए और उनके सदृश प्रसाद के पात्रों के वचनों को उद्धृत करते हुए तुलनात्मक समीक्षा के अनन्तर यह विद्वत्तापूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि "प्रसाद के नाटकों तथा उनकी अन्य कृतियों के अध्ययन से पता चलता है कि उनकी नियति-विषयक धारणा के अनेक रूप हैं।"[१] अपने उक्त निष्कर्ष को ही विवृत करते हुए उन्होंने दो-एक स्थानों पर लिखा है—"जीवन में अनेक बार ऐसा होता है कि हमें कोई आकस्मिक लाभ हो जाता है, ऐसा लाभ, जिसमें हमारे प्रयत्नों का कोई योग नहीं दिखाई पड़ता अथवा अनेक बार ऐसा भी देखने में आता है जब हम अकारण किसी विपत्ति में फँस जाते हैं। ऐसे ही अवसरों पर 'दैव' और 'अदृष्ट' तथा 'नियति' जैसे शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से देखने में आता है" (नियतिवाद और चन्द्रगुप्त नामक लेख[२])। 'प्रसाद जी के नाटकों में नियतिवाद' शीर्षक एक अन्य लेख में भी वे लिखते हैं—"सतत प्रयत्न करने पर भी जब कोई मनुष्य अपने प्रयत्नों में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता तो वह एक ऐसी शक्ति की सत्ता को स्वीकार करने लगता है जिसे भाग्य, दैव, प्रारब्ध, अदृष्ट तथा नियति जैसे नामों से सामान्यतः अभिहित किया जाता है।"[३] उनके उपर्युक्त निष्कर्ष, कि प्रसाद-साहित्य में 'नियति' का अनेक रूपों में प्रयोग है, का समर्थन अभी प्रकाशित 'कामायनी की पारिभाषिक शब्दावली' जैसे नवीन ग्रंथों के निष्कर्षों से भी होता है।

१. 'ध्रुवस्वामिनी' और नियतिवाद (मूल्यांकन, प्र० सं०, पृ० ४४)
२. मूल्यांकन, प्र० सं०, पृ० ३६
३. वही, पृ० १६

प्रसाद के साहित्य में, विशेषतः नाटकों में, नियति-विषयक उक्तियों के बाहुल्य और वैविध्य के बीच अनेकानेक ऐसे कथन देखकर कि "समय मनुष्य और स्त्री का गेंद लेकर दोनों हाथों से खेलता है", "मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है", "वही हुआ जो होना था" और प्रसाद के अन्तरंग मित्र रायकृष्णदास से प्रसाद के नियति-सम्बन्धी उद्‌गारों को जानकर तथा ऐसी मान्यताओं का समर्थन भारतीय लोक और पाश्चात्य साहित्यिकों एवं विचारकों के पूर्वनिर्दिष्टतावाद जैसे विश्वासों से होता देखकर डॉ० सहल की तत्त्वान्वेषिणी मनीषा में सहज ही यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि "यदि नियति के सामने किसी का वश नहीं चलता और भवितव्य होकर ही रहता है तो क्या मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र नहीं, इस विश्व में उसकी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति का क्या कोई स्थान नहीं?" यह प्रश्न प्रसाद के नियतिवाद पर लिखे गए डॉ० सहल के एक या दो लेखों में ही नहीं, अपितु सभी लेखों में उत्तर पाने के लिए ललकता हुआ प्रतीत होता है और इस प्रश्न के सहज उभार को वाणी देने में तथा इसका समुचित उत्तर देने की क्षमता में सहल जी के पाण्डित्य का ऐसा वैशिष्ट्य व्यक्त होता है जो उन्हें प्रसाद-साहित्य की भूमिका का उद्‌घाटन करने वाले शीर्षस्थ विद्वान्-समीक्षकों में सबसे ऊँचा आसन दे देता है। इसका कारण यह है कि प्रसाद की विचारधारा काश्मीर शैवागम के दर्शन से अनुप्राणित है और उक्त दर्शन में स्वतंत्र इच्छाशक्ति का इतना अधिक प्राबल्य है कि उक्त दर्शन का नाम ही 'स्वातन्त्र्यवाद' पड़ गया है।[1] अतः उस 'स्वातन्त्र्यवाद' से अनुप्राणित प्रसाद की नियतिवादी विचारधारा में मनुष्य की इच्छा-शक्ति का क्या स्वरूप है? वह सर्वत्र बद्ध है या कहीं कर्म करने में स्वतंत्र भी है? इस गम्भीर एवं तात्त्विक प्रश्न पर विचारने वाला और उसका संतोषप्रद उत्तर देने वाला यदि कोई मनीषी समीक्षक है तो केवल डॉ० कन्हैयालाल सहल हैं। अन्य कोई कृतिकार विद्वान् अभी तक दिखाई नहीं पड़ा है। कर्म-स्वातंत्र्यविषयक प्रसाद के अभिप्राय को स्पष्ट करने में उन्होंने 'कर्म' के अर्थ की गहराई में उतर कर श्रीमद्भगवद्गीता से प्रमाण प्रस्तुत करके स्वोत्थापित पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है— "उससे जान पड़ता है कि जहाँ तक संचित कर्मों का सम्बन्ध है, मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र नहीं है, किन्तु क्रियमाण कर्म करने में वह स्वतंत्र है। संचित दुष्कृत का सुधार क्रियमाण द्वारा नियमन हो सकता है।"[2] यह शास्त्र का व्यवहार-पक्ष है जो मनुष्य को ज्ञानपूर्वक कर्म करने की प्रेरणा देता है और अपने स्वातंत्र्य को पहचानने के प्रति जगाता है। प्रस्तुत प्रसंग में डॉ० सहल ने दर्शन के एक अत्यन्त महत्त्व-

१. के लिए देखिए लेखक का 'काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी' नामक ग्रंथ, पृ० ६४

२. 'प्रसाद जी के नाटकों में नियतिवाद' (मूल्यांकन, प्र० सं०, पृ० १५)

पूर्ण तथ्य का भी उद्घाटन किया है। वह तथ्य यह है कि 'जिस दर्शन में मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा का कोई स्थान नहीं, उसमें कर्म की प्रेरणा नहीं मिलती।'[1] यह तथ्य-कथन कितने सरल एवं सारभूत प्रकार से मूल वैदिक आनन्दवादी विचार-धारा को विकसित-विवृद्ध करने वाले शैवागम दर्शन का जैन आदि दुःखवादी दर्शनों से पार्थक्य प्रकट कर देता है। शैवागम का सम्पूर्ण लक्ष्य ही मनुष्य को उसकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का प्रत्यभिज्ञान कराना है और इसी कारण वहाँ कर्म की इतनी प्रबल प्रेरणा है कि जीवन्मुक्ति के अनन्तर भी लोकानुग्रह-रूप कर्म करने की व्यवस्था है। प्रसादजी का नियतिवाद कई स्थानों पर अन्यान्य रूपों को आत्मसात् करते हुए भी, तत्त्वतः शैवागम दर्शन से ही जीवन-रस पाता है और इसीलिए वह मनुष्य को कर्मयोग की ओर प्रेरित करता है। निष्क्रियता या कर्म-विरक्ति को प्रश्रय देने वाला और मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा-शक्ति में विश्वास न करने वाला, प्रारब्धवाद का पर्याय नियतिवाद न काश्मीर शैवागम में प्रोक्त है और न प्रसाद को ही मान्य है। प्रसादजी पर अपने कुछ नाटकों के रचना-काल में बौद्धदर्शन जैसी अनात्मवादी विचारधारा का भी कुछ प्रभाव रहा है। अतः कुछ उसके कारण और कुछ उनके जीवन की कटु परिस्थितियों के कारण, उन्होंने अपने कुछ पात्रों के मुख से ऐसे वचन भी कहला दिये हैं जो प्रारब्धवाद या पूर्वनिर्दिष्टवाद का समर्थन करते हैं, किन्तु कर्म-स्वातन्त्र्य अर्थात् कर्म की स्वतंत्र इच्छा को स्वीकार न करने वाला नियतिवाद अनात्मवादी जैन तथा बौद्ध दार्शनिकों की ही विचारधारा का परिणाम है, प्रसाद का नियतिवाद नहीं, ऐसा नवीन खोजों से प्रमाणित होता है[2] और प्रसाद जी के नियतिवाद में अकर्मण्यता का अभाव और कर्म की प्रतिष्ठा मानने वाले डॉ० सहल के निष्कर्षों का अन्तर्वर्ती स्वर भी इससे भिन्न नहीं है। प्रसाद ने उसी मनुष्य को नियति का दास बताया है और उसी की कर्मशक्ति को नियति अनुचरी बना कर अपना कार्य कराती है जो कर्तृत्व के मिथ्याभिमान में मत्त है अर्थात् अहंकार से मूढ़ बना हुआ 'मैं कर्ता' हूँ, ऐसा मानता है। ऐसे कर्तृत्व-दम्भ में मत्त मनुष्य की ही कर्मशक्ति नियति से नियन्त्रित रहती है। जो परा प्रकृति में स्थित है, उसका कर्म नियति से नियंत्रित नहीं रहता, क्योंकि परा प्रकृति में स्थित होने पर मनुष्य प्रत्येक कार्य और प्रत्येक भावना में अभेद एवं निर्विकार आनन्द अनुभव करता है। यही उसकी स्वतंत्र इच्छाशक्ति के प्रकाश की और नियति से मुक्ति की दशा है, जिसमें किये गए कर्म मुक्तसंग होने के कारण फलते नहीं अर्थात् सुख-दुःख रूप द्वन्द्वाभिभव के कारण नहीं बनते। इसीलिए गुह्य से गुह्यतर ज्ञान देकर अर्जुन को कहा गया था—'यथेच्छसि तथा कुरु' जिसका यथाप्रसंग उल्लेख कर

१. वही।

२. 'काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी', ले० डॉ० भवरलाल जोशी, पृ० १२५

सहल जी ने कर्म की स्वतंत्रता का भी संकेत किया है। प्रस्तुत विषय में 'क[illegible] करने में मनुष्य का स्वतंत्र इच्छा के स्थान का' प्रश्न उठा कर सहल जी ने प्रसाद के नियतिवाद के स्वरूप को गंभीरता से सम्यक्तः समझ लेने की दिशा दिखाई है। समस्या की ऐसी सूक्ष्म पकड़ हो, जिसके लिए नवोन्मेषिणी प्रतिभा अपेक्षित होती है, सहल जी के निबन्धों को स्थायी महत्त्व और मौलिकता प्रदान कर विद्वानों के आकर्षण का कारण बना देती है।

प्रसाद के नियतिवाद पर लिखित डॉ० सहल के निबन्धों को ध्यान से पढ़ने पर यह प्रतीति भी हुए बिना नहीं रहती कि उनमें अपने विवेच्य विषय की अतल गहराइयों को उघाड़ने की और उस सम्बन्ध में अन्य विद्वानों के मत क्या हैं, यह जानने की बड़ी उत्सुकता रहती है। इसका संकेत डॉ० सहल द्वारा रायकृष्णदास, मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी वर्मा आदि से प्रसाद के नियतिवाद पर उनके विचार जानने के प्रयत्नों में मिल जाता है। प्रस्तुत विषय पर सम्यक् विवेचना के लिए सहल जी द्वारा विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना भी उक्त प्रयत्न का ही अंग है। प्रसंगवश यह भी लिखना उचित होगा कि डॉ० सहल के विवेच्य निबन्धों को पढ़ने पर विद्वानों को ऐसा भी लग सकता है जैसे उनके निबन्ध पाण्डित्य से समृद्ध होते हुए भी कई बार अन्त में स्पष्ट निष्कर्ष प्रस्तुत किये बिना ही समाप्त हो जाते हैं। यह बात उनके कुछ निबन्धों, विशेषकर प्रसाद के नाटकों में नियतिवाद पर लिखे गए निबन्धों के विषय में ठीक हो सकती है, किन्तु इसका कारण अन्य कुछ न होकर उनके प्रौढ़ समालोचक-स्वभाव की निष्पक्षता, उदारता एवं चिन्तन को गतिशील रखकर विषय के अन्तस्तल का समग्रतः अवगाहन कर लेने की प्रवृत्ति[1] का ही परिणाम प्रतीत होता है। मेरी ऐसी प्रतीति उनके निबन्धों के उन उपसंहारक वाक्यों अथवा 'नोट' लगाकर प्रस्तुत की गई टिप्पणियों से पुष्ट होती है जिनके द्वारा उन्होंने इस विषय पर और गंभीरता से विचार करने के लिए अन्य विद्वानों का भी आह्वान किया है।[2]

'कामायनी' और प्रसाद के नाटकों को विशेषतः दृष्टिगत रख कर डॉ० सहल ने प्रसाद-साहित्य में निहित नियतिवादी विचारधारा को समग्रतः उद्घाटित करने के लिए जो व्यापक तथा गभीर समीक्षण किया है, उससे न केवल प्रसाद के

---

१. देखिए डॉ० सहल का 'नियतिवाद और कामायनी' शीर्षक लेख का उपसंहार ('साहित्य-संदेश' अक्टू० १९५२ अंक)

२. (क) देखिए डॉ० सहल का 'नियतिवाद और अजातशत्रु' लेख (मूल्यांकन, पृ० ३२)

(ख) देखिए डॉ० सहल का 'नियतिवाद और चन्द्रगुप्त' लेख (वही, पृ० ३६)

नियतिवाद पर ही बल्कि स्वतन्त्र विषय के रूप में भी नियतिवाद पर शोध-कार्य के लिए विद्वानों को सबल प्रेरणा और स्पष्ट दिशा-दृष्टि प्राप्त हुई है और भावी शोध के लिए भी विषय-दिशा के संकेत मिलते हैं। 'अल्पायासान्महत् फलम्' की प्रवृत्ति से दूर रहकर सारस्वत-धर्म का पूरी सत्यता से निर्वाह करते हुए डॉ० सहल ने हिन्दी के समालोचना-साहित्य की जो श्री-वृद्धि की है और पाठकों पर अपनी विचक्षण बुद्धि की छाप छोड़ी है, उससे उनकी कीर्ति और भी बढ़ेगी, इसमें कोई संदेह नहीं है।

•••

'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद' की कुछ कथाएं तो जबलपुर से लौटते हुए पढ़ डालीं। विषय बहुत अच्छा है और जिस ढंग से संग्रह को निभाया गया है, वह बढ़िया है।.........आपने एक ऐसे विषय को हाथ में लिया है जिसकी ओर बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। इसके जोड़ की पुस्तक मुझे तो अभी तक हिन्दी में मिली नहीं।

झांसी, २०-४-५१

—(स्व०) वृंदावनलाल वर्मा

साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव : एक मूल्यांकन

• डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे

'डॉ० कन्हैयालाल सहल' हिन्दी के सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार हैं। हमारे समक्ष उनका व्यक्तित्व सुकवि, समीक्षक, अनुसंधित्सु तथा सम्पादक के रूप में आता है। वे स्वयं श्रेष्ठ कवि हैं, इसलिए उनमें काव्य-मर्म को समझने एवं उसके उद्घाटन की अपूर्व क्षमता है। 'प्रयोग' एवं 'क्षणों के धागे' नामक काव्य में वे प्रयोगशील, सहज कविताओं के जन्म-दाता के रूप में उपस्थित होते हैं। उनके सुलझे हुए आलोचक ने अनेक समीक्षा-ग्रन्थों का निर्माण किया है जिनमें 'आलोचना के पथ पर', 'समीक्षायण', 'समीक्षांजलि', 'वाद-समीक्षा', 'विवेचन', 'दृष्टिकोण', 'मूल्यांकन', 'विमर्श और व्युत्पत्ति' को हिन्दी-जगत में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। वे राजस्थानी-साहित्य के अधिकारी विद्वान् हैं और उनका इस दिशा का ऐतिहासिक प्रदेय सर्वाधिक मूल्य एवं महत्त्व रखता है। 'मरु भारती' के माध्यम से उन्होंने राजस्थानी भाषा एवं साहित्य को अनुसंधान, संकलन तथा स्तरीय विवेचन के प्रशस्त मार्ग पर स्थित किया है।

सहलजी हिन्दी के प्रतिष्ठित प्राध्यापक एवं व्याख्याकार हैं। प्रस्तुत संदर्भ में उनके विशिष्ट अवदानों का भली-भांति मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

कहने की आवश्यकता नहीं कि डॉ० सहल के मेधावी साहित्यिक व्यक्तित्व के तीन प्रभविष्णु रूपों- कवि या काव्य-मर्मज्ञ, आलोचक एवं प्राध्यापक ने ही हिन्दी-साहित्य को, 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' नामक पुस्तक देने को बाध्य [illegible]। सहलजी के संस्कृत-साहित्य एवं अंग्रेजी-साहित्य के विपुल ज्ञान ने इस ग्रन्थ [illegible] ज्योति उत्पन्न कर दी है।

छायावाद के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हो गया—
[illegible] द्विवेदी-युग तथा छायावाद युग। इन दोनों काव्य-धारा के प्रतिनिधि के रू
में क्रमशः, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर 'प्रसाद' के ये विशेषक बने। इसलिए
[illegible] वैभव की गुप्त जी अपने [illegible] [illegible] को दिखाया, [illegible] का दर्शन
प्रस्तुत किया और 'साकेत' के नवम सर्ग के काव्य-वैभव के सौरभ को साहित्य-समा
में फैलाया।

'साकेत' न केवल राष्ट्रकवि स्व० मैथिलीशरण गुप्त का मौलिक एवं युग
प्रवर्तक महाकाव्य है अपितु आधुनिक हिन्दी काव्य में इसे अत्यन्त लोकप्रियता तथ
गरिमा भी प्राप्त हुई है। यह ग्रन्थ गुप्त-साहित्य की शिरोमणि रचना है। गुप्त जी के
काव्य-माहात्म्य के कारण, उन पर और इस महाकाव्य पर अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थ
का प्रणयन हुआ है। हमें यह देखना है कि गुप्तजी पर लिखित समीक्षा-साहित्य में
महत्ता के सन्दर्भित ग्रन्थ का क्या महत्व है और यह पुस्तक 'साकेत' के काव्य-मर्म
के साथ कहाँ तक न्याय कर सकी है ?

गुप्त-साहित्य-समीक्षा के अन्तर्गत हम दो प्रकार की कृतियाँ पाते हैं। प्रथम
तो वे, जो कि गुप्तजी के समग्र साहित्यिक व्यक्तित्व को लेकर चलती हैं और दूसरी
वे जिनका सम्बन्ध सिर्फ हमारे आलोच्य ग्रन्थ 'साकेत' से ही है। हिन्दी में गुप्तजी
के सामान्य अध्ययन को गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' (गुप्तजी की काव्य-धारा),
डॉ० नगेन्द्र (गुप्तजी की कला), डॉ० रामरतन भटनागर (मैथिलीशरण गुप्त एक
अध्ययन), डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय (गुप्तजी की काव्य-कला), सत्येन्द्र पारी
(मैथिलीशरण गुप्त), डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी (गुप्तजी की काव्य धारा), दयामानन्द
प्रसाद सिंह (गुप्तजी की कृतियों का अध्ययन) आदि लेखकों ने प्रस्तुत किया
तदनन्तर गुप्तजी का विशिष्ट अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया। इसके अन्तर्गत गुप्तज
पर दो प्रसिद्ध शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किये गये। एक शोध-प्रबन्ध सागर विश्वविद्यालय मे
'मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति एवं काव्य' शीर्षक के अन्तर्गत, डॉ० कमलाकान्त पाठ
ने प्रस्तुत किया। द्वितीय शोध-ग्रन्थ दिल्ली-विश्वविद्यालय से, डॉ० उमाकान्त गोय
ने प्रस्तुत किया जिसका नाम है : 'मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृ
के आख्याता।' ये दोनों शोध ग्रन्थ गुप्तजी के परम मित्र और हिन्दी के शीर्ष
आलोचकों अर्थात् आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेन्द्र के निर्देशन में लि
गये थे। इनमें 'साकेत' की समीक्षा के रूप में न केवल समाहार ही मिलता है अपि
विविध दृष्टियों एवं कोणों से अनुशीलन भी किया गया है। 'साकेत' के अध्ययन
डा० नगेन्द्र (साकेत : एक अध्ययन), डॉ० प्रेमनारायण टण्डन (साकेत-समीक्षा
शम्भुप्रसाद बहुगुणा (साकेत-परीक्षण), डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय (साकेत-दर्शन) आदि

अपनाई गई है, उनका किसी रूप में अनुवर्तन अथवा प्रवर्तन आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्यों के अनुशीलन को लेकर यदि किया जाय तो इससे हिन्दी काव्यों के अनुशीलन में बड़ी सहायता मिलेगी। हिन्दी के राष्ट्रभाषा के गौरवशाली पद पर आसीन हो जाने के बाद अब तो इस प्रकार की व्याख्यात्मक समीक्षाएँ कितनी उपयोगी सिद्ध होंगी, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। डॉ० सहल के इस अतीव उपादेय कथन में उनका तत्वदर्शी विचारक एवं व्यावहारिक राष्ट्रभाषा के शुभ-चिन्तक का रूप मुखर है। सचमुच हिन्दी में इस दिशा की ओर अभी भी हमारा गम्भीरतापूर्वक ध्यान नहीं जा पाया है। यदि ध्यान गया भी है तो हमने सस्ते, बाजारू और छात्रोपयोगी रूप में उसे येन-केन प्रकारेण प्रस्तुत कर दिया है। इस कार्य की महत्ता एवं गुरुता को हम भली-भांति आँक नहीं सके हैं। वास्तव में इस क्षेत्र में हिन्दी-संस्कृत के प्रखर विद्वानों को कमर बाँधकर उतरना था। परन्तु वे तो नहीं आये और छुटभइया आलोचकों तथा टीकाकारों की ऐसी भीड़ जमा हो गयी कि दंगल-सा मालूम पड़ने लगा, क्योंकि विद्यार्थियों की भीड़ इन सस्ती और 'टेबलेट-टाइप' पुस्तिकाओं की ओर टूट पड़ी। फिर तो क्या था : कीचड़ मच गया। जिस प्रकार आजकल सज्जन चुनाव के दंगल से दूर रहकर दूर से ही किटकिटाहट सुनते रहते हैं, उसी प्रकार बेचारे विद्वानों ने भी अपने आप को इस 'टीकाऊ होली' से अपने आप को बचाये रखा। भक्ति-काव्य को लेकर तो इस दिशा में निर्देशित सरणियों में अच्छा और अद्वितीय कार्य हुआ है परन्तु रीति-काव्य एवं आधुनिक काव्य को लेकर इस प्रकार के सुकार्य की अत्यावश्यकता प्रतीत की जा रही है। इस सन्दर्भ में 'प्रसाद' की 'कामायनी' की ओर तो हमारा ध्यान गया परन्तु 'निराला' एवं महादेवी की ओर से हम सर्वथा निश्चिन्त बैठे हुए हैं। कहीं ऐसा न हो कि हमारी भावी पीढ़ी के लिए, निराला और महादेवी, कठिन काव्य के प्रेत बनकर रह जाएँ। डॉ० सहल के तत्व-दर्शन के आधार पर हम यह कहना चाहते हैं कि निराला और महादेवी में यदि कोई स्तरीय एवं प्रामाणिक भाष्य तैयार कर दें तो हिन्दी का तो कल्याण होगा ही, इन महाकवियों के प्रति भी महान् सुकार्य हो जाएगा। इन कवियों के साहित्यिक श्रद्धालुओं को इस मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए और इनके काव्यों की मर्म-भेदक खबर ('उग्र' की 'मेरी खबर' नहीं) लेनी चाहिए। डॉ० वासुदेवशरण ने इस क्षेत्र में अत्यन्त मूल्यवान् कार्य किया है। डॉ० सहल के प्रस्तुत कथन के परोक्ष प्रभाव के रूप में नगीनचन्द सहगल ने 'साकेत' एवं 'कामायनी' की स्तरीय टीकाएँ प्रस्तुत की हैं जिनमें तुलनात्मक अध्ययन के अनेक भाव-प्रसंग विराजमान हैं। हिन्दी में अच्छे लोगों का ध्यान इस प्रकरण की ओर इसलिए नहीं जा पाया है कि बाल-साहित्य के लिखने के समान, टीकाओं के लिखने के कर्म को अपनी तथाकथित प्रतिष्ठा के विपरीत अथवा प्रतिकूल माना जाता

है और इस प्रकार की पुस्तकों के प्रणयन में कुछ-कुछ अवमानना, तुच्छता, माना जाता है। जब तक यह हीनभाव तथा वातावरण विद्यमान है, तब तक अच्छे लोग इस राह के पथिक नहीं बन पाएंगे। श्रेष्ठ जनों को क्रान्तिकारी पग उठाते हुए, इस स्तर की मानी पुस्तकों द्वारा शोभा बढ़ानी चाहिए।

सन् १९१४ में 'साकेत' के लेखन का कार्यारम्भ होता है और सन् १९३१ में उसकी प्रबन्ध-रचना समाप्त हुई थी। सन् १९३२ में काव्य का प्रथम बार प्रकाशन हुआ। प्रकाशन के सिर्फ एक वर्ष के अन्तर्गत अर्थात् सन् १९३३ में ही डॉ० सहल ने उसका पारायण किया और वे उसके नवम सर्ग के प्रति आकृष्ट हो गये। इसी से उनकी काव्य-परख और उनके मर्म-चयन की वृत्ति सर्वथा स्पष्ट है। यह सर्वथा निश्चित है कि नवम सर्ग को 'साकेत' का प्राण माना जाता है। 'साकेत' का ही नहीं अपितु समस्त गुप्त-काव्य का सर्वाधिक श्रेष्ठ अंश इसी सर्ग में सिमट कर आ विराजा है। गुप्तजी के सर्वश्रेष्ठ प्रगीत इसी सर्ग के परमोत्कर्ष हैं। गुप्तजी की हृदयस्पर्शिनी काव्योक्तियाँ इसी सर्ग में अपनी अमरकृतियाँ उत्पन्न कर रही हैं। गुप्त जी का वाग्विलास इसी सर्ग में अलसाकर बिखर गया है। मैथिलीशरण जी की छायावादी उक्तियों का सौरभ यहीं महक रहा है। कन्हैयालालजी ने अपनी मर्मभेदिनी प्रतिभा एवं उत्कट मेधा से इन समस्त विशेषताओं को राशि-राशि मेघों के समान काव्याकाश में बिखेर दिया है। रुई के समान धुन दिया है। कहीं कोई बात शेष नहीं रहने पायी है। वे अशेष समीक्षक एवं निःशेष व्याख्याता के रूप में इस कृति में समादृत हैं। इन्हीं महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं के कारण डॉ० कमलाकान्त पाठक और नगीनचन्द सहगल ने इस पुस्तक का प्रचुर सदुपयोग किया है।

व्याख्याता सहल जी की दृष्टि सिर्फ काव्य के भावपूर्ण स्थलों एवं काव्य-नवनीत के सम्यक् तथा समुचित अनावरण तक ही सीमित नहीं है अपितु वे भाव-सादृश्य एवं तुलनात्मक अनुशीलन के प्रौढ़तर, कठिन एवं श्लाघनीय गुरुतर कर्त्तव्यों की ओर भी उन्मुख हुए हैं और इसमें उनको अभूतपूर्व सफलता मिली है। इन पंक्तियों का लेखक स्वयं स्नातकोत्तर स्तर पर विगत दस वर्षों से 'साकेत' के अध्ययन-अध्यापन में दत्तचित्त एवं संलग्न है और अपने अनुभव के आधार पर भी वह कह सकता है कि इस पुस्तक में, 'साकेत' के नवम सर्ग की काव्य-कला, गीति-काव्य एवं महती सर्जना को समृद्ध वाणी मिली है। सहलजी नवम सर्ग के लिए मल्लिनाथ सिद्ध हुए हैं।

डॉ० सहल ने कवि के चिकित्सा-ज्ञान, आयुर्वेद-परिचय, वनस्पति-विज्ञान-परिचय, अन्य राम-कथा के आधारभूत ग्रन्थों के अध्ययन, ऋतु-ज्ञान, लौकिक-

डॉ० कन्हैयालाल सहल : एक सफल भाष्यकार

• डॉ० वचनदेव कुमार

साहित्य-समाराधक प्रो० कन्हैयालाल सहल की साहित्य-साधना के अनेक आयाम हैं किन्तु उनका भाष्यकार-रूप कम महत्वपूर्ण हो—ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि संपूर्ण संस्कृत वाङ्मय की ओर सिंहावलोकन करें तो ज्ञात होगा कि संस्कृत वाङ्मय में रचनात्मक पक्ष के साथ उसका आलोचनात्मक—व्याख्यात्मक पक्ष भी अत्यधिक प्रस्तुत था, अलबत्ता यह बात दूसरी है कि वह पद्धति साम्प्रत पौरस्त्य व्यावहारिक-आलोचना के परिप्रेक्ष्य में अधिक ग्राह्य न हो।

संस्कृत वाङ्मय में साहित्य-मर्म-बोध एवं अर्थ-स्पष्टीकरण के लिए अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थीं—जैसे वृत्ति, न्यास, वार्तिक, कारिका, टीका तथा भाष्य। वृत्ति में सूत्रार्थ की ओर मुख्यतः ध्यान रहता था। न्यास में वृत्ति का पल्लवन अपेक्षित था। वार्तिक में उक्तानुक्तदुरुक्त की चिंता रहती थी, कारिका में संक्षिप्त सूत्रों के बह्वर्थसूचक श्लोक रहते थे, टीका में पदच्छेद, पदार्थोक्ति, विग्रह और वाक्य-योजना पर ध्यान आवश्यक था तथा भाष्य आक्षेप-समाधानपरक ग्रंथ होते थे। इतना ही नहीं, भाष्यकार केवल अपने विषय का ही पंडित नहीं होता था, वरन् उसके लिए अनेकानेक शास्त्रों का पांडित्य आवश्यक था, उसका शास्त्रान्तर में पूर्ण प्रवेश आवश्यक था, जिस श्लोक या विषय पर भाष्य लिखा जा रहा है—उस विषय पर कुछ कथ्य अवशिष्ट न रह जाए, भाष्यकार से ऐसी अपेक्षा की जाती थी। यदि उस विषय पर कोई सद्योति रह गई हो, कोई संदेह बच रहा हो—तो इसे भाष्यकार की असफलता ही मानी जाएगी। इसीलिए भाष्य किसी मूल रचना पर अछोर विवृत्ति के पर्याय माने जाने लगे। पाणिनि-व्याकरण पर पतंजलि अथवा ब्रह्मसूत्र पर शंकरा-

भाषों के भाष्य, व्याकरण और अध्यात्म-चिन्तन पर आधारित विचारवारि-वर्षण के पुष्कल भण्डागार माने गए।

श्री कन्हैयालाल सहल के भाष्यकार-रूप को स्पष्ट करने वाली दो पुस्तकें हैं—(१) साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव (२) कामायनी-दर्शन। पहली पुस्तक साकेत के बारह सर्गों में से केवल एक सर्ग की विशद व्याख्या है। दूसरी पुस्तक 'कामायनी-दर्शन' के एक और लेखक हैं—डॉ० विजयेन्द्र स्नातक। सहल जी ने आशा, श्रद्धा, काम तथा लज्जा—इन चार सर्गों का भाष्य किया है। इस प्रकार पन्द्रह सर्गों वाली 'कामायनी' के लगभग चतुर्थांश पर सहल जी की व्याख्या है। इन्हीं के आधार पर उनके भाष्यकार-रूप का मूल्यांकन किया जा सकता है।

'साकेत' महाकाव्य में उसका नवम सर्ग हृदय है, जिस प्रकार 'रामचरित-मानस' में अयोध्याकाण्ड। सहल जी ने साकेत के सभी सर्गों में नवम सर्ग को ही सर्वोपरि व्याख्येय माना है—यह उनकी सहृदयता की पहचान है। उदाहरण के लिए नवम सर्ग का एक महत्वपूर्ण गीत लिया जा सकता है—

वेदने, तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
नई किरण छोड़ी है तूने, तू वह 'हीर-कनी',
सजग रहूँ मैं, साल हृदय में, ओ प्रिय-विशिख-अनी।
ठंडी होगी देह न मेरी, रहे दृगम्बु—सनी,
तू ही उष्ण उसे रक्खेगी मेरी तपन-मनी।
आ, अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्टि-जनी,
तेरी ही छाती है सचमुच उपमोचितस्तनी।
अरी वियोग-समाधि, अनोखी, तू क्या ठीक ठनी,
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची-तनी।
मन-सा मानिक मुझे मिला है तुझमें उपल-खनी,
तुझे तभी छोड़ूँ जब सजनी, पाऊँ प्राणधनी।

ऊपर के गीत में प्रेम की मनोवृत्ति के स्वरूप का अच्छा दिग्दर्शन हुआ है। उर्मिला कहती है कि हे वेदने! तू ही मुझे इस समय प्रिय है, चाहे लोग तुझे बुरा क्यों न बतलाएँ। अपनी घनी इच्छा को मैंने आज तुझमें ही प्राप्त किया है। तू वह हीर-कनी है, जिसने मेरे हृदय में नई ज्योति जगाई है। तीर की नोक-सी मेरे हृदय में कसकने वाली हे वेदने! तू हृदय को सालती रह, जिससे मैं सजग बनी रहूँ। (वेदना को विशिख-अनी के रूप में मूर्त रूप दिया जा रहा है) तेरे ही कारण मरूँगी

नहीं। पानी से बराबर भीगने वाली वस्तु ठंडी पड जाती है, पर वेदना के कारण उसमें गर्मी रहेगी। उर्मिला कहती है कि हे मेरी सूर्यकान्त मणि! तू ही मेरी देह को उष्ण बनाए रखेगी। सूर्य की किरणो को समेट कर वस्तुओ को गर्म करने की शक्ति सूर्यकान्त मणि मे है, वेदना मे भी उष्णता है—इसलिए वेदना को सूर्यकान्त मणि कहना उचित ही है। हे वेदने! अभाव तेरा पिता है, और अदृष्टि (अदर्शन) तेरी माता है। प्रिय के अभाव और अदर्शन के कारण ही वेदना का जन्म होता है। तेरी छाती को ही स्तनो की उपमा दी जा सकती है। जैसे माता अपने बच्चे को छाती से चिपकाये रहती है, वैसे ही तूने मुझे अपना रखा है, और सबसे मेरा साथ छूट गया है, तू ही मेरा साथ नही छोड रही है। 'उपमोचितस्तनी' जैसे समासात और कर्ण-कटु प्रयोग गीतिकाव्य मे खटकते हैं।

उर्मिला कहती है कि वेदना के कारण योगियो की समाधि-दशा-सी मेरी दशा हो रही है। समाधि मे योगी सब भौतिक पदार्थों से अपना मन खींचकर ब्रह्म मे स्थिर रहता है, उसी प्रकार उर्मिला भी अपने आपे मे नहीं है। अपने को, प्रिय को, जगती को—सबको दूर देख रही है। बिना वेदना के मन का सच्चा रूप व्यक्त नहीं होता। इसीलिए उर्मिला कहती है कि हे रत्नो की खान वेदने! मन जैसा माणिक मैंने तुझी से प्राप्त किया। हे सजनी! मै तुझे तभी छोड सकती हू जब प्राणेश्वर को पाऊँ।[1]

किन्तु, इस गीत की व्याख्या में उन्होंने पदच्छेद, पदार्थोक्ति, विग्रह और वाक्य-योजना वाली प्रणाली का आश्रय नहीं लिया। उन्होंने इसके मुख्यार्थ की विवृत्ति करते हुए इसके दोष-पक्ष की ओर भी इंगित किया है। जिस समय सहल जी साकेत के नवम सर्ग के काव्य-वैभव का उद्घाटन कर रहे थे, उस समय मैथिलीशरण गुप्त का काव्य दुर्व्याख्या-विष से बहुत विमूर्च्छित नहीं हो पाया था, इसलिए उन्हें मल्लिनाथ की पद्धति मे संजीवनी लेखन की आवश्यकता भी नहीं अनुभूत हुई। फिर भी अपनी सीमाओ मे जो उन्होंने काव्य-सौंदर्य की परतें उघारी हैं, उन्होंने शब्द-मोतियो को बिलगाकर जो अर्थ-मौक्तिक परखे है, उसके लिए वे श्लाघा के अधिकारी हैं। Practical Criticism, Appriciation तथा Critical Sense जैसी काव्य-चिकित्सा वाली पुस्तकों मे काव्य-सौंदर्य का जितना उद्घाटन नहीं हुआ है, उतना उसका छिड़काव ही बिखरा है, इसमें कोई संदेह नहीं।

इसी प्रकार उनके कामायनी-दर्शन को भी भाष्य-प्रणाली पर दृष्टिपात अपेक्षित है। कामायनी के श्रद्धा सर्ग की व्याख्या भी साकेत के नवम सर्ग की पद्धत

[1] साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव—पृष्ठ ३०-३१

पर ही हुई है। लेखक के शब्दों में—'कामायनी' वास्तव में मानवता के विजय
ही आख्यान है और इस विजय में आलम्बभूत है श्रद्धा। उसी श्रद्धा की अवतार
'कामायनी' के इस महत्त्वपूर्ण सर्ग में हुई है। इसलिए इस सर्ग को यदि हम इ
महाकाव्य का मेरुदंड कहे तो संभवतः इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इ
मेरुदंड-सर्ग में उन्होंने कहीं कहीं दार्शनिक ग्रन्थियों को सुलझाने में बड़ी ही सूक्ष्मेक्षि
का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ—

> "विषमता की पीड़ा से व्यस्त
> हो रहा स्पंदित विश्व महान्;
> यही दुःख-सुख विकास का सत्य
> यही भूमा का मधुमय दान।"

कामायनी में स्थान-स्थान पर जिन दार्शनिक पदों का प्रयोग हुआ है, उनमें से ऊपर का पद भी दार्शनिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। छान्दोग्य उपनिषद के सप्तम प्रपाठक में जिस भूमा तत्त्व की व्याख्या की गई है वह अत्यंत गूढ़ और गंभीर है। नारद और सनत्कुमार के प्रसंग में इस तत्त्व का विवेचन हुआ है। श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर वस्तु का वर्णन करते हुए अन्त में सनत्कुमार सुख पर आ पहुँचते हैं और कहते हैं 'जो भूमा है, वही सुख है। अल्प में सुख नहीं है, इसलिए भूमा के विषय में ही जिज्ञासा करना उचित है।" (त्रयोविंश खण्ड) नारद ने कहा है कि हे भगवन्! मैं भूमा के विषय को जानना चाहता हूं। इस पर सनत्कुमार ने उत्तर दिया—"जहाँ साधक अन्य कुछ नहीं देखता, अन्य कुछ नहीं सुनता, वह भूमा है, और जहाँ अन्य कुछ देखता है, अन्य कुछ सुनता है, अन्य कुछ जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वह अमृत है और जो अल्प है, वह मर्त्य है।" नारद के यह प्रश्न करने पर कि हे, भगवन्! वह कहाँ प्रतिष्ठित है, सनत्कुमार ने उत्तर दिया था—'अपनी महिमा में, शायद महिमा में भी नहीं।' नासदीय सूक्त के अन्तिम मंत्र में भी कहा गया है—'यह विसृष्टि कहाँ से हुई, किसने की, किसने नहीं की, जो इसका अध्यक्ष परम व्योम में रहता है, वह यह सब जानता है; या स्यात् वह भी नहीं जानता।" नारद-सनत्कुमार-संवाद तथा नासदीय सूक्त की, विवेचन-शैली का यह साम्य द्रष्टव्य है। उपनिषदों में जो भूमा का वर्णन किया गया है, उससे ऐसा लगता है जैसे ब्रह्म अथवा 'पुरुष-सूक्त' के विराट् पुरुष का वर्णन किया जा रहा हो। जहाँ तक 'भूमा' के व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ का प्रश्न है, यह शब्द बहुत्व, अतिशयता तथा अनल्पता का बोधक है। ऊपर की उद्धृत पंक्तियों में प्रसाद जी ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है। 'भूमा का मधुमय दान' से प्रसादजी का क्या अभिप्राय हो सकता है? इस पर विचार करना आवश्यक है। सत्य के दो रूप होते हैं (१) सत्य और (२) ऋत। सत्य का सम्बन्ध व्यक्ति से है, ऋत का समष्टि से। अपने को मनुष्य समझना तथा चींटी को

चोटी समझना या कुत्ते को कुत्ता समझना, यह व्यक्ति-सत्य का रूप है, नहीं तो गीताकार के शब्दों में—

"शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता: समदर्शिनः।"

ऋत-दृष्टि के अनुसार मनुष्य सब को समान रूप से देखता है। वह आत्मौपम्य-दृष्टि ही सच्ची दृष्टि है जिसे ऋत के नाम से अभिहित किया जाता है। यह ऋत भरा प्रज्ञा ही मधु है। मनुष्य जब इस स्थिति पर पहुँच जाता है तो उसकी वृत्ति को 'मधुमती वृत्ति' कहा जाता है। व्यक्ति-दृष्टि संकीर्ण दृष्टि है, समष्टि-दृष्टि ही सच्ची दृष्टि है। ब्रह्मा, विभु, विराट्, विष्णु आदि जितने महत्त्व व्यंजक शब्द भारतीय-साहित्य में प्रचलित हैं, वे सब बहुत्व और व्यापकता का अर्थ लिए हुए हैं। व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ को लक्ष्य में रखकर सर्वदा प्रवृत्त हो तो वह अपने लिए संकुचित अहं की एक ऐसी कारा का निर्माण कर लेगा जो अन्त में जाकर उसका दम घोंट देगी। बँधे हुए तालाब का पानी जिस प्रकार गदला हो जाता है, उसी प्रकार सकीर्ण विचारों वाला व्यक्ति भी मानसिक पवित्रता से कोसों दूर रहता है।[१]

किन्तु, ऐसा लगता है कि सहल जी यदि इस सर्ग की सूक्ष्मताओं को और उरेहते तो काव्यरसिकों को और अधिक आनन्द प्राप्त होता। इस सर्ग में कई महत्त्वपूर्ण शकाएं उभरती हैं जिनका समाधान आवश्यक था।

श्रद्धा सर्ग का आरम्भ होता है—

"कौन तुम ससृति जलनिधि तीर,
तरङ्गों से फेंकी मणि एक।
कर रहे निर्जन का चुपचाप,
प्रभा की धारा से अभिषेक।"

कामायनी मनु को ससृति-जलनिधि-तीर पर तरङ्गों से फेंकी एक मणि कहती है। यहाँ 'मनु' पुल्लिंग के लिए 'मणि' स्त्रीलिंग का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार मनु श्रद्धा (कामायनी) को 'वसत के दूत' से संबोधित करते हैं और फिर श्रद्धा (कामायनी) के लिए 'लगा कहने आगन्तुक व्यक्ति' का प्रयोग हुआ है। प्रसाद जी अच्छी तरह से जानते थे कि श्रद्धा नारी है और मनु पुरुष। तो फिर इस लिंग-विपर्यय का कारण क्या है? जब तक यह कारण अज्ञात रहता है तब तक मन में शका बनी रहती है और शका-विजडित अन्तः करण में काव्य का शुद्धानंद प्राप्त नहीं हो सकता। अतः ऐसे कई शकनीय स्थल है जिनका समाधान अपेक्षित था।

फिर भी प्रो० कन्हैलाल सहल का जो भाष्यकार-रूप हमारे समक्ष आता है, वह पूर्णतः सराहनीय है। वे हिन्दी व्यावहारिक आलोचना के आधार-स्तम्भ हैं, ऐसा बेहिचक कहा जा सकता है।

---

१. कामायनी-दर्शन, पृ० ४६-४७

डॉ० सहल की शास्त्रीय और सैद्धान्तिक समीक्षाओं के प्रतिमान और औचित्य-सिद्धान्त

• डॉ० चंद्रहास पाठक

मा न आलोचना के पथ पर, समीक्षायण, शास्त्र-समीक्षा, विमर्श और अनुशीलन, अनुसंधान और आलोचना नामक ग्रन्थों के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य की आलोचना में सम्बन्धित अनेक पत्र-पत्रिकाओं में निकले हुए पचासों फुटकर निबंध डॉ० सहल की समीक्षात्मक मान्यताओं के निदर्शन हैं, पर यहाँ हम उनकी प्रथम पुस्तक के भी प्रथम खण्ड को ही ध्यान में रखकर उनके शास्त्रीय और सैद्धान्तिक कोटि में आने वाले समीक्षा-स्वरूप की संक्षिप्त और औचित्य-सिद्धान्त के सम्बन्ध में उनके विशिष्ट अनुदान की कुछ विस्तृत चर्चा कर लेना चाहते हैं।

डॉ० सहल हिन्दी, संस्कृत, इंगलिश—तीनों ही भाषाओं और उनके साहित्य के अधिकारी और मर्मज्ञ विद्वान् हैं। यही कारण है कि उनकी प्रारम्भिक कृति के प्रत्येक अंग में भी विवेचनी तटस्थता तो मिलती ही है, वैयक्तिक निर्लिप्तता भी पद-पद पर दृष्टिगोचर होती है।

समालोचना के प्रतिमानों के सम्बन्ध में डॉ० सहल के विचार जहाँ एक ओर बड़े सुलझे हुए हैं वहाँ दूसरी ओर पूर्वाग्रह और पराग्रह के दोषों से भी सर्वथा विनिर्मुक्त हैं। वे किसी भी भाषा के शास्त्रीय परिणामों को आज की समीक्षा-पद्धति पर लादा जाना श्रेयस्कर नहीं समझते, न उन्हें संस्कृत काव्य-शास्त्र की सभी मान्यताएं हू-बहू, उसी रूप में स्वीकार्य हैं और न पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की सभी प्रतिपत्तियों को ही स्वीकार करने के वे पक्षपाती हैं। हिन्दी-समीक्षा-शास्त्र के स्वाभाविक विकास में अविजातीय होकर जितना भी प्राच्य और पाश्चात्य शास्त्-

चिन्तन समा सका है, उतना ही वे हिन्दी-काव्य-शास्त्र के लिए ग्राह्य मानते हैं। बस, इसी विशेष दृष्टि को ध्यान में रखकर उन्होंने भारतीय और *विदेशी काव्य-शास्त्र* की प्रवृत्तियों पर विचार किया है, इस सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक के उपक्रम मे दी हुई शब्दावली इस प्रकार है—

"*आलोचना के केवल शास्त्रीय आधार आज नहीं टिक सकते*, क्योंकि परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ आज उन आधारों में भी परिवर्तन हो गये हैं, भावना-विलासी हृदय के स्वच्छन्द उन्मुक्त व्यापार भी आज नहीं चल सकेंगे, क्योंकि आधुनिक युग का मनुष्य बुद्धि की कसौटी पर वस्तु का मूल्यांकन करता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद का एक महत्त्वपूर्ण जीवन-दर्शन है, जिससे सहायता लिये *बिना आज कोई भी आलोचक अपनी समीक्षा में समग्रता नहीं ला सकेगा।*"[1]

समीक्षा के क्षेत्र में इसे हम डॉ॰ सहल की सामंजस्यपूर्ण दृष्टि कह सकते हैं, जिसके आधार पर उन्होंने साहित्य-शास्त्र की कुछ ऐसी गुत्थियों को सहज ही सुलझा दिया है जो आज भी विद्वानों का सिर-दर्द बनी हुई है। स्वभावोक्ति का अलंकारत्व, करुणरस की सुखात्मकता (ट्रेजेडी का आनन्द) नाट्यदर्पणकार का रस-विवेचन, *सकलनत्रय आदि कुछ ऐसे ही लेख हैं जिनमें उनकी प्राच्य एवं पाश्चात्य मान्यताओं* के संतुलन निखर उठे हैं।

इस युग में जब कि मनोविज्ञान समस्त वाङ्मय के ऊपर छाया हुआ है यह अत्यंत औचित्यपूर्ण जान पड़ता है कि काव्य-शास्त्रीय मानदण्डों को भी उसके परिप्रेक्ष्य मे देखा और परखा जाय। रस के अध्ययन में ही नहीं, आलोचना के *क्षेत्र में मनोविश्लेषण का और अलंकारों के अध्ययन, विकास-क्रम और वर्गीकरण* में भी मनोविज्ञान का कितना बड़ा हाथ है, इसे डॉ॰ सहल ने बड़े सुन्दर ढंग से 'आलोचना और मनोविश्लेषण' तथा 'अलंकार और मनोविज्ञान' शीर्षक लेखों में समझाया है, पर अलंकार-शास्त्रियों को भारतीय समीक्षा-शास्त्र के भीतर मनोवैज्ञानिक दृष्टि को पूर्णतया विकसित करने का परामर्श देते हुए भी उन्हें इसका अतिवादी रूप पसन्द नहीं है, उन्होंने स्पष्ट कहा है कि—

"मनोविश्लेषण की भी एक सीमा है, उसको लेकर कवि के मानसिक रोगों का लेखा-जोखा करना उचित नहीं, हां, मनोविश्लेषण की मर्यादाओं को मानते हुए विषय के स्पष्टीकरण के लिए उसका समुचित प्रयोग किया जा सकता है।"··· "जीवन से मनोविज्ञान के सिद्धान्त निकलने चाहिए, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से जीवन नहीं।"[2]

---

१. आलोचना के पथ पर (उपक्रम), पृष्ठ (अ)
२. आलोचना के पथ पर, पृष्ठ ६

इस स्थान पर समुचित प्रयोग की बात डॉ० सहल के औचित्य-विश्वासी की ही बात है।

साधारणीकरण जैसे कठिन विषय को हृदयंगम कराने के लिए "साधारणीकरण और रसास्वाद के विघ्न" नामक उनका लेख तो साहित्य-शास्त्र के अध्येताओं के बड़े काम की वस्तु है। मैंने अपने शोध-प्रबन्ध में एक स्थान पर लिखा है कि इस युग में जब कि अनेक आलोचक बिना मूल सिद्धान्त को समझे ही उसकी चीर-फाड़ में प्रवृत्त हो जाते हैं, यह बहुत आवश्यक है कि पहले प्रत्येक मूल सिद्धान्त की ठीक-ठाक और युक्तिपूर्वक स्थापना कर दी जाय। डॉ० सहल ने इसका विशेष ध्यान रक्खा है, उन्होंने जिस किसी बात की स्थापना की है, उसमें जरा भी तोड़-मरोड़ नहीं है, बल्कि मूल से भी अधिक स्पष्ट उनकी स्थापना है। इस प्रकार शास्त्रीय समीक्षा के क्षेत्र में धुरीहीनता के दोष से बचाने वाला औचित्य डॉ० सहल की साहित्य-शास्त्रीय समीक्षाओं में सर्वत्र अभिव्याप्त है।[1]

एक बात सैद्धान्तिक समीक्षा-सम्बन्धी लेखों के सम्बन्ध में भी कह देना आवश्यक है। विद्वानों ने हिन्दी-साहित्य के उन सिद्धान्तों को, जो उसके उपस्थित मोड़ों में सैद्धान्तिक वादों का रूप ग्रहण कर चुके हैं, सैद्धान्तिक आलोचना के नाम से अभिहित किया है।[2]

छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और अन्तश्चेतनावाद आदि ऐसे ही सैद्धान्तिक वाद हैं। प्रस्तुत पुस्तक में डॉ० सहल के कुछ निबन्ध इन वादों से सम्बन्धित भी हैं, यों उनकी 'वाद-समीक्षा' नामक पुस्तक में इनका स्वतन्त्र और विस्तृत विचार उपलब्ध है। प्रगतिवाद पर तो यहाँ डॉ० साहब ने बहुत ही जम कर लिखा है। यह लेख अनायास ही यह बोधित करा देता है कि डॉ० सहल में भारतीय दर्शन-शास्त्र की प्रतिपत्तियों की अपेक्षा पाश्चात्य-दर्शन का निरीक्षण अधिक पैना है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को समझाने के प्रसंग में डॉ० सहल ने पाश्चात्य भौतिकवादी दर्शन का, हीगेल की तर्क-पद्धति का, मार्क्स के सिद्धान्तों का, उस पर पड़ने वाले फायरबाख़ के प्रभावों का और ऐंगेल्स के लेखों का जो हवाला दिया है, उससे उनकी तलस्पर्शी पैठ का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु इस लेख के उपसंहार में लिखे हुए कुछ वाक्यों—

"यह निःसंकोच स्वीकार करना होगा कि सामाजिक चेतना जाग्रत करने में प्रगतिवाद ने बड़ा भारी योग दिया है"............

१. औचित्य-सम्प्रदाय का हिन्दी काव्य-शास्त्र पर प्रभाव, पृष्ठ २६७
२. हिन्दी-साहित्य में काव्य-रूपों का प्रयोग, पृष्ठ २५७

"व्यक्तिवाद से समाज की ओर हमारी दृष्टि उन्मुख कर प्रगतिवाद ने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।"[1] ...... को पढ़ कर यह भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है कि डॉ० सहल भी प्रगतिवाद को काव्य की समस्त स्वरूप-प्रक्रिया पर लागू करने वाले आलोचकों में अन्यतम हैं, *पर बात ऐसी नहीं है. उन्होंने प्रगतिवाद पर लगने* वाले आक्षेपों को बड़े उत्साह के साथ गिनाया है—

"प्रगतिवाद सार्वजनिक शाश्वत सत्यों की उपेक्षा करता है, मार्क्सवाद पर आश्रित होने के कारण भारत की आध्यात्मिक भावना के प्रतिकूल है, ईश्वर में विश्वास नहीं करता इसलिए चार्वाक मत का नवीन साहित्यिक संस्करण है, काम-वासना का नग्न रूप उपस्थित करता है, इसलिए घासलेटी है, हिंसा को प्रश्रय देता है और श्रद्धा की उपेक्षा कर केवल बौद्धिकवाद और आर्थिक कसौटी पर प्रत्येक वस्तु को परखता है, इसलिए त्याज्य है, इसके समर्थकों में स्वयं अनुभूति नहीं, इसलिए यह पाखंड और ढोंग है, किसानों और मजदूरों तक ही सीमित रहने के कारण इसका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है, अतः अमान्य है केवल क्रांति के राग अलापता है, इसलिए हेय है, अतीत को नष्ट-भ्रष्ट कर केवल वर्तमान को महत्त्व देता है, इसलिए अपूर्ण है।"[2]

अवश्य ही इन आक्षेपों का यथासम्भव समाधान भी डॉ० साहब ने प्रस्तुत किया है, पर यह भी कह दिया है कि "इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि प्रगतिवाद सर्वथा निर्दोष है।"[3] "प्रगतिवाद यदि एक काव्यधारा है तो उसे काव्य का आवरण धारण करना होगा, गद्यात्मकता और नीरसता से ऊपर उठना होगा, अपनी भावनाओं को पाठकों तक प्रेषित करने के लिए कवियों को अनुभूति का आश्रय लेना होगा।"[4]

कहना यह है कि प्रगतिवाद का महत्त्व डॉ० साहब को इसलिए तो स्वीकार्य है कि उसका भी कोई अपना जीवन-दर्शन है, चाहे वह भौतिकवादी ही अधिक है, उसने भी किसी-न-किसी सत्य का उद्‌घाटन किया है, भले ही वह शाश्वत नहीं है, साहित्य में उसकी भी उपयोगिता है, चाहे वह बाह्य ही क्यों न हो। इस प्रकार साहित्य के एक विशेष सिद्धांत के रूप में ही प्रगतिवाद का औचित्य डॉ० साहब को मान्य है, उसे साहित्य की समस्त स्वरूप-प्रक्रिया पर लागू करना उन्हें अभीष्ट नहीं है।

---

१. आलोचना के पथ पर, पृ० ८७
२. आलोचना के पथ पर, पृ० ८५
३. आलोचना के पथ पर, पृ० ८५
४. आलोचना के पथ पर, पृ० ८७

अब कुछ विचार डॉ० सहल की औचित्य-सिद्धान्तविषयक मान्यताओं के सम्बन्ध में भी कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि आचार्य भरत से लेकर क्षेमेन्द्र-पर्यन्त सभी औचित्य के भावदर्शी और प्रत्यक्षदर्शी आचार्यों द्वारा विवेचित औचित्य-सिद्धान्त की ऐतिहासिक मीमांसा तो महामहोपाध्याय कुप्पु स्वामी, प्रो० वी० राघवन्, आचार्य बलदेव उपाध्याय, डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री आदि विद्वानों ने बड़ी सूक्ष्म पकड़ के साथ की है, पाश्चात्य आचार्यों की रचनाओं में भी इन्होंने औचित्य के समकक्षीय सिद्धान्त खोज निकाले हैं और "औचित्य विचार चर्चा" की व्यावहारिक व्याख्या भी कर दिखाई है, पर कोई मौलिक बात ये विद्वान् नहीं कह पाये हैं। डॉ० सहल ने यह कार्य पूरा कर दिखाया है। उन्होंने इन विद्वानों के समान औचित्य पर अलग से कोई भारी भरकम ग्रंथ नहीं लिखा है, "आलोचना के पथ पर" में ही एक छोटा-सा लेख जोड़ा है जो कई दृष्टियों से बेजोड़ है। इस लेख के माध्यम से डॉ० सहल ने पहला कार्य तो यह किया है कि संस्कृत-काव्य-शास्त्र के औचित्य-सिद्धान्त को हिन्दी-काव्य-शास्त्र की प्रवृत्तियों में लाकर आत्मसात् कर दिया है; फिर उन्होंने न केवल क्षेमेन्द्र से आगे बढ़ कर वर्ण, आश्रम और स्थिति-गत औचित्य-प्रकारों की उद्‌भावना का संकेत दिया है, हिन्दी के रचनात्मक साहित्य में भी औचित्य-प्रकारों की परख करते हुए, अनेक उदाहरण और प्रत्युदाहरण ढूंढ निकाले हैं, कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

> "हिमाद्रि तुङ्‌ग शृङ्‌ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
> स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती—
> अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
> प्रशस्त पुण्य पथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो।'

शिवताण्डव स्तोत्र की शैली पर पंचचामर छंद में लिखित प्रसाद जी के चन्द्रगुप्त नाटक का यह पद 'वृत्तौचित्य' की दृष्टि से कितना सुन्दर बन पड़ा है, इसका संकेत करते हुए डॉ० सहल ने लिखा है कि "मार्च करने में जिस प्रकार पहला कदम धीरे और दूसरा बलपूर्वक रक्खा जाता है, वैसे ही इस अभियान-गीत में भी क्रमशः लघु और गुरुवर्णों का प्रयोग हुआ है।"[1] वस्तुतः डॉ० सहल के द्वारा दिये गये इस उदाहरण की व्यंजना है कि 'सुवृत्ततिलक' जैसे ग्रन्थ की रचना करने वाले क्षेमेन्द्र ने अपने औचित्य-प्रकारों में 'वृत्तौचित्य' को न गिनाकर बड़ी भारी भूल की है।

इसी प्रकार—

> "अरुणगात अति प्रात पद्मिनी प्राणनाथ भय,
> मानहु केसवदास कोकनद कोक प्रेममय।

[1] .. के पथ पर, पृ० ६२

परिपूरण सिन्दूरपूर कैधौं मंगल घट,
किधौं शक्र को छत्र मढ्यो मानिक मयूख पट ।।
कै श्रोनितकलित कपाल यह किल कापालिक काल को ?"

केशव की 'रामचन्द्रिका' में उक्त पद्य को उद्धृत करते हुए भी डॉ० साहब ने बताया है कि "यहां अन्तिम पंक्ति का बीभत्स दृश्य प्रसंगानुकूल नहीं है"[1] वस्तुत यहां भी प्रसंगानौचित्य के माध्यम से प्रसंगौचित्य नामक औचित्य-प्रकार की उद्भावना का संकेत देना ही डॉ० साहब को अभीष्ट है। निश्चय ही इस छोटे-से निबन्ध में "औचित्य-सिद्धान्त" पर अनुसंधान-कार्य की बहुत बड़ी सम्भावनाओं का संकेत कर डॉ० सहल आचार्यों की कोटि में जा विराजे हैं। क्या शास्त्रीय और क्या सैद्धान्तिक, सभी प्रकार की आलोचनाओं के प्रतिमान के सम्बन्ध में डॉ० सहल का दृष्टिकोण नितान्त सन्तुलित है। आज आपके सम्बन्ध में स्वर्गीय आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा बहुत पहले लिखित ये पंक्तियां सहज ही स्मृति में आ जाती हैं—

"आधुनिक हिन्दी-काव्य की समीक्षा-भूमि पर पूर्वी और पश्चिमी साहित्यिक विचारधाराओं का समन्वय कर उस प्रयत्न में सहल जी ने अपना योग दिया है, जो आज की एक प्रधान साहित्यिक आवश्यकता है।"[2] अतः हम भी औचित्य के परम विश्वासी इस महान् व्यक्तित्व के प्रति वाक्-सुमनों की इस श्रद्धांजलि को अर्पित कर विश्राम लेते हैं।

टिप्पणी

(डॉ० सहल ने एक 'काव्यगत समग्र औचित्य' की भी कल्पना की है जो उन्हीं के शब्दों में पठनीय है। —सम्पादक)

केवल साहित्य में ही अनौचित्य रस-भंग का कारण नहीं होता, जीवन में भी औचित्याभाव से ही रस में व्याघात उपस्थित होता है। इससे स्पष्ट है कि साहित्य और जीवन, दोनों में औचित्य की युगपत् मान्यता प्रतिष्ठित है। अतः औचित्य केवल साहित्यिक सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय ही नहीं, वह परा रसोपनिषत् के साथ-साथ जीवन-रस का भी प्रगूढ रहस्य है।

जीवन में औचित्य-अनौचित्य के निर्धारण में मनीषी आचार-शास्त्रियों में भी न केवल अनेक बार मतैक्य के दर्शन नहीं होते अपितु तथ्यान्वेषण अथवा तत्व-बोध में भी वे बहुधा विमोहित हो जाते हैं। प्रायः इसी के समानान्तर स्थिति काव्य

१. आलोचना के पथ पर, पृ० ६४

२. दो शब्द, पृष्ठ (क)

के सम्बंध में भी दृष्टिगोचर होती है। काव्य में भी औचित्य-अनौचित्य को लेकर ही समीक्षा के क्षेत्र में अनेक सिद्धान्त तथा संप्रदायों का प्रचलन हुआ है। पर इधर कुछ दिनों से मेरे मन में काव्यगत 'समग्र औचित्य' की बात उठ रही थी, जिसे मैं सैद्धान्तिक तथा साम्प्रदायिक औचित्य से किसी कदर भिन्न मानता हूँ। यह 'समग्र औचित्य' शब्दार्थ के चारु सम्मेलन में है, कल्पना की रमणीयता में है, बुद्धि और भावना के प्रातिभासिक विरोध-परिहार में है, रस-निष्पत्तिजन्य आनन्द में है अथवा आवेगों के सन्तुलनजन्य मूल्य की प्रतिष्ठा में है, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु काव्य या साहित्य में 'समग्र औचित्य' जैसी कोई वस्तु है अवश्य, इस तथ्य को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। गीता जैसे दार्शनिक ग्रंथों में सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठ कर साधक के लिए मन की साम्य-स्थिति पर जोर दिया गया है।

'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

विरोधों में मन की साम्यावस्था जीवन की कला के लिए अत्यावश्यक तथा वांछनीय है। काव्य में भी बुद्धि तथा भावना, अभिव्यक्ति तथा अनुभूति, कलापक्ष और भावपक्ष द्वन्द्वों के ही प्रकारान्तर हैं। काव्यगत औचित्य की समग्रता के लिए उक्त द्वन्द्वों में सामंजस्य अथवा साम्य-स्थापन अपेक्षित है। औचित्य का यह द्वन्द्व-संकलनात्मक रूप 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' कहने वाले कालिदास जैसे कवीश्वर को भी मान्य रहा होगा, इसमें संदेह नहीं। क्रोचे जैसे अभिव्यंजनावादी, सर्जनात्मक कल्पना के उद्भावक कालरिज और काव्य-मूल्य के प्रतिष्ठापक रिचर्ड्स आदि तत्वान्वेषी समीक्षक भी औचित्य के संश्लिष्ट रूप का समर्थन करते ही हैं। यह संश्लिष्ट रूप स्वतः साध्य है अथवा काव्यानन्द की प्राप्ति का साधन है, इस विषय में यदि समीक्षकों में विवाद हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। उपनिषद महत्त्वपूर्ण है किन्तु उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है आत्मोपलब्धि का आनन्द। इसी प्रकार औचित्य यद्यपि 'परा रसोपनिषद' है तथापि औचित्यजन्य काव्यानन्द अधिक काम्य माना जा सकता है। इस चिन्तन-क्रम को यदि थोड़ा और आगे बढ़ाया जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि 'रसो वै सः' के साक्षात्कार के समय जिस प्रकार साधन और साध्य की अद्वैतसिद्धि निष्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार काव्यानन्द की चरमावस्था में औचित्य तथा औचित्य-जन्य आनंद एकाकार हो उठते हैं।

डॉ० सहल की समीक्षा-यात्रा—
समीक्षांजलि से कामायनी-दर्शन तक

• डॉ० रामचरण महेन्द्र

राजस्थान के सर्वश्रेष्ठ एवं लोकप्रिय आलोचक श्री कन्हैयालाल सहल की आलोचना-सम्बन्धी कृतियों तथा भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों की संख्या बृहद् है। सहल जी ने १ समीक्षांजलि २ आलोचना के पथ पर ३ समीक्षायण ४ साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव ५ वाद-समीक्षा ६ विवेचन ७ कामायनी-दर्शन, ८ विमर्श और व्युत्पत्ति, ९ अनुसंधान और आलोचना आदि आलोचनात्मक पुस्तकें तथा लगभग २०० आलोचनात्मक लेख हिन्दी-साहित्य के प्रायः सभी अङ्गों पर लिखे हैं, अतः सहल जी की मान्यताओं, आलोचना-सम्बन्धी कसौटी और विचार-दर्शन से परिचित होना प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी के लिए आवश्यक है। वे विराट् व्यक्तित्व एवं गम्भीर-चिन्तन-विश्लेषण की मौलिकता लेकर आलोचना-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए हैं। आलोचनात्मक निबन्ध लिखने की प्रेरणा आपको अपने हिन्दी-अध्यापन-कार्य से मिली है। एक निष्पक्ष मौलिक चिन्तक तथा भाष्यकार की दृष्टि से सहलजी ने हिन्दी-आलोचना में स्थायी योगदान दिया।

समीक्षांजलि में कला के त्रिकोण का आधार मनोवैज्ञानिक है। इस लेख में फ्रायड, एडलर तथा भारतीय दर्शन के अन्तर्गत अमर होने की अभिलाषा का पारस्परिक मनोवैज्ञानिक तथा भारतीय दर्शन के दृष्टिकोण से विवेचन है, कान्ट की विराट् भावना में लाजाइनस की विराट् भावना पर हिन्दी कवियों को कसकर यह दिखाया है कि हिन्दी में इस प्रकार की विराट् भावना की कितनी अधिक आवश्यकता है। नये विचारों की नयी कसौटी पर हिन्दी काव्य को कसकर इन्होंने नया पथ-प्रदर्शन किया है। 'संवेदना या हेत्वाभास' में भारतीय और पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से विचार किया है। अंग्रेजी के इस अलंकार की ओर सहलजी ने सर्वप्रथम हिन्दी-

आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया है। 'सूरदास और शुद्धाद्वैत' में शुद्धाद्वैत के दार्शनिक सिद्धांतों का विश्लेषण करते हुए, उनके ग्रंथों के आधार पर उन्हे शुद्धाद्वैतवादी ठहराया गया है। 'कुन्तक और काव्य' अपने ढङ्ग का हिन्दी का प्रथम लेख है जिसमे वक्रोक्तिवाद का सैद्धांतिक विवेचन है। 'गुञ्जन गरिमा' मे पन्त की कृति गुञ्जन का मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विश्लेषण है। 'बापू विमर्श' मे अंग्रेजी आलोचना की पद्धति पर नये ढङ्ग से विचार प्रस्तुत किये हैं। जिन अंग्रेजी अलंकारों का उल्लेख मूल पुस्तक मे आया है, सहलजी ने उन्हे ढूंढकर हिंदी जनता का ध्यान उस ओर आकृष्ट किया है। इसी कृति से सहलजी की सूक्ष्म-बुद्धि, विशद-ज्ञान तथा मौलिक दृष्टि का ज्ञान होने लगता है।

वाद-समीक्षा पुस्तक में १ छायावाद २ रहस्यवाद का स्वरूप ३ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और प्रगतिवाद ४ अभिव्यञ्जनावाद ५ हिन्दी की प्रयोगवादी कविता द्वारा विषयो पर मौलिक चिन्तन हिन्दी आलोचना-शास्त्र की नवीन दिशाओं की ओर संकेत किया है। अध्ययन विधिवत् युक्तियों से पुष्ट गम्भीर शैली का है। आलोचक सहल जी ने प्राच्य और प्रतीच्य, हिन्दी और संस्कृत, नवीन और प्राचीन, सभी विचारों को पचाकर अपनी धारणाएँ बनाई हैं। मूल प्रश्न तथा सिद्धातो को अवगत कराने और विभिन्न वादो का सुलझा हुआ रूप प्रस्तुत करने मे सहल जी सफल हुए हैं।

'आलोचना के पथ पर' कृति को मैं आपकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानता हूँ। कारण, इसमे सहल जी ने बड़े सुलझे ढग और स्पष्ट शैली मे निश्चित रूपरेखाओं के अनुसार नवीनता और मौलिकता से परिपूर्ण निबन्ध लिखे हैं। जहाँ एक ओर ये हमे नया ज्ञान प्रदान करते हैं, वहाँ दूसरी ओर हमे नये रूप में सोचने-विचारने के लिए उन्मुख भी करते है।

इन्हें हम स्थूल रूप से चार भागो मे विभक्त कर सकते हैं। प्रथम शास्त्रीय विषयो से सम्बन्धित निबन्ध, जैसे 'शैली का स्वरूप', 'औचित्य सिद्धांत', 'अलकार और मनोविज्ञान', 'साधारणीकरण और रसास्वाद के विघ्न', 'नाट्यदर्पणकार का रस-विवेचन', 'करुण रस की सुखात्मकता', 'स्वभावोक्ति का अलकारत्व', आदि। दूसरे वर्ग मे विवादास्पद वादों तथा आधुनिक विषयों से सम्बन्धित लेख, जैसे 'रहस्यवाद का स्वरूप', 'गीतिकाव्य और उसके भेद', 'कला की उत्पत्ति', 'कहानी का तत्त्व', 'महाकाव्य की परिभाषा', 'सूफी धर्म', 'साहित्य में स्वच्छन्दतावाद', 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद', 'मोनटेन शैली के निबन्ध' आदि। तीसरे वर्ग में विशिष्ट पुस्तकों की आलोचनाएं है, जैसे 'लहर-समीक्षा', 'कामायनी का काम सर्ग', 'कामायनी का लज्जा सर्ग', 'गबन की औत्सुक्य योजना', 'साकेत में प्रधान रस', 'अनन्त के पथ

पर विहंगम-दृष्टि', आदि। चौथे वर्ग में साखियों के सम्पादन तथा राजस्थानी कहावतों से सम्बन्धित निबन्ध हैं।

सहलजी ने बड़े व्यापक रूप से हिन्दी-साहित्य पर दृष्टिपात किया है। आधुनिक साहित्य से सम्बन्धित प्रत्येक निबन्ध परिपक्व है। इन्हें क्या विद्यार्थी, क्या साहित्यिक प्रवृत्ति के प्रौढ़ व्यक्ति, सभी रुचिपूर्वक पढ़ सकते हैं। सर्वत्र उनका स्वतन्त्र चिंतन स्पष्ट हुआ है। शास्त्रीय विषयों का सिद्धांत-निर्णय बड़े प्रामाणिक रूप से उपस्थित किया गया है। साधारणीकरण, रहस्यवाद, स्वच्छन्दतावाद और प्रगतिवाद का विवेचन बड़ी छानबीन से किया गया है।

प्रोफेसर पद्मसिंह शर्मा, 'कमलेश' के शब्दों में 'सबसे बड़ी विशेषता इन निबन्धों की स्पष्टता है।' विषय का सम्यक् विवेचन होने के साथ-साथ शैली में सारल्य व आकर्षण दोनों हैं। स्वतन्त्र चिंतन ने विषय को नीरस होने से बचा लिया है।

'विवेचन' सहल जी की एक अन्य समीक्षात्मक पुस्तक है। इसमें विशुद्ध साहित्यिक निबन्धों के साथ-साथ भाषाविज्ञान और मनोविज्ञान-संबंधी भी कुछ निबन्ध संगृहीत हैं। साहित्यिक निबन्धों में १ रस-सिद्धांत और काव्य २ प्रसाद और रस-सिद्धान्त ३ कबीर का माधुर्य ४ प्रसाद का नियतिवाद ५ गत्यात्मक रहस्यवाद, ६ सांस्कृतिक मत कवि तुलसीदास ७ उर्मिला का विरह-वर्णन ८ नियतिवाद और अजातशत्रु आदि उल्लेखनीय हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक निबन्ध हैं, जैसे १ संस्कृति क्या है २ मानसिक स्वास्थ्य और गीता। कुछ क्लिष्ट पुस्तकों के अध्ययन हैं, जैसे १. ध्रुवस्वामिनी—एक समीक्षा २. स्कंदगुप्त में पदाधिकार-सम्बन्धी शब्द ३. कामायनी का अद्वैत ४. गुंजन का त्रिविध पक्ष ५. करुणा और स्कन्दगुप्त आदि। भाषा-विज्ञान के निबन्धों में १. भेदीकरण का नियम २. सादृश्य का सिद्धान्त आदि उल्लेखनीय हैं।

इन निबन्धों में जहाँ नया विषय चुनकर मौलिक दृष्टि से विचार करने की प्रतिभा मिलती है, वहाँ विवेचना की गहराई भी स्पष्ट है। प्रसाद के नियतिवाद पर सहलजी ने नये दृष्टिकोण से विचार किया है। सहलजी के अनुसार प्रसाद पर वैदिक तथा काश्मीर शैवागमों के आनन्दवाद की छाप दिखाई देती है। प्रसाद का नियतिवाद निष्क्रियता और निश्चेष्टता की ओर नहीं ले जाता बल्कि उसमें कर्म की प्रेरणा मिलती है। वह ऐसा भाग्यवाद नहीं है जो पुरुषार्थ के प्रतिकूल पड़ता हो। इसी प्रकार उर्मिला के वियोग-वर्णन से सहल जी विशेष प्रभावित हुए हैं। वियोग में हृदय की वृत्तियाँ किस प्रकार कोमल रूप धारण कर लेती हैं, इसका अच्छा निदर्शन उर्मिला के उद्गारों में मिल जाता है। 'कबीर का माधुर्य' में यानी वक्र सहल जी ने सहृदयता से कबीर की कविता में माधुर्य का आस्वादन कराया है,

जो सर्वथा नवीन दृष्टिकोण है। 'गत्यात्मक रहस्यवाद' भी आलोचक की सूक्ष्म और गम्भीर विवेचना से परिपूर्ण है।

'संस्कृति क्या है' में सहल जी जिन निष्कर्षों पर आये हैं, वे नवीन ढंग हैं, उनके स्वतन्त्र चिन्तन के परिणाम हैं। उनके अनुसार वही सुसंस्कृत व्यक्ति जिसका दिमाग दुरुस्त है, जिस्म मजबूत है। बिना समन्वय के सच्ची संस्कृति का निर्माण नहीं हो सकता। इसी प्रकार मानसिक स्वास्थ्य और गीता मे दृष्टान्त द्वारा मानसिक व्यथाओं और स्वास्थ्य का मनोवैज्ञानिक रहस्य स्पष्ट किया गया है। मानसिक स्वास्थ्य के लिए किन-किन तत्त्वों की आवश्यकता होती है, उसे रोचक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

मान्य व्याख्याकार :

अपनी दो पुस्तकों-'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' तथा 'कामायनी-दर्शन' मे सहल जी भाष्यकार के रूप मे हमारे सामने आते हैं। वर्षों हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करने के कारण सहल जी की साहित्य-विश्लेषण तथा मर्म-उद्घाटन की शक्तियाँ अत्यन्त विकसित रही हैं। अतः इन पुस्तकों मे उन्होंने काव्य-सौन्दर्य की परख, गुण-दोष-विवेचन, अलंकार-निर्देशन, उद्भावना-शक्ति और विस्तृत व्याख्या का परिचय दिया है।

'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' मे व्याख्यात्मक समीक्षा अथवा समीक्षात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रायः महाकवियों की उक्तियों मे नाना अर्थों का प्रभाव रहता है। बिहारी की सतसई के भाष्य के सम्बन्ध मे जो भाग लाला भगवानदीन का है, वही गुप्तजी के साकेत के नवम सर्ग में सहल जी का रहा है। इस पुस्तक मे न केवल सम्पूर्ण सर्ग की विस्तृत व्याख्या है वरन् महत्त्वपूर्ण स्थलों के मर्म का उद्घाटन और समीक्षात्मक टिप्पणियां भी हैं। स्थान-स्थान पर अन्य कवियों के तद्विषयक साहित्य की तुलना भी की गई है। अलंकार और नायिकाभेद आदि का उल्लेख करके उसके काव्य-सौन्दर्य को प्रकाश में लाया गया है। दोषों की ओर भी पाठक का ध्यान आकृष्ट किया गया है, उनकी दृष्टि नीर-क्षीर-विवेक की रही है, कोरी प्रशंसा मात्र नहीं, जहाँ कहीं आलोचक सहल जी ने दूसरे आलोचकों या व्याख्याकारों की सहायता ली है, उसका भली भांति फुटनोटों मे निर्देश किया गया है। स्वयं गुप्त जी ने आलोचक की व्याख्या और तर्कों को स्वीकार किया है। इस व्याख्यात्मक शैली का विद्यार्थी-जगत मे अच्छा स्वागत हुआ है, जिसके कारण पुस्तक रोचक एवं उपादेय बन गई है।

'कामायनी-दर्शन' में प्रथम ६ सर्गों का विस्तृत भाष्य करते हुए, सहल जी ने ...र्थ मात्र से काम न लेकर गूढ़ार्थ को स्पष्ट करने और मूल भाव के विश्लेषण

के लिए भाष्य तथा आलोचनात्मक मिश्रण से काम लिया है। यह अध्ययन-मनन से परिपूर्ण है। सर्गों की विशेषताओं को भी स्पष्ट किया गया है। भाषा कुछ संस्कृत-मिश्रित है, अतः क्लिष्ट हो गई है, कदाचित् इसका कारण कामायनी का विषय-गौरव है।

सक्षेप मे, सहलजी ने हिन्दी आलोचना तथा खोजकार्य में महत्त्वपूर्ण कार्य किया तथा सतत उत्साह से कर रहे हैं। उनके पास एक विचारशील मस्तिष्क तो है ही, भावुक हृदय और सौन्दर्यान्वेषी नेत्र भी हैं। उनकी शैली गहन, गम्भीर और विश्लेषण-प्रधान है। वे नवीनता के उपासक हैं, उनका कोई लेख ऐसा नहीं, जिसमे पिष्टपेषण हो, या एक ही बात की पुनरावृत्ति की गई हो।

(अमरज्योति से साभार)

•••

आपने लोक-कथाओं की कथानक-रूढ़ियों का इस प्रकार क्रमिक अध्ययन आरम्भ करके अपने लिए नया पथ-विधान किया है।

काशी, २-५-५८

—वासुदेवशरण अग्रवाल

व्यक्तित्व को प्रभावित करने का साधन है।" (Literary style is simply a means by which one personality moves another. Style : Page 48) वाल्टर रेले तथा मिडल्टन मरे ने शैली में शब्दों के उचित प्रयोग को ही महत्त्व दिया है। डॉ० तारकनाथ बाली ने शैली के सम्बन्ध में एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण स्वीकार करते हुए लिखा है कि "व्यक्ति, विषय, भाषा एवं प्रयोजन के वैशिष्ट्य के अनुसार अभिव्यंजना-विधान में जो वैशिष्ट्य आ जाता है, वही शैली है।" (साहित्य की शैली पृ० २३६) पोप तथा चेस्टर-फील्ड ने शैली को विचारों का परिधान (*Dress of Thoughts*) स्वीकार किया है जिसे डॉ० सहल ने भ्रामक माना है। वे इसे पोशाक न मानकर चर्म के सदृश मानते हैं। उनका विचार है कि पोशाक उतार कर फेंकी जा सकती है किन्तु चर्म का शरीर से अभिन्न सम्बन्ध है। डॉ० सहल ने शैली में व्यक्तित्व के तत्त्व को भी स्वीकार किया है। वे तो यहाँ तक स्वीकार करते हैं कि बोलने की शैली, चलने की शैली तथा लिखने की शैली, सबमें व्यक्तित्व सन्निहित रहता है। उनका स्पष्ट मत है कि "शैली मनुष्य के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है।" (समीक्षाञ्जलि पृ० २५) जिस प्रकार मनुष्य की छाया हमेशा उसका अनुसरण करती है, उसी प्रकार लेखक का व्यक्तित्व उसकी लेखनशैली में प्रतिबिम्बित रहता है।

डॉ० सहल शैली में बौद्धिक, भावात्मक एवं सौन्दर्य-तत्त्वों की उपस्थिति आवश्यक मानते हैं। शिक्षा, अभ्यास, संस्कार, जातीय गुण एवं लेखक की वैयक्तिक अनुभूति तथा भौगोलिक परिस्थितियाँ शैली के निर्माण में विशेष योग देती हैं। इसी सन्दर्भ में डॉ० सहल की मान्यता है कि "एक प्रतिभाशाली लेखक भी अपने पूर्ववर्ती शैलीकारों से प्रभावित हो सकता है किन्तु फिर भी वह दूसरों की शैली को इस तरह अपनाता है कि अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण वह शैली उसकी निजी हो जाती है।" (समीक्षाञ्जलि, पृ० ३८) उनका यह भी स्पष्ट मत है कि कोई लेखक लाख कोशिश क्यों न करे, वह अपने को छिपा नहीं सकता; उसकी शैली में उसका व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होकर ही रहेगा, क्योंकि शैली है ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति। मनुष्य न तो पूर्ववर्ती पीढ़ियों के गुण-दोष से ही मुक्त हो सकता है और न पारिवारिक परिस्थितियों के प्रभाव से ही बच सकता है। चरित्र एवं कार्य, व्यवहार, प्रकृति, स्वभाव, इच्छाएँ एवं *क्रिया-कलाप तथा व्यक्ति का शारीरिक पक्ष* आदि भी साहित्यकार की शैली को प्रभावित करते हैं।

शैली का सम्बन्ध वक्तव्य वस्तु की अभिव्यक्ति से है किन्तु क्या प्रत्येक अभिव्यक्ति ही शैली है अथवा विशिष्ट अभिव्यक्ति ही? अरस्तू-सम्प्रदाय के लेखक *शैली को एक व्यापक तत्त्व के रूप में मानते हैं। उनके अनुसार जितने लेखक है,*

उतनी ही शैलियाँ भी हैं । प्लेटो-सम्प्रदाय के समीक्षकों की मान्यता है कि शैली वह गुण है जो कुछ अभिव्यक्तियों में होता है और कुछ मे नही । डॉ० सहल की भी यही मान्यता है कि "प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व में जैसे आकर्षण नही होता, उसी तरह प्रत्येक लेखक की शैली भी आकर्षक नही होती ।" (समीक्षाञ्जलि, पृ० ३७) शैली प्रत्येक अभिव्यक्ति का साधारण धर्म नहीं है, वह विशिष्ट अभिव्यक्ति का सहज धर्म है । गद्य में अभिव्यक्ति की विशिष्टता, प्रभावोत्पादकता, औचित्य एव आकर्षण उत्पन्न होते ही शैली प्रादुर्भूत होती है ।

साहित्य की शैली जिस प्रकार बौद्धिक एवं सामाजिक प्रभावों से वंचित नहीं रह सकती, वैसे ही गुणों की उपस्थिति भी उसके लिए आवश्यक है। भारतीय विद्वानो ने माधुर्य, ओज एव प्रसाद गुण को शैली का आवश्यक अंग माना है। इधर पाश्चात्य विद्वानो का मत है कि शैली को प्रज्ञात्मक एवं रागात्मक गुणो से युक्त होना चाहिए । प्रज्ञात्मक गुण मे प्रसाद एवं स्पष्टता के भाव निहित रहते हैं तथा रागात्मक गुण में शक्ति, करुणा एव हास्य की उपस्थिति मानी है । डॉ० सहल दोनो ही गुणो को शैली मे अनिवार्य मानते है। वे एक का सम्बन्ध बुद्धि-पक्ष से तथा दूसरे का हृदय से मानते हैं । उनका विचार है कि शैली मे प्रभविष्णुता और सजीवता आत्मतत्त्व (हृदय पक्ष) के कारण आती है और यह आत्मतत्त्व स्वानुभूति के बिना नही आ पाता । "जहाँ स्वानुभूति है, वहाँ भव्य शब्दविन्यास भी अपने आप चला आता है।" (समीक्षायण, पृ० १२४) विचारों की गूढ़ता, विषय-प्रतिपादन की गंभीरता, मुहावरों की प्रचुरता, आनुषंगिक प्रयोगों की योजना और वाक्यों की जटिलता आदि किसी भाषा को कठिन बनाते है किन्तु भाषा-शैली मे गुणो का प्रयोग होते ही उसकी प्रकृति क्लिष्टता से सरलता की ओर बदल जाती है ।

शैली के परम्परागत भाषागत-तत्त्वो मे अलकार, कहावतो, मुहावरो एवं लोकोक्तियों को डॉ० सहल ने विशेष महत्त्व दिया है। वे साहित्य मे अलंकार का प्रयोग केवल आकर्षण उत्पन्न करने के लिए ही नहीं मानते अपितु उन्हे शब्द और अर्थ के शोभाकारक एवं सौन्दर्य उत्पन्न करने वाले तत्त्व मानते हैं। उनका विचार है कि–"काव्य मे जिन अलकारों का प्रयोग किया जाता है, वे रस या भाव को सुशोभित करते हैं, किन्तु यदि काव्य मे रस ही न हो तो अलकार भी व्यर्थ हो जायेंगे।" (आलोचना के पथ पर, पृ० १६) वे अलकारो का मनोविज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं । भावाभिव्यक्ति के कारण हमारे मन मे जो विचारो की प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं, उन्हे प्रकट करने का कार्य अलंकार भी करते हैं।

भाषा-शैली मे कहावतो एवं मुहावरों के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। जीवन की कटु सत्यता का जितना सहज निदर्शन कहावतों मे मिलता है, वैसा अन्यत्र

दुर्लभ है। हमारे आदिकालीन जीवन के शाश्वत मूल्यों को स्थायी बनाने में कहावतें, लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे विशेष उपयोगी हैं। शैली में इनके द्वारा स्पष्टता, सहजता एवं सत्यता की प्रति-स्थापना होती है। डॉ० सहल के अनुसार "कहावतें मानव-स्वभाव और व्यवहार-कौशल के सिक्के के रूप में प्रचलित होती हैं और वर्तमान पीढ़ी को पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होती हैं।" (राजस्थानी कहावतें-एक अध्ययन, पृ० १) कहावतों-मुहावरों आदि के माध्यम से मनुष्य जीवन में निरन्तर कुछ सीखता ही रहता है। अनेक समस्याओं का समाधान इन उक्तियों के माध्यम से हो जाता है। इनकी साहित्यिक उपयोगिता के सम्बन्ध में डॉ० सहल लिखते हैं—"साहित्य की दृष्टि से भी कहावतों का महत्त्व कम नहीं। कहावतें भाषा का शृंगार हैं, उनके प्रयोग से भाषा में सजीवता और स्फूर्ति का संचार हो जाता है। विशेषत: उपन्यास और कहानियों में तो लोकोक्तियों का होना एक प्रकार से अनिवार्य हो उठता है।" (राजस्थानी कहावतें-एक अध्ययन, पृ० ५) डॉ० सहल लोकोक्ति एवं मुहावरों से घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं तथा इनका मत है, कि भाषा शैली में इनके प्रयोग से संक्षिप्तता, अर्थगर्भितता, चटपटापन, वैचित्र्यमयी अभिव्यक्ति एवं हास्य-विनोद की उद्भावना होती है। मुहावरे वस्तुतः किसी भाषा की वैयक्तिक चाल-ढाल हैं।

डॉ० सहल ने राजस्थानी कहावतों में छन्द के विविध रूपों की ओर संकेत किया है। उनका मत है कि तुक के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण लय भी कहावतों में विद्यमान रहती है जिससे शैली में काव्यात्मकता उत्पन्न होती है। उदा०—"घर का पूत कुंवारा डोलें, पाडोसी का फेरा" तथा "माया मंट की, विद्या कंठ की"—आदि। 'कहावती गाथाएँ' शीर्षक के अन्तर्गत डॉ० सहल ने कथात्मक गाथाएँ लिखी हैं, जिनमें स्थल-स्थल पर कहावतों का प्रयोग किया है। उदा० "पुराने समय में किसी देश में एक राजा रहता था। वह बहुत कंजूस था। उसका सिद्धान्त था कि "चमड़ी जाय मगर दमड़ी न जाय।" आदि। इन गाथाओं में शैली को सहज अभिव्यक्ति हुई है एवं स्पष्टता का गुण विद्यमान है। सहल साहब ने स्थल-स्थल पर इन गाथाओं में नाटकीयता का भी प्रयोग किया है। उदा०—"देपालदे ने यह बनाव देखा। देखकर कहा—चारण! क्या दूसरा बैल नहीं है? चारण ने कहा—स्वामी राजा ऐसा दातार राजपूत तो कोई नजदीक-सा है नहीं जिसके पास जाकर मांग लूँ।" (कहावती गाथाएँ, पृ० २४१) इन गाथाओं में छोटे-छोटे सरल वाक्यों का प्रयोग हुआ है।

जहाँ काव्य-रचनाओं एवं संपादन में डॉ० सहल का व्यापक योगदान है, वहाँ गद्य के क्षेत्र में भी कम नहीं। उनकी गद्य-शैली की सर्वाधिक महान् उपलब्धि यह है कि उन्होंने गद्य को राजस्थानी संस्कृति, राष्ट्रीयता एवं काव्यात्मकता से संजोया है।

विचारों की गूढ़ता, विषयप्रतिपादन की गम्भीरता एवं मुहावरों की प्रचुरता उनकी शैलीगत विशेषताएँ हैं। सहजता-सरलता एवं विषयानुसारिणी भाषा-शैली का प्रयोग उनके सम्पूर्ण गद्य साहित्य में हुआ है। वे साहित्य की भाषा एवं लोक-व्यवहार की भाषा में कोई सैद्धान्तिक अन्तर नहीं मानते। विषय के महान् होने पर स्वतः गरिमायुक्त भाषा-शैली का प्रयोग करते हैं एवं सामान्य विषय में साधारण बोल-चाल की भाषा का। उनके समीक्षात्मक निबन्धों में साहित्यिक भाषा का प्रयोग हुआ है तथा उनमें उनके दार्शनिक विचारों का उद्घाटन भी हुआ है। जैसे—

"जीवन और मरण एक पहेली है और यह संसार एक रहस्यमयी शक्ति का व्यक्त रूप है। इस गोरखधन्धे को वही सुलझा सकता है जो अनेक दिव्यानुभूतियों के क्रमिक विकास द्वारा आत्म-दर्शन की उच्चश्रेणी तक पहुँच गया हो, किन्तु इस प्रकार की अनुभूतियाँ वर्णन करने की वस्तु नहीं हैं; वे तो हमारे अन्तश्चक्षुओं से ही सम्बन्ध रखती हैं।" (समीक्षाञ्जलिः रहस्यवादी भावना, पृ० ८२)

डॉ० सहल के सम्पूर्ण गद्य-साहित्य में स्वतंत्र चिन्तन एवं वैयक्तिक तथ्य-दर्शन की झलक मिलती है। कामायनी, लहर, साकेत, गबन आदि कृतियों के विशिष्ट पक्षों की विवेचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते समय उन्होंने तथ्यग्राहिता एवं उद्भावना-शक्ति का परिचय दिया है। उनके समीक्षात्मक निबन्धों पर प्रकाश डालते समय 'आलोचना के पथ पर' की भूमिका में नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि "सहलजी ने साहित्यिक धरातल पर पूर्व और पश्चिम के आधार पर समन्वय के उस प्रयत्न में अपना योग दिया है जो आज एक प्रधान साहित्यिक आवश्यकता है।" वस्तुतः लेखक का दृष्टिकोण उदार और व्यापक है और उसी के अनुकूल शैली भी प्रसादमयी है। राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवादों के अन्तर्गत उन्होंने ऐतिहासिक आधार खोजा है तथा राजस्थानी दोहा-पद्धति का प्रयोग करके हमारी प्राचीन संस्कृति की उदात्त भावनाओं पर प्रकाश डाला है। उनकी अभिव्यक्ति-पद्धति में प्रवाह, तथ्यातथ्य-स्पष्टता एवं सहजता का गुण स्वतः प्रकट होता है। राजस्थानी लोककथाओं को प्रकाश में लाकर उन्होंने अनेक कथानक-रूढ़ियों का उद्घाटन किया है।

डॉ० सहल की गद्य-शैली में धारावाहिक प्रवाह भी मिलता है। शैली का यह प्रावाहिक रूप उन स्थानों पर विशेषतः पाया जाता है जहाँ किसी विचार का प्रतिपादन होता है। ऐसे स्थानों पर भाषा कुछ क्लिष्ट, परन्तु स्पष्ट एवं बोधगम्य, सुगठित वाक्य, भावव्यंजना विशद किन्तु सरल और बलशाली हुई है। जैसे "यश की इच्छा मनुष्य की सहजात प्रवृत्ति है। वह किसी-न-किसी रूप में अपने आपको जीवित रखना चाहता है। कुछ मनुष्य सुयोग्य पुत्र के रूप में, कुछ ताजमहल जैसे

स्थापक के रूप में और कुछ काव्य के रूप में और कुछ दिग्विजयी के रूप में अपना अमर नाम छोड़ जाना चाहते हैं।"

(राज० के ऐति० प्रवाद, पृ० १४८)

उपर्युक्त गद्यांश की शैली में भाषा के बलिष्ठ रूप एवं प्रवाह की एक सजीव झलक मिलती है। शैली की यह विशेषता विषय-प्रसार को शिथिल नहीं होने देती। सारांश यह है कि डॉ० सहल ने शैली के तात्त्विक विवेचन पर जो प्रकाश डाला है उसी के अनुरूप अपनी समस्त कृतियों में सफल एवं विशिष्ट अभिव्यक्ति का परिचय दिया है। वस्तुतः हिन्दी एवं राजस्थानी साहित्य-जगत् के वे सफल शैलीकार हैं।

•••

'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद' के कुछ अंश मैंने देखे। यह अपने ढंग की अनोखी पुस्तक है। ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्त्व से पूर्ण ऐसी पुस्तक ने हिन्दी तथा भारतीय साहित्य के गौरव बढ़ाने में अंश ग्रहण किया है।

कलकत्ता, १५-४-१९४७

—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

है और नये जीवन-मूल्यों को स्वीकारता है। लेकिन आचार्य सहल को यह दृष्टिकोण एकांगी लगता है। वे उस परम्परा को तो त्याज्य मानते हैं जो हमारे विकास-मार्ग में बाधक है लेकिन हमारा समस्त परम्परागत देय त्याज्य नहीं है। वे ४० वर्ष की आयु में अपने को ५,००० वर्ष का मानते हुए मोहनजोदडो से लेकर गांधी के परवर्ती काल तक की चेतना को आत्मसात करते हैं। परम्परा को छोड़ने की बात उन्हें इसलिए भी नहीं जचती कि "प्राचीन-नवीन स्वतः अपने में कोई मूल्य नहीं हैं, उनके प्रति कलाकार की मानसिक प्रतिक्रिया ही उन्हें मूल्य का रूप प्रदान करने में सक्षम होती है।"[१] अपनी बात को उन्होंने आगे और भी समझाया है कि "प्राचीनता और नवीनता का सम्बन्ध किसी युग-विशेष से उतना नहीं, जितना उसका सम्बन्ध हमारे मानस-लोक से है।"[२] उन्हें प्राचीन और नवीन कालगत न लगकर मानसगत लगते हैं। आचार्य सहल को गांधीजी में "प्राचीन-नवीन एवं परम्परा-प्रगति का विलक्षण समन्वय" लगा है। इसलिए अपनी सारी परम्परा का अस्वीकार आधुनिकता की शर्त नहीं है प्रत्युत 'परम्परा का विवेकपूर्ण त्याग-ग्रहण ही हमें वर्तमान में गति-शील बनाता है।' शायद यही आधुनिकता की सम्यक् व्याख्या हो सकती है।

आधुनिकता से ही जुडी हुई एक और महत्त्वपूर्ण चीज है—वैज्ञानिक चेतना, जिसने बौद्धिकता को चरम उत्कर्ष प्रदान किया है। आचार्य सहल वैज्ञानिक उप-लब्धियों की महत्ता तो स्वीकार करते हैं लेकिन उन्हें लगता है कि "मानवीय मूल्यों की समस्या को सुलझाने में उसका (विज्ञान का) कोई योगदान नहीं है। इसके उत्तर में यह भी कहा जा सकता है कि मानवीय मूल्यों की स्थापना विज्ञान का क्षेत्र नहीं है, यह क्षेत्र है दर्शन का, धर्म का अथवा नीतिशास्त्र का।"[3] इसका अर्थ यह हुआ कि वैज्ञानिक दृष्टि भी एकांगी है क्योंकि यह मानवीय मूल्यों की बात नहीं सोचती, लेकिन विज्ञान ने मानव के लिए जो कुछ दिया है, उसे हेय भी नहीं माना जा सकता। पर नयी कविता केवल विज्ञान को प्रश्रय नहीं देती। आचार्य सहल की दृष्टि में (कविता में) "बुद्धि और हृदय, ज्ञान और भक्ति दोनों का संतुलन आज अपेक्षित है।"[४] फिर भी उन्हें लगता है कि "वैज्ञानिक जीवन-दर्शन साहित्य का जीवन-दर्शन भी हो सकता है, शर्त केवल यह है कि साहित्य हमारी संवेदनाओं को जागृत करे, उन्हें प्रभावित करे।"[५]

---

१. क्षणों के धागे, ताना-बाना पृष्ठ २।

२. वह, पृष्ठ ३।

३. क्षणों के धागे, ताना बाना पृष्ठ।

४. प्रयोग, आमुख पृष्ठ ६।

५. मूल्यांकन, पृष्ठ १०।

नयी कविता में क्षण की अभिव्यक्ति को महत्त्वपूर्ण माना गया है। क्षण की महत्ता को आचार्य सहल ने न केवल समीक्षात्मक स्तर पर स्वीकार किया है प्रत्युत रचनात्मक स्तर पर भी। उन्हें लगता है कि "अंधकार को आग लगा दी" रचना में जिस क्षण को अन्त स्फूर्तिमयी वाणी दी गई है, वह भी एक मौलिक सत्य है जो रचयिता के हृदयाकाश में विद्युत की भांति कौंध उठा था।"[1] लेकिन उनका यह क्षण निराशा की ओर नहीं ले जाता। निराशा, साहित्य का ही क्या, जीवन का ही महत्त्वहीन पहलू है। भारतीय दर्शन के कर्मवाद के वे समर्थक हैं, दैववाद या भाग्यवाद के नहीं। वे आधुनिक जीवन की जटिलताओं और व्यस्तताओं से परिचित हैं। इन विषम परिस्थितियों से व्युत्पन्न कुंठाओं का चित्रण तो काव्य में होगा परन्तु "जीवन की कठोर यथार्थताओं का चित्रण अपनी कुंठाओं और विकृतियों को उंडेल देना अथवा उनका वमन करना नहीं है।"[2] नयी कविता के नाम पर इस प्रकार की रचनाएँ खूब लिखी गयी हैं। नये कवियों ने वैयक्तिकता की आड़ में अपनी व्यक्तिगत दमित वासनाओं और निपट निजी अनुभवों को कविता में अभिव्यक्ति दी है। पर इस प्रकार की रचनाएँ सबकी सहानुभूति नहीं पा सकतीं। वस्तुतः सच्ची कविता हम उसे ही कहेंगे जिसमें "निर्वैयक्तिक, निर्लिप्त और अनासक्त होकर जिस सत्य की वह (कवि) प्रतिष्ठा कर जाता है, उसकी कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती।"[3]

नयी कविता ने शिल्प के क्षेत्र में बहुत बड़ा परिवर्तन किया है। डॉ० रघुवंश तो शिल्प एवं रचनात्मक प्रक्रिया को ही साहित्य के अपने सवाल मानते हैं। यदि किसी कविता में आधुनिक संवेदनाओं की अभिव्यक्ति 'पद्मावत' की भाषा शैली पर की जाए तो वह आज के पाठक को प्रभावित नहीं कर सकती। शिल्पगत नवीनता का आचार्य सहल भी स्वागत करते हैं। उनकी दृष्टि में "नवीन भावभूमि की अभिव्यक्ति के लिए नूतन शिल्प-विधान की आवश्यकता होती है।"[4] लेकिन शिल्प के नाम पर जो गद्य नयी कविता में लिखा गया है, उसके वे विरोधी हैं "जो नयी कविता के नाम पर इस प्रकार की कविता करने लगे हैं जिनके छोटे और [illegible] बड़े होते हैं, गद्य पंक्तियाँ इस प्रकार लिख दी जाती हैं मानो वे [illegible] पंक्तियाँ हों।" उनके लिए "छन्दों के सम्बन्ध में परम्परास्वीकृत का यही अर्थ होता [illegible]।"[5]

---

१. क्षणों के धागे, ताना बाना, पृष्ठ २।

२. मूल्यांकन, पृष्ठ ६।

३. मूल्यांकन, पृष्ठ ९-१०।

४. क्षणों के धागे, ताना बाना, पृष्ठ ३।

५. वही, पृष्ठ ४।

नव्यतम यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए नूतन छंदों की उद्भावना की जाए लेकिन लय तक को तिलांजलि देकर छन्द को बिल्कुल स्वच्छन्द बना देना वांछनीय नहीं।"[1]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि वे नयी कविता में लय की अनिवार्यता पर बल देते हैं। यह लय क्या है? यह न तो नीरज की गीतात्मक लय है और न डॉ० जगदीश गुप्त की अर्थ-लय। उन्होंने इस सम्बन्ध में स्वयं लिखा है कि "वस्तुतः काव्य में भी एक बंधन, एक संयम अथवा ध्वनि-लहरियों का व्यवस्थित संयोजन होना चाहिए।"[2] इस दृष्टि से आचार्य सहल टी० एस० एलियट के अधिक निकट हैं, जिन्होंने कहा था कि सर्वाधिक मुक्त छन्द में भी किसी सीधे-सादे छन्द का प्रेत पर्दे के पीछे रहता है।

•••

'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवादों' के संग्रह की आपकी सूझ बड़ी सुन्दर है। सारी किताब को एक सरसरी नजर से देख गया हूं, बड़ी रोचक है।

२६-३-४७

—नरोत्तमदास स्वामी

---

१. वही, पृष्ठ ५।
२. मूल्यांकन, पृष्ठ ७।

ऐसा कार्य करना चाहिए, इसके लिए मेरे विचार में डॉ० महन के आदेश माने जा सकते हैं।

भारत प्राचीन देश है और इसमें आरण्यक, पौर और नागर जीवन के विविध सोपानों पर चढ़ने, उतरने की शक्ति-सामर्थ्य न जाने, किस युग से चली आ रही है। इसने यह भली भाँति अनुभूत कर लिया है कि जीवन में आरोपित स्थिति नहीं होनी चाहिए। इसी में यहाँ जीवन के सहज रूप की आकांक्षा विद्या या साधना के सभी क्षेत्रों में दिखाई देती है। संत, साधक या सिद्ध सहज की उपलब्धि करने में लीन दिखाई देते हैं। साहित्य या काव्य भी 'अनावरण चित्त' की उपलब्धि में लीन दिखाई देता है। गृहस्थ भी सहज भाव को बनाये रखने में दत्तचित्त रहता है। भक्त भी 'स्वभाव' को ही ग्रहण करना चाहते हैं। कृषक भी सहज या निसर्ग की ओर ही प्रवृत्त दिखाई देता है। यान या मार्ग के रूप में कहना चाहें तो यही कहेंगे कि यहाँ की पद्धति, यहाँ का चालचलन सहजयान या ऋजुमार्ग है। भीतर कुछ और बाहर कुछ, ऐसी प्रवृत्ति इस देश के मूल में नहीं थी। इस यान, मार्ग या रहन की स्थिति वहीं दिखाई देती है जिसे लोक कहते हैं। तुलसीदास जब कहते हैं कि—

"लोक वेद मत मंजुल कूला"

तब यही संकेत करते हैं कि जीवन के दो प्रवाह हैं—एक लोक का और दूसरे वेद या शास्त्र का। जो इस तट पर है चाहे उसे आप लोकतट कह लीजिए, जो उस तट पर है या जो पारगत या पारस्कर है, वह वेद या शास्त्र-तट पर है। जिसे इस तट पर ही रहना है, जिसे पार जाने की आकांक्षा नहीं है, उसे नाना प्रकार के नियमों के बंधन में उतना नहीं बंधना पड़ता, पर जिसे पार जाना है, उसे हाथ-पैर फेंकने का अभ्यास करना होगा, घड़ंल बनाकर या नाव-निर्माण करके पार जाना होगा। उनके नियमों को जानना होगा, उन नियमों के शास्त्र में चलना होगा, शास्त्र का शासन स्वीकार करना होगा। लोक-जीवन में स्वच्छंदता है, पर शास्त्रबद्ध जीवन में स्वच्छंदता नहीं है। स्वच्छंद शास्त्र को नहीं मानता, शस्त्र को मानता है। 'शास्त्र' में 'शस्त्र' से आकार अधिक है, इसी से उसकी सीमा अधिक है, व्याप्ति अधिक है अर्थात् उसे देखकर, सोचकर कर्म में प्रवृत्त होना पड़ता है। उसे नीति से काम लेना पड़ता है, अपने हित का ध्यान रखना पड़ता है। 'हितशासकत्वं शास्त्रत्वम्' कहलाता है। पर चाहे 'हित अनहित पसु पच्छिउ जाना' ठीक हो और यह भी ठीक हो कि 'मानस तन गुन ग्यान निधाना' है किंतु लोकतट पर खड़ा 'हित अनहित' पर उतना ध्यान नहीं देता जितना शास्त्रतट पर खड़ा देता है। जो बंधन में होगा, जिस पर जितने ही आवरण चढ़ गए होंगे, उसे उतनी ही सहज साधना की अपेक्षा होगी।

जैसे 'समज' से आकार वृद्धि होने पर 'समाज' बना, वैसे ही 'शस्त्र' से 'शास्त्र' समझ लीजिए। 'समज' पशुओं का समूह कहलाता है। मनुष्य की अपेक्षा पशु में सहज भाव निसर्ग से है। चोट लगने पर वह चिल्ला पड़ेगा, क्रोध आने पर झपट पड़ेगा। समाज मनुष्यों का समूह कहलाया, क्योंकि इसकी व्याप्ति बढ़ गई। पशु अपने को, अपने समूह को देखता है, मनुष्य अपने को भी देखता है, पशुओं-पक्षियों को भी देखता है, वह मनन करने वाला जीव है। पशुत्व से उसकी व्याप्ति बढ़ी है। 'शस्त्रेण रक्षिते राज्ये शास्त्रचिंता प्रवर्तते।' पहले संरक्षा हो ले—तब तो शास्त्र-चिंतन हो। चिंतन किसका करें। उसके लिए विषय, आधार-भूमि तो होनी ही चाहिए। मनुष्य का समूह 'समाज' बना। इसकी पहले संरक्षा हो ले तब शास्त्र-चर्चा हो। अर्थात् शस्त्रचिंता पहले है और शास्त्रचिंता बाद में है। इसमें व्याप्ति और हो गई। जहाँ तक शस्त्र-वाला पहुँचा था, उसके आगे शास्त्र वाला गया। शस्त्र-चिंता वाला यह देखता है कि हमने क्या बचाया, क्या आगम हुआ, क्या अभाव हुआ। उधर शास्त्रवाला देखता है कि कितना आगे बढ़े, कितना निर्यात या निर्गमन हुआ।

लोक-जीवन प्रवाह-जीवन है, शास्त्र-जीवन मर्यादा-जीवन है। लोक-जीवन प्रवृत्तिमूलक है और शास्त्र-जीवन निवृत्तिपर्यवसायी है। लोकवाला अपनी भूमि को देखता है, अपने को पृथ्वी का पुत्र समझता है, पृथ्वी उसकी माता है, वही अन्नपूर्णा है, उसे वह प्यार करता है, उसे वह छोड़ना नहीं चाहता। दुर्योधन ने भगवान् श्रीकृष्ण से जो यह कहा कि 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव' यह लोकध्वनि है। लोक का धरती से ऐसा ही मोह होता है। वह पृथ्वी को दूसरे को देना नहीं चाहता, उसे बेचना नहीं चाहता। घोर विवशता ही उसे ऐसा करने को प्रेरित करती है। फिर भी इतना ही कह सकते हैं कि शास्त्रचिंता भी निवृत्ति की ओर जाकर किसी गड्ढे में थोड़े ही गिराती है। वह पृथ्वी से ऊपर ले जाती है, दिव्यलोक की ओर ले जाने का प्रयास करती है। वह अवार के साथ पार को भी देखती है 'पारावारज्ञ' बनाने का प्रयास करती है। स्वार्थ से परमार्थ की ओर ले जाती है, पर 'परार्थ' का ध्यान रखकर, स्वार्थ से परार्थ का तारतम्य उसमें होता है। इससे शास्त्र लोक का परिष्कार ही करते हैं। यह हुई जीवन की बात। अब साहित्य या वाङ्मय को लीजिए।

राजशेखर कहते हैं—'शास्त्रं काव्यं चेति वाङ्मयं द्विधा।' वाणी से निर्मित वाङ्मय दो प्रकार का होता है—शास्त्र और काव्य। प्रश्न हो सकता है और जिज्ञासा भी की गई है कि यहाँ शास्त्र पहले क्यों रखा गया। यदि वाङ्मय केवल साहित्य का ही हो तो जब तक काव्य नहीं होगा या नाट्य नहीं होगा, तब तक शास्त्र नहीं होगा। काव्य का अनुगामी है शास्त्र। यदि साहित्येतर के लिए हो तो

राज्ये शास्त्रचिंता प्रवर्तते।' पहले संरक्षा हो ले—तब तो श
किसका करें। उसके लिए विषय, आधार-भूमि तो होनी
समूह 'समाज' बना। इसकी पहले संरक्षा हो ले तब शास्त्र-चर्चा
पहले है और शास्त्रचिंता बाद मे है। इसमें व्याप्ति और हो
वाला पहुँचा था, उसके आगे शास्त्र वाला गया। शास्त्र-चिंता
हमने क्या बचाया, क्या आगम हुआ, क्या अभाव हुआ। उ
कि कितना आगे बढ़े, कितना निर्यात या निर्गमन हुआ।

लोक-जीवन प्रवाह-जीवन है, शास्त्र-जीवन मर्यादा-ज
प्रवृत्तिमूलक है और शास्त्र-जीवन निवृत्तिपर्यवसायी है। लो
देखता है, अपने को पृथ्वी का पुत्र समझता है, पृथ्वी उसकी म
है, उसे वह प्यार करता है, उसे वह छोड़ना नही चाहता
श्रीकृष्ण से जो यह कहा कि 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन
है। लोक का धरती से ऐसा ही मोह होता है। वह पृथ्वी
चाहता, उसे बेचना नहीं चाहता। घोर विवशता ही उसे ऐसा
है। फिर भी इतना ही कह सकते हैं कि शास्त्रचिंता भी
किसी गड्ढे मे थोड़े ही गिराती है। वह पृथ्वी से ऊपर ले जाती
ले जाने का प्रयास करती है। वह अवार के साथ पार को भी
बनाने का प्रयास करती है। स्वार्थ से परमार्थ की ओर ले जा
ध्यान रखकर, स्वार्थ से परार्थ का तारतम्य उसमे होता है।
परिष्कार ही करते है। यह हुई जीवन की बात। अब सा
लीजिए।

राजशेखर कहते हैं—'शास्त्रं काव्यं चेति वाङ्मयं द्वि
वाङ्मय दो प्रकार का होता है—शास्त्र और काव्य। प्रश्न
जिज्ञासा भी की गई है कि यहाँ शास्त्र पहले क्यों रखा गया।
साहित्य का ही हो तो जब तक काव्य नही होगा या नाट्य
शास्त्र नही होगा। काव्य का अनुगामी है शास्त्र। यदि साहि

प्रतीत होता है। जब कोई आचार्य कहता है कि शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छा न होनी चाहिए, रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा होनी चाहिए तो वह सहज या नैसर्गिक प्रवृत्ति का ही संकेत करता है। लोक-साहित्य में सहज ही प्रवृत्ति होती है। प्रत्युत यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आरोपित प्रवृत्ति वाले निर्माण का भी उत्स सहज प्रवृत्ति वाले साहित्य-प्रवाह में ही रहता है। जिन्होंने यह समझ लिया कि शास्त्रीय प्रवृत्ति कहीं अन्यत्र से आती है, उनकी समझ का ही फेर उनकी वह समझ है। यह तो रूढ़ि में बँधना है। एक निबंध है, दूसरा संबन्ध है। बँधना और मुक्त होना, साहित्य में नेमिक्रम से चलता रहता है।

ग्रामीय जीवन और नागरीय जीवन में सहज और आरोपित प्रवृत्ति का ही अंतर है। पर भारत ग्रामीय प्रवृत्ति से आगे बढ़कर फिर उसी में लौट आया। नागरिक जीवन से संबद्ध सभ्यताएँ भ्रम से समझती हैं कि हम ग्रामीय जीवन से बढ़कर परिष्कृत जीवन में चल रहे हैं, किन्तु भारत ग्रामीय जीवन में ही पड़ा है। मुसलमान नागरिक प्रवृत्ति लेकर आए, शासन करने लगे। यह तो स्पष्ट ही है कि शासन और शास्त्र का धातु एक ही है। उन्होंने समझा कि भारत के लोग देहाती हैं। उनकी तो बात ही छोड़िए। उर्दू के शायर या कवि फिराक साहब हिंदी वालों को देहाती ही समझते हैं। उर्दू ने नागरिक प्रवृत्ति ग्रहण की। हिंदी या भारती नागरिक प्रवृत्ति लेती भी है तो उसे अधिक दिनों ग्रहण नहीं किए रहती, शीघ्र परित्यक्त कर देती है। हिंदी की साधना सहज प्रवृत्तिमूलक है, उर्दू की आरोपित। उर्दू वाले जब किसी शब्द के प्रयोग में सन्देह करते थे तो तवायफों से प्रयोग की असलियत जानने जाते थे; किसी गृहस्थ से या गृहिणी से पूछने नहीं जाते थे। तवायफ की प्रवृत्ति दिखावे की या आरोपित रहती थी। उनके अनुकूल वही पड़ती थी। वहाँ उनके लिए अनुकूलता हो, पर तवायफ की प्रवृत्ति सहज नहीं है। नागरिक जीवन के आवरण से वह आवृत रहती है। जीवन में और साहित्य में मुसलमान शासकों के कारण कृत्रिम या आरोपित प्रवृत्तियाँ बढ़ाई गईं, उनका आकर्षण बढ़ाया गया। पर मुगल शासकों में से जो निरावरण होना चाहता था, उसने भारतीय उपनिषदों की सहज छाया का विश्राम पसंद किया।

अंग्रेज भी नागरिक सभ्यता का अभिमान लिए हुए आए। वे भी शासन में लगे। उन्होंने भी नागरिकता का मोह फैलाने का प्रयास किया। वे भी भारतीयों को असभ्य समझते रहे, आज भी समझते होंगे। पर भारतीयों के प्राचीन वाङ्मय में जब वे धँसे तो उनकी भी आँखें खुलीं, नेत्रोन्मीलन हुआ। वे भारतीयों से उस [illegible] जो उनमें आरंभ से था, छुड़ाने का प्रयत्न करने लगे। वे फिर भी उठे हुए, पर हमारी वर्तमान सरकार, जो उन्हीं के पदचिन्हों पर चलने में

निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आरोपित प्रवृत्ति वाले नि
प्रवृत्ति वाले साहित्य-प्रवाह में ही रहता है। जिन्होंने यह र
प्रवृत्ति कहीं अन्यत्र से आती है, उनकी समझ का ही फेर उन
तो रूढ़ि मे बँधना है। एक निबंध है, दूसरा सबन्ध है। बँधना
मे नैमिक्रम से चलता रहता है।

ग्रामीय जीवन और नागरीय जीवन में सहज और अ
अतर है। पर भारत ग्रामीय प्रवृत्ति से आगे बढ़कर फिर
नागरिक जीवन से संबद्ध सम्यताएँ भ्रम से समझती है कि
बढ़कर परिष्कृत जीवन मे चल रहे हैं, किन्तु भारत ग्रामीय
मुसलमान नागरिक प्रवृत्ति लेकर आए, शासन करने लगे। य
शासन और शास्त्र का धातु एक ही है। उन्होने समझा कि
हैं। उनकी तो बात ही छोडिए। उर्दू के शायर या कवि फि
को देहाती ही समझते है। उर्दू ने नागरिक प्रवृत्ति ग्रहण
नागरिक प्रवृत्ति लेती भी है तो उसे अधिक दिनो ग्रहण न
परित्यक्त कर देती है। हिंदी की साधना सहज प्रवृत्तिमूलक है
उर्दू वाले जब किसी शब्द के प्रयोग मे सन्देह करते थे तो
असलियत जानने जाते थे; किसी गृहस्थ से या गृहिणी से
तवायफ की प्रवृत्ति दिखावे की या आरोपित रहती थी। उनके
थी। वहाँ उनके लिए अनुकूलता हो, पर तवायफ की प्रवृत्ति सह
जीवन के आवरण से वह आवृत रहती है। जीवन मे और
शासको के कारण कृत्रिम या आरोपित प्रवृत्तिया बढ़ाई गई, उ
गया। पर मुगल शासको मे से जो निरावरण होना चाहता
उपनिषदों की सहज छाया का विश्राम पसंद किया।

अंग्रेज भी नागरिक सभ्यता का अभिमान लिए हुए आ
लगे। उन्होंने भी नागरिकता का मोह फैलाने का प्रयास किया
को असभ्य समझते रहे, आज भी समझते होंगे। पर भारतीयों
मे जब वे धँसे तो उनकी भी आँखें खुली, नेत्रोन्मीलन हुआ।
मोह को, जो उनमें आरंभ से था, छुड़ाने का प्रयत्न करने लगे
[illegible] नहीं हुए, पर हमारी वर्तमान सरकार, जो उन्ही के पद

दर्शनीय है, धीरे-धीरे उसमें सफल होती जा रही है। धरित्री के प्रति यहाँ के जन का जो मोह था, उसे उसने छुड़ा लिया है, या कहिए कि छुड़ाने में वह विधि-विधानों से समर्थ हो रही है। धीरे-धीरे धरित्री अब जन की नहीं, सरकार की होती जा रही है। नागरिक जीवन में प्रत्येक पृथक् रहना चाहता है। ग्राम का प्रत्येक व्यक्ति वहाँ के प्रत्येक निवासी के संबंध में पूरी जानकारी रखता रहा है, अब भी उसकी प्रवृत्ति वही है। पर नागरिक जीवन में यह परिस्थिति बदल गई है। नगर में पारस्परिकता कम हो रही है, जितनी है वह आरोपित या कृत्रिम हो रही है। सहजता उसमें हटती जा रही है। आज भारत में इसी नागरिक सभ्यता की धूम है। हर मंत्री या विधायक इसी के चक्कर में है।

डॉ० सहल ने जनपद-साहित्य का जैसा अध्ययन किया, वह औरों से विशेष है। इसका कारण यह है कि जिस क्षेत्र में या प्रदेश में वे रहते हैं, वह जनपद-साहित्य से भरापूरा है। आज जनपद-साहित्य का जैसा अध्ययन हो रहा है, वह अधिकतर अनुकृति मात्र है। अंग्रेजी में या अंग्रेजों की श्रमशीलता से जो कुछ इस क्षेत्र में प्रकाशित होता है, उसमें जैसी सूक्ष्मता रहती है, वैसी सूक्ष्मता का अभाव ही अधिकतर दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि सूक्ष्मता और अंग्रेजों से इतर नवीनता का स्फुरण तभी हो सकता है जब किसी में शास्त्रीयता हो। हिंदी में अधिकतर जनपद-साहित्य में काम करने वाले ऐसे हैं, जो शास्त्रीय साहित्यिकता या विशुद्ध शास्त्रीयता से दूर ही रहते हैं। वे यह मान बैठे हैं कि शास्त्रीय साहित्य और जनपद-साहित्य में छत्तीस (३६) की स्थिति है। यही स्थिति दूसरी ओर भी है। शास्त्रीयता में अनुप्रविष्ट महानुभाव जनपद-साहित्य में अभिरुचि नहीं रखते या कम रखते हैं। डॉ० सहल में दोनों का युगपत् न्यास भारतीयता की मूलप्रवृत्ति है। यहाँ दोनों प्रवृत्तियों को जाननेवालों की ही परंपरा है। इसका संकेत शास्त्रीय ग्रंथों से ही मिल जाता है—प्राकृत गाथाएँ उदाहरण के रूप में प्रयुक्त करने में वहाँ कभी हिचक नहीं दिखाई गई। अपनी या पाठक की सुविधा के लिए उसका संस्कृत रूप देने की पद्धति उन्होंने अवश्य निकाल ली थी। हेमचंद्राचार्य ने जहाँ संस्कृत भाषा का 'अनुशासन' लिखा, वहीं प्राकृत-अपभ्रंश का भी। मैं डॉ० सहल की इस स्तुत्य प्रवृत्ति को पारंपरिक मानता हूँ। शास्त्रीय और देशी का भेद करने की प्रवृत्ति उत्तरवर्ती है। मैंने वह युग देखा है जब संस्कृत के कुछ शास्त्राभ्यासी हिंदी के प्रति उपेक्षा का भाव रखते थे। हिंदी में भी एक ऐसा समय देखने को मिला जब 'जायसी' का महत्त्व कुछ लोग नहीं मानते थे। पर दोनों मार्गों पर न लाला भगवानदीन ने चलना त्यागा और न आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने। इसलिए डॉ० सहल की यह प्रवृत्ति मुझे सर्वथा प्रशंसनीय प्रतीत होती है। इसी का अनुधावन हिंदी के लिए हितावह है।

हिन्दी के अन्य आलोचकों और साहित्यिकों के लिए डॉ० सहल का आदर्श सर्वथा ग्राह्य है।

इस प्रवृत्ति के कारण डॉ० सहल के विश्लेषण में जैसी विशेषता मिलती है, वह अन्यत्र कम ही देखने को मिलेगी। मेरा विश्वास है कि ये अपनी इस वृत्ति और विद्वत्ता से हिंदी-साहित्य की निरन्तर समृद्धि करते रहेंगे। भगवती भारती इन्हें सारस्वत साधना के हेतु शतजीवी करें। •••

इस पुस्तक को (राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद) आद्योपांत पढ़ने के पश्चात् यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि राजस्थानी भाषा (डिंगल साहित्य) सम्बन्धी आपका ज्ञान विस्तृत तथा प्रौढ़ है। राजस्थान की प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओं का वास्तविक अन्वेषण करके आपने राजस्थानी भाषा उपनाम डिंगल साहित्य की अनुपम सेवा की है।

—जोगीदान कविया

व्यक्तित्व

और

कृतित्व

□

लोक-संस्कृति खण्ड

लोक-साहित्य की सूक्ष्मताओं के उद्घाटक डॉ० सहल

—डॉ० भगीरथ मिश्र

डॉ० कन्हैयालाल सहल द्वारा लिखित 'अनुसधान और आलोचना' नामक पुस्तक पढ कर मुझे सतोष और प्रसन्नता का अनुभव हुआ। विशेष रोचक और ज्ञानवर्धक निबध उक्त पुस्तक के प्रथम खण्ड मे है। इनमे लोक-साहित्य के अनेक पक्षो को सूक्ष्मता के साथ उद्घाटित किया गया है। लोक-साहित्य के तत्वो को रोचक आख्यानो अथवा लोकोक्तियो से स्पष्ट और पुष्ट करने का कार्य सहलजी ने बडी कुशलता से सम्पन्न किया है। कुछ उक्तियो एव सदर्भों को जिस शैली द्वारा उन्होंने व्याख्यायित किया है, उससे लगता है कि राजस्थानी क्षेत्र का अक्षय कथा-भण्डार उनके पास है। लोक-कथाओ का मूल अभिप्राय 'अद्भुत' तत्व रहता है। उसके निदर्शन मे सहलजी ने राजस्थानी की 'पलक दरयाव की बात' वाली कथा को देकर उसके विश्लेपण और विवेचन-द्वारा जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे बड़े महत्त्व के है। लोक-कथाओं मे कूट वार्तालाप की अनेक कथाओ को तो हम कई क्षेत्रो मे प्रचलित पाते हैं। इन कथाओ मे न केवल कूट वार्तालाप की व्याख्या ही होती है, वरन् लोक-मानस के वैचित्र्यपूर्ण क्रियाकलाप एव लोक-जीवन की विविधता का प्रखर आभास मिलता है। यह स्पष्ट होता है कि भारतीय लोक-जीवन को धर्म, नीति, विवेक और कर्तव्य के धरातल पर कायम रखने मे इन कथा-प्रसंगो का कितना बडा महत्त्व है जिनका प्रसार व्यापक लोक-जीवन मे असख्य वर्षो से होता रहा है। साथ ही यह प्रश्न भी उठता है कि आज की शिक्षा, क्या हमे उस कथा-रस से वचित कर रही है जो लोक-मानस के संस्कार-निर्माण मे इतना सहायक रहा है?

वास्तव मे कथा-वार्ता का महत्त्व अविवाद्य है। लिखित साहित्य यांत्रि हो जाता है। मुख और श्रुति-परम्परा से चलने वाले कथा-साहित्य मे एक सजीवत और ताजगी रहती है। उसमे जीवन की सद्यःअनुभूति विद्यमान रहती है। प्र उसके सुरक्षित रखने और उसकी परम्परा चलाये रखने का प्रश्न है। शिक्षा प्रसार के साथ-साथ इस श्रव्य कथा-परम्परा के लुप्त हो जाने का खतरा है डॉ० सहल की इस पुस्तक मे उसे सुरक्षित रखने तथा उसके महत्त्व एवं उसक रोचकता और जीवन्तता को प्रस्थापित रखने का एक स्तुत्य प्रयत्न है।

डॉ० सहल राजस्थानी कहावतो के मार्मिक व्याख्याकार हैं। उन्होने प्रत्यक्ष जीवन से उन्हे संग्रहीत किया है। साथ ही साथ वे उन संदर्भों से भी परिचित हैं जिनमे उन कहावतो का जन्म और विकास हुआ है। राजस्थानी कहावतो के अनेक उदाहरणों के आधार पर जो लेख इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड मे सकलित है, वे सहलजी की उस सूक्ष्म तत्व-दृष्टि तथा जीवनानुभूति की मर्मज्ञता को प्रमाणित करने वाले हैं जो लोक-साहित्य के इस स्वरूप को एक व्यापक प्रचलन एव महत्त्व प्रदान करती हैं।

इस ग्रन्थ के छः सात निबन्धों मे सहलजी ने राजस्थानी के प्रसिद्ध राष्ट्रीय एव सास्कृतिक कवि सूर्यमल्ल मिश्रण की वीर सतसई की विवेचना की है। वीर सतसई वीर रस का अद्भुत ग्रन्थ है जिसके दोहों मे वीरता और राष्ट्रीयता की भावना अनुगुंजित है। सहलजी ने अनेक उदाहरणों से वीर सतसई की इन विशेषताओं का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार इसमे सकलित अन्य निबन्ध भी बड़े रोचक एव ज्ञानवर्धक हैं। मुझे तो इसका प्रथम खण्ड विशेष रोचक लगा जिसको पढ़ कर राजस्थानी जीवन और संस्कृति की एक झलक मिल जाती है। सहलजी से मेरा अनुरोध है कि इस प्रकार के और विस्तृत लेख पुस्तक रूप मे प्रकाशित कर हिन्दी-ससार का मनोरंजन तथा ज्ञानवर्धन करें।

• •

'अनुसंधान और आलोचना' सरसरी निगाह से देख पाया हूं। इसमें बहुत परिश्रम और खोज सामने की है। पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी मुझे आशा है।

डॉ० सहल की राजस्थानी साहित्य-सेवा

• श्री अगरचन्द नाहटा

राजस्थान में साहित्यिक परम्परा काफी पुरानी है। समय-समय पर अनेकों कवियों एवं लेखकों ने संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत, अपभ्रंश और जनभाषा में भी काफी लिखा है। राजस्थान में साहित्य खूब लिखा गया और अन्य प्रान्तों की अपेक्षा सुरक्षित रहा। राजस्थान के साहित्य की गौरवपूर्ण परम्परा के सम्बन्ध में मैंने जो कलकत्ता विश्वविद्यालय में आयोजित 'नोपानी भाषण माला' में छह व्याख्यान दिये थे, उस गौरवपूर्ण परम्परा में आधुनिक साहित्य की चर्चा नहीं की गयी थी। गत शताब्दी में बहुत से उल्लेखनीय साहित्यकार हुए हैं। उनके सम्बन्ध में भी एक ग्रंथ लिखा जाना आवश्यक है। जब तक वैसा तैयार नहीं हो जाए, एक-एक साहित्यकार के सम्बन्ध में भी आवश्यक जानकारी स्वतन्त्र ग्रंथ में दी जाती रहे, यह कार्य भी अवश्य ही करने योग्य और सराहनीय है।

राजस्थान के आधुनिक साहित्यकारों में डॉ० सहल ने अपने बहुमुखी कृतित्व से राजस्थान की उल्लेखनीय सेवा की है। प्रारम्भ में वे एक कुशल शिक्षक रहे और सैकड़ों विद्यार्थियों को शिक्षा देकर आगे बढ़ाया। उसी समय से वे एक अच्छे आलोचक के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। उनके अनेक आलोचनात्मक लेख और ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। इधर उनकी हिन्दी कविताएं भी प्रकाशित हुई देखने में आई, इसलिए हिन्दी के क्षेत्र में आलोचक के साथ-साथ वे कवि के रूप में भी प्रतिष्ठित हो चुके हैं।

जहाँ तक राजस्थान और राजस्थानी भाषा और साहित्य का प्रश्न है, डॉ० सहल की इस सम्बन्ध में कई प्रकार की सेवाएं उल्लेखनीय हैं। सबसे पहले उन्होंने चौबोली और वीर सतसई का सपादन कार्य अन्य व्यक्तियों के साथ किया। इसमें 'वीर सतसई' राजस्थान की वीररसात्मक एक उल्लेखनीय कृति है। इसका सम्पादन, शब्दार्थ और भावार्थ तथा भूमिका लिखने में काफी श्रम किया गया है। चौबोली तो

पाठ्यक्रम में भी राजस्थानी गद्य के नमूने के रूप में वर्षों तक उच्च कक्षाओ मे पढाई जाती रही है।

उनके स्वतन्त्र उल्लेखनीय प्राथमिक ग्रंथों मे राजस्थान के आख्यानो-सम्बन्धी दो ग्रन्थ महत्त्व के है। इनके द्वारा राजस्थान के इतिहास और संस्कृति के अनेक पहलू हमारे सामने आते है। इनका सग्रह एवं प्रकाशन करके डॉ० सहल ने अवश्य ही एक उल्लेखनीय कार्य किया। पत्र-पत्रिकाओ मे भी ये आख्यान वे वर्षों तक प्रकाशित कराते रहे हैं। इससे उनका अच्छा प्रचार हो गया। बहुत-सी जानने योग्य बातें लोगो को सहज ही उनके इस प्रयास से पढने को मिल गयी।

सहल जी का सबसे अधिक उल्लेखनीय कार्य है राजस्थानी कहावतो का अध्ययन एव सम्पादन। राजस्थानी कहावतो पर एक शोध-प्रबन्ध के रूप मे अध्ययन कैसे प्रस्तुत किया जाय, यह विचारणीय बात थी। इस सम्बन्ध मे परामर्श करने के लिए वे उन दिनों मेरे पास बीकानेर आये। मेरे दिग्दर्शन के अनुसार उन्होने काफी परिश्रम और जमकर अध्ययन किया। इससे उनका शोध-प्रबन्ध बहुत ही महत्त्वपूर्ण बन गया। मेरे ख्याल से उन्हे इस कार्य मे आशातीत सफलता प्राप्त हुई। अनेक ग्रन्थो का अध्ययन करने से उनके ज्ञान मे तो वृद्धि हुई ही, साथ ही राजस्थानी कहावतों की परम्परा को भी वे बहुत अच्छे रूप मे उपस्थित कर सके। वेद, उपनिषद, पुराण, काव्य, संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश ग्रन्थों से उन्होंने कहावतो के सूत्र खोज निकाले और उनका विविध दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया। अपने ढग का यह एक ही तथा पहला ही शोध-प्रबन्ध है, जो लोक-साहित्य के अग को लेकर इतने अच्छे रूप मे लिखा गया है। इसके साथ-साथ इन्होंने राजस्थानी कहावतों के एक सग्रह-ग्रंथ का भी संपादन किया और उसकी भूमिका मे भी काफी पठनीय और ज्ञातव्य जानकारी दी। इस तरह राजस्थानी कहावतो-सम्बन्धी इनके ये दो ग्रंथ मैं विशेष रूप से उल्लेखनीय मानता हूँ।

उनका दूसरा उल्लेखनीय कार्य है राजस्थानी लोक कथाओ की कथानक रूढियो का अध्ययन। वास्तव मे कथानक-रूढ़ि के अध्ययन का कार्य पाश्चात्य विद्वानो ने प्रारम्भ किया था। हमारे भारत के विद्वानो ने अपने ग्रंथों मे उसकी थोड़ी-सी चर्चा अवश्य की, पर जमकर अध्ययन नही हो पाया। राजस्थान लोक-कथाओ का बहुत बडा भण्डार है। जैन विद्वानो ने अपने ग्रन्थो मे धर्म-प्रचार के माध्यम के रूप मे इनका अत्यधिक उपयोग किया है। ज्ञात धर्मकथा से लेकर २५०० वर्षों के प्राकृत, संस्कृत और राजस्थानी साहित्य में छोटी-बड़ी हजारों लोक-कथाएं पाई जाती है। मौखिक रूप से राजस्थान मे हजारो लोककथाएं आज भी प्रचलित हैं। प्राचीन काल से उनके संग्रह और उपयोग का जो प्रयत्न जैन विद्वानों ने किया है, वैसा अन्य किसी ने नही किया। कथासरित्सागर आदि कुछ संस्कृत

ग्रन्थ अवश्य ही उल्लेखनीय है। पुराणो मे भी काफी कथाएं मिलती हैं। अत. कथानक-रूढियो का अध्ययन एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य है जो रोचक होने के साथ ही साथ ज्ञानवर्धक भी है।

डॉ० सहल इस उपयोगी कार्य में कई वर्ष तक लगे रहे और उनके कई छोटे-छोटे ग्रन्थ और पचासो लेख कथानक-रूढियों के सम्बन्ध में प्रकाशित हो चुके हैं। पर अन्य कार्यों मे विशेष फस जाने के कारण, खेद है कि वे इस कार्य को जिस रूप में पूरा करना चाहते थे, नही कर पाये। मेरी राय मे उन्हे इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिए कुछ समय नियमित रूप से लगाना चाहिए, अन्य कार्यों को गौण करके भी। रात्रि और प्रात. काल में भी वे एक-दो घंटा इस कार्य को नियमित रूप से करने लगें तो अवश्य ही बहुत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कर सकेंगे।

राजस्थानी साहित्य की सेवा उन्होंने जो 'मरुभारती' नामक त्रैमासिक पत्रिका द्वारा की है, वह भी मेरी दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय है। इस पत्रिका के माध्यम से कई बड़े-बड़े विद्वानो के महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाश में आ सके और कई नये लेखको को भी आगे बढ़ने का अवसर मिला। राजस्थानी भाषा, साहित्य, इतिहास, पुरातत्व, कला एवं संस्कृति के अनेकों लेख मरुभारती में समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। साथ ही बहुत-सी अच्छी सामग्री भी प्रकाशित हुई है जो मरुभारती में प्रकाशित नही होती तो यों ही रह जाती। उल्लेखनीय सामग्री में पहले पाबूजी के पवाड़ा-सम्बन्धी कई लेख और पवाडे प्रकाशित हुए। फिर निहालदे-सुल्तान के पवाडो-सम्बन्धी काफी सामग्री प्रकाशित हुई। बगड़ावत आदि अन्य महत्त्वपूर्ण लोक-साहित्य भी 'मरुभारती' मे प्रकाशित हुआ। श्री गोविन्द अग्रवाल का राजस्थानी लोक-कथा-कोश और मेरे भ्रातृपुत्र भंवरलाल की जैनग्रन्थोक्त राजस्थानी लोक कथाओं का प्रकाशन भी एक सराहनीय प्रयत्न है। अप्रकाशित राजस्थानी कहावतों-सम्बन्धी दोहे आदि विविध प्रकार की सामग्री स्थायी महत्त्व की है। पत्रिका ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। नियमितता और सुपाठ्य सामग्री, विविध विषयक लेख, समीक्षा आदि 'मरुभारती' की अपनी विशेषताएं है।

डॉ० सहल के निर्देशन मे राजस्थानी साहित्य के कई उल्लेखनीय शोध-प्रबन्ध भी तैयार हुए जिनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—राजस्थानी दूहा-साहित्य (डॉ० क्षेमानन्द सारस्वत) डिंगल गीत (डॉ० नारायण सिंह भाटी) राजस्थानी बात-साहित्य (डॉ० मनोहर शर्मा) पिलानी के बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट के सचिव-पद का प्रशासनिक कार्य सम्हालने के कारण उनके निर्देशन का जैसा लाभ शोध-छात्रों को मिलना चाहिए था, नहीं मिल पाया। मेरी राय में शोध-कार्य का निर्देशन स्थायी महत्त्व का ठोस कार्य है— इसके लिए भी डॉ० सहल को समय और श्रम लगाना ही चाहिए। •

डॉ० सहलजी की राजस्थानी-साहित्य-सेवा अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होती है और यहाँ सर्वत्र आपके गंभीर पाण्डित्य तथा निष्ठापूर्ण अध्यवसाय की छाप है। आपकी साहित्य-साधना का परमोज्ज्वल निदर्शन 'मरुभारती' नामक त्रैमासिक शोधपत्रिका का उदय है, जो पिछले उन्नीस साल से नियमित रूप में प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका के माध्यम से राजस्थानी पुरातत्त्व, इतिहास, साहित्य तथा संस्कृतिविषयक जो शोधपूर्ण और साथ ही सरस सामग्री प्रकाश में आई है, उससे राजस्थानी भाषा तथा साहित्य की असाधारण गौरववृद्धि हुई है। 'मरुभारती' ने अनेक विद्वानों को राजस्थानी-साहित्य में शोधकार्य करने के लिए भी प्रोत्साहित तथा प्रवृत्त किया है। निश्चय ही साहित्य-साधकों की इस मण्डली को प्रकाशित करने में 'मरुभारती' ने बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया है और इसका श्रेय पत्रिका के विद्वान् सम्पादक डॉ० कन्हैयालालजी सहल को है।

डॉ० सहलजी ने राजस्थानी ग्रंथों के सम्पादन में भी अपनी विशेष योग्यता प्रकट की है और आपका यह कार्य-क्रम काफी लम्बे समय से चला आ रहा है। सर्वप्रथम आपने (श्री पतरामजी गौड की सहकारिता में) 'चौबोली' नामक राजस्थानी बात-संग्रह का सम्पादन किया, जो अब भी एम० ए० की परीक्षा में एक पाठ्य-पुस्तक के रूप में समादृत है। इस संग्रह में चार राजस्थानी-बातों (कहानियों) को हिन्दी-अनुवाद सहित प्रकाशित किया गया है। इसी क्रम में आपने आगे जाकर श्री ईसरदानजी आशिया और श्री पतरामजी गौड के सह-सम्पादन में राजस्थानी-भाषा के गौरव ग्रंथ 'वीर सतसई' को प्रस्तुत किया। यह ग्रंथ भी एम० ए० के पाठ्यक्रम में निर्धारित है। महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण की यह अमर कृति राजस्थान का ही नहीं, बल्कि भारतीय-साहित्य का एक अनमोल रत्न है, जिसे सर्वसाधारण के लिए सुसम्पादित और बोधगम्य रूप में सुलभ करके डॉ० सहलजी ने साहित्य-जगत का बड़ा उपकार किया है। इस गौरव ग्रंथ का सम्पादन भी इसकी महिमा के अनुरूप ही हुआ है और यह कार्य अपने आप में एक आदर्श है। डॉ० सहलजी ने इसी विधि से रस-सिद्ध राजस्थानी-कवि रामनाथ कविया की द्रौपदी-विषयक रचना को भी 'द्रौपदी-विनय' (अथवा 'करुण बहत्तरी') के नाम से सम्पादित किया है। इन सभी ग्रंथों में डॉ० सहलजी का गंभीर-व्याख्याता तथा समर्थ-समालोचक-रूप सहज ही सामने आ जाता है। अन्य अनेक विद्वानों ने भी राजस्थानी भाषा के प्राचीन ग्रंथों का सम्पादन किया है परन्तु उनमें उचित अर्थ-संकेत अथवा व्याख्या की कमी के कारण वे समुचित रूप से लाभप्रद सिद्ध नहीं हो सके हैं। हर्ष का विषय है कि डॉ० सहलजी ने इस चीज को अच्छी तरह समझकर अपने सम्पादन-कार्य में कोई त्रुटि नहीं रहने दी।

राजस्थान मे इतनी अधिक साहित्य-सामग्री बिखरी पड़ी है कि उसके संकलन से एक महत्त्वपूर्ण कीर्तिमान स्थापित हो सकता है। डॉ० सहलजी ने इस तथ्य को भी हृदयगम किया और एक संकलनकर्त्ता के रूप मे भी वे साधना-लीन हुए। साहित्य-ससार को आपकी इस साधना का मधुर-फल 'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद' तथा 'राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान' नामक दो ग्रंथो के रूप में प्राप्त हुआ। इन ग्रथो मे जो सामग्री प्रकाशित की गई है, वह राजस्थान के हृदय का सच्चा चित्र होने के कारण बडी ही रोचक और साथ ही प्रेरणादायक भी है। प्रसन्नता का विषय है कि इस विषय में आपकी साधना जारी है और अब भी 'साधना' (डूंडलोद से प्रकाशित पत्रिका) में यह क्रमिक लेखमाला के रूप मे प्रकाशित हो रही है।

राजस्थानी कहावत तो डॉ० सहलजी का परमप्रिय विषय है और आपके जीवन का मानो एक अग ही बन गया है। राजस्थानी कहावत-संग्रह पर आपको बगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता की ओर से पुरस्कृत किया गया और यही विषय आपने पी-एच० डी० की उपाधि-हेतु शोध-प्रबंध के लिए चुना। आपने इस शोध-ग्रंथ (राजस्थानी कहावतें, एक अध्ययन) मे राजस्थानी कहावत के सभी अंगो पर पूरी छानबीन के साथ प्रकाश डाला है और यह ग्रंथ इस विषय मे एक अनूठी चीज होने के साथ ही अत्यंत रोचक भी है। इस शोध-प्रबध के बाद आपकी ओर से राजस्थानी कहावतों का वृहद् सग्रह भी प्रस्तुत हुआ, जिसकी महत्ता एव उपयोगिता बड़े-बड़े विद्वानो ने स्वीकार की है।

राजस्थानी लोकसाहित्य के सग्रह, सम्पादन और विवेचन की दृष्टि मे डॉ० सहलजी ने केवल कहावतो तक ही अपनी साधना को सीमित नहीं रखा बल्कि इसके क्षेत्र को और भी अधिक विस्तार दिया। 'कहावत' का 'कथा' के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और राजस्थान मे तो यह सम्बन्ध और भी गहरा है, जो इस प्रदेश में प्रचलित हजारों कहावती-कथाओं से स्पष्ट है।

डॉ० सहलजी ने राजस्थानी कहावतों के साथ ही राजस्थानी लोककथाओं के अध्ययन और विवेचन की दिशा में भी पूरा परिश्रम किया है। इस विषय मे आपके अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमे 'नटो तो कहो मत', 'राजस्थानी लोककथाएँ', 'राजस्थानी वीर गाथाएँ', 'लोककथाओं की अन्तःड़ियाँ' आदि प्रमुख है। इन पुस्तकों मे लोककथाओं मे व्याप्त 'कथानक रूढ़ि' अथवा 'अभिप्राय' (Motif) के अध्ययन को प्रधानता दी गई है, जिस पर हिन्दी-साहित्य-जगत् मे भी अभी तक कम ही काम हो पाया है। आपकी ये पुस्तकें तुलनात्मक-अध्ययन की दृष्टि से बड़ी

उपयोगी है। इनमें विद्वान् लेखक का ज्ञान-विस्तार प्रकाशमान है, जो सहज ही हृदय को आकर्षित कर लेता है। हर्ष का विषय है कि इस दिशा में भी आपका लेखन-कार्य चालू है और अनेक पत्र-पत्रिकाओं में आपके लेख प्रकाशित होते रहते हैं।

राजस्थानी लोक-साहित्य की सेवा में डॉ० सहलजी द्वारा प्रस्तुत 'सुलतान-निहालदे' के कथासार (तीन भाग) का प्रकाशन सदैव अविस्मरणीय रहेगा। 'निहालदे' वास्तव में राजस्थानी लोकसाहित्य की एक अनर्घ मणि है। यह लोक-महाकाव्य गेय है और अभी तक यह 'मौखिक-परम्परा' पर ही चला आता था। सिवानी में इसको लिपिबद्ध करवाया गया और फिर डॉ० सहलजी ने सर्वप्रथम विस्तार के साथ इसकी कथा लिखकर इसे कथारूप में सर्वसाधारण के लिए सुलभ कर दिया। साहित्य-जगत् में इस सरस कथा का बड़ा स्वागत हुआ है।

डॉ० सहलजी के द्वारा शोधनिर्देशक के रूप में राजस्थानी-साहित्य की जो सेवा हुई है, वह भी असाधारण है। आपने स्वयं राजस्थानी-कहावतों पर शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया और फिर निर्देशक के रूप में भी इस प्रकार राजस्थानी-साहित्य के विविध अंगों पर शोध करने के लिए अपने शोध-छात्रों को प्रोत्साहन दिया। आपके निर्देशन में अब तक अनेक विद्वान्-लेखक अपने शोध-प्रबंधों के लिए पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं। उदाहरण के लिए राजस्थानी दोहा साहित्य, डिंगल गीत साहित्य, राजस्थानी बात साहित्य आदि विषयों पर उपाधि-हेतु स्वीकृत शोध-प्रबंधों का नाम सहज ही लिया जा सकता है। इस प्रकार राजस्थानी-साहित्य के सभी अंगों पर अलग-अलग शोध-ग्रंथ लिखे जाने पर राजस्थानी-साहित्य का वास्तविक महत्त्व सहज ही सामने आ सकेगा और उससे केवल राजस्थान को ही नहीं, बल्कि हमारे देश भारत को भी साहित्यिक गौरव प्राप्त होगा।

राजस्थान के इतिहास से भारत महिमामय है तो उस इतिहास के पात्रों का जीवन-निर्माण करने वाले साहित्य का प्राणतत्त्व और भी अधिक समादरणीय है। वह प्राणतत्त्व भारतीय साहित्य की एक प्रबल प्रेरणादायक रसधारा है। डॉ० कन्हैयालालजी सहल ने इस रसधारा से देश को महाप्राण बनाने के लिए जो साधना की है, वह अन्य विद्वानों के लिए भी अनुकरणीय है।

•••

लोकवार्ता के भारतीय विज्ञानी और तत्वज्ञ डॉ० कन्हैयालाल सहल (एक परिचय)

• पुष्कर चन्दरवाकर

नीहारिका में भी विशेष धूमिल, वर्षों पुरानी स्मृति को निहारने के लिए जब मैं मंथन करता हूँ, तब कोई अपरिचित धुंधला-सा धूमिल चित्र दृष्टि के समक्ष खड़ा हो जाता है जब स्व० वासुदेवशरण अग्रवाल ने डॉ० सहल का परिचय प्राप्त करने की सूचना दी थी, वह क्षण दृष्टि के समीप सजीव हो उठता है।

इस घटना को घटित हुए कितने वर्ष व्यतीत हुए? कम से कम १६ वर्षों के अतीतकालीन परतों के पर्वत दृष्टि के समक्ष आवागमन करते हैं और तब मैं अपने से प्रश्न पूछता हूँ कि १६-१६ वर्ष से हम दोनों के बीच पत्र-व्यवहार होता रहा, पर ऐसा होते हुए भी, सदेह मिलने की दोनों में से किसी ने चिन्ता नहीं की! हां, चिन्ता का सेवन अवश्य किया है।

ई० स० १९६८ के मई-जून महीनों में राजस्थान साहित्य अकादमी के पारितोषिक-हेतु जयपुर गया, तब पिलानी का भूगोल जानने का प्रयास किया था और भूगोल जानकर मेरी इच्छा को पूर्ण विराम लग गया। डॉ० सहल ने भी कभी इस प्रकार का संकल्प किया है अथवा नहीं, वह मैं सौराष्ट्र में यहाँ बैठकर, डॉ० सहल से बिना मिले और पूछे, किस प्रकार कह सकता हूँ?

किन्तु डॉ० कन्हैयालाल सहल के अक्षरदेह से परिचय ई० स० १९६२ शुरू हुआ। खंभात के आर्ट्स कॉलेज के तत्कालीन प्राध्यापक प्रो० श्री नरेशचन्द्र बसल मेरे पढने के लिए 'लोक-कथाओं की कुछ अरूढियाँ' और 'भारतीय लोक साहित्य' (लेखक डॉ० कृष्ण देव उपाध्याय) कानपुर से लाए। खंभात की श्री रजनी

गणेश ने आर्ट्स कालेज से 'राजस्थानी कहावतें-एक अध्ययन' की प्रति प्राप्त कर दी थी। (याद आता है कि इस ग्रंथ को अपने अहमदाबाद ठहरने के दिनों में कहीं देखा था, हस्तगत नहीं किया था।)

किन्तु जब लोकवार्ताओं के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए कटिबद्ध हुआ, तब भारतीय मनीषियों ने भी लोकवार्ताओं का वैज्ञानिक पद्धति पर सूक्ष्म अध्ययन किया है अथवा नहीं, यह जानने की उत्सुकता जगी। स्व० डॉ० वेरियर एलविन तो चित्त में चमकते रहते ही थे। ई० स० १९५४ में उनके ग्रंथ Tribal myths of orissa' को प्राप्त कर लेने का बराबर स्मरण है किन्तु रूढ़ तत्व (motif) का उनका सैद्धान्तिक विवेचन मुझे कुछ अधिक समझ में नहीं आया। उन्होंने रूढ़ तत्व के लिए दाशमिक प्रणाली (Decimal System) अपनाई है[1] — उस रीति से मैं कैसे समझूँ? क्योंकि गणित और बीजगणित कभी भी मेरे विषय नहीं बन सके थे। इसलिए वेरियर एलविन के उस ग्रंथ का उपयोग कार्यारम्भ प्राप्त करने के लिए किया। लोकवार्ता के वर्गीकरण करने की रीति समझने में उस ग्रंथ ने सहायता की। और उसे बंद करके फिर यथास्थान रख दिया। तत्काल मैंने लोकवार्ता के वैज्ञानिक अभ्यास की कुतूहलता को चित्त में ही अन्तर्निहित कर दिया। किन्तु चित्त में लोकवार्ता के वैज्ञानिक मूल्यों को जानने की एक प्रकार की तड़प उत्पन्न हो गयी। एक प्रकार की जिज्ञासा थी, इसलिए जो बीज बो दिये गये थे, उनसे मन में हुआ कि सरल रीति से इस शास्त्र को समझाने वाले ग्रंथ मिलें तो उनको पढ़ूँ, विचारूँ और उनका अध्ययन करूँ।

ई० स० १९६३ में मैंने कालेज के प्राचार्य पद के मुकुट का त्याग कर दिया और पोरबंदर में अध्यापक के बतौर जीवन-यापन फिर से शुरू किया। प्रातः काल के समय कालेज में अध्यापनार्थ जाना होता और शेष अवकाश का समय अध्ययन के लिए मिलता था। इसलिए लोकवार्ता के रूढ़तत्व (motif) के रहस्य को समझने के लिए फिर से मन्थन करने की उत्कंठा उत्पन्न हुई। तब 'लोक कथाओं की कुछ रूढ़ियाँ' पढ़ना प्रारम्भ किया। लोक कथाओं के पाठक का ऐसे ग्रंथ में चित्त मुश्किल से ही लगता है क्योंकि इस प्रकार का ग्रंथ चित्त को पकड़ता अथवा रुचता नहीं। अनेक लोक-कथाओं का संग्रह करके मात्र रूढ़तत्वों को उतार कर बताने की डॉ० कन्हैयालाल सहल की चेष्टा ऐसे पाठकों को अप्रिय लगे, यह स्वाभाविक है और मन में प्रश्न उठता है, डॉ० सहलजी किसलिए इस जंजाल में पड़े होंगे? लोकवार्ताओं के भग्नावशेषों को उतारने में क्या रस है? ग्रंथ पूरा पढ़े बिना ही सादर रख दिया।

ई० स० १९६४ की साल पोरबंदर कालेज की सर्विस करते हुए मेरा दूसरा वर्ष था। एक दिन दुपहर को मेरे निवास-स्थान पर शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी के प्रतिनिधि आए और डॉ० सत्येन्द्र का ग्रंथ 'लोक-साहित्य विज्ञान' दे गए। मैंने उस

ग्रंथ को पढना शुरू किया। डॉ० सत्येन्द्र के ग्रंथ से अभिप्रायविषयक प्रकरण पढ़ा। पर उसमें भी स्व० वेरियर एलविन की दार्शनिक प्रणाली देखने को मिली—हां, उसमें थोड़ा अन्तर पाया। उस प्रकरण की लेखिका बहिन डॉ० सावित्री सरीन ने अभिप्राय को कुछ भारतीय स्वरूप देने की चेष्टा की है। किन्तु उसका हार्द तो डॉ० स्मिथ थाम्पसन तथा स्व० आर्ने का ही है। गणित की पद्धति से लोकवार्ता के अभिप्राय को व्यवस्थित करने की मतानुयायी वे हैं, ऐसा मन को लगा। रोमन लिपि के बदले स्वर-व्यंजन के स्थान पर देव-नागरी लिपि का आग्रह डॉ० सरीन का रहा है।[3]

उसी अरसे में A Standard Dictionary of Folklore, Legends and Myths मेरे हाथ लगी। उसमें डॉ० स्मिथ थाम्पसन द्वारा लिखित अभिप्राय-विषयक अंकन पढने को मिला और जो कृत्रिम दीवार मूल अभिप्राय अथवा रूढ़तंतु (motif) के लिए चित्त में खड़ी हो गयी थी, उसने घर कर लिया और फिर डॉ० सहल-कृत 'लोक कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियां' लेकर पढने बैठा। क्या आप मानेंगे ? उस वक्त मैंने उस कृति को रोमांचक उपन्यास की भांति उत्कट विह्वलता से पूरा किया। उसके बाद एक बार नहीं, दो बार नहीं, किन्तु छह बार मैंने उस पुस्तक को पुनः पुनः पढ़ा। मूल-अभिप्राय-विषयक मेरी समझने की शक्ति को विकसित करने में उसने मेरी खूब सहायता की और मैंने 'लोकवार्तानुं आधार-बीज-motif' *शीर्षक अपने लेख में उस कृति के अवतरणों का भरपेट उपयोग किया। लोकवार्ता के अध्ययन में यह ग्रंथ मेरे लिए अनेक प्रकार से सहायक सिद्ध हुआ है।

इस प्रकार डॉ० कन्हैयालाल सहल ने लोक-कथाओं के विज्ञान पर पांच ग्रंथ+ प्रकाशित करवाए हैं तथा उनके पास अन्य फुटकर लेख प्रकाशन की प्रतीक्षा में पड़े हैं। 'वरदा', 'मरु भारती' इत्यादि राजस्थान की शोध-पत्रिकाओं में उन्होंने बारम्बार लोक-कथा के रूढ़तनु[4] पर कुछ न कुछ लिखा ही है, जो अभी सब ग्रंथस्थ नहीं हुआ है। इस सारी लेखन-सामग्री के प्रकाशन को अग्रता प्रदान कर लोकवार्ता के तज्ज्ञों को प्राप्त करने के हेतु उत्सुक अभ्यासियों के लिए शीघ्रातिशीघ्र वे सुलभ करें, यह मेरी साग्रह प्रार्थना है।

+१. लोक कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियां, प्रकाशन १९६०।
२. राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय प्रकाशक-बानर प्रकाशन, जयपुर १९६४।
३. राजस्थानी लोक-कथाएँ, बानर प्रकाशन, जयपुर १९६४।
४. लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तंतु, प्रकाशक : किताब महल लिमिटेड, इलाहाबाद १९६५।
५. नटों तो नहो मत, प्रकाशक : बानर प्रकाशन, जयपुर १९५८।

हैं। किसी लेख का प्रारम्भ डॉ॰ सहल वार्ताकार की श्रद्धा से करते हैं (उदाहरणार्थ-लोक-कथाओं की एक प्ररूढ़ि–हास्य और रोदन)। 'लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु' के परिशिष्ट में 'राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय' के अन्तर्गत मात्र राजस्थानी लोक कथाएँ दी हैं और उन लोक-कथाओं के मूल अभिप्राय का निर्देश मात्र किया है (द्रष्टव्य–लोक कथाओं के कुछ रूढ़ तंतु परिशिष्ट।) उसमें वे विश्लेषण शैली में नहीं उतरे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मूल अभिप्रायों के प्रकटीकरण के लिए उन्होंने अनेक शैलियों का वरण किया है। ऐसा होते हुए भी, उन्होंने अपने पाँच-पाँच ग्रंथों में से किसी एक में भी स्टिथ थाम्पसन की पद्धति का प्रयोग नहीं किया है। लोक-कथाओं के अध्ययन के क्षेत्र में डॉ॰ सहलजी ने अपनी निजी मौलिकता का दर्शन कराया है। इस प्रकार लोकवार्ता के अध्ययन के क्षेत्र में उन्होंने मौलिक योगदान किया है जिसमें पंडित की दुर्बोधता नहीं है किन्तु सर्जक की सरलता व सहजिकता है।

डॉ॰ सहल ने लोकवार्ता के मूल तंतु के प्रकटीकरण के लिए जिस विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग किया है, वह विशेष रोचक लगती है क्योंकि उसके द्वारा लोकवार्ता के अंग-उपांग का दर्शन हो जाता है, अभ्यास हो जाता है तथा दूसरी लोकवार्ताओं पर दृष्टिपात करने की सूझ विकसित हो जाती है।[7] चाहे उसमें वैज्ञानिक शैली का ठाठ और झलक दृष्टिगोचर न हो किन्तु आदर्श शिक्षक की सात्विकता के उसमें अवश्य दर्शन होंगे। महापंडित राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में "वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वालों"·····"साफ शैली" उनकी दृष्टि लोकवार्ता के विश्लेषण के आर-पार चली जाती है बिना आडंबर के, पंडिताई के प्रदर्शन के बिना। इसलिए वे हमेशा सिद्ध करते हैं स्पष्टता से, पारदर्शी रीति से 'Transparently'

डॉ॰ सहल जी को फ्रेंच शब्द motif में जो मर्म देखने को मिले हैं उन सबका उन्होंने अपने ग्रंथ में प्रकटीकरण किया है, motif के लिए उन्होंने रूढ़ तंतु, मूल अभिप्राय तथा प्ररूढ़ि जैसे पर्याय प्रचलित किए हैं।[8] (i) वे motif के कार्य-धर्म को बराबर पहचानते हैं तथा उन्होंने motif शब्द की बारबार छानबीन की है क्योंकि motif लोकवार्ता के आधार-बीज के स्थान में होते हैं—कहीं वे अभिप्राय के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं तो कहीं लोकवार्ता के तत्व का संचालन करने वाले तत्व के रूप में काम करते दिखाई पड़ते हैं। motif के पर्याय तलाश करने की भी डॉ॰ सहलजी को चिन्ता रही है। 'लोक कथाओं के कुछ रूढ़ तंतु' के आमुख[8] (ii) में उन्होंने अपना विचार व्यक्त किया है कि अखिल भारतीय स्तर पर motif के पर्याय का निर्णय होना चाहिए। लगता है कि motif के पर्याय ढूँढने की उत्कंठा मात्र गोर्डे अभ्यासियों को ही नहीं है, सहलजी को भी है। अतः वे मूल अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए अनेक-

४. श्री पुष्कर चंदरवाकर, 'अभ्यास' (सितंबर, १९६६, अंक ९८) मावलंकर की हवेली, भद्र, अहमदाबाद ।

५. डॉ० कन्हैयालाल सहल, लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु, आवृत्ति प्रथम, इलाहाबाद, किताब महल प्रा० लि० १९६५. आमुख पृ० ३ ।

६. मिलाइए : 'जब से डॉ० सहल ने लोक-कथाओं के रूढ़ तन्तुओं को अपने अनुसन्धान का विषय चुना है, तब से इधर दो-तीन वर्षों में उन्हें इसी में डूबा हुआ पाता हूं, ऐसी निष्ठा विरल व्यक्तियों में ही पाई जाती है', श्री अगरचन्द नाहटा, लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तंतु, आवरण पृ० २ ।

७. डॉ० कन्हैयालाल सहल, लोक-कथाओं के कुछ रूढ तन्तु, आवृत्ति प्रथम, इलाहाबाद, किताब महल (प्रा०) लि० १९६५, पृ० ८ ।

८. डॉ० कन्हैयालाल सहल, लोक-कथाओं के कुछ रूढ तन्तु, आवृत्ति प्रथम, इलाहाबाद, किताब महल (प्रा०) लि०, १९६५, पृ० ५७ ।

९ (१) डॉ० कन्हैयालाल सहल, राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय, आवृत्ति प्रथम, जयपुर, धानर प्रकाशन, १९६०, निवेदन पृ० १ ।

(२) डॉ० कन्हैयालाल सहल, लोक-कथाओं के कुछ रूढ तन्तु, आवृत्ति प्रथम, इलाहाबाद, किताब महल (प्रा०) लि०, १९६५, आमुख पृ० ३ ।

१०. वही, आमुख, पृ० ४-५ ।

•••

'अनुसन्धान और आलोचना' के राजस्थानी खण्ड को पढ़कर डिंगल के सुप्रसिद्ध चारण-विद्वान श्री ईश्वरदानजी आशिया लिखते हैं—

"आपकी इस विद्वत्तापूर्ण कृति से राजस्थानी साहित्य के गौरव को भारतीय साहित्य-जगत में अपना उचित स्थान प्राप्त करने में निस्सन्देह बड़ा बल मिलेगा और राजपूत एवं चारण-जाति जिनके सपूतों के शौर्यादार्य एवं कानजयी कार्यों का आपकी सशक्त लेखनी द्वारा चयन-वर्णन हुआ है—वे तो सदा ही आपका ऋण अनुभव करती हुई कृतज्ञ बनी रहेंगी।"

राजस्थानी साहित्य को डॉ० कन्हैयालाल सहल का योगदान

• शंभुसिंह मनोहर

हिन्दी व राजस्थानी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डॉ० कन्हैयालालजी सहल का कृतित्व इतना बहुमुखी और प्रशस्त है कि उसे एक लघु लेख की सीमाओं मे बांधना वस्तुतः अपने पाश्रत्व की सीमाओं को ही विज्ञापित करना है। इन पंक्तियों के लेखक की सीमाएं वैसे ही स्पष्ट हैं, अतः दैन्य-प्रदर्शन के लोभ मे पड़कर उन्हें और अधिक उभारने की न उसकी वाञ्छा है, न आवश्यकता। तथापि राजस्थान के एक यशस्वी विद्वान् एव मनीषी साहित्यकार की सुदीर्घ साहित्य-सेवा व सारस्वत-भावना के प्रति अपना श्रद्धापूर्ण नमन अर्पित करने की सहज आकांक्षा ने ही उसे इस दुस्साहस के लिए प्रेरित किया है।

डॉ० सहलजी का कृतित्व कितना विशद एवं वैविध्यपूर्ण है, यह इसी से जाना जा सकता है कि उनके सृजन की परिधि मे काव्य-रचना से लेकर उच्च-स्तरीय सैद्धान्तिक एव साहित्यिक समीक्षा, शोधपरक विवेचना, निबन्ध-लेखन, सम्पादन, टीका, निरुक्ति या शब्दार्थ-विमर्श, प्राचीन उपाख्यान-संग्रह, शैक्षणिक लेख एव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण—राजस्थानी लोक साहित्यान्तर्गत—कहावतों, लोक-गाथाओं, लोक-कथाओं तथा तत्सम्बद्ध प्रवृत्तियों, कथाभिप्रायों या कथागत रूढ़तत्वों आदि का मौलिक, व्यवस्थित एव सर्वांगीण विवेचन समाविष्ट है। उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त डॉ० सहलजी ने अध्यापक के रूप मे शैक्षणिक जगत की तथा पत्रकार के रूप मे राजस्थानी की ख्यातिनाम शोध-पत्रिका 'मरु-भारती' के माध्यम मे राज-स्थानी भाषा और साहित्य की जो महती सेवा की है—वह भी भुलाई नहीं जा सकती। उनके विद्वत्तापूर्ण निर्देशन मे न जाने कितने शोध-छात्रों ने हिन्दी व राज-स्थानी के अनेक अछूते एवं अद्यावधि अनन्वेषित विषयों पर अनुसंधान कर शोध

को आगे बढाया है। इसी भाँति 'मरु-भारती' के संपादक के रूप में उन्होने स्वयं तो अध्ययन-अनुसधान का मार्ग प्रशस्त किया ही है, अनेक नवोदित लेखको को भी प्रोत्साहन दे अनजाने ही तरुण लेखको की एक ऐसी पीढ़ी तैयार कर दी है, जो शोध-कार्य में प्रवृत्त हो राजस्थानी साहित्य की समृद्धि एवं अभिवृद्धि मे संलग्न है। 'मरु-भारती' में लेखन-हेतु डॉ० सहलजी की प्रेरणा व प्रोत्साहन का प्रसाद पाने वालो मे इन पंक्तियो का लेखक भी एक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ० सहलजी के साहित्य-सृजन की धारा उनके जीवन और कृतित्व—दोनो ही से अनुस्यूत हुई है तथा अपनी ज्ञान-संपदा से हिन्दी और राजस्थानी के युगल धरातलो को उर्वर और समृद्ध करती हुई बही है। ऐसी स्थिति मे कल-कल स्वर से उच्छलित उनके मुक्त, अमन्द एवं वैविध्यपूर्ण वाक्प्रवाह को किसी एक दृष्टि-विशेष मे बाँधना वस्तुतः उसे अपने सृजन-क्रम की अखंड-अटूट प्रक्रिया से विच्छिन्न कर देखना है, जो न लेखक के साथ न्याय करता है, न उसके सृजन के साथ। तथापि कभी-कभी किसी वस्तु को उसकी सतही समग्रता मे देखने की अपेक्षा आंशिक गहराई के साथ देख लेना अधिक लाभकारी होता है। साहित्य के विषय मे तो यह बात और अधिक सत्य है, क्योंकि साहित्य मे महत्त्व गुण (Quality) व गहनता (Profundity) का है, परिमाण (Quantity) व विस्तार (Expansion) का नही। अतः यहाँ हम डॉ० सहलजी के संपूर्ण कृतित्व को अपनी विचारणा का विषय न बना—केवल उसके एक पक्ष—राजस्थानी साहित्य को उनके योगदान की ही चर्चा करेंगे।

विवेचन की सुविधा के लिए डॉ० सहलजी की राजस्थानी साहित्य से सम्बद्ध प्रतिनिधि रचनाओ का निम्नांकित रूप मे वर्गीकृत कर विचार किया जा सकता है—

१. शोध-ग्रंथ—

राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन

२. संग्रह या आख्यान-ग्रंथ—

१. राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद
२. राजस्थान के सास्कृतिक उपाख्यान
३. राजस्थानी कहावतें
४. राजस्थानी वीर गाथाएं
५. राजस्थानी लोक-कथाएं
६. 'अनुसंधान और आलोचना' मे संगृहीत ७२ राजस्थान के आख्यान

३. संपादित ग्रंथ—

१. वीर सतसई—महाकवि सूर्यमल्ल रचित,
(श्री प्रो० पतराम गौड़ व श्री ईश्वरदान आशिया की सहकारिता मे)

२. द्रौपदी-विनय या करुण-बहत्तरी

३. चौबोली : (प्रो० पतराम गौड़ की सहकारिता मे)

४. निहालदे-सुलतान (३ खंडो मे)

४. लोककथा-तत्त्व; विशेषतः कथाभिप्रायो या
कथागत रूढ़ ततुओं से संबद्ध ग्रंथ—

१. लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु

२ लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ

३. नटो तो वहो मत

४. राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय

५ अनुसधान और आलोचना (प्रथम खंड)

५. विविध : शब्दार्थ-विमर्श आदि से संबद्ध ग्रंथ—

१. विमर्श और व्युत्पत्ति (व्युत्पत्ति-प्रकरण)

२. अनुसधान और आलोचना (प्रथम खंड के अन्तर्गत स्फुट लेख)

यहाँ प्रत्येक पर सक्षेप मे विचार करना समीचीन होगा।

१. शोध-ग्रंथ—

पी-एच० डी० के लिए प्रस्तुत अपने शोध-ग्रंथ 'राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन' मे डॉ० सहलजी ने राजस्थानी कहावतों का प्रथम बार व्यवस्थित एव सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है, जिसके अन्तर्गत कहावत शब्द की व्युत्पत्ति, परिभाषा, उसके देशी-विदेशी भाषाओं मे प्रचलित पर्यायों, कहावतों व मुहावरो तथा 'लौकिक न्यायों' आदि के पारस्परिक सूक्ष्म अंतर एवं कहावतों के उद्भव और विकास का भी तात्त्विक विवेचन-विश्लेषण किया गया है। साथ ही, उन्होंने राजस्थानी कहावतों का सुनिश्चित सिद्धान्तों के आधार पर वर्गीकरण भी किया है, जो इस ढंग का एक सर्वथा अभिनव एव मौलिक प्रयास है। डॉ० सहलजी ने राजस्थानी कहावतों के वर्गीकरण के जो आधारभूत सिद्धान्त निश्चित किए हैं, वे न केवल इन कहावतों के ही, अपितु अन्य भाषाओं व बोलियों की कहावतों के वर्गीकृत अध्ययन-अनुशीलन मे भी सहायक सिद्ध होंगे। कहावतों का रूपात्मक अध्ययन

लेखक के सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिचायक है, जिसमे उसने कहावतों के मूल स्वरूप का बारीकी से विश्लेपण करते हुए कहावती पद्यों तथा लौकिक न्यायो से उनका पार्थक्य सिद्ध किया है, जो निश्चय ही उसकी मौलिक उद्भावना है। लेखक ने बताया है कि अब तक जो कथन कहावत की संज्ञा से अभिहित किए जाते थे, वे वस्तुतः लौकिक न्याय की ही कोटि में आते हैं। उदाहरणतः 'भूल्यां रा चावल' कहावत नही, लौकिक न्याय है। हमारे संस्कृत साहित्य मे तो अनेक न्याय प्रसिद्ध हैं ही, परन्तु लोक मे प्रचलित इन दृष्टान्त-वाक्यो का अब तक कोई उचित नामकरण नही किया गया था, जिसके फलस्वरूप वे भ्रान्तिवश कहावतो की कोटि मे परिगणित कर लिए गए थे। डॉ० सहलजी ने लोक-साहित्य के अंतर्गत इस नवीन विधा की उद्भावना कर न केवल कहावतो के सम्यक् स्वरूप को ही अधिक स्पष्टता से उभारा है, अपितु ऐसे और भी अनेक लौकिक न्यायों की खोज कर उनका संग्रह करने की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।

लोकोक्तियो के विषयानुसार वर्गीकरण के अंतर्गत उन्होने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, कृषिविषयक आदि सभी प्रकार की कहावतो का, उनसे संबद्ध कृत्स्न आनुषंगिक तत्त्वों सहित, प्रामाणिक एवं तात्त्विक विवेचन किया है। लेखक द्वारा किया गया राजस्थानी कहावतों का यह अध्ययन इतना विशद, वैज्ञानिक एवं सर्वाङ्गपूर्ण है कि लोक-साहित्य के दिवगत महर्षि स्वनामधन्य डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस पर मुग्ध हो लिखा था—"कहावतों के क्षेत्र में श्री कन्हैयालाल सहल ने सच्चा आचार्य-पद उपार्जित कर लिया है।"

लेखक ने ग्रंथान्त मे एक महत्त्वपूर्ण सामयिक सुझाव दिया है और वह यह कि हमे समय रहते राजस्थानी की विविध बोलियों में उपलब्ध सभी कहावतों का संकलन—वर्गीकरण कर लेना चाहिए अन्यथा बदलती हुई परिस्थितियो तथा विज्ञान-युग के प्रभाव के कारण ये कहावतें शीघ्र ही विस्मृत व लुप्त हो जाएंगी। यह एक निर्विवाद सत्य है कि जो वस्तु हमारे जीवन से उठ जाती है, वह साहित्य से भी उठ जाती है। आज कहावतें हमारे जीवन से उठती जा रही हैं तथा नई कहावतों का निर्माण भी प्रायः बन्द-सा ही हो गया है। यदि हमने समय रहते अपनी पुरानी निधि का संरक्षण नही किया तो हम लोकानुभव की इन अमूल्य ऋचाओं से सदा के लिए वंचित रह जाएंगे। आज का युग व्यक्तिवाद का युग है। हर व्यक्ति अपने ही अनुभव को सर्वोपरि समझता है। उसे अपनी पिछली पीढ़ी या बड़े-बूढ़ों के अनुभवों से सीखने की न रुचि है, न अवकाश। फलतः उसका इन कहावतो के प्रति एक अवज्ञापूर्ण दृष्टिकोण अपनाना स्वाभाविक है। डॉ० सहलजी ने इस स्थिति की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए, हमे लोक-साहित्य की इस

महत्त्वपूर्ण किन्तु निरन्तर लोपोन्मुख विधा की सुरक्षा के प्रति हमें अपने दायित्व से अवगत कराया है। उनका यह शोध-ग्रंथ इस दिशा में भावी अनुसंधित्सुओं का निश्चय ही मार्ग-दर्शन करेगा, जिसकी पद्धति पर राजस्थानी की अन्य बोलियों में उपलब्ध कहावतों पर भी इसी प्रकार के शोधपरक अध्ययन प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जो आगे चलकर एक विस्तृत एवं बृहद् लोकोक्ति-कोश की पूर्व पीठिका के रूप में उपादेय सिद्ध होंगे। ग्रंथ के परिशिष्ट में लेखक ने अन्य प्रदेशों की कहावतों की भी एक विस्तृत तुलनात्मक सूची दी है, जिससे कहावतों की व्यापकता एवं सार्वत्रिकता का परिचय मिलने के साथ-साथ उनकी अन्तर्प्रान्तीय परम्पराओं पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है।

२. संग्रह या आख्यान-ग्रंथ—

इस कोटि के ग्रंथों में, जिनकी सूची पहले दी जा चुकी है, डॉ० सहलजी ने राजस्थान के ऐतिहासिक या प्रख्यात पुरुषों से सबद्ध अनेक रोचक एवं प्रेरणादायी आख्यानों का संग्रह कर राजस्थानी साहित्य की अनूठी सेवा की है। राजस्थान का इतिहास वीरता और शौर्य, त्याग और बलिदानों का इतिहास है। यहाँ के प्रोज्ज्वल अतीत के मूल में उसकी सांस्कृतिक चेतना की प्राणभूत ये त्याग और संयममूलक प्रेरणाएं ही प्रमुख रही हैं। ये उदात्त वृत्तियां ही यहां की विशिष्ट मर्यादाओं एवं गौरवमयी परम्पराओं के रूप में प्रतिच्छायित हो यहाँ के चिन्तन, जीवन-मूल्य तथा भावबोध के स्वरूप को निर्दिष्ट करने में कारण रूप रही हैं।

राजस्थान के कवियों ने अपने चरितनायकों के इन अद्भुत गुणों पर मुग्ध होकर इन्हें अपनी वाणी द्वारा अमर कर दिया है। दोहों, सोरठों, गीतों आदि में निबद्ध ऐसे अनेक रोचक एवं प्रेरणादायी आख्यान या प्रवाद कवि-गिरा में अमर हो, एक के बाद दूसरी पीढ़ी को मौखिक परम्परा के रूप में प्राप्त होते रहे हैं। डॉ० सहलजी ने ही सर्वप्रथम इन बिखरे हुए आख्यानों को लेखनीबद्ध व संकलित कर पुस्तक-रूप में प्रकाशित करने की दिशा में पहल की। अपनी तीन कृतियों—राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद, राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान तथा अनुसंधान और आलोचना में ('राजस्थान के आख्यान' शीर्षकान्तर्गत) उन्होंने ऐसे शताधिक आख्यानों को संगृहीत कर उन्हें विस्मृति के गर्भ में विलीन होने से बचा लिया।

इनमें इतिहास के अनेक स्मरणीय एवं अद्यावधि अलिखित रोचक एवं प्रेरणा-प्रद प्रसंगों को, उनसे सम्बद्ध दोहों व गीतों सहित लेखनीबद्ध किया गया है। कहीं हास्य और विनोद से गर्भित, तो कहीं शौर्य और त्याग से प्रेरित, राजस्थान के ये रोमांचक आख्यान न केवल पाठकों को रसाविष्ट ही करते हैं, अपितु उनकी वृत्तियों

को उदात्तीकृत भी। एक-एक आख्यान राजस्थानी संस्कृति एवं इतिहास क
का ही जीवन्त निदर्शन है। इनके द्वारा उन्होंने हिन्दी व राजस्थानी में '
(Memoirs) से अभिहित साहित्य के अभाव की महती पूर्ति की है।
हासिक वृत्तों की विशेषता यह है कि इनमें इतिहास और कवित्व का म
संयोग हुआ है। ऐतिहासिक घटनाओं ने कवियों को प्रेरणा दी तो क
ऐतिहासिक घटनाओं को अमरत्व। राजस्थान के इतिहास का न जाने
महत्त्वपूर्ण अंश इन्हीं स्फुट छन्दों में बिखरा पड़ा है तथा इन्हीं गीतों-द
बदौलत वह ऐतिहासिक संपदा सुरक्षित रह सकी है। राजस्थान का
इतिहासकार इस तथ्य को जानता था, इसलिए उसने अपनी ख्यातों में,
बिखरी, इस प्रभूत ऐतिहासिक संपदा का भरपूर उपयोग किया है। मु
नैणसी और सिंढायच दयालदास की ख्यातें इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।
आधुनिक राजस्थानी इतिहासकारों को भी यह स्मरण रखना चाहिए कि
व मध्यकालीन इतिहास के लेखन में जितना महत्त्व पुरातात्त्विक अवशेषों,
लेखों, मूर्तियों या ताम्रपत्रों का है, उतना ही राजस्थान के इन सहस्रों स्फु
तथा प्रबन्ध-काव्यों में निबद्ध ऐतिहासिक सामग्री का भी—जिन्हें अपने इ
लेखन का उपजीव्य बनाए बिना हम चाहे भारत के शेष भागों का इतिहास
सकें—राजस्थान का इतिहास तो अधूरा ही रहेगा। साहित्य के संदर्भ से राज
की ऐतिहासिक चेतना को समझने की जिस दिन आवश्यकता अनुभव की जाए
उसी दिन डॉ० सहलजी द्वारा लेखनीबद्ध एवं संकलित ये आख्यान साहित्य के
साथ इतिहास के मंच पर भी अपनी अभिनव महत्ता के साथ प्रतिष्ठि
जाएंगे—इसमें सन्देह नहीं। तब तक अपने सही मूल्यांकन के लिए शायद
प्रतीक्षा करनी होगी।

इन संकलन-ग्रन्थों में 'राजस्थानी कहावतें' भी एक है, जिसमें दो हज
भी अधिक कहावतें संगृहीत हैं। परिशिष्ट में सिरोही प्रदेश की कहावतें तथा
कहावती पद्य व 'अधूरे पूरे' अलग से दिए गए हैं। इन कहावतों का संग्रह करने
लेखक को कितना श्रम करना पड़ा है—यह इन कहावतों की संख्या से अधिक स
स्वरूप से जाना जा सकता है। इस संकलन की अधिकांश कहावतें ऐसी हैं,
प्रथम बार लेखनीबद्ध हुई हैं। इस प्रकार लोक-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विध
लोकोक्तियों का यह विशाल संग्रह प्रस्तुत कर लेखक ने लोक-साहित्य के एक उपे
अंग की पूर्ति की है।

इसी भाँति 'राजस्थानी वीर गाथाओं' में राजस्थान के प्रख्यात वीरों
जीवन से सम्बद्ध आख्यानों का उनकी प्रकृति में रचित दोहों, सोरठों का

सहित उल्लेख किया गया है, जिसमे वे इतिहास, संस्कृति और साहित्य की त्रिवेणी के सुन्दर संगम हो गए हैं।

उनकी 'राजस्थानी लोक-कथाएं' पुस्तक मे राजस्थान की कुछ चुनी हुई सरस लोक-कथाएं संगृहीत हैं। यद्यपि लोक कथाओं के अनेक संग्रह निकल चुके हैं, तथापि हर संग्रह अपनी कुछ मौलिक विशेषता लिए होता है। लोक-कथाओं के विषय मे यह बात विशेष रूप से देखने में आती है। जैसे शीतल पवन का हर झोका ताजगी का एक नया स्पर्श देता है—लोक कथाओं का हर संग्रह भी कुछ वैसी ही अनुभूति का उद्रेक करता है। विविध रूपान्तरों सहित इनकी आवृत्ति भी मधुर लगती है। इस दृष्टि से हमारे पाठ्य-क्रमों में निर्धारित अगणित नीरस कहानी-संग्रहों से ये कितनी भिन्न हैं? शायद सैकडों-सहस्रों वर्षों से उद्वेलित लोक-संस्कृति का अमन्द रस इनकी संवेदना को शाश्वत और सार्वकालिक किए है।

३. संपादित ग्रंथ—

डॉ० सहलजी द्वारा संपादित ग्रंथों मे, जिनमे से कुछ अन्य विद्वानों की सहकारिता मे संपादित हुए हैं, महाकवि सूर्यमल्ल—रचित 'वीर सतसई' प्रमुख है। 'वीर सतसई' का संपादन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। महाकवि सूर्यमल्ल की इस प्रतिनिधि काव्य-कृति को सर्वप्रथम प्रकाश मे लाने के कारण इस संपादन का अपना ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, राजस्थानी वीर-काव्य-परम्परा तथा तत्सम्बद्ध वीरोचित आदर्शों एवं सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों की प्रतिच्छायित करने की दृष्टि से इस कृति का साहित्यिक महत्त्व भी अन्यतम है।

प्रारम्भ मे संपादकों ने कवि का प्रामाणिक जीवन-वृत्त देते हुए, उसके रोम-रोम मे पूरित शौर्य और स्वाभिमान की अत्यन्त ओजस्वी झलकियां प्रस्तुत की हैं जिनसे 'वीर सतसई' के प्रणेता उस वीर कवि का पौरुष-दीप्त व्यक्तित्व मूर्तिमान-सा हो उठता है। तदनंतर संपादकों ने सूर्यमल्ल तथा तत्कालीन नरेशों के बीच हुए पारस्परिक पत्र-व्यवहार से पुष्कल उद्धरण देते हुए, 'वीर सतसई' के निर्माण की प्रेरक पृष्ठभूमि पर सविस्तार विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध मे संपादकों ने यह स्थापना की है—

"इस प्रकार हम देखते हैं कि 'वीर सतसई' भारत के इतिहास की एक महान् घटना (स्वातंत्र्य-संग्राम) का काव्यमय उद्गार है।"

(देखिए भूमिका, पृ० ७५)

संपादकों की इस स्थापना पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। जहाँ तक 'वीर सतसई' के निर्माण की प्रेरणा का प्रश्न है, हम संपादकों के इस मत से

सहमत है कि तत्कालीन राजनीतिक क्रान्ति ने ही कवि को सतसई के सृजन की प्रेरणा दी। स्वयं कवि ने भी एक-दो दोहों में इस ओर संकेत किया है। परन्तु जहां तक 'वीर सतसई' के वर्ण्य या कथ्य का प्रश्न है, संपूर्ण कृति में ५-७ दोहों को छोड़ कर कहीं भी तत्कालीन स्वातंत्र्य-संग्राम का, परोक्ष या प्रत्यक्ष, कोई चित्रण नहीं हुआ है। न ही इसमें स्वातंत्र्य संग्राम से संबद्ध किसी घटना या व्यक्ति का कोई उल्लेख हुआ है। ऐसी स्थिति में, यह मानना कि 'वीर सतसई' स्वातंत्र्य-संग्राम का काव्यमय उद्‌गार है, वस्तुतः 'वीर सतसई' के सृजन की पृष्ठभूमि को ही कृति के कथ्य पर आरोपित करना है। जहां तक कृति के वर्ण्य या कथ्य का प्रश्न है, उसमें एक आदर्श वीर समाज के संदर्भ में वीरता के सामान्य एवं परम्परागत आदर्शों का ही निरूपण हुआ है—जिसकी परंपरा डिंगल-काव्यों में बहुत पहले से चली आई है। इस सम्बन्ध में महाकवि ईसरदास-रचित "हालाँ-झालाँ रा कुंडलिया, दुरसा आढा तथा कविराजा बाँकीदासरचित वीर-रस-पूर्ण दोहों का अवलोकन करने से ही पाठकों को विदित हो जाएगा कि सूर्यमल्ल अपने इन पूर्ववर्ती कवियों के कितने ऋणी हैं तथा इस प्रकार के वीर-रस-व्यंजक दोहों की रचना उनकी अपनी कोई मौलिक उद्भावना नहीं है। सूर्यमल्ल की मौलिकता 'वीर सतसई' में यदि कहीं है, तो इस बात में कि उन्होंने वीरता को केवल क्षत्रिय सामन्तों तक ही सीमित न रख, समाज के अपेक्षाकृत निम्न वर्गों को भी उससे अनुप्राणित दिखाया है। यही नहीं, वीरोचित आदर्शों के निर्वाह में उन्हें अपने क्षत्रिय सामन्तों से भी दो कदम आगे कर कर दिया है। निश्चय ही सूर्यमल्ल की यह अपनी मौलिक सूझ है, जो वीर-रस-वर्णन की रूढ़ एवं पारम्परिक परिपाटी से सर्वथा विशिष्ट है। यही कारण है कि किसी कायर क्षत्रिय के युद्ध से भाग आने पर रँगरेजिन उसे धिक्कारती है, सोनारिन बिसूरती है तथा गंधिन दहाड़ मार कर उसे कोसने लगती है। सूर्यमल्ल के पूर्व समाज के निम्न वर्गों को वीरता की वेदी पर इस प्रगल्भता से प्रतिष्ठित करने का साहस शायद ही किसी अन्य कवि ने किया हो! यह मूल विषय से कुछ अवान्तर चर्चा हो गई है। अस्तु

जहां तक कथ्य का प्रश्न है, हमारे विनम्र मत में 'वीर सतसई' में एक आदर्श वीर समाज के संदर्भ में वीरता के सामान्य आदर्शों एवं भावोद्‌गारों की ही व्यंजना हुई है। अतः यह मानना अधिक संगत होगा कि 'वीर सतसई' तत्कालीन क्रान्ति से अपने उद्देश्य के द्वारा ही अधिक जुड़ी हुई है—कथ्य के द्वारा नहीं।

इस सम्बन्ध में, संपादकों ने 'वीर सतसई' के दोहा संख्या २८५ ('जिण वन भूल न जावता, गैंद गवय गिड़राज') का जो उद्धरण दिया है, वह भी सूर्यमल्ल की अपनी मौलिक सृष्टि नहीं है। वस्तुतः यह दोहा मूलतः पंडितराज जगन्नाथ—

इन 'भामिनी विलास' के एक संस्कृत छन्द का ही डिंगल रूपान्तर है। अतः इसे एकान्ततः तत्कालीन राजनीतिक स्थिति को लक्ष्य करके ही कहा गया कवि का अन्योक्तिमूलक कथन मान कर 'वीर सतसई' के अपूर्ण रहने के कारणभूत तर्क के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

इस विचार-बिन्दु पर संपादकों से किंचित् मतभेद होने के कारण हमने प्रासंगिक रूप में अपने विचार व्यक्त करना समीचीन समझा। परन्तु जहाँ तक 'वीर सतसई' के सम्पादन का प्रश्न है, उसकी उत्कृष्टता असंदिग्ध है। भूमिका में, जैसा कि कह आए हैं, कवि के जीवन एवं व्यक्तित्व के रेखांकन के साथ-साथ सम्पादकों ने कृति के काव्य-सौष्ठव का भी सुन्दर विवेचन किया है। ग्रंथ का सर्वाधिक विशिष्ट भाग मूल पाठ, टीका व शब्दार्थ— विवेचन है। संपादकों ने मूल पाठ के साथ पाठान्तरों का भी निर्देश कर दिया है। संपादकों द्वारा अपनायी गयी टीका-पद्धति कवि के उद्दिष्ट भावार्थ को प्रस्फुटित करने में पूर्णतः सफल सिद्ध हुई है। उन्होंने टीका में दोहों का शाब्दिक अर्थ देकर ही संतोष नहीं किया है, अपितु उनके भावार्थ को भी सहायक टिप्पणियों द्वारा अत्यन्त मार्मिकता से स्पष्ट किया है, जिससे काव्य के मर्म को हृदयंगम करने में महती सहायता मिलती है।

'वीर सतसई' में प्रयुक्त शैलियों के विविध रूपों पर डॉ० सहलजी ने अलग से विचार करते हुए अभी हाल ही 'मरु-भारती' में तीन लेख प्रकाशित किए हैं, जिनमें विवेच्य कृति में प्रयुक्त शैलियों का सम्यक् वर्गीकरण करते हुए उनका विस्तृत एवं साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। ये लेख पुस्तकाकार रूप में उनकी नवीनतम कृति 'अनुसंधान और आलोचना' में भी छप गए हैं।

डॉ० सहलजी द्वारा संपादित एक अन्य कृति रामनाथजी कविया—रचित 'द्रौपदी विनय' या 'करुण बहत्तरी' है। इसमें दुःशासन द्वारा वस्त्रहरण किए जाने पर द्रौपदी की कृष्ण को की गई करुण पुकार का बड़ा ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है। कवि ने यह कृति कारागार में लिखी थी। अतः इसमें मुक्ति के लिए आकुल कवि की मर्म-व्यथा ही मानो द्रौपदी के आर्तनाद में फूट पड़ी है। द्रौपदी के करुण आह्वान में कवि के प्राणों की प्रतिध्वनि ही गूँज उठी है। इसीलिए इसकी संवेदना सीधी हृदय को छूती है। अंग्रेजी की सूक्ति—That which comes from the heart, touches the heart, इस कृति पर अक्षरशः घटित होती है। डॉ० सहलजी ने इसका भी अतीव सुन्दर संपादन किया है। प्रारम्भ में, संक्षिप्त भूमिका में, कवि की जीवनी तथा कृति की रचना में कारणभूत परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए, सम्पादक ने मूल पाठ, शब्दार्थ व भावार्थ के साथ-साथ सभी सबद्ध अन्तर्कथाओं का भी यथाप्रसंग उल्लेख किया है।

चौबोली राजस्थानी कथा साहित्य की चार विभिन्न विषयक प्रतिनिधि-कहानियों का संकलन है। पुस्तक का नामकरण 'चौबोली' शीर्षक प्रथम कहानी के आधार पर हुआ है, जो भोज-कथा-चक्र से सम्बद्ध है। चौबोली सहित प्रत्येक कथा मे चार और कथाएँ गुम्फित हैं। इस प्रकार प्रत्येक कथा ही चौबोली है। शेष अन्य तीन कथाओ मे 'सीवा बीजै री बात', 'राजा मानधाता री बात' तथा 'सूरां अर सतवादी की बात' हैं।

कथानक-रूढ़ियो की दृष्टि से 'चौबोली' एक महत्त्वपूर्ण कथा-सकलन है जिनमे अनेक कथानक-रूढिया का प्रयोग हुआ है। कथागत प्ररूढियो के अध्ययन मे रुचि रखने वाले तथा वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए इसमें प्रभूत सामग्री एकत्र सगृहीत है। साथ ही राजस्थानी गद्य की सुललित छटा भी इन कहानियो में देखने योग्य है। विद्वान् सम्पादकों ने प्रारम्भ में एक सक्षिप्त किन्तु सारगर्भित भूमिका में 'चौबोली' सहित राजस्थानी कथा-साहित्य की सामान्य विशिष्टताओं पर भी प्रासगिक रूप से प्रकाश डाल दिया है, जिनके सदर्भ में पुस्तक में संगृहीत कथाओं के मर्म को समझने में महती सहायता मिलती है।

'चौबोली' राजस्थान की एक अति प्रसिद्ध प्राचीन लोक-कथा है, जिसका सम्बन्ध भोज-कथा-चक्र से है। इसी भाँति 'निहालदे-सुलतान' मौखिक परम्परा का एक अतिशय लोकप्रिय जनकाव्य है। कथाभिप्रायो (Motifs) की दृष्टि से चौबोली' का महत्त्व अन्यतम है, जिसमें कथागत प्ररूढ़ियो का प्रचुर प्रयोग हुआ है।

डॉ० सहलजी द्वारा सपादित ये सभी ग्रंथ प्रथम बार सपादित होकर प्रकाश मे आए हैं। इस दृष्टि से इन महत्वपूर्ण कृतियो को सर्वप्रथम सपादित करने का श्रेय डॉ० सहलजी तथा इनके अन्य सह-संपादकों को ही है।

४. लोक कथा-तत्त्व या कथाभिप्रायों से संबद्ध ग्रंथ—

राजस्थानी लोकोक्तियो या कहावतो पर तो डॉ० सहलजी का शोध-प्रबंध है ही, उन्होंने लोककथा-तत्त्व, विशेषतः कथागत प्ररूढ़ियो या कथाभिप्रायो पर भी उच्च कोटि का अनुसंधान किया है, जिससे हिन्दी व राजस्थानी मे लोक-साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अग समृद्ध हुआ है। यो इन कथानक-रूढियो या कथाभिप्रायो पर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी सदृश कुछ विद्वानो द्वारा काफी चर्चा हुई है, परन्तु इन पर, विशेषतः राजस्थानी लोक-कथाओ के संदर्भ मे, विस्तृत एव सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन का प्रवर्तन श्री डॉ० कन्हैयालालजी सहल ने ही किया है। उन्होंने अपनी पुस्तको—लोक-कथाओ की कुछ प्ररूढ़ियाँ, लोक कथाओ के कुछ रूढ-तन्तु, नटो तो म्हो मत, राजस्थानी लोक कथाओ के कुछ मूल अभिप्राय आदि मे इन प्ररूढ़ियों का विशद, सोदाहरण एव तलस्पर्शी विवेचन किया है।

इन कथाभिप्रायों या प्रकृतियों की दृष्टि से राजस्थानी लोक-कथाएं अपना सानी नहीं रखतीं। इनमें स्थान-स्थान पर कथा को मोड़ देने वाले तथा उसे गति-शील करने वाले विविध कथाभिप्रायों, यथा—सत्य-क्रिया, हास्य और रोदन, होणी होय सो होय, लाखीणो दूहो, दृष्टि-गर्भ, रूप-परिवर्तन, शरणागत-रक्षा, मौतने की प्रतिज्ञा, प्राण-प्रतीक, निषिद्ध-कक्ष, मौन-धारण और मौन-भंग, मृत्यु-गंध, वाक्-छल, जादू की डोरी, हंस-कुमारी, लिंग-परिवर्तन, शरीफ चोर, कृतज्ञ जीव, नाम-संयोग, सांकेतिक भाषा, होड़ अथवा डांडा मेंडी, नटो तो कहो मत आदि का भरपूर प्रयोग हुआ है। इनमें से प्रत्येक अभिप्राय का डॉ० सहलजी ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन किया है तथा उसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने अपना अध्ययन केवल राजस्थानी लोक-कथाओं तक ही सीमित नहीं रखा है, अपितु संस्कृत, प्राकृतादि भाषाओं में निबद्ध आख्यानों के अतिरिक्त जैन व बौद्ध कथा-साहित्य में उपलब्ध अभिप्रायों के भी प्रभूत उद्धरण दिए हैं, जिससे उनके अनुशीलन का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। उदाहरण के लिए, अकेले 'सत्य क्रिया' नामक अभिप्राय के मूल उत्स व स्वरूप का विवेचन करते हुए उन्होंने ऋग्वेद से लेकर रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, गर्ग संहिता, रघुवंश, कथा सरित्सागर, दिव्यावदान, जातक कथाओं, यहाँ तक कि राजस्थान के लोक काव्य—ढोलामारू-मुलतान आदि के भी प्रभूत उद्धरण देकर इस कथाभिप्राय की सार्वजनीन परम्पराओं पर सोदाहरण विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। यही बात अन्य कथाभिप्रायों के विषय में भी सत्य है।

इन कथाभिप्रायों या प्रकृतियों के विवेचन के प्रसंग में डॉ० सहलजी ने पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किए गए इनके नामकरण को ज्यों का त्यों स्वीकार न कर, भारतीय कथा साहित्य के संदर्भ में उनके औचित्य की मीमांसा करते हुए अपनी मौलिक उद्भावनाएं भी की हैं। यथा, महाभारत में वर्णित दशार्ण-शिखण्डी की कथा में प्रयुक्त 'लिंग-परिवर्तन' नामक अभिप्राय के लिए उन्होंने उपयुक्त नाम 'लिंग-विनिमय' सुझाया है, जो एक सर्वथा नई सूझ है। डॉ० सहलजी ने प्रायः इन कथाभिप्रायों के विवेचन में भारतीय कथा-साहित्य को ही अपना आधार बनाकर अपनी स्थापनाएं की हैं।

लोक-कथाओं की प्रवृत्तियों पर डॉ० सहलजी की कृति से प्रभावित होकर महा-पंडित राहुल सांकृत्यायन इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने लिखा—"लोक कथाओं के बारे में वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वालों के लिए यह पुस्तक बड़े काम की होगी।" वस्तुतः पं० राहुल सांकृत्यायन के इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं है।

लोक-कथाओं पर डॉ० सहलजी के कुछ स्फुट निबन्ध उनकी नवीनतम कृति 'अनुसंधान और आलोचना' में भी संगृहीत हैं। इनमें 'सांख्य दर्शन का आख्यायिका न्याय' में डॉ० सहलजी ने संभवतः प्रथम बार सांख्य-दर्शन में प्रयुक्त विविध लोक कथाओं के मूल स्रोतों पर प्रकाश डाला है, जिससे हमारे दर्शन-ग्रंथों में लोक कथाओं के मूल उत्स खोजने की दिशा में शोध को निश्चय ही एक नया आयाम मिलेगा।

५. विविध : निरुक्ति या शब्दार्थ-विमर्श—

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त डॉ० सहलजी ने राजस्थानी के अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति व अर्थ पर भी विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। 'मरु भारती' में 'शब्द-चर्चा' शीर्षक से एक स्थायी स्तम्भ इसी हेतु नियोजित है, जिसका सुझाव उन्हें राजस्थानी साहित्य के अनन्य अनुरागी सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला ने दिया था तथा जिस स्तंभ के अंतर्गत डॉ० सहलजी बराबर किसी न किसी शब्द की व्युत्पत्ति या अर्थ पर नवीन प्रकाश डालते हुए लिखते रहते हैं। ऐसे सभी शब्द उनकी पुस्तक—'विमर्श और व्युत्पत्ति' में संगृहीत हैं। भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी के लिए इन शब्दों का अध्ययन न केवल अतीव रोचक अपितु ज्ञानवर्द्धक भी है, जिनसे हमारे अनेक सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवनादर्शों के रहस्यों का भी उद्घाटन होता है।

डॉ० सहलजी द्वारा चर्चित इन शब्दों में—राठौड, केकाण, हम्मीर, ठाकुर, नांगल, दोहा, संपत, उणियारो, कचोला, तोवण, छेह, ओलंगियो, ओजण, हिमारणी, आरोगना, ब्यालू, पोत, उडीकना, संथा, चित्राम, बूडो-ठेरो आदि हैं। 'विमर्श और व्युत्पत्ति' में ऐसे ८४ शब्दों की व्युत्पत्ति व अर्थ पर विशदता से प्रकाश डाला गया है। भाषा-विज्ञान को उनकी यह अनूठी देन है।

प्रसंगतः यहां एक शब्द के अर्थ पर विचार करना अयुक्त न होगा। वह शब्द है 'नागल'। 'नागल' उस उत्सव का वाचक है, जो नव गृह-प्रवेश के उपलक्ष्य में किया जाता है। इस अवसर पर हवन किया जाकर अपने सम्बन्धियों व इष्ट मित्रों को दावत दी जाती है तथा शुभ मुहूर्त में नए घर में प्रवेश किया जाता है। डॉ० सहलजी ने इस 'नांगल' शब्द की व्युत्पत्ति 'नव मंगल' से होने का अनुमान किया है। परन्तु हमारे विचार से यह 'नाग-बलि' से व्युत्पन्न है। किसी नए मकान की नींव का मुहूर्त किए जाने पर आज भी नींव में चांदी की एक लघु सर्पाकृति मूर्ति स्थापित की जाती है। संभवतः इस रीति का आधार वह पौराणिक विश्वास है जिसके अनुसार पृथ्वी की अवस्थिति शेष नाग के फन पर मानी जाती है एवं भवन के शाश्वत स्थायित्व की मंगल-कामना से ही कदाचित् नाग-बलि का

विधान चल पड़ा हो। चाँदी की सर्पाकृति लघु मूर्ति कदाचित् उसी शेषनाग का प्रतीक है। गृह-प्रवेश के अवसर पर भी संभवत. 'नाग-बलि' की प्रथा रही हो एवं उसीके फलस्वरूप 'नाग-बलि' का विकृत रूप 'नागल' लोक मे प्रचलित हो, जो नवगृह-प्रवेशोत्सव का पर्याय बन गया हो। जो हो, इस शब्द की व्युत्पत्ति विचारणीय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ० कन्हैयालालजी सहल ने अपने बहुविध कृतित्व मे राजस्थानी साहित्य की श्री-वृद्धि कर उसे गौरवान्वित किया है। राजस्थानी का लोक-साहित्य तो उनका अत्यन्त ऋणी है। पश्चिम मे जो कार्य स्टिथ टाम्पसन, ब्लूमफील्ड, नार्मन ब्राउन तथा रूथ नार्टन जैसे लोक-साहित्य के महामनीषियों ने किया है, किसी सीमा तक, राजस्थानी लोक-कथाओं के क्षेत्र मे वही कार्य श्री डॉ० कन्हैयालालजी सहल ने किया है, जिसके लिए प्रत्येक राजस्थानवासी तथा लोक साहित्य-प्रेमी को उनका कृतज्ञ होना चाहिए।

इस सम्बन्ध मे, डॉ० सहलजी की गद्य-शैली के विषय मे भी दो शब्द कहने का लोभ संवरण मैं नहीं कर पा रहा। उनकी कृतियो या लेखो का अध्येता कोई भी पाठक उनकी प्रसादगुण-युक्त प्रांजल एवं प्रवाहपूर्ण भाषा-शैली से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। शुद्धता, स्पष्टता और शालीनता, उसके अनिवार्य गुण है। अतः भाषा के प्रसग मे यदि यह कहा जाए कि 'Clarity has marked him for her own' तो अयुक्त न होगा। महाकवि कालिदास ने 'वाक्' और 'अर्थ' की जिस अनन्यता से अपने आराध्य—पार्वती-परमेश्वर को उपमित किया है—भाव और भाषा, कथ्य और कथन की कुछ वैसी ही अनन्यता उनके संपूर्ण कृतित्व मे अशेष चारुता से विराजमान है। अपनी सरलता मे भी असाधारण उनकी यह गद्य-शैली न केवल उनके विचारो की ही सफल वाटिका है, अपितु उनके महनीय व्यक्तित्व की मधुर झांकिका भी।

अन्त मे, डॉ० सहलजी के व्यक्तित्व के एक और उदार पक्ष की ओर पाठको का ध्यान आकृष्ट कर अपनी चर्चा समाप्त करूँगा। एक बार प्रसंगतः मैंने उनसे यह निवेदन किया कि आपके द्वारा संपादित 'वीर सतसई' के कुछ दोहो के अर्थों में पुनर्विचार की आवश्यकता है। अपने प्रस्ताव की पुष्टि मे मैंने एक-दो दोहो की चर्चा भी की। डॉ० सहलजी यह सुन अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—इस पर एक विस्तृत लेख 'मरु-भारती' हेतु अवश्य भेजिए। मैं आलस्यवश इधर कुछ लिख न सका और बात पुरानी पड़ गई। परन्तु मेरे लिए ही, उनके लिए नहीं। उन्होंने कुछ महीनो बाद ही मुझे पत्र द्वारा पुनः आग्रह किया कि अपना उक्त लेख अवश्यमेव भेजूँ। विवश हो मुझे उनकी आज्ञा का पालन करना ही पड़ा। दृष्टिकोण की

यह उदारता आज कितने विद्वानों में है ? अपनी प्रशंसा सुनने के लिए तो प्रायः सभी आकुल रहते हैं, आकुल ही नहीं रहते, उसकी प्राप्ति का उद्यम-विधान भी कर लेते हैं। परन्तु अपनी आलोचना सुनने की यह आकुलता कितनों के मनों में होती है ? उनकी इस उदारता के प्रति मैं श्रद्धा से नमित हूँ ! वस्तुतः उनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता के मूल में प्रतिभा, अध्ययन तथा अध्यवसाय के साथ-साथ उनका यह मनोगत औदार्य भी है, जो उन्हें दूसरों के विचारों को सुनने-समझने के लिए सतत प्रेरित करता है ।

अन्त में, मरु के इस यशस्वी लेखक, विद्वान्, चिन्तक एवं अन्वेषी के प्रति अपनी मातृगिरा राजस्थानी में ही, टूटे-फूटे शब्दों में, यह विनयाञ्जलि अर्पित करता हूँ—

महमा मरु-भाषा तणी, इन् मे करी अटल्ल ।
सहल कर्यो जिण सासतर, सो थिन नाम 'सहल्ल' ॥१॥

लोक कथां रा लाडला, मरु रा रतन अमोल ।
जुग-जुग रहसी सहल रा, कीरत हंदा बोल ॥२॥

मीठी अत 'मरु-भारती', तैं कीधी परगास ।
मरु रो कण-कण सरसियो, घर-घर हुयो उजास ॥३॥

'मनैं दिवावो मानता'—भाखै मरु-भासाह ।
माफी मरु रा, पूरवौ, मायड री आसाह ॥४॥

गरब आज मरु नैं घणौ, 'लाल' सहल-सो गोद ।
हरख न मावै हीवड़ै, मायड मरुधर मोद ॥५॥

•••

डॉ० कन्हैयालाल सहल की सारस्वत सेवा

• डॉ० भोगीलाल ज० सांडेसरा

डॉ० कन्हैयालाल सहल के साथ रूबरू मुलाकात का लाभ अब तक मुझे मिला नहीं है किन्तु उनके साथ पिछले लगभग २५ वर्षों से विद्याविषयक कार्यों के सम्बन्ध मे मेरा पत्र-व्यवहार होता रहा है तथा उनके लेखो एव ग्रन्थों से मैं सुपरिचित हूँ।

राजस्थान की भाषा, साहित्य एव सस्कृति के वे अग्रिम निष्णात हैं। 'मरु-भारती' के सपादक-रूप मे उन्होंने इस क्षेत्र म जो बहुमूल्य सेवाएँ अर्पित की हैं, वे विद्वानो को सुविदित है। राजस्थान से प्रकाशित होने वाली अनुसधान-पत्रिकाओ सहित मैं मरु-भारती का सदा से एक उत्सुक वाचक रहा हू। मेरे मित्र तथा बिड़ला इन्स्टीट्यूट के ग्रन्थपाल श्री हेमत भाई मेहता, उक्त संस्था मे नियुक्त होने के बाद, मेरे परोक्ष सपर्क मे एक विशेष निमित्त बने हैं, यदि मैं ऐसा कहूँ तो इसमे किसी प्रकार की अत्युक्ति न होगी।

राजस्थानी कहावतों के विषय मे डॉ० सहल का अध्ययन अत्यन्त महत्त्व का है। गुजराती और राजस्थानी भाषाएँ परस्पर खूब निकट के सबन्ध से जुड़ी हुई हैं और लगभग १६वी सदी तक तो, कुछ स्थानिक विशेषताओं को छोड़कर, ये भाषाएँ समान रूपवाली थी और उनके समान रूप को देख कर ही कुछ विद्वानो ने इन भाषाओ को 'मारु-गुर्जर' की सज्ञा दी थी। इस कारण गुजराती और राजस्थानी कहावतो और रूढ़ि प्रयोगो (मुहावरों) मे भी मात्र भाव-साम्य ही नहीं, शब्द-साम्य भी असाधारण है। मैंने डॉ० सहल की दो पुस्तकों ('राजस्थानी कहावतें' तथा 'राजस्थानी कहावतें-एक अध्ययन') को खूब रसपूर्वक पढ़ा है। इनमें से प्रथम पुस्तक मे जहाँ कहावतो का संकलित संग्रह है, वहां दूसरी पुस्तक मे विविध दृष्टियों से

कहावतों का समर्थ अध्ययन है। किसी भी भारतीय भाषा की कहावतों के अध्ययन-हेतु यह दूसरी पुस्तक वास्तव में एक नमूना प्रस्तुत करती है।

डॉ० सहल के दो लेख-संग्रह भी मेरे देखने में आए हैं। ये दो संग्रह हैं— "विमर्श और व्युत्पत्ति" तथा "अनुसंधान और आलोचना"। विभिन्न समयों में लिखे हुए और विविध पत्रिकाओं में प्रकाशित उनके अनेक लेख इस प्रकार जो पुस्तकाकार में प्रकट हुए हैं, यह बहुत ही उचित हुआ है। इन पुस्तकों से डॉ० सहल के अध्ययन-वैविध्य का पता चलता है। 'विमर्श और व्युत्पत्ति' पुस्तक के व्युत्पत्ति-खण्ड में ८४ राजस्थानी शब्दों पर उन्होंने साधार टिप्पणियाँ लिखी हैं, जिन्हें पढ़ कर गुजरात और राजस्थान की प्राचीन भाषा के नैकट्य तथा एकता का ख्याल होता है। मैं मानता हूँ कि इस प्रकार का काम वे चालू ही रखेंगे। 'अनुसंधान और आलोचना' शीर्षक ग्रन्थ में भी राजस्थानी भाषा-साहित्य और कथा-साहित्य से संबन्धित उनके अनेक बहुमूल्य लेख संगृहीत हैं।

इस ग्रन्थ में उनके अन्य आलोचनात्मक लेख भी हैं, तथापि राजस्थान अध्ययन के क्षेत्र में डॉ० सहल का प्रदान तात्त्विक अर्थ में उनका जीवन-कार्य है, ऐसा मैं मानता हूँ।

इस कार्य को उत्तरोत्तर और भी अधिक रूप में करने के लिए ईश्वर उनको आरोग्यमय दीर्घायु अर्पण करे, यह मेरी शुभकामना है। +

इस संग्रह + को प्रकाशित कर आपने राजस्थान की सांस्कृतिक भूतकालीन परम्परा को प्रकाशित करने में बड़ी सहायता पहुँचाई है। विभिन्न उपाख्यानों की ऐतिहासिकता सम्बन्धी आपके सुझाव बहुत ही उपयोगी हैं।..........मेरी यही प्रार्थना है कि इस कार्य को आगे चलाया जाए।

सीतामऊ, २१-१-५०

डॉ० रघुबीर सिंह

+ मूल गुजराती से अनूदित।

+ राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान।

राजस्थानी लोकमन के तत्त्वदर्शी

• डॉ० महेन्द्र भानावत

अभी पिछली नवरात्रा मे मेवाड क्षेत्र के कुछेक गाँवों मे जाकर मैंने रात्रि को देव-मदिरो मे गाये जाने वाले ढाक भारत सुने तो उनमे देवी कालिका के एक भारत मे मैंने सुना कि समनौर के ऊनवास गाँव के पास जो विशाल वटवृक्ष है, उसे सर्वप्रथम देवी कालिका तेरहवें पाताल से यहा लाई थी। यह वट नौ लाख देवियो का स्थान माना जाता है और लोक-जीवन मे यह बडल्या हीदवा के नाम से प्रसिद्ध है। देवी कालिका का बडल्याविषयक जो भारत मैंने सुना, वह बहुत बडा है। नौ कलियो मे पूरा होता है और रात-रात भर गाया जाता है। उसमें इन देवी-शक्तियो के चमत्कारिक कार्यकलापो का बड़ा ही उदात्त एव संश्लिष्ट चित्र वर्णित है। मुझे यह भारत और इसकी गायकी इतनी सम्मोहित कर गई कि मैं घटो तक उसी रग मे रगा रहा और इन अदृश्य शक्ति-स्वरूपो के सबध मे चिंतन करता रहा। ढाक और थाली पर मैने और भी कई भारत सुने और देखा कि ज्यो-ज्यो भारत और भारत-गायको का उत्कर्ष एक निश्चित टेम्पो तक पहुँचता है, भारत-शक्ति साक्षात् रूप मे स्वतः ही भोपे के दिल मे अवतरित हो उठती है। भारत चलता रहता है और शक्ति अपना लीला-कर्म दिखाती हुई अपना गतव्य लेती है।

आज जब मैं 'राजस्थानी साहित्य को डॉ० सहल की देन' के सबध मे लिखने बैठा तो मुझे अनायास ही कालिका का उक्त भारत याद हो आया। कालिका तो एक सामर्थ्यवान शक्ति थी। उसमे आकाश-पाताल को एक करने की क्षमता थी। तिस पर भी भवरे की सहायता से उसने पाताल का भेद पाकर नाना कठिनाइयो का सामना करते हुए वटवृक्ष को प्राप्त किया।

डॉ० सहल ने भी राजस्थानी साहित्य के लिए ठीक यही साधना की है। यद्यपि इनके पास ऐसी कोई देवी-शक्ति नही थी जो कालिका के पास थी परन्तु अनवरत कार्यरत साधना-भक्ति से उनमे स्वतः ही कालिका-शक्ति उत्प्रेरित हो गई।

फलस्वरूप राजस्थानी के, मुख्यतः कहावती क्षेत्र मे उनकी जो देन रही, वह सदैव के लिए अविस्मरणीय बन गई । मृत्युलोक के एक साधारण मानव होकर सहलजी ने लोकमानसीय अंतस की पाताल-परतों का पेंदा-पेंदा रोदकर कहावती-मंजी की बूंद-बूंद छानी है और मानस-मधुमक्खी बन उस बूंद-बिंदु से विशाल सिंधु-छत्ता तैयार किया है ।

लोकमन की प्रत्येक धड़कन से कहावतें सुनी हैं सहलजी ने, और उन कहावतो के परिप्रेक्ष्य मे लोकजीवन के सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि जितने भी पक्ष-पहलू हो सकते हैं, उन सभी का अपनी पैनी दृष्टि से प्रत्यालोचन किया है । राजस्थानी धरती का कोई कोना और कोई करण संभवतः अछूता नहीं रहा है । उनकी कहावती मटकी मे अंधेरी कोठी का वह दही भी बिलोड़ित हुआ है जहा सूर्य की किरणें तो नही पहुँच पाई किन्तु सहलजी के शोध-चक्षुओ ने अवश्य ही अपना प्रकाश फेंका है ।

बडल्ये हींदवे की तुलना मे जब मैं उनके इस कहावती बडल्ये को देखता हूँ तो मुझे यह हींदवा कही अधिक गुणात्मक प्रतीत होता है । वहां नौ लाख देवियां क्रीडा करती हैं; यहा लोक-जीवन की शताब्दियों की पारंपरिक रंगीन संस्कृतियां अपने पूर्वजों की प्रत्येक धड़कन को, उनके प्रत्येक कहकहे को अमरत्व प्रदान करती हैं।

केवल कहावतें ही नही, गाथा, कथा, कहानी, उपाख्यान, प्रवाद आदि मे भी उनका आजीवन व्रती कर्म उतना ही सफलीभूत हुआ है । क्या नहीं किया है उन्होंने ? अपनी मातृभाषा के सबल, संवर्द्धन और संरक्षण मे वे तपे हैं, खपे हैं और इंच-इंच नपे हैं ।

'मरु-भारती' का यशस्वी संपादन एवं प्रकाशन राजस्थानी साहित्य को एक ऐसी देन कही जा सकती है जिसके माध्यम से राजस्थानी साहित्य की अतुलनीय श्रीवृद्धि हुई है । मुझे यह कहने मे कोई सकोच नही है कि इसका एक-एक पृष्ठ राजस्थानी साहित्य, संस्कृति एवं कला का एक-एक कलेजा है जिसकी सत्ता-उपादेयता को आने वाली युगीन संस्कृतियां अपने सुदृढ संस्कार के स्वस्तिमगल के रूप में गृहीत करेंगी ।

डॉ० सहल ने राजस्थान और उसके बाहर के कई लोगो को राजस्थानी शोध और सर्वेक्षण की आंख और पांख दी है । कई शोधकर्मी तथा स्वतंत्र लेखनधर्मी उनसे प्रेरणा प्राप्त कर अपने शोध-सृजन में आगे बढे और मरु-भारती के कीर्ति-कलश को अपने साधकरत्नो से पूरा है ।

इस अवसर पर मैं ऐसे तपस्वी, मनस्वी, मनीषीचूड़ामणि के दीर्घजीवी होने की कामना करता हूं ।

•••

राजस्थानी लोक-कथाओं के मूल अभिप्राय और डॉ० सहल की वैज्ञानिक भूमिका

• डॉ० भगवतीलाल शर्मा

विद्वद्वर्य डॉ० कन्हैयालाल सहल का राजस्थान और राजस्थानी के सृजन एवं शोध-क्षेत्र में अत्यन्त समादृत और सुप्रतिष्ठित व्यक्तित्व है। विशेषकर राजस्थानी कहावतों और कथानक-रूढ़ियों के अनुशीलन एवं शोध-पक्ष में तो श्री कन्हैयालाल सहल ही शीर्षस्थ हैं।

राजस्थानी लोक-कथाओं के मूल-अभिप्राय से सम्बद्ध डॉ० सहल का लेखन अत्यन्त विवेचना-पूर्ण, विस्तृत, सार-गर्भित और स्तुत्य रहा है। इस विषय पर राजस्थानी में उन्होंने प्रथम बार लेखनी उठायी है और अपनी वैज्ञानिक दृष्टि से इस विषय पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। उनका एतद्विषयक उपलब्ध साहित्य द्वि-वर्गीय है—

अ : निबन्ध-रूप,

आ : पुस्तक-रूप।

(अ) निबन्ध-रूप :

राजस्थानी की लिखित-मौखिक कथा-आख्यायिकाओं के अनेक मूल अभिप्रायों को लेकर डॉ० सहल ने विभिन्न शोध-पत्र-पत्रिकाओं में शोध-निबन्ध लिखे हैं। आपके कतिपय महत्वपूर्ण शोध-निबन्धों की संकेतिका इस प्रकार है—

		वर्ष अंक
१. लोक-कथाओं की एक प्ररूढ़ि–जादू की डोरी	: परम्परा	: २।६-७
२. लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय–	: मरुभारती	: ६।२
३. लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय–	: मरुभारती	: ६।४
४. लोक-गाथाओं का एक मूल अभिप्राय– शरीफ चोर	: मरुभारती	: ७।२
५. लोक-गाथाओं का एक मूल अभिप्राय– सांकेतिक भाषा	: मरुभारती	: ७।३
६. लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय– लौटने की प्रतिज्ञा	: मरुभारती	: ८।१
७. लोक-कथाओं के दो मूल अभिप्राय–	: मरुभारती	: ८।२
८. लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय–	: मरुभारती	: ६।१
९. लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय– हास्य और रोदन	: मरुभारती	: १०।१
१०. लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय–	: मरुभारती	: १०।३
११. लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय–होड़	: वरदा	: १।१
१२. लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय–मृत्यु-पत्र	: वरदा	: १।४
१३. लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय–नाम-संयोग	: वरदा	: ३।१
१४. लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय– लिंग-परिवर्तन	: वरदा	: ३।४
१५. लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय– मात्सर्य की लीला	: वरदा	: ४।१ [1]
१६. लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय– भाई का ताना	: वरदा	: ५।२
१७. लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय– भौजाई का ताना	: वरदा	: ५।२
१८. लोक-कथाओं की एक प्ररूढ़ि–दृष्टि-गर्भ	: वरदा	: ५।४
१९. राजस्थानी लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय लाखीणो दूहो	: वरदा	: ६।१
२०. लोक-कथाओं की एक प्ररूढ़ि–रूप परिवर्तन और उसके प्रकार	: शोध-पत्रिका	: १३।३

[1] लोक-कथाओं का एक मूल-अभिप्राय–'मात्सर्य की लीला' राष्ट्रभारती, वर्ष ११ अंक ६ में भी प्रकाशित हुआ है।

मैंने यत्र-तत्र स्वतन्त्र नामकरण भी किया है।"[1] यह तथ्य इस संकलन की विशिष्टता है।

(ग) लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ :[2]

'लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ' नामक पुस्तक डॉ० सहल का तृतीय गौरव-प्रयास है। प्रस्तुत पुस्तक मे अनेक प्ररूढ़ियों का सोदाहरण विवेचन किया गया है जिनका क्रम इस प्रकार है—सत्य-क्रिया और उसकी परम्परा, श्रीमद्देवीभागवत और सत्य-क्रिया, लौटने की प्रतिज्ञा, जादू की डोरी, मात्सर्य की लीला, हंस-कुमारी, स्वर्गीय-बाला, लिंग-परिवर्तन, रूप-परिवर्तन, शरीफ-चोर, कृतघ्न-जीव, नाम-संयोग, सांकेतिक-भाषा तथा होड अथवा डांडामेडी। इस कृति के लिए अपनी ओर से कुछ न लिखकर डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्द उद्‌धृत करना चाहूँगा। विश्व-विश्रुत भारतीय विद्वान् श्री अग्रवाल ने इसकी भूमिका मे डॉ० सहल की इस उपलब्धि के लिए सत्य ही लिखा है कि श्री कन्हैयालालजी सहल लोक-साहित्य और वार्ता-शास्त्र के मनीषी विद्वान् है।··· ····सहल जी ने प्रस्तुत पुस्तक मे राजस्थानीय लोक-कथाओं मे अन्तर्निहित इसी प्रकार के कुछ मूल-अभिप्रायों पर विचार किया है। उनका यह विश्लेषण मौलिक और मूल्यवान् है।[3] स्व० राहुल सांकृत्यायन की इससे सम्बद्ध बहुमूल्य सम्मति भी यहाँ प्रस्तुत करने का लोभ-संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। प्रकाण्ड पंडित राहुल सांकृत्यायन ने इसकी सफलता के लिए साधुवाद देते हुए लिखा है कि यह बहुत अच्छी पुस्तक है। लोक-कथाओं के बारे में वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाली ऐसी साफ पुस्तक मैंने हिन्दी मे नहीं देखी।·········पिसे-पिसे रास्ते को छोडकर नई बातें भी हिन्दी को ही लानी होगी। यह देखकर प्रसन्नता हुई कि हिन्दी वाले अपने इस कर्तव्य को भूले नहीं है।[4]

(घ) लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु :[5]

डॉ० सहल की यह चतुर्थ पुस्तक साहित्य-संसार के सम्मुख आई है। इसमें अनुशीलित मूल-अभिप्रायों का अनुक्रम इस प्रकार है—गर्भ-संहिता और सत्य-क्रिया, हास्य और रोदन, हँसना, हास्य, होणी होय सो होय, परिशिष्ट-पर्वन् और भाग्य-

---

[1] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल-अभिप्राय का 'निवेदन'।

[2] प्रकाशक—रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा : प्रथम आवृत्ति, सन् १९६१।

[3] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : भूमिका : पृ० ५।

[4] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : सम्मतियाँ : पृ० क (अन्त में)।

[5] प्रकाशक—किताब महल (प्रा०) लिमिटेड, इलाहाबाद : प्रथम संस्करण, सन् १९६५।

पत्र, सासीएा दूहो, भौजाई का ताना, दृष्टि-गर्भ, रूप-परिवर्तन और उसके प्रकार, रूप-परिवर्तन, श्री दुर्गासप्तशती में मूल अभिप्रायः सृष्टिकर्त्ता के शत्रु, चौबोली की एक उपकथा का बर्मी रूपान्तर, शरणागत-रक्षा, विवाहार्थियो का नाग-पाश, मूसल की कथा के कतिपय रूपान्तर, कुमारिल भट्ट और सत्य-किया बनाम असत्य-किया, लौटने की प्रतिज्ञा, मुझे करके दिखाओ, मैं अभी करके दिखाता हूँ एवं राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय (असम्भव, चतुराई, वाक्-छल, मूर्खता, खण्डन-मण्डन)। यह ग्रन्थ भी पूर्व-परम्परा का यथेष्ट निर्वाह करता है एवं विषय-विश्लेषण में परिपक्व चिन्तन लिये हुए है।

लोक-साहित्य-मनीषी डॉ० सहल के कथानक-रूढ़िविषयक कृतित्व का परिचय प्राप्त करने के उपरान्त अब उनकी तत्सम्बद्ध उपलब्धि और योगदान के मूल्यांकन का प्रयास समीचीन होगा।

दृष्टिकोण :

मरुभारती-भंडार लोक-कथाओं की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। इनके मर्म का उद्घाटन और मूल का स्पर्श इनमें विद्यमान प्ररूढ़ियों के सम्यक् अनुशीलन से ही सभव है। स्वयं डॉ० सहल की मान्यता है कि जब तक कथाओं के रूढ़-तन्तुओं का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जाय, तब तक लोक-कथाओं का रहस्योद्घाटन अथवा उनका सम्यक् विश्लेषण सभव नहीं।[1] इसे सभव बनाने के लिए अपने कर्मठ हाथों में बीड़ा उठाने का श्रेय श्री सहल को ही है।

नामकरण :

हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में Motif का अध्ययन अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। Motif के पर्याय रूप में अभिप्राय, कथा-रूढ़ि, कथानक-रूढ़ि, कथा-परिधान, कथा-रूप, मूल-भाव, मूल-अभिप्राय, प्रतीक, प्रयुक्ति, प्रयोजन आदि नाम व्यवहृत हुए हैं। डॉ० सहल ने सर्वप्रथम इन विभिन्न नाम-प्रयोगों में एकरूपता और स्थिरता लाने की दृष्टि से 'प्ररूढ़ि' शब्द को ही अधिक उपयुक्त ठहराया है। आपका विचार है कि Motif के लिये 'प्ररूढ़ि' शब्द अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त है क्योंकि इस शब्द के द्वारा रूढ़ि और कथांकुर दोनों का एक साथ बोध होता है।[2] ····आवृत्ति के साथ-साथ मूल-अभिप्राय में कथा को गति देने की शक्ति भी पाई जाती है। 'प्ररूढ़ि' शब्द में आवृत्ति और गति दोनों का भाव एक साथ पाया जाता है।[3]···· Motif के लिए प्ररूढ़ि शब्द

---

[1] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु : आमुख : पृ० ३-४।

[2] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल-अभिप्राय का 'निवेदन'।

[3] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ ; उपक्रम : पृ० ६-१०।

अधिक उपयुक्त है, और यही शब्द प्रकृष्ट-रूढ़ि तथा कथांकुर दोनों के अर्थ मे व्यवहृत होना चाहिए।[१]....प्ररूढ़ि शब्द का प्रयोग मैंने ही जान-बूझकर प्रारम्भ किया था क्योंकि इस शब्द मे रूढ़ि तथा प्रगति दोनों का एकत्र समाहार हो जाता है।[२] मेरी विनम्र दृष्टि मे Motif के लिए प्ररूढ़ि शब्द सर्वथा उपयुक्त है।

प्रयोजन-संकेत :

प्ररूढ़ियो के प्रयोग का प्रयोजन है कथा को सरस एवं रोचक बनाना, उसे प्रवाह एवं गतिशीलता प्रदान करना, कथा को अभिलषित मोड़ देना और अभीप्सित प्रभावोत्पादन करना तथा कथा मे संकेत से ही अधिक कह देना आदि। ये प्रयोजन विशिष्ट कथानक-रूढ़ि के प्रयोग-विशेष से ही सिद्ध होते हैं। श्री सहल ने जिन विशेष प्ररूढियों को अपने अध्ययन-अनुशीलन के लिए चुना है, उसमें यथा-प्रसंग इन प्ररूढ़ियों द्वारा कथा-कलेवर पर पडने वाले प्रभावविशेष का भी संक्षिप्त सकेत किया है। 'असम्भव' मूल-भाव के लिए आपका कथन है कि यह मूल-भाव लोक-कथाकार के हाथ मे एक ऐसा अस्त्र है, एक ऐसा राम-बाण है जो प्रभावकता की दृष्टि से अचूक कहा जायगा। इस मूल-भाव को लेकर कथा जिस तरह आगे बढ़ती है, उसमे एक प्रकार का नाटकीय व्यंग्य Dramatic Irony भी छिपा रहता है। असम्भव को सम्भव मानकर चलने वाले ही असम्भव की सम्भवता पर झुंझलाते है अथवा उसकी खिल्ली उडाते हैं। इससे बडा नाटकीय व्यंग्य और क्या होगा?[३] अन्य उद्धरण भी अप्रासगिक न होगे—"लोक-कथाओ के रचना-शिल्प की दृष्टि से सत्य-क्रिया नामक मूल अभिप्राय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[४]....गति ही क्यो, कथा की परिणति मे भी अनेक बार मूल अभिप्राय (जादू की डोरी) का हाथ रहता है।[५]....इस मूल अभिप्राय (नाम-सयोग) को लेकर कही गई लोक-कथाओ का उद्देश्य शिक्षा देना उतना नहीं, जितना हमारी मनोरजनी वृत्ति का परितोष करना तथा विधि के विधान की प्रबलता दिखलाना है।[६].... (हास्य और रोदन मूल-अभिप्राय मे) हास्य और रोदन, दोनो के एकत्र समाहार से केवल दु:ख तथा सहानुभूति ही जागृत नही होती, किन्तु इन दोनो मनोवेगों के विरोधाभास के कारण उत्सुकता, जिज्ञासा और रहस्य की भी

---

[१] लोक-कथाओ की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० ६४।
[२] लोक-कथाओ के कुछ रूढ-तन्तु : आमुख : पृ० ३।
[३] नटो तो कहो मत : पृ० ८।
[४] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढियाँ : पृ० २।
[५] लोक-कथाओ की कुछ प्ररूढियाँ : पृ० ६४।
[६] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० १३२।

आश्चर्यजनक सृष्टि देखने को मिलती है।[1] लोक-कथाग्रो में 'रूप-परिवर्तन' नामक प्ररूढ़ि अत्यन्त व्यापक है। इसके प्रयोग द्वारा कथानक में अलौकिकता, रहस्यात्मकता, मनोरंजन तथा गति एवं त्वरा का विचित्र समावेश देखा जाता है।[2]

तुलनात्मक अध्ययन :

आचार्य सहल ने अपनी कृतियों में विवेचनार्थ जिन मूल-अभिप्रायों को लिया है, वे अध्ययन की गहराई और व्यापकता के कारण अत्यन्त समृद्ध और सपुष्ट होकर हमारे समक्ष आये हैं। तुलनात्मक अध्ययन के दृष्टिकोण से तो श्री सहल का यह कार्य अद्वितीय ही है। 'सत्य-क्रिया और उसकी परम्परा' में ऋग्वेद, महाभारत, रामायण, कथा-सरित्सागर, रघुवंश, दिव्यावदान, रामचरितमानस एवं राजस्थानी कथा-कोश में उदाहरण लेकर 'सत्य-क्रिया' नामक प्ररूढ़ि की परम्परा प्रकट की गई है।[3] 'लौटने की प्रतिज्ञा' नामक प्ररूढ़ि के विशद अध्ययनार्थ पद्म-पुराण, स्कन्द-पुराण, कथा-सरित्सागर, राजस्थानी हरजस एवं गवतरी माँ की कथा, गुजराती लोक-गीत, कोंकणी लोकगीत, कन्नड भाषा का प्रसिद्ध लोकगीत (पण्यकोटि गो), बिहार के देहातों में प्रचलित 'बेहुला गो' लोकगीत आदि के दृष्टान्त एक साथ रखे गये हैं।[4] 'जादू की डोरी' के लिए कथा-सरित्सागर, उत्तम चरित कथानक और राजस्थानी चौबोली की कथा के साथ-साथ काश्मीरी लोक-कथा प्रस्तुत की गयी है[5] तो 'मात्सर्य की लीला' के लिए हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्वन् से तथा बाइबिल से कथा खोजी गयी है।[6] 'लिंग-परिवर्तन' के लिए भारतीय साहित्य के साथ-साथ अरेबियन नाइट्स और ग्रीस के पुराख्यानों से उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।[7] 'असम्भव' मूल-अभिप्राय में तुलनात्मक अध्ययन के लिए आसाम और बिहारी लोक-कथा उपस्थित है[8] तो 'वाक्-छल' में शेक्सपियर के 'वेनिस का सौदागर'।[9] 'नाम-सयोग' प्ररूढ़ि को स्पष्ट करने के लिए राजस्थानी, गुजराती, बुन्देलखण्डी, बंगाली, सथाली

---

[1] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ११।
[2] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ८६-९०।
[3] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० १-१८।
[4] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० २७ से ५५।
[5] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० ५६ से ६४।
[6] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० ६५-७०।
[7] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० ८६-९६।
[8] नटो तो कहो मत : पृ० १-१३।
[9] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल-अभिप्राय : पृ० ५८।

आदि से दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं,[1] तो उधर चीनी की एक उपकथा का बर्मी रूपान्तर तक खोज निकाला गया है।[2] वस्तुतः सहल द्वारा विवेचित हर प्ररूढ़ि एक-न-एक उदाहरण से संपुष्ट है जो आपके विस्तृत अनुशीलन का परिचायक और उद्घोषक है।

मूलाधार, स्वरूप-निर्धारण एवं प्रभाव :

डॉ० सहल द्वारा प्रस्तुत इस विशद उद्धरण-बहुल अध्ययन के मध्य में हमें मूल-अभिप्रायों के स्वरूप-धारण और मूलाधार के विषय में भी बहुमूल्य सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। मूल-अभिप्रायों के स्वरूप-धारण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में डॉ० सहल ने इंगित किया है कि परम्परागत लोक-कथाओं में बार-बार आवृत होने वाले अत्यन्त सरल प्रत्यय (Concept) मूल-अभिप्रायों का रूप-धारण कर लेते हैं। ... तथापि यह ध्यान देने योग्य है कि परम्परा का वास्तविक अंग बनने की क्षमता तभी उत्पन्न होती है जब कोई कथांश ऐसा हो जिसे लोग स्मरणीय समझें और जिसकी बार-बार आवृत्ति करना चाहें। शुष्क सर्व-सामान्यता की अपेक्षा इसमें कुछ अपना वैशिष्ट्य होना चाहिए। केवल माता मूल-अभिप्राय का रूप धारण नहीं करती; हाँ एक निष्ठुर माता अपने असाधारणत्व के कारण अवश्य मूल अभिप्राय के रूप में प्रयुक्त हो सकती है। जीवन की सर्वसामान्य प्रक्रियाएँ मूल अभिप्राय के रूप में परिणत नहीं हो पातीं।[3] मूल अभिप्रायों के उद्भव में हमारे सामान्य विश्वास, व्यावहारिक जीवन, तत्त्व-दर्शन, मनोविज्ञान आदि का भी प्रचुर सहयोग रहता है। श्री सहल ने हमें बतलाया है कि मनुष्य के प्राण शरीर से बाहर भी रह सकते हैं—इस विश्वास ने 'प्राण-प्रतीक' अभिप्राय को जन्म दिया है।[4] 'होणी होय सो होय' अथवा भवितव्यता की भावना हमारे व्यावहारिक जीवन का अंग होने के कारण ही प्ररूढ़ि बनी है।[5] इस पर दैववाद और कर्मवाद का स्पष्ट प्रभाव है।[6] 'रूप-परिवर्तन'[7] और 'सृष्टिकर्त्ता के शत्रु'[8] नामक अभिप्राय तत्त्व-दर्शन एवं मनोविज्ञान की उपज है। 'परकाया-प्रवेश' हमारे योग-दर्शन का सिद्धान्त है और उसका प्रवेश

---

[1] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० १२२-१३२।

[2] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० १०८।

[3] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० १८-१९।

[4] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल-अभिप्राय : पृ० १।

[5] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ३८।

[6] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ४७।

[7] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ९३।

[8] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० १०७।

यदि हमारी लोक-कथाओं में हो गया हो तो इसमें किसी प्रकार के आश्चर्य की बात नहीं। ……राजस्थान के जन-जीवन पर नाथ-पंथ का प्रभाव इसका एक कारण हो सकता है।[1]

उद्भव :

इन मूल-अभिप्रायों के अत्यन्त प्राचीन प्रयोग का श्रेय भारतीय कथा-आख्यायिका साहित्य को ही है—ऐसा डॉ० सहल का अभिमत है। " 'हंस कुमारी' नामक प्ररूढ़ि (Motif) को जन्म देने का श्रेय भारतवर्ष को प्राप्त है। भारत के प्राचीनतम वैदिक और पौराणिक साहित्य में इस प्ररूढ़ि के सम्पूर्ण सूत्र उपलब्ध हो जाते हैं।"[2] 'असम्भव' अभिप्राय का 'जातक' और 'पंचतंत्र' में प्रयोग द्रष्टव्य है[3] तो 'उपश्रवण' में छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में उपलब्ध राजा जानश्रुति और रैक्व के उपाख्यान की गूँज।[4]

प्रयोग :

लोक और शास्त्र के परस्पर आदान-प्रदान की चर्चा भी डॉ० सहल ने यथा-प्रसंग की है। 'सांकेतिक-भाषा' के प्रयोग को दृष्टान्तस्वरूप प्रस्तुत करते हुए श्री सहल ने लिखा है कि यह मूल-अभिप्राय कितना प्राचीन है, इसके सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप में कुछ कह सकना मुश्किल है किन्तु यह निश्चित है कि लोक-कथाकारों के अतिरिक्त बड़े-बड़े कवि भी इस मूल-अभिप्राय का प्रयोग करते रहे हैं।[5] तत्पश्चात् आपने सूर, तुलसी और आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध प्रयोगवादी डॉ० धर्मवीर भारती की कविता के उद्धरण दिये हैं।[6]

परस्पर वैधर्म्य :

कतिपय मूल अभिप्राय अपने प्रकट स्वरूप में तो समान लगते हैं परन्तु अन्तर्दृष्टि में भिन्नता के सर्जक। आचार्य सहल ने अपने गहन और सूक्ष्म अध्ययन में ऐसी प्ररूढ़ियों के परस्पर भेद एवं अन्तर को भी स्पष्ट किया है। श्री श्यामाचरण दुबे ने यथार्थ ही कहा है कि कथाएँ प्रकाश की किरणों के समान होती हैं जो सदा

---

[1] नटो तो कहो मत : पृ० ४० एवं ४४।
[2] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ ७७।
[3] नटो तो कहो मत : पृ० २।
[4] नटो तो कहो मत : पृ० ३१।
[5] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ६१।
[6] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ६१-६२।

उसी माध्यम का रंग ग्रहण कर लेती है जिनमे से होकर वे गुजरती हैं।[1] 'नटो तो कहो मत' और 'उपश्रवण' अभिप्रायो की तुलना मे श्री सहल ने लिखा है कि "समानता होते हुए भी दोनो अभिप्राय परस्पर भिन्न हैं। 'उपश्रवण' नामक मूल अभिप्राय मे अनागत विपत्तियो की चेतावनी देना जहाँ कथाकार का मुख्य लक्ष्य है, वहाँ इस अभिप्राय (नटो तो कहो मत) मे जीव-जन्तुओं की बोली समझने पर विशेष बल दिया जाता है।"[2] इसी तरह की टिप्पणियाँ 'मौन-धारण और मौन-भंग', 'प्राण-प्रतीक' तथा 'मृत्यु-पत्र' आदि अभिप्रायो के विवेचन मे भी विद्यमान है।[3] एक ही मूल-अभिप्राय के दूसरे अनेक रूपो की चर्चा भी सोदाहरण विवेचित है। इस सम्बन्ध में 'प्रतिध्वनि-शब्द' प्ररूढ़ि का 'एक वह रूप भी उपलब्ध होता है जिसमें शब्द ध्वन्यर्थव्यंजक (Onomatopoeic) न होकर सादृश्य (Analogy) के आधार पर बना हुआ होता है,[4] लोक-कथाओ में परकाया प्रवेश की सक्रिय और निष्क्रिय दो प्रकार की पद्धतियाँ दिखलाई पड़ती हैं;[5] आदि कथन विशेष उल्लेख्य हैं। 'चौबोली' और 'वैताल-पच्चीसी' के पारस्परिक वैभिन्य की ओर भी ऐसा ही ध्यान आकर्षित किया गया है।[6]

नामकरण :

इस पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन के उपरान्त श्री सहल ने अनेक अभिप्रायो के नवीन नामकरण की एवं प्रचलित अभिप्रायो के नाम-परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की है और यह मूल्यवान् कार्य किया भी है।[7] 'परकाया-प्रवेश' को राजस्थानी लोक-कथाओ के सन्दर्भ मे १५वी विद्या अथवा कायापलट[8] नाम और 'नटो तो कहो मत' को स्वतन्त्र अभिप्राय के रूप मे ग्रहण किया है।[9] रावण तथा जरासन्ध-वध के प्रसगो को आपने प्राणमय अंग (Vital part motif)[10] नाम दिया है तो शिखण्डी और यक्ष के परस्पर रूप के आदान-प्रदान को 'लिंग-

---

[1] राजस्थानी लोक-कथाओ के कुछ मूल अभिप्राय : पृ० ५२।
[2] नटो तो कहो मत : पृ० ५२।
[3] राजस्थानी लोक-कथाओ के कुछ मूल अभिप्राय : पृ० २२, ४२, ५२।
[4] नटो तो कहो मत : पृ० २७।
[5] नटो तो कहो मत : पृ० ४०।
[6] राजस्थानी लोक-कथाओ के कुछ मूल अभिप्राय : पृ० ४२।
[7] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय : निवेदन।
[8] नटो तो कहो मत : पृ० ४४।
[9] नटो तो कहो मत : पृ० ५२।
[10] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय : २२।

विनिमय'[1]। इसी प्रकार मृत्यु-पत्र[2], ड्रामेडी[3] तथा योनि-परिवर्तन[4] आदि नाम भी आप द्वारा निर्दिष्ट किये गए हैं। आपकी दृष्टि में "अभिज्ञान शाकुन्तल में प्रयुक्त मूल अभिप्राय को 'तांत्रिक-धागे' के स्थान में तांत्रिक-तावीज' कहना अधिक उपयुक्त है",[5] जो कुमारिल भट्ट के उपाख्यान में प्रयुक्त 'मरण-क्रिया' के विशेष स्वरूप को गम्य अथवा प्रच्छन्न नाम दिया जा सकता है।[6] आपके विचार से कुणाल-कथा में प्राप्त प्ररूढि को भी 'मृत्यु-पत्र' न कहकर 'भाग्य-पत्र' कहना चाहिए।[7] डॉ० सहल की ऐसी नवीन उद्भावनाएँ प्रशस्य हैं।

विशिष्ट भारतीय अभिप्राय :

डॉ० सहल द्वारा इस विशिष्ट शोध-सामग्री के प्रस्तुतीकरण का प्रभावशाली पक्ष है उन विशिष्ट भारतीय और राजस्थानी अभिप्रायों को प्रकाश में लाना जो परकीय कथा-साम्प्रदायिक साहित्य में अनुपलब्ध हैं। 'नटो तो कहो मत' प्ररूढि के प्रसंग में श्री सहल लिखते हैं कि "राजस्थानी कथाकार ने एक बात कही है जो अपने सम्पूर्ण रूप में अन्य उपलब्ध लोक-कथाओं में नहीं मिलती।"...."या तो इन्कार मत करना' यह शर्त राजस्थानी लोक-कथा के अतिरिक्त अन्य किसी लोक-कथा में नहीं है। अन्य बातें विवरण की दृष्टि से कुछ भिन्न भले हों किन्तु मूलत. एक हैं।"[8] वाक्-छल के नकारात्मक और सकारात्मक भेद भी राजस्थानी कथा-वैशिष्ट्य हैं।[9] 'दृष्टि-गर्भ' के लिए उल्लिखित राजस्थानी कहानी का डॉ० सहल की दृष्टि में विशेष महत्त्व है क्योंकि जीव-जन्तुओं के दृष्टि-सम्पर्क से गर्भाधान होने की कथाएँ विरल हैं।[10] 'शरणागत-रक्षा' अभिप्राय के सम्बन्ध में आपका कथन है कि "यह अभिप्राय भारत को छोड़कर विश्व की अन्य लोक-कथाओं में सम्भवत. नहीं पाया जाता। इससे यह भी स्पष्ट है किसी राष्ट्र अथवा जाति की विचार-धारा मूल-

---

[1] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढियाँ : पृ० ६१।

[2] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय : पृ० ५६-५७।

[3] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढियाँ : पृ० १४०।

[4] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढियाँ : पृ० ६१।

[5] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ११५।

[6] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० १६२।

[7] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ५३।

[8] नटो तो कहो मत : पृ० ५१-५२।

[9] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय : पृ० ६१।

[10] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ८५।

अभिप्राय की उद्भावना में सहायक होती है।"[1] 'लाखीणो-दूहो' भी ऐसा ही मुख्यतः विशिष्ट राजस्थानी अभिप्राय है।[2]

निष्क्रिय अभिप्राय :

निष्क्रिय अभिप्राय और एक ही अभिप्राय की कथाएं देकर लब्ध-प्रतिष्ठ शोधक श्री सहल ने इस विषय का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादित किया है। 'लाखीणो-दूहो' अभिप्राय के प्रसंग में उद्धृत लोक-कथा में "'विभूति द्वारा पुत्र जन्म' को 'निष्क्रिय मूल-अभिप्राय' (Passive Motif) के रूप में ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि कथा की गति-विधि, कार्य-व्यापार एवं कार्य-संकलन (Unity of Action) की दृष्टि से इसकी कोई सार्थकता नहीं जान पड़ती।[3] एक ही अभिप्राय की कथाओं के लिए[4] डॉ० सहल ने उन विशेष राजस्थानी कथाओं यथा 'उपश्रवण' के लिए 'साहूकार की बेटी'[5] एवं मात्सर्य की लीला[6] आदि को भी प्रस्तुत किया है जिनकी भंगिमा निराली है।

परिभाषा एवं निष्कर्ष :

आपके विवेचन की यह विशेषता भी द्रष्टव्य है कि हर प्ररूढि को सर्वप्रथम आपने सुसंगत परिभाषा-बद्ध किया है और तत्पश्चात् विस्तृत चर्चा करके प्ररूढि-विशेष से सम्बद्ध सयुक्तिक सामान्य निष्कर्षों की स्थापना की है। इसके लिए विशेष रूप से सत्य-क्रिया, मृत्यु-पत्र, हंस-कुमारी, लिंग-परिवर्तन, शरीफ-चोर, नाम-संयोग, सांकेतिक-भाषा, होड़ आदि निबन्ध उल्लेखनीय हैं।

शैली :

विवेच्य विषय की प्रौढ़ता और प्रभावोत्पादकता में श्री सहल की शैली का भी विशेष हाथ रहा है। आपने सर्वबोध्य सुगम शैली में इस तरह सुव्यवस्थित विषय-प्रतिपादन किया है कि पाठक सरसतापूर्वक विषय की व्यापकता का संग्रहण कर सकता है। परमत-खण्डन और स्वमत-समर्थन में अन्यान्य उद्धरणों को संयोजित

---

[1] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० १२६।

[2] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ७३।

[3] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ७२।

[4] ब्लूमफील्ड को ऐसी कथाओं की विद्यमानता अमान्य थी।—नटो तो कहो मत : पृ० ३३-३४।

[5] नटो तो कहो मत : पृ० ३३-३४।

करके आपने पाण्डित्य का अनुत्साह ही अभिव्यक्त नहीं किया, बल्कि शुद्ध, परिमार्जित, सहज-सरल भाषा में विषय-प्रतिपादन अत्यन्त हृदय-ग्राह्य बन गया है। यत्र-तत्र शैली में व्यंग्य का सम्मिश्रण भी देखते ही बनता है। 'दृष्टि-गर्भ' मूल-अभिप्राय के प्रसंग में यह निरूपण 'शारीरिक सम्पर्क' न होते हुए भी नागराज और मानवी यहाँ पति-पत्नी के रूप में व्यवहृत हुए हैं। शारीरिक सम्पर्क-हीन नारी और पुरुष के प्रेम को 'प्लेटोनिक-प्रेम' के नाम से अभिहित किया जाता है किन्तु नाग और मानवी का यह प्रणय किस प्रकार के प्रेम के अन्तर्गत माना जायगा, सम्भवत फ्रायड के मतानुयायी मनोवैज्ञानिक इसकी व्याख्या कर सकें,'[1] कैसी मीठी चुटकी ली गई है!

'कहावतें और कन्हैयालाल सहल' का तो एक-अमिट संयोग बन गया है। इस विवेचन में भी अनेक स्थलों पर कहावतें[2] उद्धृत हुई हैं। अनेक कहावती दोहे भी श्री सहल की शैली की सम्पदा बनकर आये हैं—

> करता रै संग कीजिये, सुगर रै राजा-भोल।
> सोनैं रै घुण लागगो, तो छोरैं नैं लेगी चील ॥[3]
> संपत देख न हासिये, विपत देख मत रोय।
> जिण दीहाडे जिण घडी, होणी होय सो होय ॥[4]

अलंकार-कथन का चमत्कारपूर्ण ढंग ही है। कथन के वैचित्र्य से सम्बद्ध मूल अभिप्रायों में श्री सहल ने दोनों की परस्पर सम्बद्धता-असम्बद्धता भी बतलाई है—उदाहरणार्थ मौन-धारण एवं मौन-भंग में 'आक्षेप' अलंकार,[5] असम्भव में 'मिथ्या-ध्यवसिति',[6] नाम-संयोग में 'नामसमोच्चार'[7] और 'लाखीणो-दूहो' में 'क्रमालंकार'[8] आदि। तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई तत्त्व आपने नहीं छोड़ा जिससे अध्ययन पुष्ट नहीं बन पड़ा हो।

---

[1] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ८५।
[2] Hanging and wiving go by destiny, one may smile and smile and may be a villian, का प्रयोग लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु पुस्तक के पृ० १२ एवं ५४ पर क्रमशः देखा जा सकता है।
[3] नटो तो कहो मत : पृ० १।
[4] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ४६।
[5] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय : पृ० ४६।
[6] नटो तो कहो मत : पृ० ६।
[7] लोक-कथाओं की कुछ प्रवृत्तियाँ : पृ० १२६।
[8] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ७३।

प्रसिद्ध आख्यानविद्

• डॉ० श्रीराम शर्मा

एक लेखनी जिसका प्रारम्भिक परिचय तो एम० ए० परीक्षा के लिए अध्ययन करते समय 'कामायनी-दर्शन' एवं 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' के रूप मे ही हो गया था। किन्तु उसके बहुविध आयामो की सारस्वत यात्रा से आत्म-साक्षात्कार उस समय हुआ जब लोक-साहित्य विषय पर शोध-कार्य करने को अग्रसर हुआ। कहना न होगा कि इन पंक्तियो के लेखक को लोक-साहित्य का अध्ययन करने की सच्ची प्रेरणा सन्दर्भगत लेखनी के माध्यम से निःसृत विपुल साहित्य से ही मिली। शताधिक निबन्धो मे प्रस्फुटित वैचारिक शृंखलाओं से आधार ग्रहण कर अनेक शोधार्थियो ने नवीन दिशाओं मे शोध-कार्य किये हैं तथा अनेक शोधार्थी राजस्थान-भारती की गरिमा-वृद्धि करने वाले डॉ० सहल के शोध-प्रबन्ध को पथ-कृति के रूप मे रखकर कार्य कर रहे हैं। राष्ट्र-गिरा की झोली को अनेक कहावत-रत्नो से भरने का श्रेय तो इस सच्चे पृथिवीपुत्र को है ही, साथ ही सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास प्रकाशित कर इस सरस्वती-पुत्र ने इतिहास की अनेक लुप्त परम्पराओ को जीवित रखकर हमारे गरिमामय अतीत की रक्षा की है। इसी सांस्कृतिक इतिहास की अक्षुण्णता की ओर डॉ० सहल ने अपने विचार भी एक मार्मिक पत्र मे इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

"सांस्कृतिक इतिहास की सामग्री तो लोक-साहित्य मे ही सुरक्षित रहती है। संस्कृति के भग्नावशेषो के आधार पर, जो लोक-साहित्य मे छिपे पड़े रहते है, सांस्कृतिक इतिहास का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है।"[1]

---

१. जनसाहित्य (लोकसाहित्य विशेषाङ्क, अक्टूबर-नवम्बर १९६५) मे डॉ० सहल का 'लोकसाहित्य का महत्त्व' शीर्षक, निबन्ध पृ० १०४ प्रकाशक—भाषा विभाग हरियाणा सरकार, पटियाला १।

उन्होने लोक-साहित्य के क्षेत्र मे इस प्रकार की लोकसांस्कृतिक शृंखला की कडियो का उल्लेख मात्र ही नही किया है, अपितु सच्चे लेखनी के सिपाही की भांति इस दिशा मे स्तुत्य प्रयत्न भी किया है। राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवादो को राजस्थान के लोक-जीवन से चुन-चुन कर प्रकाशित कराने का भी श्रेय इस मनीषी को प्राप्त है। संस्कृति शब्द की परिधि को इतिहास के साथ सम्बद्ध करके देखने वाले लेखक विरल ही है, जिन्होने एक ओर तो विशद साहित्य का अध्ययन भी किया है और दूसरी ओर अपार संग्रह भी। लोक-संस्कृति तो लोक-साहित्य मे अभिव्यक्त होती ही है किन्तु अनेक ऐतिहासिक तथ्य भी समसामयिकता की प्रवृत्ति के कारण लोक-साहित्य में अनुस्यूत रहते हैं। लोक-संस्कृति के इन्ही तत्वों मे ऐतिहासिक कडियां भी जुडी रहती हैं। जन-श्रुतियों को विशिष्ट वैज्ञानिक आधार पर सत्य भले ही न माना जाय तथापि उनमे कुछ न कुछ सत्य का अंश अवश्य रहता है। डॉ० सहल ने ऐसी जन-श्रुतियो को 'प्रवाद' कह कर पुकारा है तथा उनकी सत्यता के सम्बन्ध मे भी प्रकाश डाला है—

"बढी हुई तोंद से जैसे यह अनुमान लगा लिया जाता है कि तोंदधारी को आराम मिला है, नदियो से जिस प्रकार नालो की सत्ता प्रकट हो जाती है, वर्षा से ही जैसे प्रकट हो जाता है कि गर्मी पड चुकी है, उसी प्रकार गीतों से इस बात का आभास मिलता है कि उनमे वर्णित घटनाएं घटित हो चुकी हैं।"[1]

वस्तुतः लोक-साहित्य मे जो भी ऐतिहासिक तथ्य प्रवर्तमान रहते हैं, उनके सम्बन्ध मे कुछ शंका करना उचित नही, क्योकि उसमे अतिशयोक्ति व मिथ्यात्व का समावेश किये जाने का कोई ध्येय ही नही हो सकता है। वीरवर पाबूजी राठौड़ के जीवन को प्रकाशित करने वाले प्रवादो को प्रस्तुत करके इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है। डॉ० सहल के ही शब्दों मे इस सांस्कृतिक इतिहास की परम्परा का उल्लेख किया गया है—

"राजस्थान का कौन ऐसा व्यक्ति है, जिसने वीरवर पाबू जी राठौड़ का नाम न सुना हो ? × × मा देवल चारणी के पास कालमी नामक एक प्रसिद्ध घोड़ी थी, जिसके गुणों मे आकर्षित होकर यह राठौड़ वीर उनके पास घोडी की याचना करने को पहुँच गया। देवल जी ने कहा कि यह घोडी तो उसी को दी जा सकती है, जो मेरी गाएँ घिरने पर उनकी रक्षा के लिए अपने प्राण देने के लिए तैयार हो। यह सुनते ही पाबू जी ने भीष्म प्रतिज्ञा की। उसको कवि के मार्मिक शब्दो मे सुनिए—

---

१. डॉ० सहल, राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद, भूमिका पृष्ठ ११, प्रथम संस्करण २००२ वि०।

पानी पवन प्रमाण, धर अंबर हिन्दू धरम।
सब मोड़ धापल प्राण, सिर देस्या गाया सटे ॥[1]

इसी प्रतिज्ञा को वीरवर पाबू जी ने साकार कर दिया था, अपने विवाह के अवसर पर, जब वे देवल जी की गायों के घिरने का समाचार पाते हैं तो राजकन्या का हाथ छोड़ कर कालमी घोड़ी पर सवार होकर चल देते हैं। इस ऐतिहासिक घटना और उस वीर नरसिंह की गाथा को अमर बनाने का श्रेय नीचे लिखे प्रवाद को ही है—

नेह निज रीझ री बात चित ना धरी, प्रेम गावरी तणो नाहिं पायो।
राजकँवरी जिका चढ़ी चँवरी रही, आप भँवरी तणी पीठ आयो॥[2]

इसी प्रकार के शताधिक प्रवादों में सन्निहित अनेक ऐतिहासिक घटनाओं को डॉ० सहल ने प्रकाशित किया और इसी प्रकार सांस्कृतिक इतिहास-लेखकों की एक पुष्ट परम्परा का शिलान्यास कर एक ऐसी अभिनव दिशा का निर्देश किया है कि लोक-साहित्य द्वारा एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह किये जाने की पृष्ठभूमि का साधार प्रणयन हो गया है। इसी प्रकार समस्त प्रदेशों के लोक-साहित्य में छिपे ऐतिहासिक तत्त्वों को एकत्र करके भारतवर्ष के समस्त जनपदों के सांस्कृतिक इतिहास लिखे जायँ तो डॉ० सहल द्वारा निर्दिष्ट मार्ग को अधिक पुष्ट करके लोक-साहित्य के अध्ययन में एक नया अध्याय जोड़ा जा सकता है।

इसी क्रम में डॉ० सहल द्वारा एक अन्य प्रवाद का उल्लेख किया गया है, जिसमें सल्ला नामक पठान के द्वारा 'टोडा' छीने जाने की घटना के उपरान्त महाराणा रायमल्ल जी के ज्येष्ठ पुत्र पृथ्वीराज के प्रताप की एक अत्यन्त स्वभावोक्ति का रहस्योद्घाटन हुआ है—

भाग लल्ला! पृथ्वीराज आयो।
सिंह के साथरे स्याल ध्यायो॥[3]

इस प्रवाद में पृथ्वीराज को सिंह कहते हुए 'टोडा' जैसे प्रदेश को उस शेर की माद बताया गया है जहाँ पर सल्ला जैसे गीदड़ों का निर्वाह अत्यन्त असम्भव ही हो गया होगा। लोक-जीवन के शेर और गीदड़ जैसे प्रतीकों को ग्रहण करके लोक-कवि की प्राचीन ऐतिहासिक घटना की परिकल्पना को जिस प्रकार प्रस्तुत प्रवाद में सँजोया गया है, उसको प्रकाशित कर डॉ० सहल ने लोक-साहित्य के ऐतिहासिक महत्त्व का प्रति-

१. राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद, पृ० ८।
२. वही, पृ० ६।
३. राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद पृ० १३।

पादन कर दिया है। इसी प्रकार के प्रवादों में समाविष्ट ऐतिहासिक परम्पराओं के साथ विद्वान् लेखक ने राजस्थान के सांस्कृतिक इतिहास का जो गौरवमय चित्रांकन किया है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाए, उतनी ही थोड़ी है। राजस्थान के विभिन्न राज्यों जैसे बीकानेर, जयपुर, जोधपुर, अमरकोट, उदयपुर, नागौर, जैतसी, मोडसी, मारवाड़, खण्डेले के मन्दिर, उज्जैन, फतेहाबाद, सिवाना (मारवाड़) मनोहरपुर, शाहपुरा, उमादे, जैसलमेर, सिंध, धारा नगरी, गोड़वाड़, पाली, जूनागढ़ के विभिन्न राजराजाओं की विभिन्न घटनाओं को व्यक्त करने वाले विभिन्न प्रवादों को एकत्र करके डॉ० सहल ने राजस्थान के वीर राजाओं की दानशीलता, मातृभूमि-प्रेम, गौरक्षा, देशरक्षा करते-करते प्राणोत्सर्ग जैसे प्रधान गुणों को व्यक्त करने वाली विशिष्ट परम्पराओं का लोक साहित्य में दर्शन किया है। यह कार्य लोक-साहित्य के महत्व का प्रतिपादन करता है। इसका श्रेय जाता है डॉ० सहल को।

वैज्ञानिक इतिहास-लेखक को भी अनेक बार मौखिक परम्परा से चली आने वाली अनुश्रुतियों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। लोक-साहित्य की सम्पत्ति अर्थात् अनुश्रुतियों में जो भी कल्पना-तत्व होता है, उसमें गहरे पैठ कर सत्य-भाग को खोज निकालना वैज्ञानिक इतिहासकार का दायित्व होता है। इस यत्किंचित् अविश्वासावस्था के लिए लोक-साहित्यकार को दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि वह तो अपनी रचना में लालित्य एवं रोचकता की संयोजना-हेतु कल्पना का सम्मिश्रण कर देता है।

डॉ० सहल ने लोक-साहित्य के अन्तर्गत आने वाली इन अनुश्रुतियों में समाविष्ट इतिहास के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

"अनुश्रुतियों में सत्य और कल्पना का बड़ा जटिल सम्मिश्रण मिलता है। तथ्यान्वेषण करने वाला इतिहासकार अनेक प्रकार के साधक और बाधक प्रमाणों से कपोल-कल्पना में से सत्य को पृथक् करने का प्रयत्न करता है। इससे यह स्पष्ट है कि अनुश्रुतियाँ इतिहास के लिए अमूल्य सामग्री तो अवश्य प्रस्तुत करती हैं किन्तु वे जिस रूप में हमें मिलती हैं, उसे सर्वांश में ऐतिहासिक तथ्य मानने की भूल न करनी चाहिए।

राजस्थान में ऐसे असंख्य ऐतिहासिक उपाख्यान प्रचलित हैं, जिनका सम्बन्ध अनुश्रुतियों से है। इन उपाख्यानों से यहाँ के सांस्कृतिक आदर्शों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।"[1]

---

१. डॉ० सहल, राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान पृ० ४ (भूमिका भाग) अक्टूबर १९४० प्रकाशक—स्वयं लेखक।

पाट अचल मेवाड़पति, रघुवंशी राजान ।
बापा-रावर-गढ़ ग्रहत, गिरि चीतौड़ सुथान ॥[१]

यहाँ मौर्य-वंशाधिपति चित्रांगद के द्वारा इस गढ़ के निर्माण कराये जाने की ऐतिहासिक सूचना को प्रस्तुत किया गया है । बापा रावल ने मौर्य वंश के अन्तिम नृपति मानमोरी से यह किला छीन लिया था । ऐसे तथ्य भी प्रस्तुत दूहों से प्राप्त हो जाते हैं ।

इसी प्रकार की अनेक सूचनाएँ ऐतिहासिक तथ्यों को पुष्ट करती हैं । उसकी विशेषता यह है कि लोक-जीवन में मौखिक परम्परा से प्राप्त लोक-साहित्य में से ऐसे तत्वों को छान-छान कर खोजा गया है, जिसमें लोक-संस्कृति का स्वरूप भी अनायास ही चित्रित हो गया है ।

डॉ० सहल की लोक-साहित्य के क्षेत्र में अनेक दिशाओं में अनूठी देन है । लोक-साहित्य, लोक-वार्ता, लोक-संस्कृति की अनेक गूढ़ समस्याओं का आपने समाधान किया है और लोक-साहित्य की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधा, लोकोक्ति का जितना गूढ़, गम्भीर एवं विस्तृत अध्ययन आपने प्रस्तुत किया है, वह तो लोक-साहित्य-जगत की अमूल्य निधि ही है । डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल जनपदीय साहित्य के प्रेरक स्रोत थे । उन्होंने डॉ० सहल के इसी कार्य के सम्बन्ध में लिखा था—"कहावतों के क्षेत्र में……… मेरा विचार है कि इस आकर-ग्रन्थ से प्रेरणा पाकर अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के कार्यकर्त्ता भी अपनी प्रादेशिक सामग्री को इसी पद्धति से छापने का प्रयत्न करेंगे । लोक-साहित्य के वर्धमान वाङ्मय में यह ग्रंथ सर्वथा स्वागत के योग्य है ।[२] कहना न होगा कि स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालजी के ये वाक्य साकार हो गये क्योंकि अनेक बोलियों में डॉ० सहल के द्वारा खोले गये द्वार को आगे सुदीर्घ परम्परा में परिवर्तित कर दिया है ।

कविता की स्वच्छ एवं निर्मल पयस्विनी के साथ विपरीत दिशा में जाने वाले (वैचारिकता प्रधान) समीक्षक एवं निबंधकार की त्रिवेणी को अपने व्यक्तित्व में आत्मसात् करने वाले इस सारस्वत साधक ने अपने जीवन में राजस्थानी के लोक-साहित्य की बहुविध विशिष्ट शाखाओं का मर्मोद्घाटन करके लोक-साहित्य के अध्ययन के क्षेत्र में एक नये अध्ययन का सूत्रपात किया है । ●●●

---

१. डॉ० सहल, राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान पृ० ८६ ।
२. राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन (भूमिका भाग) डॉ० सहल द्वारा प्रणीत ।

निहालदे-सुलतान : एक मूल्यांकन

• डॉ० रामप्रसाद दाधीच

राजस्थानी प्रेमाख्यानों की परम्परा जहाँ अत्यन्त प्राचीन है, वहाँ वह साहित्यिक एवं कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध भी है। राजस्थानी साहित्य से तनिक भी परिचय रखने वाले महानुभाव इस तथ्य से परिचित होंगे कि राजस्थान के लोक एवं आभिजात्य लेखक की दृष्टि अत्यन्त व्यापक, पारदर्शी एवं परिष्कृत रही है। प्रकृति एवं मानव-जीवन की गहराइयों एवं जटिलताओं को इन दोनों सृजनधर्मी वर्गों ने सूक्ष्मता से देखा-परखा और अनुभव किया है। अस्तु, राजस्थानी भाषा के अकेले प्रेमाख्यान-साहित्य पर ही यदि हम दृष्टिपात करें तो भी इसकी दिव्य-प्रतिभा से व्यामोहित हो जाना पड़ता है। यह कहना तो उपयुक्त नहीं है कि राजस्थानी का प्रेमाख्यान-साहित्य विषय-वस्तु, शैली-शिल्प एवं उद्भावनाओं में सर्वथा मौलिक है। भारतीय साहित्य की समूची प्रेमाख्यान-परम्परा का अवलोकन करने पर यह प्रकट हो जाता है कि कतिपय अपवादों को छोड़कर राजस्थानी के अधिकतर प्रेमाख्यान सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की परम्परा में ही हैं।

जैन कवियों, चारण-भाटों एवं लोक-कण्ठ पर विद्यमान अलिखित इन प्रेमाख्यानों की संख्या सैकड़ों तक जाती है। इनमें से कुछ प्रेमाख्यान साहित्य-अमराइयों में मर्मस्पर्शी की भाँति पड़े हैं। ढोला मारू रा दूहा, बीसलदेव रास, माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध, मधुमालती, वेलि क्रिसन रुकमणी री, सदयवत्स सावलिंगा री बात, बात सयंणी चारणी री, मूमल महेन्द्र, लाखा फूलाणी, बीजा सोरठरी बात, बात नागजी नागवन्तरी, पना वीरमदे री बात, आभल खींवजी री बात-जेठवा ऊजली, रतना हमीर री वार्ता, जसमा ओडण और निहालदे-सुलतान रा पवाड़ा—इनमें अपना सर्वाधिक गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं।

लोक-धर्म, पुराण, दर्शन, इतिहास, पुरातत्व एवं लोक-जीवन के व्याप्त वृत्त मे सन्निविष्ट नारी-पुरुष का समस्त यौन-प्रेम इन प्रेमाख्यानों में चित्रित हुआ है। शैली-शिल्प का वैविध्य इनमे द्रष्टव्य है। प्रायः ये गद्य, पद्य एवं गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू-काव्य मे उपलब्ध होते हैं।

इस लेख में 'निहालदे-सुलतान' का संक्षिप्त मूल्यांकन करना ही मेरा अभिप्रेत है। यह राजस्थानी का अत्यन्त सरस लोक-महाकाव्य है। लोक ही इसका रचयिता है। लोक मे यह 'निहालदे-सुलतान रा बावन पवाड़ा' के नाम से प्रसिद्ध है। यों तो समस्त राजस्थान में इस प्रेमाख्यान में आये स्फुट लोकगीत, विशेषतः प्रेम और विरह के, मिलते हैं और नारी-समाज द्वारा गाये जाते है किन्तु प्रबन्ध-रूप में यह शेखावाटी में ही अधिक प्रचलित है। हिन्दी एवं राजस्थानी के प्रकाण्ड विद्वान्, लेखक एवं चिन्तक-समीक्षक डॉ० कन्हैयालाल सहल ने इसे श्री जयदयालजी नाथ से सुनकर सर्वप्रथम लिपिबद्ध करवाया। यह अपने मूल पद्यात्मक रूप में बिड़ला सेण्ट्रल लाइब्रेरी, पिलानी मे सुरक्षित है। डॉ० सहल ने ही इस लोक-महाकाव्य का संक्षिप्त हिन्दी गद्य-रूपान्तर प्रस्तुत किया है। पहले यह 'मरु भारती' में अविरल रूप से प्रकाशित हुआ था और अब पुस्तकाकार उपलब्ध है। डॉ० सहल राजस्थानी साहित्य की श्री-सम्पन्नता को पिछले कई दशकों से प्रकाश मे ला रहे हैं। वे राजस्थानी के यशस्वी विद्वानों में से हैं। 'निहालदे-सुलतान' उनकी वैज्ञानिक दृष्टि एवं सृजनधर्मा प्रतिभा की एक अभिनव सृष्टि है। विलुप्तमान लोक-साहित्य-सम्पत्ति को संगृहीत कर उसे साहित्य की वर्तमान विधाओं में प्रस्तुत कर समाज के लिए उपयोगी बनाना एक श्रम-साध्य कार्य है। सृजन-बुद्धि के साथ ऐसे कार्य मे अविचल धैर्य की भी अपेक्षा रहती है। मूल्य-विघटित आधुनिक समाज मे इस प्रकार के धैर्यशील साहित्यसेवी विरल ही मिलते है।

ग्रंथ के संक्षिप्त प्राक्कथन 'दो शब्द' मे सहलजी ने लिखा है कि 'निहालदे-सुलतान की कथा इतनी रोचक है कि इसके आधार पर उपन्यास, नाटक तथा लोक-कथाएँ लिखी जा सकती हैं। चित्रपट के लिए भी इस कथा को उपयुक्त रूप दिया जा सकता है।' इसी क्रम मे यह भी कहा जा सकता है कि 'निहालदे-सुलतान' व्यापक लोक-संस्कृति को चित्रित करता है और शोध-विद्वानों के लिए ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, नृवंश वैज्ञानिक, पुरातत्वीय, मनोवैज्ञानिक एवं साहित्यशास्त्रीय अध्ययन के नये क्षितिज प्रस्तुत करता है।

निहालदे-सुलतान की बीज कथा संक्षिप्त में इतनी ही है—सुलतान खीचणगढ़ के राजा मैनपाल का पुत्र है। बाल्यकाल में ही उसे बारह वर्ष के निष्कासन का दण्ड दिया जाता है। गुरु गोरखनाथ उसे ५२ साकों का वरदान देते हैं। ईडरकोट

के कमधज्जराव सुल्तान को अपना धर्मपुत्र बना लेते हैं। केलागढ़ की राज-कुमारी निहालदे से उसका प्रेम-विवाह होता है। अपनी धर्ममाता कमधजराव की रानी के कटुवचनों पर वह नरवरगढ़ चला जाता है। नरवरगढ़ के राजा ढोलसिंह भी उसका सम्मान करते हैं और उनकी रानी मारू उसे अपना धर्म-भाई बना लेती है। बारह वर्ष की निष्कासन अवधि की समाप्ति पर अपनी रानी निहालदे-सहित केलागढ़ आकर सुल्तान सिंहासनारूढ़ होता है। अपने वचन के अनुसार अपनी धर्म-बहिन मारू के यहाँ भात न्योतता है। प्रजावत्सल राजा के रूप में वह केलागढ़ में लम्बी अवधि तक राज्य करता है।[1] 'निहालदे-सुल्तान' की बीज-कथा इतनी ही है किन्तु इसमें अनेक छोटी अन्तर-कथाएँ हैं जो अत्यन्त सुगठित हैं। वे इस महाकाव्य की रोचकता, अर्थगरिमा और काव्योत्कर्ष को अभिवृद्ध करती हैं।

लोककाव्य का अपना एक शैली-शिल्प, अपनी एक भाव-भूमि, अपना एक सांस्कृतिक परिवेश होता है। लोक-साहित्य-रचना की सार्थकता इसमें नहीं है कि इसमें कलात्मक चमत्कार कितना है, रूप-वैचित्र्य कितना है। उसकी सार्थकता इसमें है कि वह लोक-जीवन की विराटता को कितनी सहजता और संवेदना के साथ वाणी दे सका है। 'निहालदे-सुल्तान' पर जब हम इस दृष्टि से विचार करते हैं तो बड़ा सन्तोष होता है। यह काव्य अपने कलेवर में विराट लोक-जीवन और संस्कृति को संयोजित किए हुए है। लोक-साहित्य की प्रवृत्ति-क्रम में यद्यपि इस काव्य के नायक-नायिका तथा प्रासंगिक कथाओं के पात्र राज्य-परिवार और सामन्ती वर्ग के हैं—इसका सम्पूर्ण परिवेश सामन्ती और आभिजात्य है किन्तु तत्कालीन साधारण लोक की एक स्पष्ट तस्वीर भी इसमें उभरी है। सामान्य लोक के सामाजिक रीति-रिवाज, धर्म, विश्वास, वर्जनाएँ, अनुष्ठान, परिवार, आर्थिक स्थिति, राजा-प्रजा के सम्बन्ध, न्याय और व्यवस्था की स्थिति आदि का बेलाग रूपांकन इस काव्य में हुआ है। इसलिए जब यह कहा जाता है कि लोक-साहित्य की रचनाएँ किसी देश और जाति का सांस्कृतिक इतिहास होती हैं तो इसमें किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं होती। लोक-साहित्य में चित्रित पात्रों, घटनाओं और स्थलों के आगे ऐतिहासिक प्रामाणिकता के प्रश्न चिह्न लगे रहते हैं (निहालदे सुलतान के पात्र, स्थान, घटनाएँ भी अपवाद नहीं हैं) किन्तु यहाँ जीवन की रसधारा और दशा-दिशा को ही देखा जाता है। इन लोक-काव्यों में अनेक पात्र और घटनाएँ फैण्टेसीज के रूप में होती हैं। लोकमानस की प्रवृत्तियों के अनुसरण में ही इन कथावस्तुओं का समीक्षण किया जाना चाहिए।

कथानक-रूढ़ियों की दृष्टि से यदि इस काव्य का अध्ययन किया जाय तो इसमें अनेक ऐसी रूढ़ियाँ मिल सकती हैं जो, संभव है, स्टिथ थॉमसन के अभिप्राय कोश (Motif Index) में न हों। राजा-रानी, राजकुमार, राजकुमारी, स्वप्न-

दर्शन, प्रणय, विवाह, बोलते हुए पशु-पक्षी, अप्सरा, दानव की बावड़ी, वर्जित स्थान, जादूगरनी, दरयाधी घोड़े, काठ की खड़ाऊं, काठ की पुतलियाँ, गुरु गोरखनाथ, ब्राह्मण, पुरोहित, देवों का इष्ट, सूर्य की उपासना, आराध्य का कोप, चोर, सत्य क्रिया, यात्रा की बाधाएँ, त्रिया चरित, मोहिनी विद्या, सौर, शकुन, सांप की मणि, इन्द्र-लोक-युद्ध, भाग्यवाद, पूर्वजन्म, प्रारब्ध, परलोक, तंत्र-मंत्र, लोक-देवी-देवता, यज्ञ-अनुष्ठान आदि अनेक कथातन्तु हैं जो इस काव्य में प्रयुक्त हुए हैं। ये कथातन्तु काव्य की वस्तु को सरस विस्तार तो देते ही हैं, उसकी अर्थवत्ता को भी बढ़ाते हैं। इन सम्पूर्ण कथा-तन्तुओं में लोकमानस क्रियाशील है। लोक की अभेद-दृष्टि, कल्पनाशीलता, टोनावाद और अनुष्ठानवृत्ति इन कथा-तन्तुओं के अर्थ को स्पष्ट कर देते हैं।

मैं ऊपर कह आया हूँ कि 'निहालदे-सुलतान' में अनेक अवान्तर कथाएँ हैं। उनका अध्ययन कर कथा के मानक-रूपों का निर्धारण भी किया जा सकता है। राजस्थानी के अन्य लौकिक प्रेमाख्यानों में भी इसी प्रकार की समभावी अवान्तर कथाएँ मिलती हैं। तुलनात्मक दृष्टि से इन कथाओं के बीज-स्वरूप को ढूंढा जाना चाहिए।

लोक-काव्य में प्राय. वर्णन-प्रधानता होती है। उत्सव, यात्रा, विवाह, युद्ध आदि का विस्तृत और पुनरावृत्तिपूर्ण वर्णन इसमें मिलता है। निहालदे सुलतान इस प्रवृत्ति से मुक्त नहीं है किन्तु इसके अनेक स्थल अत्यन्त सरस एवं काव्योत्कर्ष से अभिमण्डित है। इसका प्रकृति-चित्रण अत्यन्त सहज है और स्थानीय परिवेश से रंजित है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में गहरी आत्मीयता और पारिवारिकता दिखाई देती है। परिवार की प्रतिष्ठा-रक्षा, मान्यताएँ और कभी-कभी व्यक्तिगत सनक और आग्रह के वशीभूत होकर लोक के पात्र सामान्य-असामान्य आचरण करते हैं—हत्याएँ, युद्ध, अपहरण आदि जघन्य कृत्य इसी के परिणाम है। लोक-पात्रों के वार्तालाप सहज और निश्छल होते है। 'निहालदे-सुलतान' में लोक-संस्कृति और लोक-जीवन की इस सहजता को आद्यन्त देखा जा सकता है। दैत्य-दानव, अप्सराएँ, जादू-नगरी, जादूगरनियाँ, वर्जित कोष्ठ आदि की घटनाएँ कथा की सहजता को खंडित करती हुई-सी प्रतीत होती है, आधुनिक बोध वाले पाठक अथवा श्रोता को विचित्र-सी लगती है किन्तु लोक-जीवन का यही यथार्थ है। आधुनिक जीवन के संत्रास, नैराश्य, जटिलता और एकाकीपन की पीडा से अभिशप्त व्यक्ति को लोक-जीवन की यह आत्मीय सहजता, व्यापक पारिवारिकता एक विचित्र मनस्तोष प्रदान करती है। निहालदे-सुलतान में लोकमानव की गहरी संवेदना के दर्शन होते हैं।

उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्दजी के गोदान के सम्बन्ध में एक समीक्षक ने कहा है कि वह एक महाकाव्य है। सृजन-प्रतिभा के धनी डॉ० सहल ने 'निहालदे-सुलतान'

लोक-महाकाव्य को अपनी कथा-शैली की कुशलता द्वारा एक रोचक उपन्यास के रूप और माधुर्य से अभिमण्डित किया है। इस रूपान्तर में सहलजी की गद्यभाषा के शैली-सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। लोक-साहित्य की भाषा-सहजता, निश्छल अनलकृत अभिव्यक्ति, प्रवाह के दर्शन इस रूपान्तर में सर्वत्र होते हैं। सहलजी राजस्थानी हैं, राजस्थानी भाषा, साहित्य, संस्कृति के वे मर्मज्ञ विद्वान् हैं, इसलिए 'निहालदे-सुलतान' के मध्य एवं मार्मिक स्थलों को आत्मसात् करने की सामर्थ्य उनमें है। यह रूपान्तर लोक-कथा-शैली में ही प्रस्तुत किया गया है। पढ़ते समय ऐसा लगता है कि कोई लोक-कथावाचक 'घर मजला, घर कू चा' के मधुर स्वर में सामने बैठकर कहानी सुना रहा है। राजस्थानी भाषा के शब्दों, मुहावरों, राजस्थानी संस्कृति के संदर्भों से सम्पृक्त पारिभाषिक, उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयोग इस रूपान्तर में स्थान-स्थान पर हुआ है। यह सहलजी ने जानबूझ कर ही किया प्रतीत होता है। यह भी सत्य है कि इन विशेष संदर्भों एवं अर्थों वाले शब्दों के सार्थक पर्याय हिन्दी में उपलब्ध नहीं हैं। इनसे रूपान्तर की भाषा में जहाँ अर्थवत्ता एवं अभिनवता आई है, वहाँ कथा में माधुर्य की सृष्टि भी हुई है। राष्ट्रभाषा हिन्दी को प्रान्तीय भाषाओं की शब्दावली से समृद्ध करने की दिशा में यह एक स्वस्थ और सफल प्रयोग है। फेंट, प्रभृति रमवा, बावड़ी, हूणी, सग-सग-सग-सग, ठरका, चोब, ठोम-सा, पलाव-सा, दड़क-दड़क, भवरा, बोदी गोडी गाल, चक्करघान, फेकड़ो, डोगी-लोटा, मायरा, लालीणी आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जो ठेठ लोक-भाषा राजस्थानी के हैं। राजस्थानी कहावतां, मुहावरों और काव्य-सूक्तियों के प्रयोग ने इस कृति को और भी सरस बना दिया है। इस लोककाव्य में आये नीति, धर्म अथवा दर्शन के प्रसंग को रूपान्तर-कार ने संस्कृत के नीति-श्लोकों से पुष्ट कर उसे और भी प्रामाणिक बना दिया है। डॉ० सहल मूल रूप से आभिजात्य साहित्यकार हैं, इसलिए वे इन आभिजात्य संस्कारों से बच नहीं पाये हैं। इन प्रयोगों से कृति की सौन्दर्य-वृद्धि ही हुई है।

प्रस्तुत रूपान्तर में 'निहालदे सुलतान' काव्य के गीतात्मक पद्यों के अंश भी अनेक स्थलों पर उद्धृत किये गये हैं। इससे दो लाभ हुए हैं—एक तो मूलकाव्य के माधुर्य और सौन्दर्य की कुछ झलक पाठकों को उपलब्ध हो जाती है और दूसरा, कथावस्तु के तारतम्य की रक्षा में इससे सहायता पहुँची है।

अन्त में 'निहालदे-सुलतान' राजस्थानी का एक गौरव-लोकमहाकाव्य है। इसे हिन्दी में प्रस्तुत कर सहलजी ने दोनों भाषाओं की महती सेवा की है। महत्ता का यह एक और कीर्तिमान है जो साहित्यरसिकों को चिरकाल के लिए स्मरण रहेगा।

•••

लोकसाहित्य के संरक्षक

• गोविन्द अग्रवाल

बिडला एज्यूकेशन ट्रस्ट के सेक्रेटरी श्रद्धेय डॉ० कन्हैयालालजी सहल राजस्थानी साहित्य गगन के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। हिन्दी, राजस्थानी और अंग्रेजी पर आपका पूर्ण वर्चस्व है। आप यशस्वी लेखक, सुयोग्य समालोचक और प्रतिष्ठावान् कवि हैं। हिन्दी और राजस्थानी के भंडार को आपने अमूल्य ग्रन्थ-रत्न भेंट किये हैं और करते ही जा रहे हैं। आपका शोध निबन्ध "राजस्थानी कहावतें: एक अध्ययन" तो राजस्थानी साहित्य की एक अमर कृति है जो प्रकाशस्तंभ की तरह सदैव मार्ग-दर्शन देती रहेगी।

डॉ० सहल साहब बिडला एज्यूकेशन ट्रस्ट द्वारा संचालित, राजस्थान की प्रमुख शोध-पत्रिका "मरु-भारती" का संपादन वर्षों से बडी योग्यतापूर्वक कर रहे हैं। राजस्थानी साहित्य और इतिहास की शोध में इस पत्रिका की सेवाएं अमूल्य हैं। लेकिन यहाँ तो मैं केवल आपके द्वारा राजस्थानी लोक-साहित्य के संरक्षण-हेतु दिये जाने वाले योगदान का एक उदाहरण प्रस्तुत करना चाहूंगा जो स्वयं इन पंक्तियों के लेखक से सम्बन्ध रखता है।

राजस्थान लोक-कथाओं का रत्नाकर है; असंख्य, अमूल्य कथारत्न इसके विस्तृत भू-भाग में जगमगा रहे हैं। ये कथाएँ राजस्थानी साहित्य की बहुमूल्य निधि हैं, जिनमें राजस्थानी जीवन के विविध चित्र संजोये हुए हैं। लेकिन यह सारा कथा-साहित्य श्रुतसाहित्य है और सदियों से पीढ़ी दर पीढ़ी लोकमुख पर ही चले बढता आ रहा है। किन्तु अब कथा कहने और सुनने की परिपाटी तेजी से मिटती जा रही है, जिसके फलस्वरूप यह अमूल्य साहित्य भी विस्मृति के गर्त में समाता चला जा रहा है और यदि इसे शीघ्र ही आवश्यक संरक्षण नहीं मिला तो यह सदा सर्वदा के लिए विलुप्त हो जाएगा।

लोक-कथाओं की इस चिंतनीय स्थिति से मैं बड़ा खिन्न था, लेकिन इस दिशा में कार्य करने के लिए मेरे पास कोई उपयुक्त साधन नहीं था। उधर डॉ० सहल साहब ने भी राजस्थानी लोक-कथाओं के संकलन की आवश्यकता को गहराई से अनुभव किया और इस कार्य में मेरी रुचि देखकर लोक-कथाओं के संकलन का भार मुझे ही सौंप दिया। यद्यपि इस सम्बन्ध में मैं सर्वथा अज्ञ ही था पर मेरे मन में यह आकांक्षा बलवती थी कि इन लुप्त होती हुई लोक-कथाओं को संरक्षण मिले। इसलिए मैंने डॉ० साहब के आदेश को सहर्ष स्वीकार कर लिया और निष्ठापूर्वक कथाओं के संकलन में जुट गया। डॉ० साहब ने मरु-भारती में "राजस्थानी लोक-कथा-कोश" शीर्षक से एक स्थायी स्तंभ खोलकर कथाओं के प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त कर दिया और कथाएँ धारा-प्रवाह निकलने लगीं। कथाएँ बड़ी संख्या में निकल सकें, इसके लिए मरु-भारती के लोक-कथा-विशेषांक भी निकाले गये। एक सहस्र से अधिक कथाएँ इस कथा-कोश के अन्तर्गत छप गई और आगे भी छपती चली जा रही हैं। डॉ० साहब के प्रयत्न से पुस्तक-रूप में भी लोक-कथाओं के दो भाग, भारती भंडार इलाहाबाद से प्रकाशित हुए और इस प्रकार इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य हो सका। यह सब डॉ० साहब की सूझबूझ और उनके कुशल संपादन का परिचायक है।

इन पंक्तियों के लेखक की हार्दिक आकांक्षा है कि लोक-कथाओं को बड़ी संख्या में लिपिबद्ध करके उनका वर्गीकरण किया जाए और फिर एक बृहत् राजस्थानी लोक-कथा-कोश तैयार किया जाए, जिसमें ५ हजार राजस्थानी लोक-कथाएँ रहें। यद्यपि यह कार्य बहुत बड़ा और कठिन है तथा इस दिशा में अब तक लगभग एक चौथाई कार्य हो हो पाया है, फिर भी मेरी मान्यता है कि इसे असंभव नहीं कहा जाना चाहिए। यदि पूरे साधनों से दत्तचित्त होकर इस कार्य में लगा जाए तो ऐसा कथा-कोश तैयार किया जा सकता है।

यदि यह कथा-कोश तैयार हो जाए तो राजस्थानी साहित्य के लिए यह एक बहुत बड़ा और बेजोड़ काम होगा, क्योंकि जहाँ तक मेरी जानकारी है, विश्व की किसी भी प्रादेशिक भाषा में इतना बड़ा कथा-कोश उपलब्ध नहीं है। न केवल राजस्थान के लिए बल्कि समूचे राष्ट्र के लिए, यह अत्यन्त गौरव का विषय होगा और इसका अधिकांश श्रेय डॉ० श्री कन्हैयालालजी सहल को ही जाएगा।

●●●

आपका कविता-संग्रह सुन्दर लगा। 'प्रयोगवादी' मरहों में यह 'प्रयोग' सर्वश्रेष्ठ है।

डॉ० रामविलास शर्मा

डॉ० सहल—एक सफल सम्पादक

• भुवनेशचन्द्र गुप्त

प्रत्येक अच्छे स्तर की पत्रिका सम्पादक, लेखकों और प्रकाशक के सम्मिलित प्रयासों के फलस्वरूप उत्पन्न हुई—सृजनात्मक कलाकृति होती है। चुने हुए लेखों में पाठकों की संभावित रुचियों के अनुसार क्रमबद्धता, उन लेखों में लेखकों के विचारों, उनकी भाषा-शैलियों और उनके विशिष्ट विचार-बिंदुओं पर लेखों में प्रकट हो सकी, चिन्तन-धाराओं का सम्यक् दृष्टि से यथोचित मूल्यांकन, लेखकों का संक्षिप्त परिचय, उनके लेखों के बारे में अपने सारमूलक कथनों की योजना और एक सुन्दर सम्पादकीय, ये सब एक आदर्श सम्पादक के द्वारा किये जाने वाले वे महत्त्वपूर्ण कार्य हैं जिनके सफलतापूर्वक सम्पन्न होने में ही पत्रिका के आन्तरिक रूप के सौंदर्य का रहस्य छिपा रहता है। पत्रिका के इस वास्तविक सौंदर्य के सृजन में लेखकों की रचनाओं का महान् महत्त्व है। यदि हिन्दी-साहित्य को हम एक उद्यान मान लें तो पत्रिका को एक ऐसी छोटी-सी सुंदर क्यारी के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा, जिसमें लेखकों के लेख सम्पादक रूपी निपुण बागवान के द्वारा क्रम से लगाए गए सुन्दर पौधे होते हैं। वह ही पत्रिका की आत्मा है। इस दृष्टि से डॉ० सहल ने 'मरु-भारती' के सम्पादन द्वारा उसके आंतरिक रूप के सौंदर्य के सृजन में जो महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है, वह उनके जीवन का प्रकाश-स्तम्भ है।

उन्होंने 'मरु-भारती' के सम्पादन के द्वारा राजस्थान के साहित्य, संस्कृति, स्थापत्य, पुरातत्व, नृत्य-नाट्य, भक्ति, व्रत, त्योहार, प्रवाद, लोकगीत प्रभृति सभी प्रकार के लोक-साहित्य का उद्धार किया है। इस प्रकार अत्यंत उच्च स्तर की सामग्री प्रस्तुत करके उन्होंने हिन्दी पत्रिकाओं में 'मरु-भारती' को हिन्दी की प्रमुख साहित्यिक एवं इतिहास की शोध-पत्रिका के रूप में उच्च स्थान प्राप्त करा दिया।

डॉ० कन्हैयालाल सहल ने राजस्थानी-साहित्य के लिए वही कार्य किया है जो महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य के लिए 'सरस्वती' और आचार्य गुलाबराय एम. ए. ने 'साहित्य-संदेश' पत्रिका द्वारा किया था। अन्तर केवल इतना ही है कि 'द्विवेदी' जी ने जहाँ हिन्दी भाषा को सजाया, सुधारा तथा उसमें एकरूपता लाने का प्रयत्न किया, वहाँ सहल जी ने 'मरु-भारती' के सम्पादक के रूप में राजस्थानी साहित्य का पूर्ण मनोयोग एवं परिश्रम से संकलन किया और उसे सजाया तथा सँवारा। वास्तव में यह कार्य महत्त्वपूर्ण था। यों तो यह कार्य इतना विशाल एवं महत्त्व का है कि इस पर बड़े पैमाने पर कार्य किया जाना चाहिए था किन्तु 'मरु-भारती' के सम्पादन के रूप में समय-समय पर लोक-साहित्य के प्रकाशन द्वारा जो कार्य इन्होंने किया है, उसके लिए वे वास्तव में गौरव के अधिकारी हैं। इस प्रकार लोकमानस को उद्वेलित तथा हर्षित करने वाली लोक-कथाओं को प्रचुर मात्रा में 'मरुभारती' के माध्यम से एकत्रित कर राजस्थान की लोक-कथाओं का विशाल कोष सर्वार्जित किया एवं उसे प्रकाशित कराया। ऐसा प्रयास अभी तक भारतवर्ष के किसी अन्य प्रदेश में व्यवस्थित रूप से नहीं हो सका है। ये लोक-कथाएं राजस्थान के जनजीवन की झांकी प्रस्तुत करती है तथा राजस्थानी साहित्य की अमूल्य निधि हैं जिससे उसका गौरव बढ़ा है। इन लोक-कथाओं में नीति और उपदेश-मूलक कथाओं की प्रधानता है। किन्तु अन्य प्रकार की लोक-कथाओं का भी अभाव नहीं है। इनमें मानव की मूल प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए, शाश्वत सत्य की अभिव्यक्ति हुई है। इन कथाओं में कौतुक और वर्णन की स्वाभाविकता आदि गुण यत्र तत्र सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। प्रस्तुतकर्त्ता ने उन्हें छोटे-छोटे वाक्यों में प्रस्तुत करके उनके सौन्दर्य तथा प्रभाव का अत्यधिक विस्तार किया है। इन कथाओं में हास्यप्रधान लोक-कथाएं भी हैं। यह हास्य जीवन को स्फूर्ति एवं ताजगी प्रदान करता है। इसी प्रकार से अनेक सकलित कथाएं चम्पू शैली में भी हैं। 'मरुभारती' के सम्पादन-कार्य के साथ डॉ० सहल ने राजस्थानी साहित्य, संस्कृति तथा इतिहास पर भी लेख आदि लिखे हैं। डॉ० सहल राजस्थानी साहित्य के प्रामाणिक विद्वान् हैं। इस क्षेत्र में भी लोक-साहित्य उनका विशेष क्षेत्र है। इनके लेखों एवं संग्रहों में विशेषकर राजस्थानी साहित्य, इतिहास, एवं संस्कृति के दर्शन होते हैं।

लोक-साहित्य के क्षेत्र में डॉ० सहल ने 'निहालदे सुलतान' की अपूर्ण प्रेममयी गाथा को पद्यात्मक रूप में सुनकर लिपिबद्ध कराया। इस प्रेमरस-सिक्त गाथा को उन्होंने हिन्दी गद्य में प्रस्तुत किया और लोक-साहित्य के प्रेमियों को इस गाथा का रसास्वादन कराया। यह कार्य उन्होंने 'मरुभारती' पत्रिका के माध्यम से किया। इसे जब ग्रंथ के रूप में सकलनकर्त्ता ने प्रकाशित कराया तो यह ग्रंथ तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ, जिन्हें उक्त गाथा का आदि, मध्य तथा अंतिम भाग समझना

चाहिए। डॉ० सहल ने बडी ही सरल तथा सरस भाषा मे निहालदे की इस प्रेम तथा रोमांस से भरी कथा को कहा है। इनकी शैली में प्रवाह तथा रोचकता है। इस कथा मे बीच-बीच मे उन्होने मूलगाथा के उद्धरण दिए हैं, जिससे उसमें बडी रसात्मकता आ गई है। विद्वान् लेखक एव सकलनकर्ता ने स्थान-स्थान पर सस्कृत तथा हिन्दी की सूक्तियो का प्रयोग कर विषय को अधिक रुचिकर बनाने का प्रयास किया है जिसमें उन्हे पूर्ण सफलता मिली है। उनकी भाषा मुहावरेदार और शैली चुस्त है। वीर-भूमि राजस्थान के वीरो की आनबान, शान तथा धर्म की रक्षा के लिए हँसते-हँसते प्राण न्योछावर कर देने की पराक्रम एवं शौर्य से पूर्ण गाथाएं चारणों तथा भाटो की विरुदावलियो मे सुरक्षित चली आती है। राजस्थानी लोक-साहित्य मे भी इसी की प्रतिध्वनि पाई जाती है। डॉ० सहल ने राजस्थानी पवाडो मे पाबूजी, नानडिया, मैणादे आदि लोकप्रिय गाथाओ को 'मरुभारती' पत्रिका मे स्थान देकर प्रस्तुत किया है। पवाडो के अतिरिक्त मरु-भारती मे कहावत, मूल अभिप्राय, शब्द- चर्चा, प्रवाद और आख्यान तथा लोकगीतो आदि से सबद्ध बहुविध सामग्री बिखरी पडी है।

'मरुभारती' राजस्थानी साहित्य, संस्कृति और इतिहास की एक त्रैमासिक शोध-पत्रिका है जो लगभग दो दशको से नियमित समय पर प्रकाशित होती रही है। डॉ० सहल के प्रेरणास्पद सम्पादन, उदात्त व्यवहार एवं उन्नत स्तर की प्रचुर सामग्री होने के कारण इस पत्रिका का सर्वत्र स्वागत हुआ है। यह पत्रिका राजस्थान शिक्षा-विभाग द्वारा माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक शालाओं, महाविद्यालयों, वाचनालयो आदि के लिए स्वीकृत हो चुकी है। भारतवर्ष के अधिकांश विश्वविद्यालयों तथा वाचनालयो के अतिरिक्त लदन, अमेरिका तथा लेनिनग्राड आदि के विदेशी वाचनालय तथा पुस्तकालय भी इसके ग्राहक है। यही इसकी लोकप्रियता एवं उच्च स्तर के लिए पर्याप्त प्रमाण है।

एक सूझबूझ वाले एव जागरूक सम्पादक होने के कारण डॉ० सहल के सम्पादन-काल मे सर्वप्रथम सन् १९५४ ई० मे मरु-भारती के रूप-रंग तथा आवरण आदि मे परिवर्तन-परिवर्द्धन तथा परिष्कार के लिए सशोधन एवं सुझाव रखे गए। 'मरुभारती' के मुख पृष्ठ को पल्लू से प्राप्त मूर्ति से सवारा गया। यह मूर्ति सरस्वती की मूर्ति थी। सरस्वती बुद्धि और विद्या की अधिष्ठात्री देवी के नाते सदा से प्रतिष्ठित रही है। मरुभारती के मुखपृष्ठ पर आदर्श सूत्र रूप से प्राकृत भाषा के 'सच्चं भगव लोगम्मि सारभूयं' अर्थात् सत्य ही भगवान् है तथा लोक में सत्य ही सारभूत है' वाक्य को अ कित किया गया। यह आदर्श वाक्य शोध-पत्रिका की दृष्टि से अत्यंत ही उपयुक्त है क्योकि इतिहास, सस्कृति तथा साहित्य आदि भी सत्य की शोध एवं प्रकाशन का प्रयत्न करते हैं। अतः इस शोधपत्रिका के लिए ऐसे वाक्य का चयन अत्यन्त ही

उपयुक्त एवं महत्वपूर्ण था। यह सम्पादक की सूझ, राजस्थान से प्रेम तथा प्राकृत-परिचय का द्योतक है। प्रारम्भ में मरुभारती चातुर्मासिक पत्रिका थी, जिसका उद्देश्य राजस्थान की बिसरी-भूली, अप्रकाशित और भूगर्भ में निहित सामग्री को प्रत्यक्ष करना था। फिर वह त्रैमासिक पत्रिका के रूप में निकलने लगी और उसे विविध स्तम्भों में विभाजित कर दिया गया, जिसमें कला, साहित्य, स्थापत्य, संस्कृति, पुरातत्व, त्योहार, धर्म, लोक-साहित्य, संत-साहित्य एवं वीरचरित्र तथा आलोचना, व्युत्पत्ति-चर्चा आदि स्तम्भों का समावेश हो गया। राजस्थानी साहित्य के शोध-कार्य में डॉ० सहल की बड़ी मूल्यवान् देन है। इस दृष्टि से उनका नाम राजस्थानी साहित्य के संकलनकर्ता, शोध-कर्ता एवं नए-नए लेखकों को तैयार करने आदि की दृष्टि से सदैव गौरव से लिया जाएगा। उनका यह कार्य राजस्थानी साहित्य का अनूठा कार्य है। इस प्रकार उन्होंने राजस्थानी ही नहीं, हिन्दी-साहित्य के लिए भी नया भंडार खोल दिया है। यदि हिन्दी-साहित्य से राजस्थानी साहित्य को निकाल दिया जाए तो हिन्दी-साहित्य में प्राचीन साहित्य अत्यधिक न्यून हो जाएगा। हिन्दी-साहित्य का आदि स्रोत राजस्थानी साहित्य में निहित है। इस प्रकार डॉ० सहल ने हिन्दी-साहित्य के विकास, विस्तार और निर्माण में पर्याप्त योगदान किया है। उन्होंने 'मरुभारती' के सम्पादन द्वारा राजस्थानी तथा हिन्दी-साहित्य रूपी बगिया का सिंचन अपने श्रम-शोणित से किया है। अतः हिन्दी-साहित्य के मूर्धन्य विद्वानों में वे सहज आ बैठते हैं। उनके कृतित्व में 'मरुभारती' के सम्पादक की सेवा ही रह जाए, तब भी वह उनको साहित्य-जगत् में कीर्ति प्राप्त कराने के लिए पर्याप्त होगी। इस सत्प्रयास में उन्होंने राजस्थान की प्राचीन साहित्यिक निधि और नवीन प्रतिभाओं को सामने लाने में योगदान किया है और इस प्रकार उसे एक दृढ़ सांस्कृतिक इकाई बनाने के कार्य में पूर्ण रचनात्मक प्रयास किया है। यह उनकी अनूठी सूझबूझ, दृष्टि, अध्यवसाय तथा परिश्रम का सूचक है।

सामान्यतः 'मरुभारती' के अंकों की सामग्री नवीन खोज और अनुशीलन-प्रधान है। इसके माध्यम से डॉ० सहल ने राजस्थान की पग-पग भूमि के प्राचीन इतिहास और साहित्य को, भारतीय उत्कर्ष के इतिहास के निर्माण में सहायक बनकर, देदीप्यमान कर दिया है, तथा करोड़ों राजस्थानी जनकण्ठों में गुम्फित लोक-साहित्य को 'मरुभारती' का शृंगार बना दिया है। इस पावन एवं अनूठे कार्य के लिए जो परिश्रम एवं अथक प्रयत्न डॉ० सहल ने किया है, उसके लिए राजस्थान का कण-कण उनका ऋणी रहेगा। इस प्रकार 'मरुभारती' के सम्पादक को राजस्थान के अनमोल हीरों को प्रकाश में लाने का श्रेय प्राप्त है। पत्रिका के प्रकाशन एवं सम्पादन की दृष्टि से इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि कई वर्षों तक

अपने स्वयं ही मूल्यांकन किया तथा पत्रिका-सम्बन्धी महत्वपूर्ण पत्र व स्वयं ही लिखते रहे। यह उदाहरण या आदर्श इस क्षेत्र में प्रवेश करने वाले युवकों के लिए प्रेरणास्पद एवं अनुकरणीय है। आपके परिश्रम के कारण पत्रिका की छपायी एवं सफाई भी अनूठी रही है।

'मरुभारती' के अतिरिक्त डॉ० कन्हैयालाल सहल 'परम्परा' एवं 'वरदा' आदि पत्रिकाओं के परामर्श-मण्डल में रहते हुए भी कार्य करते रहे हैं। इसी प्रकार उदयपुर से निकलने वाली 'शोध पत्रिका' के लिए भी वे अनेक वर्षों तक सम्पादकीय टिप्पणियां नियमित रूप से लिखते रहे हैं। इस प्रकार पत्र-सम्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हुए भी, उन्होंने 'मरुभारती' को अपने जीवन में विशेष स्थान प्रदान किया और उसे सम्भ्रान्त रूप प्रदान करने के लिए उत्तम शोध-सामग्री से उसे अलंकृत किया तथा उसे राजस्थानी साहित्य, इतिहास तथा संस्कृति की खोज एवं अन्वेषण का माध्यम बना दिया। उन्होंने मरुभारती के अंकों में अनेकानेक ऐसे मूल ग्रंथों का प्रकाशन किया कि उसका प्रत्येक अंक सँभाल-सँभाल कर रखने की चीज बन गया है। 'मरुभारती' को उन्होंने राजस्थान के अप्रकाशित साहित्य से भर दिया है। इससे बढ़कर हिन्दी-साहित्य की और क्या सेवा हो सकेगी? क्योंकि ऐसा करके उन्होंने अज्ञात सामग्री को प्रकाशित करके प्रकाश में लाकर अमरता प्रदान करदी है। उस सामग्री को देशी-विदेशी विद्वानों एव पुस्तकालयों मे सुरक्षित कर दिया है। इस प्रकार उन्होंने देशी-विदेशी लोगों में राजस्थानी साहित्य एवं संस्कृति के प्रति रुचि उत्पन्न करने का प्रयास भी किया है। मरुभारती पत्रिका का महत्व केवल इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि आज के अनेक पुस्तकालय इसमें प्रकाशित महत्वपूर्ण सामग्री को सुरक्षित रखने की दृष्टि से इसके अंक बहुत ही सँभाल-सँभाल कर रखते हैं।

संक्षेप मे डॉ० सहल ने राजस्थानी साहित्य, संस्कृति, कला, पुरातत्व, इतिहास तथा लोकवार्ता की नष्ट होती हुई रसधारा को सूखने से पहिले ही जीवन-रस मे आप्लावित कर दिया और नागरिक कर्त्तव्य के रूप मे समस्त विश्व के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने की दृष्टि से 'मरुभारती' को श्रेष्ठ तीर्थ-संगम बना दिया है। राजस्थान एक मरु-देश है जिसके चारो और फैले विशाल सांस्कृतिक केन्द्रो ने ऐसे चित्रो तथा कृतियों को जन्म दिया है जिनकी प्रशंसा यूरोप, अमेरिका आदि देशो के पाश्चात्य सहृदय कलामर्मज्ञो ने भी की है। डॉ० सहल ने इस महान् दाय को प्रकाश मे लाने का जो अहर्निश प्रयत्न किया, उसे अपने जीवन का कर्त्तव्य मानकर ही किया है। वे अपने आपको महान् कला तथा साहित्य के उत्तराधिकारी मानकर चलते रहे और एतत्सम्बन्धी विषयो का सर्जन, सकलन, एवं सम्पादन करते रहे और आज भी कर रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने 'मरुभारती' पत्रिका के माध्यम से राजस्थान की प्राचीन

एवं अर्वाचीन ज्ञानराशि का उद्घाटन किया। अनायास ही राजस्थान प्रान्त को एक बनाने वाली सांस्कृतिक, साहित्यिक और आर्थिक जीवनचर्या से सम्बन्धित विषय-सामग्री का प्रकाशन समय-समय पर 'मरुभारती' पत्रिका में होता रहा है।

प्राचीन साहित्य का अन्वेषण अनुशीलन, अनुवाद, चयन, एवं टिप्पणियां आदि लिखना कोई सहज कार्य नहीं है। उसके लिए गहन अध्ययन, अध्यवसाय, परिश्रम एवं सांस्कृतिक चिंतन तथा गहरी पकड़ की आवश्यकता होती है। इस कार्य के द्वारा डॉ० महल ने इस ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है और लुप्त होते हुए साहित्य को अमरत्व प्रदान कर बचा लिया है। साथ ही उसे अपने ढंग से संकलित करके एवं उसकी भूमिका, अनुवाद, टिप्पणियों आदि से अपने गहन अध्ययन, परिशीलन तथा सम्पादन-पटुता का परिचय देकर आपने एक कीर्तिमान स्थापित किया है। इस महत् कार्य के कारण समस्त राजस्थान उनके कार्य का सदैव ऋणी रहेगा और मां भारती के इस वरद पुत्र को समय-समय पर सदा स्मरण करता रहेगा।

●●●

'मरु-भारती' का प्रत्येक अंक सामग्री की दृष्टि से विशिष्ट है, संग्राह्य है। शोध के विद्यार्थी के लिए तो यह सारी सामग्री अमूल्य ही नहीं, अनिवार्य है। सांस्कृतिक सामग्री भी कम नहीं है, पर कहीं भरती नजर नहीं आती। मेरा विश्वास है कि पत्रिका अवश्य प्रगति करेगी। प्रान्तीय प्रशासन को, कठिनाइयों में किए हुए, इस स्तुत्य प्रयत्न को मान्य कर सहायता देने में अपना गौरव मानना चाहिए।

—डॉ० आत्माराम जाजोदिया

आपका नियमानुसार प्रति दिन कुछ पृष्ठ बिना लिखे विश्राम न करने का प्रण आपने सदा निभाया। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह नियम आप सदा निभायेंगे और देश के साहित्य को सर्वाङ्ग-परिपूर्ण करने में योगदान देते रहेंगे। आपके इस यत्न में पूरी सफलता की कामना मैं करता हूं।

—पद्म श्री शुकदेव पाण्डे

राजस्थानी साहित्य के सच्चे व्याख्याकार

सुरजनसिंह शेखावत

'अनुसंधान और आलोचना' आद्योपांत पढ़ी। मेरा रुचिकर विषय होने से राजस्थानी-खण्ड को अनेक बार पढ़ा, मन आनन्द-विभोर हो उठा।

पद्मनाभ के 'कान्हडदे प्रबंध' और किसी 'भाण्डउ' व्यास द्वारा रचित हम्मीरायण' पर डॉ० सहल के प्रबंध और व्याख्या उच्च साहित्यिक स्तर की किन्तु सतसई के दोहों के विविध रूपों की चर्चा करते हुए तो डॉ० कन्हैयालाल हल ने अति ऊँची उड़ान भरी है और उसे सुमार्जित वाणी का रूप देकर साहित्य-ारों के सामने रखा है। डॉ० सहल के सामयिक और समकक्ष राजस्थानी विद्वानों ो निःसंदेह उनकी साहित्यिक-प्रतिभा का कायल होना पड़ेगा।

महाकवि सूर्यमल्लजी की सतसई के दोहों के विविध रूपों की भावना को पने शब्दों में व्यक्त करते हुए उन्होंने जो लिखा है, वह हिन्दी-साहित्य के विद्वानों लिए पठनीय है। सतसई के प्रत्येक दोहे की जो व्याख्या उन्होंने की है, मेरा याल है कि शायद स्वयं सूर्यमल्ल के मस्तिष्क में भी न आई हो। डॉ० सहल प्रत्येक दोहे के भावों के अन्तर में प्रवेश करके उसके सही अर्थों और कवि की नोभावना को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। इससे प्रकट होता है कि राजस्थानी हित्य में डॉ० सहल की पहुँच बहुत गहरी है। सतसई के दोहों में वर्णित वीर र वीरांगनाओं के मनोभावों को वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देने में डॉ० सहल ोड़ हैं।

मानव में जन्मजात भूमि-प्रेम पर भी सतसई के दोहों के माध्यम से उन्होंने दत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। सम्भव है, प्रत्येक मनुष्य में भूमि-प्रेम जन्मजात न हो। ह भी सम्भव है कि कुछ लोग भूमि को व्यापार की भांति लाभ की वस्तु समझते , परन्तु जहां तक राजस्थान के मध्ययुगीन राजपूतों का सवाल है, उनके लिए भूमि-

ेम सर्वोपरि था। धरती से उनका रागात्मक सम्बन्ध था। भूमि-रक्षार्थ वे सर्वस्व-
बलिदान करने को उद्यत रहते और उसके लिए मर मिटने में गौरव का अनुभव करते
। सिर की बाजी लगाना उनके लिए भूमि की कीमत थी। सिर कट जाने पर ही
न्म-भूमि दूसरों के अधिकार में जा सकती थी और सिर कटाकर ही भूमि पर
धिकार किया जा सकता था। राजस्थान का साहित्य और इतिहास इसका
ाक्षी है :

> सिर साटै धर लेत हैं, ठाकर रहो नचीत ।
> फिर धर साटै सिर दिवै—रजपूता री रीत ॥
> रजपूता गुरा बूभतो, देख ससी साबूत ।
> धड़ पडियो धर कारणै, रज भेलो रजपूत ॥

प्राचीन गीत की यह झड़—दिवै रजपूत जो मार मर दिवी छो ।
निवै रजपूत ज्यो भूम लीघी ॥

ी इसी भूमि-प्रेम की यथार्थता प्रकट करती है। राजस्थान के अमर साहित्यकार
ारणों ने साहित्य-सृजन किया और उन नरसिंहों को, जिन्होंने मातृभूमि की रक्षार्थ
पने प्राण न्योछावर किए, धरती के धणी, पृथ्वीपति, जमीं के बाद आदि सम्बोधन
पुकार कर धरती के साथ उनके अटूट सम्बन्ध को व्यक्त किया।

सूर्यमल्लजी की सतसई के दोहों में व्यक्त राष्ट्रीय भावना की व्याख्या भी
[illegible] सहल ने उसके वास्तविक रूप में ही की है। राष्ट्रीयता की कोई एक ही
[illegible] और अपरिवर्तनीय परिभाषा नहीं है। संसार का और भारत का
तिहास साक्षी है कि समय-समय पर राष्ट्रीयता की परिभाषा बदलती रही है।
ाज भी राष्ट्रीयता की परिभाषा पर विभिन्न मत हैं। नेहरूजी ने Discovery of
ndia में जिस राष्ट्रीयता का संकेत किया, वह आधुनिक ढंग की पाश्चात्य विचार-
ारा पर निर्मित जनतान्त्रिक राष्ट्रीयता के लिए है। वैदिक काल से लेकर महाभारत
ाल तक के लम्बे समय में भी राष्ट्रीयता का एक रूप देखने में नहीं आता। प्राचीन
[illegible] और गणतन्त्रों के काल में भी राष्ट्रीयता की व्याख्या देश, काल, परिस्थितियों
अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में की गयी है। इसलिए यह कहना कि पूर्व काल में पूर्ण
ाष्ट्रीयता का अभाव था, हमारी उस महान् संस्कृति का अपमान करना है जो समस्त
[illegible] विश्व के लिए अनुकरणीय और प्रेरणा का स्रोत थी।

डॉ॰ सहल ने [illegible] के मतानुसार [illegible] राष्ट्रीयता के एक रूप [illegible]
[illegible] किया है। मेरी समझ में महाकवि सूर्यमल्ल भी इसी प्रकार की [illegible]
[illegible] थे। वे चाहते थे, उनकी यह कामना थी कि देश में [illegible]
[illegible] से [illegible] महाकार से टकराने वाले महायोद्धा रहे। [illegible]

डॉ. कन्हैयालाल सहल :

व्यक्तित्व

और

कृतित्व

□

कृति-परिचय खण्ड

डॉ० कन्हैयालाल सहल-प्रणीत कृतियाँ
तथा
उनका समीक्षात्मक परिचय

● **समालोचना :**

★ साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव

★ विमर्श और अनुशीलन

★ अनुसंधान और आलोचना

★ विवेचन

★ समीक्षायण

★ आलोचना के पथ पर

★ कामायनी-दर्शन (डॉ. विजयेन्द्र स्नातक की सहकारिता में)

★ समीक्षांजलि

★ वाद-समीक्षा

★ मूल्यांकन

● **ललित-निबंध :**

★ दृष्टिकोण

● **काव्य :**

★ प्रयोग

★ धागों के धागे

★ समय की सीढ़िया

● **राजस्थानी साहित्य :**

★ राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन (उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत)

★ राजस्थानी कहावतें : (बंगाल हिन्दी मण्डल द्वारा पुरस्कृत)

★ निहालदे सुलतान (तीन खंडों में)

★ लोक कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु

★ लोक कथाओं की कुछ प्रवृत्तियां

★ राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय

★ राजस्थानी लोक-कथाएं

★ राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद

★ राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान

★ राजस्थानी लोक गाथाएं

★ नटो तो करो मत

● सम्पादन

★ द्रौपदी विनय अथवा करुण बहत्तरी

★ आधुनिक उद्योग और व्यवसाय की दुनिया

★ मरुभारती (त्रैमासिक)

★ मोवणी (प्रो. पतराम गौड़ की सहकारिता में)

★ वीर सतसई (प्रो. पतराम गौड़ तथा ठ. ईश्वरदान आशिया की सहकारिता में)

★ केशव-सुधा

•••

साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव

• डॉ० सत्येन्द्र

'साकेत' मे 'नवम सर्ग' अपना विशेष स्थान रखता है। यह सर्ग 'साकेत' का सबसे बड़ा 'सर्ग' है, और इसी मे 'उर्मिला' के विरह का वर्णन है। इसी सर्ग की कविता का सहलजी ने मर्म उद्घाटन इस पुस्तक मे किया है। साधारणतः इसमे सभी महत्त्वपूर्ण स्थलों का अर्थ स्पष्ट किया गया है और स्थान-स्थान पर तुलना भी हो गयी है, साथ ही अलकार और नायिका-भेद आदि का भी उल्लेख करके उसके काव्य-सौन्दर्य को प्रकाश मे लाया गया है। जहां-तहां दोष की ओर भी ध्यान

मार्जित कराया गया है। सहलजी का यह उद्योग सफल ही माना जायगा, विशेषतः इसलिए कि स्वयं महाकवि का ध्यान इसने अपनी ओर आकर्षित किया और महाकवि के प्रेस में ही इसे प्रकाशित होने का सौभाग्य मिला है। मैथिलीशरण गुप्त का पत्र पीछे परिशिष्ट में दिया हुआ है और वह पत्र-व्यवहार भी दिया है जो महात्मा गांधी और गुप्तजी में 'साकेत' के प्रकाशन के अवसर पर हुआ था। इसमें पुस्तक की उपादेयता ऐतिहासिक भी हो गई है।

❺

विमर्श और व्युत्पत्ति अर्थात् विचारों के अनेक सूत्र

• डॉ० रामाधार शर्मा

'विमर्श और व्युत्पत्ति' डॉ० कन्हैयालाल सहल का एक नवीन समीक्षाग्रंथ है। इसमें साहित्य और भाषा-विज्ञान पर कुछ निबन्धों का आकलन किया गया है।

इन निबन्धों में डॉ० कन्हैयालाल सहल ने नवीन चिन्तन का परिचय दिया है। उन्होंने साहित्य के सैद्धान्तिक प्रश्नों के सम्बन्ध में कुछ सुझाव दिए हैं, जिन पर नए सदर्भ में विचार-विमर्श की आवश्यकता है। इस दृष्टि से ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। विचार का एक भी नवीन विद्युत्-सूत्र सम्पूर्ण रचना को आलोकित करने की क्षमता रखता है जब कि इस ग्रंथ में तो ऐसी अनेक मौलिक और महत्त्वपूर्ण उद्भावनाएँ हैं, जिन पर हिन्दी के विद्वानों का ध्यान जायेगा। रस-प्रक्रिया को समझाते हुए डॉ० सहल ने लिखा है—"यदि विचार कर देखा जाए तो रस-प्रक्रिया की तीन स्थितियाँ हमारे सामने स्पष्ट हैं। पहली स्थिति अभिधा अथवा वर्ण्य-विषय से सम्बन्धित है। किन्तु निरा अभिधेय वस्तु काव्य का रूप धारण नहीं कर सकती। अभिधेय को आस्वाद्य बनाने के लिए कवि अथवा नाट्यकार को रस-प्रक्रिया की दूसरी स्थिति अर्थात् कल्पना का सहारा लेना पड़ता है, जिसके द्वारा रस अभिव्यक्त अथवा व्यंजित होता है। व्यंजना को तीसरी स्थिति समझिए। जिसे भट्टनायक ने भावकत्व का नाम दिया है, उसे कल्पनास्थानीय समझ लेने पर अभिधा, कल्पना और व्यंजना के त्रिकोण द्वारा रस-प्रक्रिया का रहस्य हृदयंगम किया जा सकता है। रस-प्रक्रिया के उक्त त्रिकोण की दृष्टि से रस पर भरत-सूत्र की निम्नलिखित व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है :—

विभावादि के संयोग अर्थात् कल्प्य—कल्पक भाव-रूप सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति अर्थात् व्यंजना होती है'।' 'कला कला के लिए' निबन्ध में लेखक ने मध्य मार्ग का अनुसरण किया है, जिसमें वह कला के कलात्मक (शब्दार्थ तथा सुन्दर अभिव्यक्ति) और कलेतर (लोक-संग्रह तथा मानव-कल्याण) मूल्यों के समन्वय में कला की अमरता देखता है।

इस संकलन का दूसरा महत्त्वपूर्ण निबन्ध 'ट्रैजडी में अहं का विगलन' है। इसकी व्याख्या करते हुए डॉ० सहल ने लिखा है—"अहं के विगलन से मनुष्य को आत्मस्वरूप और स्व-भाव अथवा आत्म-भाव की उपलब्धि होती है तथा अपने विस्मृत अथवा खोए हुए स्वरूप को पुनः प्राप्त कर किसे हर्ष न होगा? यथार्थ जगत् में भी हम देखते हैं कि हमें जब अपनी खोई हुई चीज मिल जाती है तब कितना हर्ष होता है। अगर किसी को उसका खोया हुआ स्वरूप मिल जाए तो निश्चय ही उसे अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होगी।"

ट्रैजेडी या काव्य के सम्बन्ध में डॉ० सहल का यह निर्देश भारतीय परम्परा के अनुरूप है। इस व्याख्या में भारतीय दर्शन और मनोविज्ञान का आश्रय लिया गया है। निश्चय ही ट्रैजडी की यह एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या होगी।

'ट्रैजडी के सम्बन्ध में नूतन मानवीय दृष्टिकोण' निबन्ध में डॉ० सहल ने बतलाया है—"त्रासदी में मानवोचित गुणों की भव्यता और नियति की क्रूरता के बीच संघर्ष होता है जिसमें पराजित होकर भी मनुष्य अपनी गुण-गरिमा के कारण अमरत्व प्राप्त कर लेता है। मनुष्य की महिमा हमें आनंदित करती है, क्योंकि परोक्ष रूप में प्रत्येक मनुष्य उसमें अपना ही जयजयकार देखता है।"

'दुःख से सुख की समस्या' निबन्ध में लेखक ने देश-विदेश के मतों का संकलन कर इस गूढ़ विषय की जानकारी एकत्र कर दी है।

विमर्श खण्ड में सिद्धांत-चर्चा के साथ ही कतिपय व्यावहारिक समीक्षा भी संकलित हैं। साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त कुछ सामयिक एवं कुछ दार्शनिक विषयों पर भी निबन्ध लिखे गए हैं, जिनमें लेखक की विद्वत्ता का प्रमाण निहित है।

हिन्दी और उर्दू की एकता के सम्बन्ध में डॉ० सहल ने भाषा-विज्ञान के आधार पर बड़ी दो टूक बात कही है कि दोनों की विभक्तियां (सुप्) और क्रियाएं (तिङ्) समान हैं, इसलिए हिन्दी और उर्दू को दो भाषाओं के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। ये एक ही भाषा की दो शैलियां हैं। 'भाषा के व्यावर्तक अथवा भेदक तत्त्व सुप् और तिङ् ही होते हैं।'

'अर्जुन का विषादयोग—एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण' निबन्ध में डॉ० सहल ने आधुनिक मनोविज्ञान और काव्य-शास्त्र आदि के आधार पर गीता के प्रथम

अध्याय की व्याख्या की है। यह एक अच्छा निबन्ध है, जिसमे नई दिशा का संकेत निहित है। इधर स्वामी चिन्मयानंद ने गीता की व्याख्या लिखी है जिसमें मनोविज्ञान के आधार पर प्रसंगों की अच्छी व्याख्याएं की गई हैं।

इस संग्रह के व्युत्पत्ति-खण्ड में डॉ० सहल ने अनेक राजस्थानी शब्दों की व्युत्पत्ति का संकेत किया है। इससे ग्रंथ की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

विमर्श-खण्ड के निबन्धों में यदि कोई क्रम रखा जाता तो अधिक उपयुक्त होता। ट्रेजडी से सम्बन्ध रखने वाले सभी निबन्ध एक ही क्रम में रखे जा सकते थे। इसी प्रकार दूसरे निबन्ध भी क्रम की अपेक्षा रखते हैं।

आशा है, अनेक विचार-विन्दुओं से युक्त 'विमर्श और व्युत्पत्ति' निबन्ध-संकलन हिन्दी के समीक्षकों और सुधी सामाजिकों का ध्यान आकर्षित करेगा।

अनुसंधान और आलोचना

• शम्भुसिंह मनोहर

'अनुसंधान और आलोचना' हिन्दी व राजस्थानी के सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं समीक्षक डॉ० कन्हैयालाल सहल की अभिनव कृति है, जिसमें विविध विषयों पर लिखे गए उनके नवीनतम समीक्षात्मक एवं शोधपरक लेख संगृहीत हैं। ये लेख विषयानुसार दो खंडों में विभाजित हैं। प्रथम राजस्थानी खंड के अन्तर्गत लोक-कथाएं, आख्यान, कहावतें एवं काव्यालोचन से सम्बद्ध लेख हैं, जिनमें विद्वान् लेखक ने राजस्थानी लोक-कथाओं में प्रयुक्त विविध कथाभिप्रायों, कथागत रूढ़ तन्तुओं आदि का मार्मिक विवेचन-विश्लेषण किया है। इस कोटि के प्रथम निबन्ध 'सांख्य दर्शन का आख्यायिकाध्याय' में विद्वान् लेखक ने सम्भवतः प्रथम बार सांख्य-दर्शन में प्रयुक्त विविध लोक-कथाओं के मूल स्रोतों पर प्रकाश डाला है, जिसमें हमारे दर्शन ग्रन्थों में लोक-कथाओं के मूल उत्स खोजने की दिशा में शोध को निश्चय ही एक नया आयाम मिलेगा। इस भाग के 'राजस्थान के आख्यान' शीर्षक लेख में राजस्थान के विविध ऐतिहासिक एवं प्रख्यात पुरुषों से सम्बद्ध ७२ रोचक आख्यान संगृहीत हैं, जिनमें इतिहास के अनेक स्मरणीय एवं यथाशक्ति अज्ञात रोचक व प्रेरणाप्रद प्रसंगों को, उनसे सम्बद्ध दोहों व गीतों सहित लिपिबद्ध कर विद्वद्वर डॉ० सहलजी ने राजस्थानी साहित्य

मणिकांचन संयोग हुआ है। फलत: इन निबन्धों में एक शिक्षा-शास्त्री की तार्किक शुष्कता एवं नीरसता न होकर एक स्नेहशील अभिभावक की तन्मयता एवं एक अनुभवी आचार्य के व्यक्तित्व की महनीयता ही अधिक उभरी है।

डॉ० सहलजी की यह कृति न केवल विद्वानों एवं अनुसन्धित्सु छात्रों के लिए ही, प्रत्युत हर साहित्य-प्रेमी पाठक के लिए, सर्वथा पठनीय एवं संग्रहणीय है।

•••

विवेचन

• डॉ० सुरेशचन्द्र सेठ

'विवेचन' हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ आलोचक डॉ० कन्हैयालाल सहल की एक महत्त्वपूर्ण समीक्षा-कृति है, जो न केवल उनकी आलोचना-प्रतिभा का परिचय देती है बल्कि उनकी विद्वत्ता के विविध सोपान भी प्रस्तुत करती है। कबीर, तुलसी से लेकर प्रसाद, पंत तथा नगेन्द्र तक एवं कोष, लाक्षणिक से गीता तक, डॉ० सहल की प्रतिभा ने इस कृति में विचरण किया है। इस कृति के लेखों के विषयों की विविधता सिद्ध करती है कि डॉ० सहल के अध्ययन और ज्ञान का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। [illegible] नये विषयों पर उन्होंने अपनी भावनाओं के अनुरूप जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे इतने स्पष्ट हैं कि पाठक को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। इतने पर भी उनका यह दुराग्रह नहीं रहता कि पाठक उनकी बातों को स्वीकार करें ही। 'विवेचन' के 'निवेदन' में प्रसाद जी के नियतिवाद पर अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, "नियतिवाद पर मैंने नये दृष्टिकोण से विचार किया है। यह [illegible] नहीं है कि मेरे निष्कर्षों से सभी सहमत हों और न मैं इसकी [illegible] ही रखता हूँ। किन्तु मुझे विश्वास है कि पाठकों को इससे विचार करने के लिए [illegible] अवश्य मिलेगा।" लेकिन इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि "प्रसाद जी का नियतिवाद", 'नियतिवाद और अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ और नियतिवाद' [illegible] शोधार्थियों को शोध के नवीन क्षेत्र प्रदान किए हैं। [illegible] की विशिष्टता दर्शाने एवं उनके मर्म को स्पर्श करने में डॉ० सहल ने [illegible] का परिचय दिया है। 'उर्मिला का विरह वर्णन' लेख इस [illegible] का [illegible] है।

'विवेचन' कृति के लेखों में डॉ० सहल की जिस बात से अधिक प्रभावित हुआ हूँ—वह है उनकी जनहितकारी सम्यक् मीमांसा। विषय का सम्यक् प्रतिपादन करते समय उनका दृष्टिकोण सदा इस बात की ओर उन्मुख रहता है कि जिन तथ्यों को प्रकाश में लाया जा रहा है, उनसे कितना मानव-कल्याण हो सकता है। प्रसाद के नियतिवाद का स्पष्टीकरण करते समय भी उन्होंने यही सिद्ध किया है कि प्रसाद का नियतिवाद किसी भी रूप में व्यक्ति को निष्क्रियता और निश्चेष्टता की ओर उन्मुख नहीं करता। नियतिवाद की दार्शनिक व्याख्या करते हुए उन्होंने यही प्रतिपादित किया है कि प्रसाद जी की दृष्टि में यद्यपि नियति प्रकृति की नियामिका शक्ति है, नियति को कोई रोक नहीं सकता तथापि नियति के कार्य-व्यापार में विश्व भर के हित की भावना सन्निहित रहती है। डॉ० सहल ने नियति का अन्त दुखमय न मानकर, प्रसाद के समान, सुन्दर आशामय माना है—"नियति कर्तृत्व-मद से मत्त मनुष्यों को कर्म-शक्ति की अनुचरी बनाकर कार्य कराती है।.........इसमें व्यक्तित्व की मर्यादा का ध्यान नहीं रहता; 'सर्वभूत-हित' की कामना पर ही लक्ष्य होता है।" 'मानसिक स्वास्थ्य और गीता' लेख में भी उनका यही दृष्टिकोण कार्य कर रहा है। 'नात्मानमवसादयेत्' (गीता) अर्थात् कोई भी अपने को अवसाद के वशीभूत न होने दे—गीता के इस सदेश को ही डॉ० सहल ने इस लेख मे प्रतिपादित किया है। 'संस्कृति क्या है ?' तथा 'सास्कृतिक सन्त कवि तुलसीदास' लेखों मे भी डॉ० सहल की जनहितकारी सम्यक् मीमांसा के ही दर्शन होते हैं।

डॉ० सहल एक समन्वयवादी आलोचक हैं। उन्होने पाश्चात्य साहित्य एवं साहित्य-शास्त्र का अध्ययन किया है, संस्कृत साहित्य को आत्मसात् किया है तथा बगला, गुजराती, मराठी आदि भारतीय भाषाओं के साहित्य को अच्छी तरह समझा है। 'रस सिद्धान्त और कीथ', 'लांजीनस और भावोत्कर्ष', 'सस्कृत के नाट्याचार्य और नाटक की तीन अन्वितियाँ', 'देवी चन्द्रगुप्तम्' का आनुमानिक कथानक' आदि लेख उनकी समन्वयकारी दृष्टि का परिचय देते हैं। लेकिन एक बात सर्वत्र देखने को मिली है कि डॉ० सहल अपने लेखो में एक निष्पक्ष समीक्षक के रूप में विषयों का विश्लेषण करते हैं। 'विवेचन' के लेखो मे डॉ० सहल की शैली अत्यत प्रभावोत्पादक है, प्रत्येक लेख मे सम्यक् शब्द-संयोजना, विचारो की स्पष्टता तथा भावो की क्रम-बद्धता विषय-वस्तु के मन्तव्य को स्पष्ट करने में पूर्ण समर्थ है। उनमे मौलिक चिन्तन है तथा 'विवेचन' मे संकलित लेख प्रमाणित करते हैं कि डॉ० सहल वास्तव मे काल के बधन से मुक्त उन व्यक्तियो मे से है जिन्होने प्रत्येक युग के महत्त्वपूर्ण तथ्यों को जीवन की कसौटी पर खरा कर लेने के उपरान्त उनकी व्यावहारिकता को स्वीकार किया है। अन्धानुकरण की परिधि से अपने आपको मुक्त रखकर आगे बढ़ना ही उन्हे स्वीकार्य है।

•••

समीक्षायण

• ओमप्रकाश शर्मा

डॉ० कन्हैयालाल सहल एक प्रसिद्ध समन्वयवादी व्याख्याता आलोचक हैं। उनकी प्रसिद्ध समीक्षाकृति 'समीक्षायण' उनके ३० समीक्षात्मक निबंधों का सकलन है। इसमें 'वह क्षण भी धन्य है' निबंध एक ललित निबंध है पर इसमें भी डॉ० सहल ने कलाभिव्यक्ति के क्षण के महत्त्व को स्पष्ट किया है। तभी तो उन्होंने कहा है, "कला के उस क्षण को नमस्कार है जिसमे अभिव्यक्त हुई सौन्दर्यानुभूति कलाकार की होते हुए भी कलाकार की नहीं रह जाती और न उस अनुभूति पर उस विशेष क्षण का ही कोई अधिकार रह पाता है।" (पृष्ठ १२८) 'काव्य की आठ माताएँ' लेख मे भी उन्होंने राजशेखर द्वारा उल्लिखित काव्य की आठ माताओं का विवेचन बहुत मौलिक सूझ से किया है। इस मौलिक सूझ में डॉ० सहल ने काव्य-रचना-प्रक्रिया के मूल को पकड़ने की चेष्टा की है, जैसे, "भावयोग ही कवि का स्वास्थ्य कहा जा सकता है" (पृष्ठ ११६) अथवा "काव्य का वातावरण उल्लास का वातावरण है। कवि दुख को भी जब अपने काव्य का विषय बनाता है, तब दुख भी उसके लिए सुखद रूप धारण कर लेता है, बहुत से कवि तो अपने दुख को हलका करने के लिए कभी-कभी दूसरों के दुख का वर्णन करते देखे गए हैं।" (पृष्ठ १२१) ये पंक्तियां डॉ० सहल की व्यापक एवं पैनी समीक्षा-दृष्टि की ओर भी सकेत करती हैं। 'समीक्षायण' के निबंधों के विषयों की विविधता से पता चलता है कि उनका अध्ययन-क्षेत्र बहुत विशाल है—मार्क्स से रिचर्ड्स तक तो रवीन्द्र से गांधी तक; तुलसी से छायावाद तक तो रामचन्द्रिका से साकेत तक; कृष्ण-समस्या से शैली और काव्य-दोष तक तो सूर से सरदार पूर्णसिंह तक। इसका तात्पर्य यह है कि समीक्षक डॉ० सहल अपने आपको किसी विषय-विशेष से बांधे रखना नहीं चाहते तथा अपनी समन्वय-बुद्धि से साहित्य के विभिन्न पक्षों पर मौलिक दृष्टि से विवेचन करते हैं। उनका हर लेख उनकी मौलिक सूझ बूझ का परिचायक है। लेकिन विषय-प्रतिपादन मे उन्होंने अपनी भाषा अथवा शैली को पांडित्य-बोझिल या जटिल नहीं होने दिया है। उन्होंने हर विषय को सहजग्राह्य शैली मे प्रस्तुत किया है क्योंकि उनके समीक्षा-मानस मे विषय-सम्बंधी सभी प्रत्यय बिल्कुल स्पष्ट हैं। इसी स्पष्टता ने डॉ० सहल के विवेचन को सहज किन्तु गम्भीर एवं गरिमावान बना दिया है।

•••

रहे हों) कहकर आचार्य दण्डी ने अपरिपक्व पाठकों को भ्रम में डाल दिया है। स्वयं दण्डी के ही शब्दों में 'स्वभावोक्ति पदार्थों के नानावस्था वाले रूप को साक्षात् गोचर कर देती है। दण्डी ने स्वभावोक्ति की जो परिभाषा दी है अथवा अन्य आचार्यों ने स्वभावोक्ति का जो लक्षण स्थिर किया है, उसका शास्त्रीय निश्चय तो शास्त्रों में नहीं है। शास्त्र केवल अर्थ-ग्रहण करवाकर अपने व्यापार से छुट्टी पा लेता है किन्तु काव्य में केवल अर्थ-ग्रहण से काम नहीं चलता, वहां बिम्बग्रहण अपेक्षित है। दण्डी ने वार्ता और स्वभावोक्ति को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करके विचार विभ्रम उपस्थित कर दिया है। आचार्यों के विवेचन में भी जहां वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव हो, उसकी ओर निर्देश करना भी आवश्यक है, यद्यपि कुशाग्र पाठक के लिए आपाततः असंगत प्रतीत होती हुई उक्तियों में भी संगति बिठाना कोई मुश्किल कार्य नहीं।" लिखकर अपना मौलिक मतवैभिन्य प्रकट किया है। साहित्य के विभिन्न शास्त्रीय पहलुओं पर मत-मतान्तर तो पुराने काल से चले आ रहे हैं किन्तु उन पर बड़े सुलझे ढंग से लेखनी चलाकर पाठक के परमार्थ विषय को बोधगम्य बना देना सहल जी की निराली विशेषता है। कभी कभी आपकी लेखनी गुरु की सी याद दिला देती है—'सुख वास्तव में समन्वय अथवा सामञ्जस्य में है। यह त्रिगुणात्मक सृष्टि ही, सच पूछा जाय, तो द्वन्द्वात्मक है। यहां सुख दुःख, पाप पुण्य, राग द्वेष के द्वन्द्व चलते ही रहते हैं। किसी भी अतिवाद के अवलम्बन में सुख नहीं, सुख है विरोधी भावों के समन्वय में। हर एक वस्तु के दो पहलू होते हैं—एक ही पहलू को कट्टरपन से अपना लेने पर संकीर्णता और एकांगिता आ जाती जो किसी भी प्रकार वांछनीय नहीं।' (करुण रस की सुखात्मकता) सहल जी का [illegible] लगता है कि देशी-विदेशी सभी विद्वानों के विचारों का खूब अध्ययन किया है और अच्छी तरह उनका मन्थन कर अपना सार प्रस्तुत किया है। 'प्रगति के पथ पर' पुस्तक में 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और प्रगतिवाद' तथा 'मार्क्सवाद' बड़े महत्त्वपूर्ण और सारगर्भित निबन्ध हैं।

सहल जी ने साकेत, कामायनी आदि हिन्दी की प्रमुख काव्यकृतियों पर जो कई समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं। 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' भी समीक्षात्मक व्याख्या के क्षेत्र में आदर्श एवं स्थायी उपलब्धि है। इसी प्रकार कामायनी तथा उसके विभिन्न सर्गों की आलोचनाएं मर्मस्पर्शी व्याख्यापरक प्रसाद के मर्म और मन्तव्य का उद्घाटन करने वाली स्मरणीय रचनाएं हैं।

निस्सन्देह हिन्दी में सरल प्रभावशाली भाषा शैली में उच्च विचार का सूत्र प्रतिपादन करने वाले लेखकों में सहल जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

•••

का महाकाव्यत्व' निबंध में डॉ० सहल ने महाकाव्य के तत्त्वों के आधार पर 'कामायनी' की नीरस समीक्षा नहीं की है प्रत्युत एक व्यापक दृष्टिकोण से 'कामायनी' के महाकाव्यत्व पर विचार किया है। 'राष्ट्रीय-चेतना, उत्कर्ष, स्वभाव तथा चारित्र्य की जितनी भव्यता महाकाव्य में मिलती है, उतनी और किसी काव्य में नहीं।' राष्ट्रीय चेतना के गहरे स्तरों को ही महाकाव्य स्पर्श करते हैं' जैसे कथन उनकी सूक्ष्म दृष्टि के परिचायक हैं। प्रसाद के नियतिवाद पर प्रथम बार विचार करने का श्रेय डॉ० सहल को है लेकिन इसमें भी उन्होंने मानव कल्याणकारी भावना को ही खोजा है। 'नियतिवाद और कामायनी' लेख की ये पंक्तियाँ उनकी धारणा को स्पष्ट करती हैं 'इस प्रकार का नियतिवाद न भाग्यवाद अथवा दैववाद है और न किसी प्रकार के पलायन का प्रचार ही।' संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'कामायनी-दर्शन' डॉ० सहल की एक महत्त्वपूर्ण समीक्षा-कृति है।

•••

समीक्षांजलि

१. • सुमित्रानंदन पंत

प्रस्तुत पुस्तक आद्योपांत मैं पढ़ गया। लेखक ने मेरे काव्य के बारे में ललित शब्दों में जो लिखा है, उसके लिए आभारी हूँ। समीक्षा की दृष्टि से लेखक का दृष्टिकोण सुन्दर तथा यथेष्ट सन्तुलित लगा। 'गुंजन' पर नवीन पुस्तक की प्रतीक्षा सोत्कण्ठ होकर करूँगा।

हिन्दी की आलोचना का स्तर सहलजी जैसे साहित्य-प्रेमी विद्वज्जनों को अधिक व्यापक, गंभीर तथा युग के अनुरूप बनाना है। लेखक की शैली संयत तथा स्पष्ट है। पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई।

(मरुभारती, जनवरी १९६४ से साभार)

२. • डॉ० रामविलास शर्मा

सहलजी ने उक्त पुस्तक में जिन मतों और विचारों की विवेचना की है, उनसे असहमत होते हुए भी उनकी विवेचना के मूल्य से इनकार नहीं किया जा

सकता। इसलिए नहीं कि कला-कला के लिए की तरह विवेचना-विवेचना के नाते अच्छी है, वरन् इसलिए कि इस पुस्तक से हिन्दी पाठक बहुत-सी नई बातों से परिचित होंगे। सहमत-असहमत होने का सवाल बाद का है, सबसे पहले तो जानकारी की जरूरत है।

(साहित्य संदेश, जून १९४५ से साभार)

•••

दृष्टिकोण

• गजराज जैन

प्रस्तुत पुस्तक में प्रो० कन्हैयालालजी सहल के ३३ लघुकाय निबंधों का संग्रह है। पुस्तक के आरम्भ में कविवर्य श्री सियारामशरण गुप्त के दो शब्द हैं। हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार के छोटे निबंध बहुत ही कम देखने को मिलते हैं। सहलजी की लेखनी ने इन लघुकाय निबंधों को बड़ा प्रभावोत्पादक बना दिया है। कतिपय निबंध, जैसे 'मृत्यु-तत्त्व', 'भाषा का चमत्कार' और 'प्रतिभा' आदि तो बहुत ही सुन्दर हैं और रोचक बन पड़े हैं। मुद्रण साफ-सुथरा और कागज बढ़िया है। निबंध-प्रेमियों के लिए 'दृष्टिकोण' वस्तुतः उपादेय है।

(साहित्य सन्देश, अप्रैल १९५२ से साभार)

•••

प्रयोग

प्रस्तुत पुस्तक डॉ० सहलजी की कविताओं का संकलन है। इसमें कुल २४ कविताएँ हैं। प्रारंभ में 'एक भारतीय आत्मा' श्री माखनलालजी चतुर्वेदी की आकांक्षा है। पुनः लेखक की स्वलिखित भूमिका अर्थात् 'आमुख' (पानी बिच मीन पियासी) है। चतुर्वेदीजी ने कवि 'सहल' के इन 'प्रयोगों' को 'बोल' कहा है और इन 'बोलों' में एक 'अटपटापन' बतलाया है। साथ ही यह भी कहा है कि 'प्रगति' और 'प्रयोग' से परे मैं भाव-द्रव्यों के नवीन मिश्रण का प्रशंसक हूँ'। निष्कर्ष यह

कि प्रगति, प्रयोग, अटपटे बोल तथा भाव-द्रव्य के मिश्रण आगे-पीछे एक ही श्रेणी के नवीन वाद हैं। पुन: आमुख के संबंध में मैं कहूँगा कि पद्य-प्रयोगों की भाँति यह गद्य-प्रयोग है। जैसे चिंतन के क्षण से निकले पद्य-प्रयोग हैं, वैसे ही चिंतन-क्षण में प्रकट हुआ यह गद्य-प्रयोग भी।

'जन-समुद्र में अपने चित्त को, अपनी चेतना के नीचे-ऊँचे स्तरों को कुछ क्षणों के लिए समेटकर, हम चिंतन करना सीखेंगे, तभी हमारे देश का भला होगा।' आदि लेखक के कथन सब प्रकार सबके लिए उपादेय सिद्ध हो सकते हैं। कविताओं के संबंध में मैं कहूँगा कि निश्चय ही अपने ढंग के ये कुछ नये चिंतन हैं। इनमें कुछ तो दूसरों के प्रभाव लिए भी अपनी अभिव्यक्ति में स्पष्ट हैं तथा कुछ मौलिक चिंतन के परिणाम भी हैं। प्रयोग के कुछ उदाहरण स्वयं बोलते हैं —

(१) "ओ रे मयूर! सुन्दर मयूर!
व्यगक मयूर!
एक बात पूछूँ उत्तर दोगे?
शहरों में तुम रहे नहीं
फिर क्यों कर तुमने
बाहर में कमनीय कलेवर
अन्दर में दुनिया बन कर के
सीख लिया
विषधर का खाना।"

(२) "जो आग की जलन गयी
तो आग फिर कहाँ रही?
कि रूप ही बदल गया
जो ढेर राख का रही।
परन्तु यह मनुष्य है,
मनुष्यता निकल गई।
तथापि रूप है वही
कि बात यह अजब नई।"

डॉ० सहलजी हिन्दी के ख्याति-लब्ध आलोचक हैं। आलोचना के क्षेत्र में इन्होंने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। कविता के क्षेत्र में भी इन्होंने एक सफल प्रयास किया है। इन्होंने इस क्षेत्र में जो नया रूप रखा है, मैं कामना करता हूँ कि अपने चिन्तन के [illegible] अन्तर

प्रयोगों द्वारा आप हिन्दी के भण्डार को अधिकाधिक मूल्यवान बनाने में निश्चय ही समर्थ होंगे। अवश्य, लगन के पक्के कुछ कर दिखाते हैं। आलोचक सहलजी हिन्दी क्षेत्र में कवि-रूप में अधिक प्रकाश विकीर्ण करेंगे, यह किंचित भी संदिग्ध बात नहीं। इस लेखक की एक दर्जन आलोचनात्मक पुस्तकें, आधा दर्जन सम्पादित पुस्तकें निकलीं, कई पुस्तकें प्रेस में हैं। लेखक से हिन्दी को बड़ी आशाएँ हैं। विश्वास है, सहलजी पूर्ण करेंगे।

(सिद्धांजना से साभार–प्रशस्त स्वाधीनता विशेषांक–१९५७)

•••

क्षणों के धागे

१. • मणि मधुकर

'क्षणों के धागे' डॉ० कन्हैयालाल सहल का दूसरा कविता-संग्रह है। 'प्रयोग' के द्वारा उनके कवि ने सर्वप्रथम हिन्दी-जगत् में प्रवेश किया था और अब उन्होंने अपना एक अलग ही स्थान बना लिया है। उनके प्रयोगों को राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने मुक्त कंठ से सराहा, माखनलाल चतुर्वेदी को कवि सहल के बोलों का अटपटापन बहुत भाया और डॉ० हरिवंशराय बच्चन उनके मौलिक आग्रहों पर दंग रह गए। 'प्रयोग' के बाद 'क्षणों के धागे' हमारे सामने प्रस्तुत है। संग्रह की 'ताना बाना' शीर्षक अपनी बात में डॉ० सहल ने लिखा है—"जीवन की संकुलता और व्यस्तता से जब कभी मैं अपने आपको मुक्त कर पाता हूँ, तब कुछ क्षणों के धागों से मैं ऐसा पट बुनने लगता हूँ जिसे देखकर मुझे अपने ऊपर हँस लेने का अयाचित सुअवसर प्राप्त हो जाता है। ये धागे रंगीन हैं या श्वेत-शुभ्र, ये परम्परागत हैं या प्रगतिशील, ये टिकाऊ हैं या अल्पजीवी, ये बहुमूल्य हैं अथवा निमूल्य, यह मैं नहीं जानता, मैं तो केवल इतना जानता हूँ कि एक सुन्दर विचारपट जब मैं बुन लेता हूँ तो मैं उसी प्रकार उल्लसित हो उठता हूँ जिस प्रकार कोई सहज कवि किसी सुन्दर कल्पना के द्वारा आत्मोपलब्धि प्राप्त कर हर्ष-विभोर हो उठता होगा।"

सहज कवि ? शायद यह लिखते समय सहलजी का आलोचक व्यक्तित्व अधिक सचेष्ट रहा है अन्यथा वे तो सहज कवि हैं ही। फिर उनके मन में अपने कवित्व के प्रति यह शंका क्यों ? तथाकथित प्रयोगवादियों की रचनाओं के समकक्ष उनके प्रयोगों को नहीं रखा जा सकता—उनका स्थान भिन्न है। संभव है, इसीलिए

महलजी अपने कवि रूप को न स्वीकारते हों, किन्तु उनकी यह शंका सर्वथा निर्मूल है।

नयी कविता के दिग्गज कवियों की कृतियों का अध्ययन करने पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि वे असामाजिक एवं वैयक्तिक कुंठाओं से पीड़ित हैं। किसी क्षण-विशेष के सचारी भावों को वे अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। वे उस क्षण को जीते हैं, उसका पूर्ण भोग करते हैं। अत. स्थायी भावों के अभाव में उनकी रचनाएँ मनोमुग्धकारी नहीं हो पातीं। छन्द मुक्त होने के साथ-साथ वे लय-मुक्त भी होती हैं। संगीत की उपेक्षा उन्हें नीरसता से भर देती है। इसके अतिरिक्त तथाकथित प्रयोग-वादी कवियों ने विज्ञान का समर्थन कर बुद्धि का आश्रय ग्रहण किया है, भाव पक्ष का उन्होंने लगभग बहिष्कार ही किया है। इन सब मान्यताओं की कसौटी पर 'क्षणों के धागे' खरा नहीं उतरता और यही कवि सहल की विशेषता है, यद्यपि उनके प्रयोग गंभीर चिन्तन-प्रधान हैं किन्तु हम उन्हें अज्ञेय की बगल में खड़ा नहीं कर सकते। हाँ, दिनकर और बच्चन की नई धारा के साथ वे दृढ़तापूर्वक कदम से-कदम मिलाकर चलने को तैयार हैं।

नया कवि उदासी, पलायन, सदेह, विघटन, दुर्दमनीय अहन्ता और अतृप्ति के कटघरे में बन्द है। वह प्राचीन आस्थाओं को समाप्त कर भौतिकता का समर्थन, रागात्मक प्रवृत्तियों का विरोध और बौद्धिकता में पूर्ण विश्वास करने के लिए कटिबद्ध है किन्तु आस्थामूलक नये संस्करणों, नूतन परिपाटियों को उदित करने में वह एकदम असमर्थ रहा है। आलोच्य कृति में हमें कहीं भी रुग्ण मनोवृत्तियों के दर्शन नहीं होते। कवि ने उन सब भावनाओं से ऊपर उठकर काव्य-सृजन किया है। उसने अपनी प्रौढ़ लेखनी से आशा एवं आस्था के नवीन आयामों का उद्घाटन करते हुए बीच में किसी प्रकार भी उलझाव नहीं आने दिया है। वर्तमान के प्रति जागरूक और भविष्य के प्रति वह आशावान है। किन्तु अतीत को वह 'इतिहास की आँखों से' देखता है। समय की प्रत्येक स्थिति को वह स्वीकार करता है, पर कुछ प्रश्न चिह्न उसके होठों पर खिंचे हुए हैं :—

> समय दुरन्त महासागर है
> कितना विस्तृत कितना दुर्गम
> कौन जानता ?
> कब से है आरम्भ समय का ?
> प्रादुर्भूत हुई थी रजनी
> अथवा पहले दिन का ही

अवतरण हुआ था
कौन बताये ?

× × ×

महाकाल यह बिखर पड़ा है
जगती-तल मे
बूँद-बूँद बन
रिसता ही, रिसता रहता है।
किस अतीत मे सचित होते
बीत-बीत कर वर्तमान क्षण ?

(समय का बांध)

सग्रह की गई कविताओ मे पाठक को चौकाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। जैसा कि डॉ० सहल ने लिखा है, ऐसा रचना-पट बुनते-बुनते वे स्वयं भी चौक उठे हैं। उसी मनोदशा मे वे कोई असाधारण-सी बात कह जाते हैं। जैसे आज शहरो मे बिजली के प्रकाश ने अन्धकार से प्राप्त होने वाली मानसिक शान्ति को भग कर दिया है तो कवि की कल्पना है :—

यहाँ बिजलियाँ
अन्धकार को
निगल गयी है—
निगल गयीं क्या,
उल्काएँ ये
इन सबने मिल
अन्धकार को आग लगादी !
अन्धकार की वह गरिमा
वह सन्नाटा सब
स्वप्न-जगत् की वस्तु बन गया !

'जिज्ञासा' और 'मै हूँ पाँच हजार वर्ष का' मे भी चौकने और चौकाने की भावना सबल है। कवि मोहेजोदडो के बैल, टाउन प्लैनिंग, बाथरूम आदि अपनी स्मृतियो मे संजोकर वैदिक सभ्यता से गुजरता है। वह जनक और ऋषि याज्ञवल्क्य के प्रश्नोत्तर, नागार्जुन के शून्यवाद, शंकराचार्य के भाष्य, गोरख-दादू-कबीर और तुलसी-सूर के काल से परिचित है। अपने भूतकाल के ज्ञान-नेत्रो से देखता हुआ, वह उसे वर्तमान से जोडता है और खुली घोषणा करता है :—

मैं न मात्र चालीस वर्ष का
मुखरित मेरा ग्रहं हो रहा
मैं हूँ पांच हजार वर्ष का।

विज्ञान का प्रकोष्ठ बुद्धि की नींव पर आधारित है तो कविता में रागात्मकता प्रधान है। और मेरा कहना यह है कि डॉ० सहल के कवि का मूलाधार है, इन दोनों का समन्वय। वैचारिकता और भावात्मकता, वे दोनों के पोषक हैं। भौतिक (सार्वत्रिक मेरा जीवन-दर्शन), धार्मिक (बहुजनहिताय) राष्ट्रीय (देश, मेरे देश) आदि जीवन के सभी पक्षों में उन्होंने सन्तुलन बनाए रखा है। दर्शन और अध्यात्म के प्रति कवि का झुकाव है किन्तु रचनाओं में दार्शनिक दुरूहता, अभिव्यक्ति की अस्पष्टता और छायावादी प्रतीक-शैली की अनावश्यक अधिकता बिलकुल नहीं आ पाई है। उन्होंने न तो योरप के 'इमेजिस्ट' कवियों की भाँति चिन्तन-मनन का बहिष्कार किया है और न ही भौतिक जगत् की वकालत की है। कोमल कल्पनाओं और उद्भावनाओं के द्वारा उन्होंने वैचारिक शक्ति को अनिवार्य रूप से ग्रहण किया है अथवा यों कहना चाहिए कि उसे सहज ग्राह्य बनाया है। डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय तथाकथित प्रयोगवाद को 'डीह्यूमेनाइजेशन' कहते हैं। किन्तु 'क्षणों के धागे' पढ़कर उन्हें सन्तुष्टि मिलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

जीवन असंगतियों का विशाल क्षेत्र है। किसी भी दौर पर चले जाइए, आप वातावरण से पूरे सन्तुष्ट नहीं हो पायेंगे। जब आप किसी कार्य को अनुचित समझते हैं और सोचते हैं कि यह उचित नहीं है किन्तु आप स्थिति को सामर्थ्य से बाहर पाकर कुछ कर नहीं पाते तो व्यंग्य का सहारा लेते हैं। प्राचीन संस्कृत और हिन्दी साहित्य में व्यंग्य वृत्ति की प्रचुरता पाई जाती है। युग के साथ व्यंग्य के उपादान बदलते रहते हैं। राजाओं की मूढ़ता, पंडितों का पेटूपन तथा सेठों की कंजूसी व्यंग्य के पुराने उपादान हैं। नये उपादानों की दृष्टि से डॉ० सहल की 'क्या यह शर्म की बात है?' कविता बड़ी तीखी-चुभती है। 'आओ, हम रोना रोयें' 'फिर भी वह तो मात्र द्विपद है' 'पथभ्रष्ट को आग लगादो', 'विडम्बना' आदि में करारे व्यंग्य किए गए हैं। दुर्जन—समाज, शहरी सभ्यता, आधुनिक व्यस्त जीवन और कृत्रिम आवरण में अपने पशुत्व छिपाने वाले मनुष्य पर कस-कसकर व्यंग्य बाण चलाए गए हैं।

काव्य में संगीत और लय का विशेष महत्त्व है। आलोच्य पुस्तक छन्द-मुक्त तो है किन्तु लय-मुक्त नहीं है और यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि सहलजी छन्दों से भी मानवीय चेतना को आनन्द-मग्न करने की क्षमता रखते हैं। उनके अनुसार "काव्य में भी एक वजन, एक कदम अथवा गति-नर्तन का

अन्तर्निहित संवेदन होना चाहिए"। चित्रोपम रूपात्मकता सर्वत्र विद्यमान है। नयी कविता के नाम पर गद्य लिखने वालों को इनसे प्रेरणा लेनी चाहिए। जहाँ तक बिम्ब-विधान का सवाल है, 'दागों के धागे' में अनेक रूप मिल जाएँगे। उन्हें पढ़ते हुए मुझे बार-बार लगा है, जैसे ये अनुभवों के सागर में डूब कर लाए हुए मुक्ताकण हैं, कल्पना के निस्सीम व्योम में खिलने वाले अनगिनत सतरंगे इन्द्र धनुषी टुकड़े हैं और कविता के चमकीले पर्दे पर उनके स्थायी चित्र बना लिए गए हैं। 'अनुभव की दुहिताएँ' कैसी हैं, देखिए—

लोकोक्तियाँ हैं ये,
मुहावरे हैं ये,
सच नहीं लगती हैं किसी से ये
जैसा देखती, वैसा ही
कहती हैं ये

× × ×

देवियाँ हैं ये
सत्य की सरस्वतियाँ हैं ये,
घटित की प्रतिध्वनियाँ हैं ये,
काल की दीमक से
अछूता
फर्नीचर हैं ये।
नावक के-से तीर हैं ये,
मर्माघाती की मरहम हैं ये,
विश्व भर में संचरणशीला ये,
पर्वतों की-सी प्राचीना ये
ईसा से भी आदृता ये
नमस्या हैं ये !
अनुभव की दुहिताएँ
हैं ये।
संख्या में असंख्या हैं ये !

डॉ० सहल राजस्थानी लोक-जीवन के जाने-माने व्याख्याता हैं। लोक-साहित्य का प्रभाव उनकी कविताओं पर भी पड़ा है। राजस्थानी भाषा के कुछ शब्दों-मुहावरों को उन्होंने बड़ी सतर्कता से अपनाया है जैसे 'चिना' गया, अरे

मोरिये ! अरे भानजे ! रात 'कानी' करना, चोखी-चोखी इत्यादि। अन्त में, मैं डॉ० सहल के कवि द्वारा निर्मित इन 'क्षणों के धागों' को, काव्य के चमन में लगाए गए सुन्दर, आकर्षक एवं सुरभित फूलों के इन गुच्छों को, आलोचकों को अपने घर के उद्यान में सजाने के लिए आमन्त्रित करता हूँ।

('प्रेरणा' से आभार)

२. • सुश्री शकुन्तला

डॉ० कन्हैयालाल सहल प्रकृति से एक गम्भीर, चिन्तनशील एवं मननशील व्यक्ति हैं। उनकी प्रवृत्ति हास्य और विनोद की ओर कभी-कभी ही झाँकती है। अगर काव्य को कवि के जीवन का चित्र कहा जाए तो डॉ० सहल की रचनाओं में गम्भीरता, चिंतनशीलता एवं मननशीलता का ही प्राचुर्य मिलना सम्भव है। उनकी कुछ ही कविताएँ इस प्रकार की कही जा सकती हैं जिनमें हास्य और विनोद के दर्शन होते हैं।

हास्य व विनोद का प्रधान उद्देश्य तो पाठक का केवल मनोरंजन करना ही रहता है। डॉ० सहल की कृति 'क्षणों के धागे' में कुछ कविताएँ ही ऐसी हैं जो इस श्रेणी में रखी जा सकती हैं और इनको पढ़ने पर थोड़ी देर तक मुलकर हँसने का अवसर मिलता है। उदाहरणार्थ–'जिज्ञासा' व 'छेड़छाड़'। इनके अलावा इस काव्य-संकलन में इस प्रकार की कविताएँ नहीं हैं। कई कविताएँ जब तक आगे पढ़ी जाती हैं, पूर्ण नहीं की जातीं, तब तक ही उनमें इस तरह की हँसी का मौका मिलता है, लेकिन जब वे समाप्त करदी जाती हैं तो पाठक एकदम से गम्भीरता के साथ सोचने के लिए बाध्य होता है।

मेरे ख्याल से उपर्युक्त प्रभाव का कारण केवल व्यंग्य की प्रधानता को ही कहना समीचीन होगा। व्यंग्य की प्रधानता से आशय यह है कि इन कविताओं में हास्य की अपेक्षा व्यंग्य की ओर ही कवि अधिक प्रवृत्त हुआ है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि कवि का हास्य व्यंग्योन्मुख अधिक है। हास्य का प्रधान उद्देश्य मनोरंजन होने के कारण हास्य-स्थलों पर पाठक का हँसना स्वाभाविक ही है, लेकिन व्यंग्य का प्रधान उद्देश्य मनोरंजन नहीं, बल्कि पाठक से अपने कथन का बरबस समर्थन करवाना और कवि के लक्ष्य की ओर अग्रसर करवाना ही होता है। इसका तात्पर्य यह है कि कवि जिस बात को कहना चाहता है, उसका प्रभाव केवल उपदेशात्मक ढंग से उत्पन्न नहीं किया जा सकता, अपने प्रभाव की तीक्ष्णता व गहराई

के लिए उसे काव्य मे व्यंग्य को प्रचुर मात्रा मे प्रश्रय देना पडता है। हम कह सकते हैं कि व्यग्य का उद्देश्य प्रभाव की गहराई व प्रखरता ही है।

उपर्युक्त विवेचन मे व्यंग्य का प्रधान उद्देश्य हमारे सामने आ जाता है। इस उद्देश्य में कवि तभी सफल हो सकता है जब वह पाठक की हँसी को ठेस पहुँचाकर विषय की ओर उसकी बुद्धि व हृदय को प्रवृत्त कर दे। ऐसा करने मे डॉ० सहल को अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई है।

डॉ० सहल की कविताएँ अधिकतर व्यग्य-प्रधान है। इस प्रकार की प्रायः सभी कविताओं का पूर्वांश पढते समय पाठक का हृदय हँसने के लिए मचल उठता है लेकिन उत्तरांश पढने पर जैसे पाठक की हंसी को एक कसमसाता हुआ "ब्रेक" लग जाता है और वह हसी एकाएक विलीन हो जाती है। कविता का उत्तरांश पढने पर पाठक का हृदय व्यग्य के तीक्ष्ण प्रहार से बिंध जाता है और ऐसा लगता है कि कवि ने हम लोगों को लक्ष्य करके ही इन कविताओं को रचा है। मन मे इस प्रकार के विचार के उत्पन्न होते ही, पाठक के ओष्ठों पर एक हल्की-सी मुस्कान बिखर जाती है। परंतु इस मुस्कान के पीछे जो वेदना, कसक छिपी रहती है, उसका सहज ही अनुमान लगाना कोई बच्चो का खेल नही। जिस प्रकार वर्षाकाल मे मेघाच्छन्न आकाश मे से सूर्य का निकलना इस बात का परिचायक होता है कि अब वर्षा की गति तीव्रतर होने वाली है, उसी प्रकार से यह मुस्कान इस बात को सूचित करती है कि पाठक अब इस व्यंग्य की गहनता मे उलझकर कुछ देर विचारों मे खो-सा जायेगा तथा इस व्यंग्य का प्रभाव अत्यधिक तीव्र होगा। ऐसा होते ही पाठक कवि की लक्ष्य-पूर्ति का साधन बन जायगा। यही तो काव्य का सच्चा उद्देश्य है जिसमे कवि डॉ० सहल को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

वास्तव मे देखा जाए तो इन व्यंग्य-प्रधान कविताओं मे कुछ का पूर्वांश तो पृष्ठ-भूमि के रूप मे उभर पडा है, उत्तरांश ही कवि की मूल-भावना या उद्देश्य है। कवि ने इसकी अभिव्यक्ति के लिए अच्छी तरह पृष्ठ-भूमि को चित्रित किया है, इस प्रकार की सफल पृष्ठ-भूमि के बीच कवि का व्यग्य पाठक को मर्माहत किए बिना नही रह सकता। इस सम्बन्ध मे उदाहरण स्वरूप उनकी कतिपय रचनाएँ उल्लेखनीय हैं :—"विडम्बना", "आओ, हम रोडा अटकाएँ", "क्या ये पलकें भी कृत्रिम हैं ?", "तनिक सरक जा, अरी धरित्री" और "देश ! मेरे देश !" आदि।

डॉ० सहल के 'क्षणों के धागे' में हास्य का सबसे अधिक सुन्दर रूप 'छेड़-छाड़' मे दिखाई पडता है। अगर वास्तव मे देखा जाए तो इस कविता का उद्देश्य, मेरी समझ मे, पाठकों का मनोरंजन करना ही है। उक्त शीर्षक वाली कविता इस प्रकार है :—

'कहा उमा ने
हे गणेश ! यह बात आज क्या ?'
अश्रु पोंछते हुए
कहा गणपति ने
'क्यों, माँ ?'
'क्यों रोते हो ?
हे गणेश !
बतलाओ तो तुम ।'
'स्कन्द खेंचता कान
अभी उससे
पूछो तुम !'
'छेड़-छाड़ रे स्कन्द !
कहो, तुम
करते हो क्यों ?'
'अम्ब ! इसी ने
साँस एक, दो. ..
गिनती की थी ।'
'नहीं गजानन !
काम तुम्हारा
भी यह अच्छा ।'
'अम्ब ! नासिका
नापी मेरी
मैं हूँ
सच्चा ।'
लोटपोट सी हुईं
हँसी में
जग की माता ।
रक्षा सबकी
करें सदा वह
सब की माता ।

इस कविता की रचना कवि ने एक [illegible] के [illegible] पर की है, परन्तु इसकी मौलिकता के बल पर इसको कवि ने [illegible] है । किसी अंग्रेज विद्वान् ने कहा है—"When a great writer [illegible]

improves." इस दृष्टि से यह कविता सर्वश्रेष्ठ है। एक ही कथा को लेकर अनेक कृतियों का निर्माण होता है; जैसे विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस', डी० एल० राय तथा प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त'। एक ही कथा के होते हुए भी, इन तीनों कृतियों में भिन्न-भिन्न विशेषताएँ पायी जाती हैं। कुछ भी हो, कवि ने इस कविता में हास्य की सृष्टि सफलतापूर्वक की है।

'जिज्ञासा' नामक कविता में इसी प्रकार की बालकोचित भावना के कारण हास्य की उत्पत्ति होती है। उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं :—

'माँ ! तुम मुझको यह बतलादो।
सोमवार, मंगल, बुध, गुरु-दिन
शुक्र, शनिश्चर, ये सब वार
क्यों आ जाते जल्दी-जल्दी ?
कहाँ ठहर जाता रविवार ?
क्या इनके मोटर गाड़ी है ?
क्या रविवार ऊँट पर चलता ?
माँ ! उसको भी 'कार' मंगादो
या साईकिल ही दिलवादो।
वह भी जिससे जल्दी आए
कभी न इतनी देर लगाए !
माँ, तुम मुझको यह बतलादो।'

इस कविता में बाल-मनोविज्ञान का इतना सुन्दर एवं सजीव चित्रण किया गया है कि उसे देखकर हृदय न केवल आनन्द से पुलकित हो उठता है बल्कि पाठक को दिल खोलकर मुक्त हास्य का अवसर मिलता है।

हास्य की दृष्टि से 'छेड़-छाड़' एवं 'जिज्ञासा' दो ही कविताएँ 'क्षणों के धागे' में देखने को मिलती हैं। लेकिन हमें इस बात पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि शिष्ट व साहित्यिक हास्य ही हमें डॉ० सहल की कविताओं में मिलता है, न कि 'तामस कोटि का फूहड़ हास्य'। प्रसादजी ने जिस हास्य की ओर साहित्यकारों का ध्यान आकृष्ट किया है, वही डॉ० सहल की कविताओं में पाठक को सुलभ होता है।

जिन व्यंग्योन्मुख कविताओं का पूर्वांश व उत्तरांश क्रमशः पृष्ठ-भूमि व लक्ष्य के रूप में चित्रित हुआ है, उनके उद्धरण अधोलिखित हैं :—

'प्रातःकाल उठकर चाय पीना
दैनिक पत्र के 'हेडिंग'
उलट-पलट कर देखना
रेडियो सुनना-सुनाना
सिगरेट के कश खींचते जाना
दफ्तर में जाना
श्रौर लौटना
टेनिस खेलना
क्लब में पहुँच
यार-दोस्तों से
गप-शप लड़ाना
फिल्म देखना
श्रौर रात
काली करना
यही श्राज का जीवन
है !
कहते हैं
विचारशील युग में
श्राज हम रहते हैं
किन्तु
किसी को जीवन की संकुलता में
विचार करने का,
चिंतन का
श्रवकाश ही नहीं !'

इस कविता में श्राधुनिक युवक-समाज का इतना यथार्थ चित्रण हुश्रा है कि वैसा श्रन्यत्र प्रयोगवादी रचनाश्रों में मिलना दुर्लभ है। इसी यथार्थ चित्रण में हास्य की उत्पत्ति होती है तथा इसी के द्वारा कवि ने श्राधुनिक युवक-समाज पर करारा व्यंग्य किया है। इस कविता के प्रारम्भ से लेकर 'यही श्राज का जीवन है' तक को पूर्वांग कहा जा सकता है, जो पृष्ठ-भूमि के रूप में चित्रित किया गया जान पड़ता है। इसके बाद कविता का उत्तरांश है जिसमें कवि का लक्ष्य सामने श्राया है जहाँ व्यंग्य का तीक्ष्ण प्रहार किया गया है। इस कविता के पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता के पूर्वांग तक ही पाठक को हास्य के श्रानन्द की उपलब्धि होती है,

उत्तरांश में तो उनकी हंसी लुप्त हो जाती है तथा कविता पाठकों को मर्माहत कर उन पर अपना प्रभाव छोड़ जाती है।

अन्य व्यंग्य-प्रधान कविता का भी यहां विवेचन कर देना अनुचित न होगा। डॉ० सहल के 'क्षणों के धागे' में 'अंधकार को आग लगादो' नामक कविता में आज की शहरी सभ्यता पर व्यंग्य है। इस कविता में रात का मानवीकरण किया गया है तथा उसी को सबोधित करके कविता की सृष्टि की गई है। व्यंग्य-प्रधान होते हुए भी, इस कविता में कवि की कल्पना की उड़ान का अन्दाज लगाया जा सकता है कि वह कितनी भव्यता लिए हुए है।

"फिर भी वह तो मात्र द्विपद है" नामक कविता में आधुनिक युग के मानव पर व्यंग्य किया गया है। मानव के घात-प्रतिघात चतुष्पद व षट्पदों से भी भयकर होते है, फिर भी वह द्विपद ही कहलाता है। इसीलिए तो मानव-बुद्धि की सचमुच ही बलिहारी है जिसे यथार्थ पर आवरण डालना खूब आता है। इस कविता में, ऐसा महसूस होता है कि कवि की वैयक्तिक अनुभूति समष्टिगत बनकर सामने आई है।

"तनिक सरक जा, अरी धरित्री !" में आधुनिक 'फैशनेबुल' युवकों पर व्यंग्य किया गया है।

"आओ, हम रोड़ा अटकादें" शीर्षक देखने पर तो हंसी आना स्वाभाविक ही है, लेकिन कविता वस्तुत. व्यंग्य-प्रधान है, न कि हास्य-प्रधान। इस कविता को पढ़ने पर ऐसा लगता है कि कवि मनोविज्ञान का भी अच्छा अध्येता है, अन्यथा इस प्रकार की मानवीय अन्तर्वृत्तियों के प्रकाशन में सफलता पाना अत्यत ही दुष्कर है। आधुनिक युग के स्वार्थियों की जिस प्रकार की मनोवृत्ति का हम दर्शन करते हैं, उसका प्राणमय चित्रण इस कविता में अत्यधिक कुशलतापूर्वक किया गया है। इसमें जो लोग दूसरों के रास्ते में रोड़ा अटकाने में ही अपना बड़प्पन समझते हैं, उनकी मनोवृत्ति पर व्यग्य कसा गया है।

इस कविता में ध्वनि की प्रधानता है। वास्तव में वही काव्य उत्तम कोटि का माना जाता है जो ध्वनि-काव्य होता है। इस दृष्टि से डॉ० सहल का काव्य उत्तम कोटि के अन्तर्गत आता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'क्षणों के धागे' में सकलित कविताओं में हास्य और व्यग्य का बहुत ही सुन्दर ढग से निरूपण हुआ है। हास्य व विनोद में तो 'जिज्ञासा' व 'छेड़-छाड़' नामक सिर्फ दो ही कविताएँ आती है। व्यंग्य-प्रधान कविताओं के दो रूप देखने को मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं :-

(१) पहला रूप तो उन कविताओं में मिलता है जो शुरू से लेकर अन्त तक व्यंग्य-प्रधान ही बनी रहती है, जैसे, "फिर भी वह तो मात्र द्विपद है !" "तनिक सरक जा, अरी धरित्री !" "आओ, हम रोड़ा अटकादें", "देश, मेरे देश !" आदि

(२) दूसरे रूप के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं जिनको पूर्वांश और उत्तरांश में विभक्त किया जा सकता है क्रमशः पृष्ठ-भूमि व लक्ष्य के अनुसार।

इसको भी दो भागों में विभक्त कर सकते हैं :—एक भाग में तो व कविताएँ आएँगी जिनका पूर्वांश यानी पृष्ठ-भूमि हास्य व विनोद की सृष्टि करता है, जैसे :—"विडम्बना", "आओ, हम रोड़ा अटकादें।" आदि। दूसरे भाग में वे कविताएँ आएँगी जिनका पूर्वांश (यानी पृष्ठ-भूमि) हास्य व विनोद की सृष्टि नहीं करता, बल्कि गंभीरता, चिंतनशीलता एवं मननशीलता में आपूरित है, जैसे— "अंधकार को आग लगादो", "बहुजन हिताय", "देश, मेरे देश !" आदि।

हिन्दी-साहित्य के एक प्रख्यात कवि से मुझे कुछ दिनों पहले मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन्होंने कहा कि अगर मैंने जिन अनुभूतियों को मेरी कविताओं में व्यक्त किया है, वे ही आप लोग समझ जाएँ या उनका अनुभव करने लग जाएँ तो मैं एक असफल कवि ही रहूँगा। मुझे इस कथन से एक प्रकार का झटका-सा लगा तथा इस विषय पर उनसे कुछ चर्चा भी करनी चाही, परन्तु उनका 'मूड' ही न था। मैं समझती हूँ कि यदि कोई कवि अपनी अनुभूतियों को दूसरों के अनुभव करने पर अपनी असफलता मानता है तो उसे काव्य-सृजन ही नहीं करना चाहिए। अगर इस मत को स्वीकार कर लिया जाए तो शायद "रस-सिद्धान्त व साधारणीकरण" को भी तिलांजलि देनी पड़े। इस बात की चर्चा का उद्देश्य इतना ही है कि मैं उक्त मत से एकदम विपरीत मत को मानती हूँ। इस दृष्टि से मैं इतना ही कहना चाहूँगी कि कवि डॉ० कन्हैयालाल सहल की ये हास्य व विनोद तथा व्यंग्य-प्रधान कविताएँ कवि की जिन अनुभूतियों को लिए हुए है, उनका वैसा ही अनुभव पाठक भी कविताओं के पढ़ने पर करने लगता है। इसी विशेषता के कारण डॉ० सहल को कवि के रूप में सफलता प्राप्त हुई है।

अमर-ज्योति से साभार (स्वतन्त्रता दिवस अंक १९६१)

•••

समय की सीढ़ियाँ

डॉ० पवनकुमार मिश्र

डॉ० कन्हैयालाल सहल हिन्दी के गुणी समीक्षक तथा निबंध-लेखक हैं। उनके कवि-रूप पर भी इसी कारण चिन्तक का रूप अधिक हावी है। आधुनिक युग में काव्य को बौद्धिकता से असम्पृक्त किया भी नहीं जा सकता। इस युग में समकालिकता के दबाव और सभ्यता के जटिलीकरण ने काव्य को चिन्तन का अनिवार्य आधार प्रदान किया है तथा भावुकता को तिरोहित कर दिया है। डॉ० सहल का सद्यः प्रकाशित काव्य-संग्रह एक चिन्तक को आभारी है जो सुलझे हुए हृदय एवं परिष्कृत मस्तिष्क का सहृदय आलम्बन है। चिन्तक जब कवि के धरातल पर बोलता है तो वह समय की सर्वाधिक मुद्राओं को परिलक्षित कर उनकी सीमाओं और सम्भावनाओं का अंकन करने के लिए विकल हो उठता है पर समय की विराटता और परिवर्तनशीलता उसे अनिर्वच बना जाती है किन्तु साथ ही समय के प्रवाह, अनवरत साहचर्य की कुरेदन उसकी जिज्ञासा को निरन्तर उत्तेजित भी करती रहती है। इन्हीं जिज्ञासातुर क्षणों को बांधे हुए सहलजी लिखते हैं कि, "प्रतिपल साथ रहने वाला यह मूक साथी एक शब्द भी नहीं बोलता, चुपचाप अपना काम किये जाता है। समय बीतने के साथ-साथ हम जीर्ण होते चले जाते हैं किन्तु समय पर जरा का कोई वश नहीं चलता। इस महामोहमय कटाह में सूर्य की अग्नि द्वारा, दिन रात के इन्धन की सहायता से, मास और ऋतुओं की दर्वी चलाकर यह प्राणियों को पकाता-रहता है—कितना अद्भुत और भव्य है यह!"

डॉ० सहल का चिन्तन प्राचीन और नवीन का समन्वय है, वे समय के लघुमाप क्षण की स्वतंत्र इयत्ता प्रायः न मानकर उसे शाश्वतता और अखंडता में देखते हैं, जो अतीत, आगत और अनागत का समष्टि-रूप है। उनका कथन है—"समय एक साथ ही क्षण भी है और शाश्वतता का ऐसा अथाह समुद्र भी है, जिसमें कोई द्वीप नहीं। यह एक विलक्षण विरोधाभास है।"

समय की सीढ़ियों में सीढ़ियाँ ही क्षण हैं, जिनकी सार्थकता हर कड़ी के जुड़ने में है, टूटने में नहीं।

इस काल को कवि 'रहस्यमय', 'अनिवर्चनीय' तथा 'सतत गतिमान' मानता है। इस 'रहस्य' और 'गति' की जो मुद्राएँ कवि के मन और मस्तिष्क में अंकित हुई हैं, 'समय की सीढ़ियाँ' उन्हीं का अभिव्यंजन है। समय की इन मुद्राओं ने कवि

को विवश किया है कि वह अक्षरावतार ग्रहण करे। इसी विवशता के आयाम में कभी वह पूर्ण समर्पित होकर भक्ति के स्वरों को साधता है, कभी आधुनिक (आगत) बोध से सचेतित होकर अतीत युग के रूढ़ चिन्तन पर प्रहार करता है और कभी अपनी सम्पूर्ण आस्था को बटोर कर अनागत के प्रति शुभाशंसा व्यक्त करता है तथा कभी आगत एवं अनागत को समवेत रूप में अनुभूत कर समय को 'एक पूर्ण छंद' के रूप में अंकित करता है और कभी नवीन सन्दर्भों से सम्बद्ध होकर उसके शब्दों को 'नई जीभ' अनायास ही मिल जाती है। कवि की यह समय-यात्रा अतीत-आगत और अनागत को स्पर्श करती हुई, चिन्तन और अभिव्यक्ति के क्षणों में भी जटिल तथा सघर्षशीला है। इस कारण उसकी वीणा पर समय छंद का आलाप इन्द्रधनुषी स्वरों में गुंजित होकर रूप से अरूप और अरूप से रूप की ओर आवर्तित होता रहता है। इसी कारण 'समय की सीढ़ियों पर' कहीं सरस्वती-वंदना के, कहीं राष्ट्रीय चेतना के, कहीं अस्तित्व-बोध के और कहीं आगत यथार्थ के स्वर उद्‌घोषित हो उठे हैं। इसी कारण समय की सीढ़ियों पर कहीं छायावादी आलाप है और कहीं रहस्यवादी। इसीलिए ये आलाप कहीं प्रयोगवादी भी है और कहीं आधुनिकता-वादी भी।

श्री सहलजी की आस्था का स्वरूप दृढ चेतना का है। इस चेतना का मूला-धार मानवतावादी है। कहीं-कहीं यह चेतना रहस्योन्मुखी भी है। मानवतावादी चेतना अतिशय व्यापक है और कवि सम्पूर्ण विश्व को आयत्त कर लेना चाहता है। इसी कारण वह प्रभु से उस चिति की याचना करता है जो :—

> प्रभु निमित्त बन सकूँ शान्ति का
> जहाँ घृणा हो, प्रेम कर सकूँ
> श्रद्धा दो तुम वहाँ
> जहाँ संशय का स्थल हो.......

यह प्रेम, श्रद्धा और आस्था कवि के लिए साध्य भी है और साधन भी। वैयक्तिक क्षेत्र में यह साध्य है और सामाजिक क्षेत्र के लिए साधन। यही आस्था शब्दों को जीभ प्रदान करती है और यह जीभ अन्धे युग को दृष्टि प्रदान करती है, गूँगे को मुखर करती है और बधिरता होने पर नवीन श्रवणेन्द्रियाँ प्रदान करती है। यथा—

> "जब-जब युग बहरा होता है
> कोलाहल में नहीं
> सुनाई पड़ती वाणी

पता नहीं वह क्या है जिससे
खंडित होती सभी बधिरता
लगता है जैसे सकर्ण हो
सारा ही युग
सुनने लगता कवि की वाणी ।"

मूल रूप से इस आदर्श की धारा की इति नेति-नेति में ही होती है। निर्विशेष चिन्तन ही इसका गन्तव्य है, इसलिए कवि रहस्यात्मकता में ही प्रश्न का उत्तर पाता है। कवि के सामने प्रश्न सत्य के आकलन का है। पर इस जिज्ञासा का शमन तो गूँगे का गुड़ ही है। यथा—

रूप क्या है चरम सत्य का
ऋषिवर ।
ब्रह्म का कुछ कीजिये निरूपण

× × × ×

यह प्रश्न कई बार पूछने पर उसका उत्तर इस प्रकार है—

ब्रह्म तो निर्विशेष
कहाँ है विशेषण यहाँ
प्रश्न का उत्तर तो केवल एक मौन है ।

यह प्रश्न और यह उत्तर, भारतीय चिन्तन का खोजा हुआ तथ्य है। डॉ० सहल का कवि परम्परा के रूढ़ रूप के निषेध का हिमायती है। 'परम्परा और प्रगति' इसी की परिचायिका है। सत्य के शोध में कवि की उक्ति फिर एक ही रूप में अभिव्यक्त होती है—

चिर प्रकाश ही सत्य
वस्तुतः
तम तो है निषेध ही केवल

सहलजी सत्य को बार-बार विभिन्न कोणों से देखकर उसे आकलित करना चाहते हैं। इस प्रयास में कभी वे सत्य को सूर्य के रूप में, कभी प्रकाश के रूप में, कभी किरण के रूप में और कभी स्वर-लहरी के रूप में देखते हैं।

डॉ० सहल का दूसरा महत्त्वपूर्ण चिन्तन समय को नापने का, उससे परिचय प्राप्त करने का और उसे पूर्ण रूप से जानने की ओर धावित हुआ है। समयांकन के

नापने के इस प्रयास में कवि सहज ही आधुनिक बोध से सम्पृक्त हो जाता है। तब उसका परिचय नवीन सन्दर्भ और नये परिवेश से होता है। इस परिवेश और सन्दर्भ का चिन्तन नई और पुरानी मान्यताओं के सम्बन्ध में कितने ही प्रश्न एकाएक खड़े कर देता है। इन प्रश्नों में क्षण का महत्त्व, नई और पुरानी पीढ़ी का सम्बन्ध, वर्तमान का परिवर्तन-बोधी रूप आदि समय की सीढ़ियों पर दस्तकें देते हुए प्रतीत होते हैं। ये दस्तकें सारवती भी हैं और सार्थक भी। सहल का कवि इन दस्तकों को बड़ी गम्भीरता से सुनता है, सुनता ही नहीं, गुनता भी है और फिर गुनगुना उठता है—

> समय छंद है एक विलक्षण
> जिसके चरण असंख्य
> कौन गिन सकता उनको ?

समय के लघुतम अंश क्षण को कवि अमरता में बाँधने के लिए प्रस्तावुत हो उठता है—

> एक क्षण जो बीतता ही
> जा रहा है
> और जो पल-पल पुराना
> पड़ रहा है
> क्या न बन सकता वही
> अमरत्व का क्षण ?

पर क्षण अमर नहीं होता। अतीत और वर्तमान का द्वन्द्व फिर उभरने लगता है। अतीत वर्तमान के अनुरूप नए अर्थप्रदान करे तो वह समय-छंद में फिट बैठ जाए पर अतीत का आगत में अस्तित्व ही चिन्ताजनक हो गया है, इसीलिए कवि यथार्थबोध को व्यक्त करता हुआ, अतीत का स्थितिबोध रूपायित करता हुआ लिखता है—

> नवयुग की बस्ती में
> बनाकर झोपड़ी
> रहता है पुरातन युग !
>
> ×   ×   ×

proceeded to discuss the classification of the proverbs of Rajasthan. Of course, he has not given these proverbs in a collective form—as that would become quite a big book. The classification of proverbs of any people is capable of being done in various ways, but Prof Sahal's classification appears to be quite reasonable, and all-inclusive, and it is quite a pleasure to read his discussion of some of the proverbs in each of the various classes or categories in which he has divided the subject. On the whole, this part of the thesis, which forms a real piece de resistance in his presentation of the problem is very carefully done, and we get from this section a good study of the proverbs as an expression of the life and culture and history of Rajasthan. This cultural investigation through a study of proverbial literature is something which has been attempted for other Indian languages, and here I think we have something done on an extensive scale for Rajasthani. He has also discussed in the final chapter the future of proverbial literature among any people, and has given some instances of other proverbial literature in Rajasthani including what is known as Laukika Nyaya.

The thesis as it has been prepared is primarily an excurses into the study of the literature and culture of the people of Rajasthan. The approach is refreshingly objective, and the author shows evidence of a full understanding and appreciation of the problems he has before him. It is a contribution of great value to our study of the proverbial literature in an important modern Indian Language dealing with the people of one of the more advanced states of India. It is scientifically conceived, and its execution is quite impeccable stylistically. The work forms good literature also.

•••

2. • Dr Dashrath Sharma

'Rajasthan Kahavaten : Ek Adhyayan' is one of the best Hindi theses that I have read so far Instead of confining himself to the study of Rajasthani proverbs, as a second-rate writer would have done, the candidate has dealt also in a masterly fashion with allied subjects like the genesis of the proverb—proverbs in ancient Indian and foreign literatures the currency development and disappearance of proverbs, and parallel proverbs from various languages, Indian as well as non-Indian The treatment of the main theme, the Rajasthani proverbs, is fairly exhaustive and I regard the chapters on 'Rajasthani historical proverbs', 'Society as depicted in Rajasthani proverbs', and 'Other Rajasthani Proverbs relating to Society' as a solid contribution to the social cultural and, in some measure, also to the political history of Rajasthan On accout of its originality vigorous style and excellent presentation of facts, the thesis is highly commendable

•••

राजस्थानी कहावतें

• सुधीन्द्र [illegible]

डॉ० कन्हैयालाल सहल राजस्थानी भाषा तथा साहित्य के [illegible] तथा अन्वेषक हैं। उन्होंने अनेक दुर्लभ राजस्थानी ग्रंथों का [illegible] बड़ी सेवा की है। प्रस्तुत ग्रंथ डॉ० सहल की एक [illegible] राजस्थानी कहावतों का यह विवेचन तथा [illegible] साहित्य में रुचि रखने वाले अन्वेषकों के लिए प्रेरणा [illegible] होगा।

इस ग्रंथ के [illegible] दो खण्ड हैं—[illegible] विवेचन-खण्ड। विवेचन-खण्ड बड़े [illegible] है। [illegible]

किया है। संस्कृत-साहित्य में कहावतों का प्रचलन वेदों के युग से पाया जाता है डॉ० सहल ने वेदों ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, इतिहासग्रन्थों तथा पुराणों—रामायण महाभारत, योग वासिष्ठ, स्मृतियों, लोकोक्ति तथा नीति वाङ्मय—चाणक्यसूत्र, कौटिल्यीय अर्थशास्त्र, संस्कृत सुभाषितों आदि के साथ पालि तथा प्राकृत-ग्रन्थों में भी कहावतों के नमूने प्रस्तुत करके उनका विवेचन किया है। अपभ्रंश भाषा की कहावतों का विवेचन एक अलग शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है और इसमें पुष्पदंत, धनपाल, मुनि रामसिंह, हेमचन्द्र, अब्दुल रहमान आदि महाकवियों की रचनाओं से चुन कर कहावतें दी गयी हैं। इसके बाद विदेशी कहावतों का संक्षिप्त इतिहास और फिर विभिन्न देशों का विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्ययन से हम न केवल विभिन्न देशों की कहावतों की विशेषताओं से परिचित हो जाते हैं बल्कि उन देशों की धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों तथा वहां के निवासियों की चरित्रगत विशेषताओं की भी एक झलक पा जाते हैं। राजस्थानी कहावतों का विवेचन करते हुए डॉ० सहल ने ठीक ही कहा है कि "कहावतें मानव-स्वभाव और व्यवहार-कौशल के सिक्के के रूप में प्रचलित होती हैं और वर्तमान पीढ़ी को उत्तराधिकार के रूप में पूर्वजों से प्राप्त होती हैं।" मानव-जीवन में कहावतों का महत्त्व स्पष्ट करते हुए, सहल जी ने विभिन्न प्रकार की राजस्थानी कहावतों के नमूने दिये हैं। राजस्थानी कहावतों को उनकी सम्पूर्णता में देखने के लिए डॉ० सहल ने न केवल राजस्थान और भारतवर्ष के कहावती साहित्य का विहंगावलोकन किया है, बल्कि विदेशी कहावतों पर भी सम्यक् दृष्टि डाली है, क्योंकि राजस्थानी कहावतों में बहुत-सी कहावतें तो स्थानीय हैं और कुछ सम्पूर्ण भारतीय परिवार की सदस्य हैं और कुछ सार्वभौम हैं।

संकलन-खण्ड में चुनी हुई २१०९ राजस्थानी कहावतें संग्रहीत की गयी हैं। प्रत्येक कहावत के साथ उसका हिन्दी अर्थ और आवश्यकता होने पर अर्थ स्पष्ट करने के लिए टिप्पणी दी गयी है। जहां कहीं सम्भव हुआ है, राजस्थानी कहावतों के हिन्दी या अन्य भाषाओं में प्राप्त पर्याय भी दिये गये हैं। ग्रंथ के अन्त में परिशिष्ट है। एक में २२५ सिरोही की कहावतें संकलित हैं, और दूसरे में १०१ 'अधूरा पूरा' तथा कहावती पद्य संग्रहीत हैं।

कुल मिला कर यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शोध-ग्रन्थ है और इसके लिए डॉ० सहल हिन्दी जगत के बधाई के पात्र हैं।

(साप्ताहिक भारत से साभार)

•••

निहालदे सुलतान

• विचक्षण

हिन्दी और राजस्थानी साहित्य के क्षेत्र मे डॉ० कन्हैयालाल सहल की सेवाएँ उल्लेखनीय कही जायेंगी। आलोच्य पुस्तक 'निहालदे सुलतान' उनकी २८वीं पुस्तक है। निहालदे सुलतान एक जनकाव्य है। प्राय जोगियो के कण्ठो मे इसके गीत राजस्थान मे सर्वत्र सुने जा सकते हैं। राजस्थानी भाषा का यह लोककाव्य जितना लोकप्रिय है, उतना ही महत्त्वपूर्ण भी। डॉ० सहल ने प्रथम बार इस लोक-काव्य को लिपिबद्ध करवाया है। उसके तीन खण्ड प्रकाशित हो चुके है। यह हिन्दी रूपान्तर कथावस्तु, भाषा और शैली के लिहाज मे पाठकों के लिए रोचक और मनोरंजक है।

प्रथम खण्ड मे सुलतान के जन्म, उसके विवाह, देश निकाला, दानवो से झगडा, कोचलगढ के बाग मे सुलतान आदि घटनाओ का वर्णन है। दूसरे खण्ड मे सुलतान माल्ह का वार्तालाप, निहालदे का बूदीगढ मे अवरोध, उसका नाजर के वेश मे रहना, सुलतान का कोटडी मे बन्द होना, देवलगढ मे निहालदे, सुलतान और जगतसिंह का युद्ध, बुधसिंह से युद्ध का विचार, शिव द्वारा रहस्योद्घाटन, सुलतान का साहूकारो मे मिलना, रानियो का जुलूस, रतना सेठ की दावत आदि घटनाओ का समावेश है। सम्पूर्ण कथा तीसरे खण्ड मे समाप्त होती है। पुस्तक की भाषा सरल, स्वाभाविकता लिए हुए और भावानुकूल है। देशज शब्दो के प्रयोग और स्वाभाविकता के कारण कथोपकथन रुचिकर बन पडे हैं और अनेक स्थलो पर मूल काव्य के उद्धरणो ने उन्हे और सजा-सवार दिया है। पुस्तक के आवरण पृष्ठ भी सुन्दर कलात्मक ढग से चित्रित किए गए हैं।

पुस्तक पठनीय है और राजस्थानी लोक-साहित्य मे रुचि रखने वालो के लिए विशेषतया आकर्षक है। यदि सम्पूर्ण-पुस्तक का एक साथ एक जिल्द म प्रकाशन हो सकता तो यह और अधिक उपयोगी और पाठको के लिए सुविधाजनक रहता।

निहालदे सुलतान की यह कथा एक बडे उपन्यास की सामग्री प्रस्तुत करती है। यदि कोई राजस्थानी सफल उपन्यास लेखक इस पर कलम उठाए तो यह कार्य महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। चित्रपट के निर्माण मे भी इसकी कथावस्तु का उपयोग हो सकता है।

इस सम्बन्ध मे लिखते समय ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि राजस्थानी लोक-साहित्य के सरक्षण और प्रकाशन के दृष्टिकोण से 'निहालदे सुलतान' के पुन

'पवाड़ों' का उचित और उपयोगी रूप मे प्रकाशन अत्यन्त आवश्यक है और
आशा की जानी अनुचित नही होगी कि डॉ० सहल इस ओर ध्यान देंगे।

डॉ० कन्हैयालाल सहल राजस्थान में हिन्दी के और राजस्थानी के श्रे
समालोचक, निबन्धकार और अन्वेषक एवं प्रयोगवादी कवि के रूप में प्रमु
स्थान रखते हैं। उनकी रचनाओं में मौलिक चिंतन की छाप मिलती है। राजस्था
की साहित्यिक समृद्धि और यहा के नये साहित्यकारों के पथ-प्रदर्शन में डॉ० सह
का जो भाग है, वह साहित्य के इतिहास में अपने आप में उल्लेखनीय रहेगा।

'अमर ज्योति से साभा
(रवीन्द्र शताब्दी अंक, १९६१

•••

लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु

• श्री रामनारायण उपाध्याय

लोक-कथाओ मे मानव मन का सुकोमल इतिहास अंकित रहता है। आदमी
ने जो कुछ किया, उसका लेखा-जोखा तो इतिहास मे आ जाता है लेकिन अपने
मनोजगत मे उसने जो कुछ भी सोचा, विचारा, रंगीन कल्पनाएँ बुनी, सुन्दर सपने
सँजोये, उन सब का विवरण इन कथाओ मे सुरक्षित है।

सदियों से ये कथाएँ मनुष्य का मनोरंजन करती आई हैं। इनमें कुछ भी
असम्भव नहीं होता। इनमे सिंह सर्प की दोस्ती निबाहते, पक्षी सन्देश पहुँचाते और
जरूरत पड़ने पर भित्ति चित्र भी बोलने लगते हैं।

इनमे व्यक्ति, स्थान या काल का कोई महत्त्व नही होता। वे सदा से
अपराजेय और शाश्वत रही हैं। इनकी अगुलि पकड़ कर आदमी ने सदियो की दूरी
को लाघा, देशो की यात्राएँ की और सुदूर रेगिस्तान से लगा कर अपने खेत-खलिहान
और घर के आगन के अलाव के सहारे सारी रात जागकर बिता दी है। मनस्ताप
के क्षणो मे भी इन्होने हमे बहलाया और घोर निराशा के क्षणो मे मनुष्य मे अमिट
आशा का संचार किया है।

ससार के सब देशों मे इनके प्रति अद्भुत रुचि रही है। भारतवर्ष मे भी
लोक-कथाओ पर पर्याप्त कार्य हुआ है। जिस तरह लोक-गीतो की खोज मे भी

रामनरेश त्रिपाठी और देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम आदर से लिया जाता है, उसी तरह लोक-कथाओं की खोज-शोध में श्री शिवसहायजी चतुर्वेदी और डॉ० कन्हैयालाल सहल का नाम अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। हमारे यहाँ लोक-गीतों के संकलन सम्पादन और अध्ययन की दिशा में जितनी गम्भीरता एवं व्यापकता से कार्य हुआ है, उतने व्यापक ढंग से लोक-कथाओं का कार्य नहीं हो पाया है। हल्के-फुल्के मनोरंजन से दूर, जिन लोगों ने लोक-कथाओं का गहरी आत्मीयता से डूब कर खोज-पूर्ण एवं अध्ययनपूर्ण कार्य किया है, उनमें डॉ० सहल का नाम सदा आदर से लिया जाएगा। "लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तत्व" उनकी ऐसी ही एक अध्ययनपूर्ण कृति है। श्री सहलजी ने न सिर्फ लोक-कथाओं का संग्रह करके वरन् उनका वर्गीकरण एवं शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत कर लोक-साहित्य की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। यह कार्य इस दिशा में काम करने वालों के लिए सदैव दिशा-दर्शन देता रहेगा। इस दृष्टि से यह मूल्यवान पुस्तक स्वागत के योग्य है।

'कर्मवीर' से साभार
(५-२-१९६६)

•••

लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियां

• अभ्युदय

प्रसिद्ध आलोचक एवं राजस्थानी साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् डॉ० कन्हैयालाल सहल का यह एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस विषय की डॉ० सहल की यह तीसरी पुस्तक कही जा सकती है। इससे पूर्व 'नटी तो कटो मत' और 'राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय' नामक उनकी दो पुस्तकें इसी विषय पर प्रकाशित हो चुकी हैं। इस विषय पर लेखनी उठाना लोक-साहित्य की एक बड़ी सेवा और सामयिक प्रयास माना जायगा।

रूढ़ि और अभिप्राय का प्रयोग एक दूसरे के पर्याय के रूप में किया जाता है। अभिप्राय—जिसे अंग्रेजी में मोटिफ कहते हैं, उस शब्द अथवा एक भाव में बंधे हुए उस विचार को कहते हैं जो समान परिस्थितियों में अथवा समान मनःस्थिति और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों में बार-बार आता है। विभिन्न कला-रूपों का अर्थ होता है कोई तत्व या

प्रचल, सजीव या निर्जीव, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु, जिनकी अलंकृत एवं अतिरंजित आकृति मुख्यतः सजावट के लिए किसी कलाकृति में बनायी जाय। साहित्य में अत्यधिक प्रयोग अथवा अनुसरण के प्रयोग में कुछ रूढ़ियां बन जाती हैं जिनका साहित्य में प्रयोग होता रहता है। इन्हीं सब रूढ़ियों को विद्वान् लेखक ने साहित्यिक अभिप्राय कहा है।

'नहीं तो कहो मत', 'पशु पक्षियों की बातचीत', 'मौन-धारण और मौन-भंग', 'रूप-परिवर्तन', 'पन्द्रहवीं विद्या' आदि इसी प्रकार के अनेक मूल अभिप्राय हैं। लोक-कथाओं में बार-बार आने वाले अत्यन्त सरल प्रत्यय भी रूढ़ियों का रूप धारण कर लेते हैं। लेखक ने बताया है कि वैसे तो परम्परागत कथा या कोई भी अंश मूल अभिप्राय या रूप धारण कर सकता है, परन्तु परम्परा का वास्तविक अंग बनने की क्षमता तभी उत्पन्न होती है जब कोई कथा का अंश ऐसा हो जिसे लोग स्मरणीय समझें और जिसकी बार-बार आवृत्ति करना चाहें। शुष्क सर्व सामान्यता की अपेक्षा इसमें कुछ अपना वैशिष्ट्य होना चाहिए। केवल माता मूल अभिप्राय का रूप धारण नहीं कर सकती, हां एक निष्ठुर माता अपने असाधारणत्व के कारण अवश्य मूल अभिप्राय के रूप में प्रयुक्त हो सकती है। जीवन की सर्वसामान्य प्रक्रियाएँ मूल अभिप्राय के रूप में परिणत नहीं हो पाती।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने 'सत्य क्रिया', 'जादू की डोरी', 'हंस कुमारी', 'स्वर्गीय बाला', 'शरीफ चोर' 'कृतघ्न जीव' आदि चौदह मूल अभिप्रायों का वैज्ञानिक विश्लेषण-विवेचन किया है। राजस्थानी लोक-कथाओं के साथ-साथ अन्य भाषाओं की कथाओं का समावेश कर उनके मूल अभिप्रायों का भी यथास्थान विवेचन किया गया है।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने (भूमिका में) लिखा है कि "उनका (डॉ० सहल) यह विश्लेषण मौलिक और मूल्यवान है। श्री कन्हैयालालजी सहल लोक-साहित्य और वार्ता शास्त्र के मनीषी विद्वान् हैं।" निःसंदेह पुस्तक का विषय नवीन है, इस विषय को लेकर अभी हिन्दी जगत में कार्य नहीं हुआ है। पुस्तक की प्रस्तावना से पता लगता है कि प्रो० सहल ने इस विषय को अपने डी. लिट के शोध-प्रबन्ध के लिए अनुसंधान का विषय भी बनाया है। राजस्थानी कहावतों का डॉ० सहल ने जो वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण, विवेचन एवं वर्गीकरण किया है, उससे अन्य भाषाओं की कहावतों पर काम करने की प्रेरणा मिली एवं स्पष्ट मार्ग-दर्शन भी प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार आशा है, डॉ० सहल का यह शोध-कार्य भी अपने विषय में अन्यों के लिए मार्ग-दर्शन करेगा। प्रस्तुत पुस्तक के विषय में श्री राहुल जी ने लिखा है—लोक

कथाओं के बारे में वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाली ऐसी साफ पुस्तक मैंने हिन्दी में नहीं देखी।

पुस्तक सभी दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। अच्छा होता यदि विद्वान् लेखक ने अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में मूल अभिप्रायों से सम्बन्धित यत्र-तत्र हुए कार्यों का उल्लेख कर दिया होता, साथ ही विषय के मूल को समझा भी दिया होता। प्रस्तावना में विषय का जो स्पष्टीकरण हुआ है, वह संक्षिप्त है और विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है।

विषय मौलिक है पर नवीन भी है। यह विश्वास है कि डॉ० सहल जैसे राजस्थानी साहित्य मर्मज्ञ की लेखनी द्वारा इस विषय का भी कहावतों की तरह पूर्ण वर्गीकरण, विश्लेषण एवं विवेचन हो सकेगा।

—अमर ज्योति से साभार

(७-१-१९६२)

●●●

राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय

राजस्थान के प्राचीन साहित्य के शोधकर्ताओं में डॉ० कन्हैयालाल सहल का नाम सदा अग्रणीय रहा है। राजस्थानी कहावतों पर वे एक महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबंध प्रस्तुत कर चुके हैं, जिसका भाषाध्ययन के क्षेत्र में ऐतिहासिक महत्त्व है। आज भी वे राजस्थानी कहावतों के संचय और अध्ययन में संलग्न हैं।

यह पुस्तक उनके अध्ययन और शोध-कार्य की एक और नई दिशा को प्रकट करती है। लोक-कथाओं के मूल अभिप्रायों से सम्बन्धित उनके अनेक लेख 'राष्ट्र भारती' आदि प्रसिद्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। इससे लगता है कि वे किसी महान् अनुष्ठान में लगे हुए हैं और प्रस्तुत पुस्तक उसके सम्भावित परिणाम की भूमिका मात्र है।

मूल अभिप्राय उन प्रसंगों को कहते हैं, जिनके आधार पर कथा अभीप्सित मोड़ लेती है। इन अभिप्रायों का प्रयोग काव्य और लोक दोनों प्रकार के कथानकों में होता है। वस्तुतः लोक-कथाओं से ही वे साहित्य में आते हैं। प्रत्येक देश में काव्य-विशिष्ट अभिप्रायों का साहित्य में और जन-कथाओं में प्रयोग होता है। उनमें पर्याप्त भिन्नता है, पर मानव की अन्तर्हित एकता के कारण बहुत से अभिप्राय

बहुत बार सार्वदेशिक पाए जाते है। डॉ० महल ने इस छोटी-सी पुस्तक में मूल अभिप्रायों का शास्त्रीय और सैद्धांतिक विवेचन नहीं किया है। पुस्तक के सीमित आकार के कारण व्यावहारिक पक्ष पर ही उन्होंने स्वयं को केन्द्रित रखा है। उन्होंने जिन अभिप्रायों को चुना है, वे सभी सार्वभौम है। अपने अध्ययन में डॉ० महल ने वेद, पुराण, इतिहास, काव्य, लोक-कथा सभी का उपयोग किया है। विदेशी साहित्य और कथाओं से भी उन्होंने उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। प्रत्येक अभिप्राय से सम्बन्धित राजस्थानी लोक-कथा आवश्यक रूप से दी गई है, जिससे पुस्तक का नाम सार्थक होता है।

पांच अभिप्रायों पर इस कृति में विचार किया गया है—प्राण-प्रतीक, निषिद्ध-कक्ष, मौन-धारण और मौन-भंग, मृत्यु-पत्र और वार-दुल्हन।

'प्राण-प्रतीक' अभिप्राय से सम्बंधित चित्र आवरण पृष्ठ पर भी अंकित है। एक मायावी दानव किसी अनिंद्य सुन्दरी राजकुमारी को अपनी कैद में यातना देता है, नायक राजकुमारी की सहायता को पहुँचता है, दोनों में प्रणय होता है, नायक की प्रेरणा से राजकुमारी दानव से उसकी मृत्यु का रहस्य पूछ लेती है, नायक उन तोते को मार देता है, जिसमें उस दानव के प्राण बसते हैं। फलतः दानव भी नष्ट हो जाता है और नायक-नायिका सुखपूर्वक जीवन बिताते हैं। यह प्राण-प्रतीक थोड़े बहुत अन्तर के साथ संसार की सभी लोक-कथाओं में पाया जाता है। डॉ० महल ने वेद में इन्द्र और वृत्र के संघर्ष, पुराणों में रक्तबीज की कथा आदि से इस अभिप्राय का सम्बन्ध-सूत्र जोड़ा है। निषिद्ध कक्ष का अभिप्राय मान्धाता की कहानी में चरितार्थ हुआ है। एक प्रकार से उसी का एक रूप आदम और हौवा की कहानी में भी है।

कुल मिलाकर सारी पुस्तक अत्यन्त ज्ञानवर्धक है। उसमें कथारस का वेग इतना तीव्र है कि वह प्रबुद्ध और सामान्य दोनों प्रकार के पाठकों के लिए बहुत उपयोगी बन गई है।

राजस्थानी लोक-कथाएँ

इस पुस्तक में राजस्थान की कुछ लोक-कथाएँ है। प्रथम अध्याय में लोक-कथाओं में सांस्कृतिक चित्रण पर प्रकाश डाला गया है। नारियों के शौर्य के सम्बंधित कथाएं, पुत्र-पति और भाई के प्रति उनकी ममता और उत्सर्ग से भरी व्रत-कथाएं, व नारी के गौरव को उजागर करती है। उजली की काव्यमय कथा अत्यन्त करुण और हृदयद्रावक है। अपने शरीर को एक बार किसी पुरुष को सौंपने पर भारतीय नारी उसे अपना मन भी जीवन भर को सौंप देती है। पुरुष उसे सदा छलता आया

है। मेह के प्रति शाप में ऊजली ने नारी-विद्रोह को व्यक्त किया, पर उसकी दुर्दशा सुनकर उसका नारीत्व द्रवित हो उठा और अन्त में जन्म भर विरह में जलने वाली नारी चिता पर जली, पति के शव के साथ। उसकी विरह-व्यथा अत्यन्त मार्मिक है—

दुनिया जोड़ी दोय,
सारस नै चकवा तणी
मिली न तीजो मोय,
जो-जो हारी जेठवा।

डॉ० सहल ने इस पुस्तक में अत्यन्त सरस-करुण कथाओं को निबद्ध कर स्तुत्य कार्य किया है।

('अमर ज्योति' से साभार)

•••

राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद :

१. • डॉ० प्रभाकर माचवे

श्री कन्हैयालाल सहल ने एक सुन्दर भूमिका लिखी है। पुस्तक को पढ़कर गुजराती के झवेरचन्द मेघाणी के कार्य की याद हो आती है। उसी जोरट और परिश्रम से सहलजी ने ये 'प्रवाद' (बंगला शब्द-अर्थ किंवदन्ती, जनश्रुति अथवा लोकोक्ति) एकत्रित किए हैं। राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन के विकास और वीरता-पूर्ण इतिहास की ये झलकें लोक-साहित्य के सभी अध्येताओं के लिए अत्यन्त उपादेय हैं। स्थान-स्थान पर तौलनिक अंग्रेजी-संस्कृत कविताओं के उद्धरण दे देने से लेखक की रसज्ञता का भी परिचय मिलता है।

संस्कृति (अंक १, जुलाई १९५७) से साभार

२. • डॉ० दशरथ शर्मा

सांस्कृतिक जीवन पर प्रकाश डालने वाली पुस्तकों की आजकल हिन्दी एवं राजस्थानी साहित्य में बहुत कमी है। पुराने ऐतिहासिक काव्यों में एक विशेषता थी,

द्रौपदी-विनय अथवा करुण बहत्तरी

१. • रामप्रताप त्रिपाठी

प्रस्तुत पुस्तक राजस्थानी अथवा डिंगल भाषा में है। द्रौपदी के चीर-हरण के करुणापूर्ण प्रसंग को लेकर कवि ने अपनी सूक्ष्म प्रतिभा से उसे और भी चमत्कृत कर दिया है। ७२ छंदों की यह छोटी-सी पुस्तिका करुण रस का मनोहर झरना है। बिहारी के दोहों की भांति, इसका एक-एक सोरठा उत्कृष्ट काव्य-गुण से विभूषित है।

कुशल सम्पादक ने पुस्तिका को सब प्रकार से उपादेय तथा आकर्षक बनाया है। इसकी सुन्दर भूमिका में कवि की जीवनी और व्यक्तिगत विशेषताओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है तथा उसकी कृति का काव्यगत मूल्यांकन भी किया गया है। साथ ही प्रत्येक छंद के नीचे उसके शब्दार्थ, भावार्थ और मार्मिक टिप्पणी भी दी गयी है तथा अन्त में अकारादि क्रम से छंदों की अनुक्रमणिका एवं दो परिशिष्टों में कुछ छंदों के रूपान्तर एवं एक अन्य महत्वपूर्ण कृति (द्रौपदी अष्टक) दे दी गई है। इन सभी कार्यों से पुस्तिका का महत्व बढ़ गया है।

डिंगल साहित्य में इस पुस्तिका का अपना विशिष्ट स्थान है और सम्पादक ने उसे हिन्दी पाठकों के लिए सब प्रकार से सुलभ कर दिया है। आशा है, विश्व-विद्यालयों की उच्च कक्षाओं में इस पुस्तक को भी उचित स्थान मिलेगा।

सम्मेलन-पत्रिका (त्रैमासिक) से साभार—आश्विन शुक्ल प्रतिपदा, सम्वत् २०११

२. • रेवतसिंह भीसण

द्रौपदीना चीरहरणनो करुणाप्रधान विषय कविओ माटे चिरकालथी आकर्षणकेन्द्र बनेलो छे. कविवर रामनाथजीए जे परिस्थितिओमां 'द्रौपदी विनय' लख्युं हतुं ते खरेखर करुणाजनक हती. ए परिस्थितिओए काव्यनी करुणाने हार्दिकता अर्पी छे. आर्त भक्तो माटे 'द्रौपदी-विनय' एक अपूर्व आशानो संदेश आपे छे. आ डिंगल्काव्यमां नारीगौरव अने अत्याचारनी प्रत्ये विद्रोहनी भावना तथा

अत्याचारने मूकभावे सहन करनार पांडवो, भीष्म, द्रोण आदि प्रत्ये असंतोषपूर्ण व्यंग्यवचन कह्यां छे ते हृदय ने चोट पहोंचाडे छे—

गामू मग्रज गाज, पूत जण्या जे पारका;
ज्यारी पारत आज, गाची ह्वेगी सांवरा.
गगा मद्धवाधार, कृष्ण जाई ब्याही कठै;
घरकुल़रा ग्रे घाट, सरम कठा सूं सांवरा.

काव्यनु सपादन अत्यंत कुशलतापूर्वक करवामां आव्युं छे. भूमिकामा कविचरित्र तथा कृतिनो मक्षिप्त परिचय छे. प्रत्येक छदनी साथे संपादके शब्दार्थ, भावार्थ तथा टिप्पणी आपी छे.

अमे प्रत्येक कवितावेमी जातिबधुने आ अपूर्वरचना मंगाववा आग्रहभरी भलामण करीए छीए.

('चारण बंधु' से साभार, वर्ष ५, अक ६, सं० २००१)

•••

आधुनिक उद्योग और व्यवसाय की दुनिया

• ब्रजभूषणलाल शर्मा

इस पुस्तक मे संसार के सत्रह बड़े उद्योगपतियो और अर्थशास्त्रियो का सामान्य परिचय देते हुए उनके जीवन के महान् कार्यो, सेवाओ तथा व्यक्तित्व पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। ये लेख गवेषणापूर्ण तथा विचारात्मक है, जिन पर प्रगाढ अध्ययन की छाप पडी हुई है। मानव अपनी अभूतपूर्व प्रतिभा एव साहसिक वृत्ति से, अपनी महत्त्वाकाक्षा को पूर्ण करते हुए देश को कहाँ तक समृद्ध और सुखी बना सकता है, इस तथ्य को लेखक ने उदाहरणो सहित मनोवैज्ञानिक ढग से प्रस्तुत किया है। टाटा, बिडला एवं फोर्ड परिवार महान् उद्योगपति होते हुए कितने चरित्रवान्, स्वदेशाभिमानी, अनुशासन-प्रिय तथा उद्योगी हैं और अपने अर्जित धन को साध्य नही, साधन मान कर सदैव बहुत से उपयोगी कार्यों मे लगाते रहते हैं। लेखक का मूल उद्देश्य प्रस्तुत पुस्तक मे वर्णित जीवनियों द्वारा इस भ्रान्

धारणा का उन्मूलन करना है कि धनिकवर्ग अपने सुख-भोग के लिए ही अतुल धनराशि का उपार्जन करता है। लेखक ने नाना साहब थोरटे और केले वाला करोड़पति के उदाहरणों से यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार एक निर्धन व्यक्ति दुर्दम्य महत्त्वाकांक्षा, नवीन दृष्टि तथा अवसर आने ही उससे लाभ उठाने की तत्परता से अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच सकता है। राष्ट्र की वास्तविक सम्पत्ति उसकी तरुण पीढ़ी होती है। इस प्रकार के उदाहरण देश के नवयुवकों को नैतिक और चारित्रिक पतन के गर्त में गिरने से बचा कर अध्यवसाय और सच्चरित्रता का पाठ पढ़ाते हैं। डॉ० सहल ने अपनी पुस्तक के आदर्श व्यक्तियों का चयन बहुत सोच समझकर किया है। इस प्रकार की पुस्तकें प्रत्येक नवयुवक के हाथों में पहुँचनी चाहिए तथा ऐसी प्रेरणात्मक कृतियों को स्कूल और कालिजों के पाठ्यक्रम में उचित स्थान मिलना चाहिए।

पुस्तक की भाषा सरल, सुबोध और विषय के अनुरूप है। संस्कृत के तत्सम शब्द अधिक मात्रा में पाये जाते हैं, परन्तु लेखक ने आवश्यकतानुसार अंग्रेजी और उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग करने में भी संकोच नहीं किया है। वर्णन-शैली ठोस, संक्षिप्त और प्रभावशाली है। इनके लेखों में विषय-प्रतिपादन और भावों को प्रकट करने की अपूर्व क्षमता दृष्टिगोचर होती है। डॉ० सहल की साहित्य-सेवा वास्तव में सराहनीय है।

(मरु-भारती से साभार, अप्रेल १९५९)

•••

वाद-समीक्षा

• अभिराम

'वाद-समीक्षा' में छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद तथा क्रोचे के अभिव्यंजनावाद पर लिखे हुए डॉ० सहल के चार निबन्ध हैं। आज तो इन विषयों पर विपुल सामग्री उपलब्ध है किन्तु जिस जमाने में ये निबन्ध लिखे गए थे, उस युग में अच्छे-अच्छे समीक्षक भी छायावाद और रहस्यवाद में कोई-कोई भेद न करके पाठकों में विचार-विभ्रम उत्पन्न कर देते थे। उस युग की समीक्षा-धारा को देखते हुए डॉ० सहल के इन निबन्धों का विशेष महत्त्व है। विचारों की सुस्पष्टता और शैली की जैसी स्वच्छता इन निबन्धों में देखने को मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आगे चल

अभिव्यंजनावाद, तो एक दुर्गम और दुरुह विषय है किन्तु लेखक को उस विषय के स्पष्टीकरण में भी पर्याप्त सफलता मिली है।

•••

मूल्यांकन

• डॉ० कुमारप्रिय

प्रस्तुत पुस्तक दो खण्डो मे विभक्त है—१. हिन्दी खण्ड और २. राजस्थानी खण्ड। हिन्दी खण्ड मे २२ निबन्ध हैं तथा राजस्थानी खण्ड मे २७ विषयों का आकलन है।

हिन्दी खण्ड मे नियतिवाद से संबद्ध कई निबन्ध है जिनका विशेष महत्व है। अधिकाश हिन्दी के समीक्षक और पाठक प्रसाद के नियतिवाद को भाग्यवाद का प्रकारान्तर मान कर चलते थे किन्तु मूल्यांकन मे संगृहीत नियतिविषयक निबन्धो को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद का नियतिवाद भाग्यवाद नही है। नियतिवाद का यथार्थ स्वरूप क्या है, इसके सम्बध मे विचार-प्रेरक सामग्री डॉ० सहल के निबन्धो मे उपलब्ध है।

राजस्थानी खण्ड जैसे मूल्यांकन का एक खण्ड है, उसी प्रकार राजस्थानी साहित्य का अनुशीलन डॉ० सहल के व्यक्तित्व का भी एक अभिन्न अंग बन गया है। इस खण्ड मे दोहे, लोक-गीत, कहावतें, पवाड़े, पर्व, आख्यान-परम्परा आदि अनेक विषयों पर महत्त्वपूर्ण निबन्ध हैं। आख्यानो के सम्बध मे डॉ० सहल का निम्नलिखित निष्कर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

"मेरा विश्वास है कि वैदिक युग की आख्यान-परम्परा भारत के सभी राज्यों की अपेक्षा राजस्थान मे सर्वाधिक सुरक्षित रही है और वह आज भी अक्षुण्ण है।"

डॉ० सहल पहले विद्वान् है जिन्होने राजस्थानी आख्यानो की परम्परा का स्रोत वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों मे ढूँढा।

•••

"वास्तव मे आपकी 'अनुसन्धान और आलोचना' पुस्तक शोधार्थियो के लिए अत्यन्त उपयोगी है। लोक-साहित्य और राजस्थानी-साहित्य के अनुसंधित्सु के लिए तो आपकी पुस्तक नितान्त अनिवार्य है। इस पुस्तक मे आपकी वैज्ञानिक शोध-दृष्टि अभिव्यक्त हुई है और वह प्रौढ शैली मे लिखी गई है। उसके सभी लेख विद्वानो का ध्यान आकृष्ट करने मे समर्थ होगे। आपको हार्दिक बधाई।"

—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

डॉ. कन्हैयालाल सहल

व्यक्तित्व

और

कृतित्व

□

परिशिष्ट

क ख ग

परिशिष्ट (क)

पत्रावली

Phone : 40084-85

BIRLA HOUSE
NEW DELHI
26-10-50

प्रिय सहल,

तुम्हारा पत्र मिला था। उसके बाद पुस्तक भी मिल गई। तुम्हारी कोई भी कृति सामने आती है तो मैं इधर-उधर से पढ लेता हूँ। पर "समीक्षायण" को तो काफी पढ़ गया। तुम बहुपाठी हो, बहुश्रुत हो और तुमने विद्या का संग्रह काफी कर लिया है। इसलिए सोचने और लिखने के लिए तुम्हारे पास काफी मसाला हो गया है। यह संतोषप्रद बात है। इसलिए यदि समीक्षा करता हूँ तो सहायता देने के लिए।

मुझे लगता है कि तुम्हारी पुस्तक में समीक्षा कम है और अनुमोदन अधिक। हमारे देश के पण्डितों की शैली ही ऐसी बन गई है कि पुरानी बातों का हम श्रद्धा से अनुमोदन ही करते हैं और समीक्षा करने से डरते हैं।

मेरा खयाल है कि हमारी सारी फिलॉस्फी "नेति नेति" की भित्ति पर रची हुई है। जब हम कहते हैं "यह भी नहीं, यह भी नहीं" तो सत्य की खोज में हम आगे बढ़ते ही जाते हैं। यदि हम कहें "सेति सेति" तो उसके बाद ढूँढ़ने की आवश्यकता कहाँ रही? भावुकता ज्यादा आ गई है और अनचिंतन में हम दूर भागते हैं। तो फिर Dogmatic होकर श्रद्धा से "बस यही है" कह कर परिश्रम से मुँह मोड़ लेते हैं। यह प्रगति का घातक है और चिन्ता की चीज है।

तुमने विद्या का इतना परिग्रह किया तो कुछ स्वतन्त्र निर्णय पर ध्यान चाहिए। अगर सरदार पूर्णसिंह जमीन पर लोट रहे थे, कोट के बटन तोड़ दिये थे, साफा दूर पडा था, तो यह लक्षण मृगी के भी हो सकते हैं, यों तो वह दम्भ Neurotic भी हो सकता है। हम बुद्धिवाद को छोडकर हर चीज़ का अनुमोदन ही करें, इसके क्या माने। बुद्धि छोडो तो विद्या का दरवाजा भी बंद करो। मैं कविता का भक्त हूं पर तुलसीदास और कालिदास का पठन करने के बाद तथ्यहीन कविता को कविता भी कैसे कहे ?

Dogmatic होना यह भी 'नेति नेति' कहना ही है। इसलिए अन्वेषक के लिए सुकरात का मार्ग अच्छा है। प्रश्न पूछते-पूछते उसी में से सत्य निकल आता है और निचोड प्रश्नकर्ता को नही, पर उत्तरदाता को निकालना पडता है।

तुमने कहा है कि शिक्षित और अशिक्षित के बीच मे पिछले २०० साल मे एक दीवार बन गई है। यह आजकल का नया नारा है। यह दीवार तो पहले भी थी और भविष्य मे भी रहेगी। शिक्षित और अशिक्षित मे फर्क हमेशा रहेगा और होना भी चाहिए। क्या वसिष्ठ और निषाद मे फर्क नही था ? आज भी स्टालिन गांव-गली का साधारण मनुष्य थोडा ही है ?

हम जब रोटी खाने जाते हैं, तब रहस्यवाद की बात नहीं करते। करें तो डूब जायें। "आह है, उन्माद है, उत्पात है" इसमे मैं कोई आकर्षण नहीं देखता। कुछ तथ्य तो मिले। तुलसीदास और कालिदास क्या इस तरह लिखते थे ?

लिखने का तात्पर्य यह नही है कि मैं तुम्हारे उत्साह को मंद करूं। तुम्हारे पास सामग्री और दिमाग है तो फिर क्यों नही समीक्षा करके स्वतन्त्र और मौलिक विचारों को सामने रखो। इस देश मे पिष्टपेषण बहुत हुआ है। भावुकता ने असलियत को ढाक लिया। नतीजा यह हुआ कि हमने "हृद् वीणा" के तार तोडे। और उसमे झूठी मस्ती का स्वाग बनाया।

तुमने जो लिखा है, वह अच्छा है। लिखते जाओ। मेरी समालोचना से घबराना नही, क्योंकि उसके पीछे उद्देश्य अच्छा है।

तुम्हारा
घनश्यामदास

श्री कन्हैयालाल सहल
पिलानी

कलकत्ता
२६-३-४६

चि० प्रिय कन्हैयालाल,

तुम्हारी भेजी हुई 'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद' नाम की पुस्तक मिली। तुम्हारे प्रति मेरे मन में जो आकर्षण है तथा तुम्हारी लिखी हुई चीजें पढ़ने के बाद तुम्हारे ज्ञान के प्रति जो आदर तथा स्नेह मन में पैदा हो गया है, उसके कारण पुस्तक मिलते ही एक दवाम में यानी बिलकुल एक मन से भूमिका पढ़ गया। बाद में बीच-बीच में देखी भी, पूरी पढ़ने का विचार है। तुमने संस्कृति के विषय में बहुत सुन्दर लिखा है। संस्कृति और सभ्यता के बीच का भेद बहुत अच्छी तरह बताया गया है। राजस्थान के इतिहास की, राजस्थान के साहित्य की अपनी महिमा है और उस साहित्य में वीर तथा विरह, दो ही मुख्य हैं। राजस्थान के स्त्री पुरुषों को इन दोनों की ही ज्यादा अनुभूतियां होती थीं और उन्होंने उन अनुभूतियों की बहुत खूबसूरत अभिव्यंजना की है। इस साहित्य को पढ़ कर पाठक साहित्य का रस ले सकता है और मैं उस पर मुग्ध भी हूं तो भी न मालूम, क्या बात है कि रामचरितमानस का अयोध्या काण्ड जितना अच्छा लगता है, उतना लंका काण्ड नहीं लगता। मैं यह भी कह तो कह सकता हूं कि मुझे लंका काण्ड अच्छा नहीं लगता। मुझे वीरता अच्छी लगती है—वीरता मानव के ऊंचेपन की द्योतक है पर युद्ध पशुता का—उसे वीरता नहीं कहा जाना चाहिए . ... ।

तुमको पत्र लिखने बैठा तो चि० लिखा गया, उसे काट कर 'प्रिय' किया। भाई रामकुमारजी चले गये। आज से ३२ वर्ष पहले मेरा उनका सम्बन्ध जुड़ा था। संयोग से इन वर्षों में हम लोग प्राय. नहीं मिले या कम मिले पर मैं उनको भूल नहीं सकता। मैं लोगों के सामने उनका उदाहरण दिया करता हूं कि उन्होंने पिता का कर्तव्य किस तरह पालन किया। नवलगढ़ में ही नहीं, शेखावाटी में और मुझे तो मालूम नहीं, पर ऐसा लगता है कि मारवाड़ी समाज में अपने लड़कों को इतनी ज्यादा और ऊंची शिक्षा दिलाने वाले वे ही थे। गौरधनदासजी सेनानी ने अपने लड़कों को ऊंची शिक्षा दिलाई थी और मारवाड़ी समाज का सेनानी-घराना पहला शिक्षित घराना है पर वे भी अपने सब लड़कों को तुम लोगों की जैसी, जितनी शिक्षा नहीं दिला सके। पहले-पहल मोहन ने मैट्रिक पास किया, तब वे कितने खुश हुए थे। अपने नवलगढ़ में शायद मोहन और रामनिरंजन मिश्र ने ही सबसे पहले इन्ट्रेंस की परीक्षा दी। जो हो, वे एक विशेष आदमी थे। हम लोग रात में दो-दो बजे तक बातें किया करते थे। वे मुझ से बड़े थे पर दो-चार वर्ष ही बड़े रहे। फिर हम लोग दोस्ती में बराबर के जैसे हो गये—यों तो मैं उन्हें बड़ा मानता ही था।

तुम उनके बारे में लिख सको तो लिखना चाहिए। उनके विचारों, कार्यों और भावों को तुम साहित्यिक रूप देकर वर्णन कर सकते हो। और तो क्या, तुम अच्छा लिखते हो। मुझे तुम्हारा लिखना अच्छा लगता है। मेरी निगाह में संत और कवि या लेखक ही समाज को ऐसी चीजें दे सकता है जो स्थायी होती हैं तथा समाज के धरातल को ऊँचा उठाती हैं—समाज के मानस का परिष्कार करती हैं। स्वर्गीय गुरुदेव की मुझ पर बहुत कृपा रही। मैंने उनकी कविता, उनकी अमृतमयी वाणी में सुनी, उनके गान सुने। उनके कितने अच्छे संस्मरण आज याद आने पर पुलकित कर देते हैं। शुद्ध साहित्य का सृजन समाज को बड़ी देन है।

तुम्हारा
(ह०) सीताराम

सब भाई—मोहन, मक्खन, नागर, बैजू, फूलचन्द सब अच्छे होंगे। सबके हालचाल लिखो तो अच्छा है। पत्र दो तो मेरी याद दिला देना।

सीताराम

१६, लार्ड सिन्हा रोड,
कलकत्ता-१६
५-९-६१

प्रिय श्री कन्हैयालाल,

तुम्हारा ता० २६-८-६१ का पत्र यथासमय मिला। 'राजस्थानी कहावतें' पुस्तक तो कई दिनों पहिले मिल चुकी थी। पुस्तक की पहुँच न लिखने का कारण यह हुआ कि और भी कुछ लिखना चाहता था पर वह यों ही टलता रहा। यह पुस्तक छपने के पहिले इसकी पाण्डुलिपि और योजना भाई भागीरथजी के पास मैंने देखी थी और हम दोनों ने बीसों बार इस बारे में बात की होगी। भागीरथजी ने कहावतों में थोड़ा बहुत रद्दोबदल तथा अनेक नई कहावतें तुम्हें लिख कर भेजी थीं। मैं समझता हूँ कि यह कुछ सहायक हुई होगी।

राजस्थानी साहित्य और खासकर कथा-साहित्य में तुम्हारा कार्य तथा ज्ञान मेरी निगाह में बहुत ही सराहनीय है और उससे मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती है।

इस पुस्तक में तुमने 'संस्कृत वाङ्मय और कहावतें—एक विहगम दृष्टि' लिखा है, वह तो बहुत ही विद्वत्तापूर्ण लिखा है। इससे पुस्तक की उपयोगिता, कहावतों की महत्ता अपने आप प्रकट होती है। साथ ही राजस्थानी साहित्य से अपरिचित लोगों के लिए भी उसकी महत्ता बढ जाती है। तुम्हारे द्वारा हिन्दी-जगत् में राजस्थानी साहित्य का प्रचार और आदर बढ रहा है। राजस्थानी साहित्य की विशेषता सामने आ रही है। यह एक साहित्य की बडी सेवा है। हिन्दी जगत् में तुम्हारा स्थान अच्छा बनता जा रहा है और वह स्थायित्व प्राप्त कर रहा है। ये सब बातें मेरे लिए बहुत ही सुखद हैं।

"राजस्थानी कहावतें" पुस्तक में जिन कहावतों का संग्रह है, उनका सम्बन्ध खास कर शेखावाटी की बोली और शेखावाटी की कहावतों से ज्यादा है, इसलिए ये कहावतें अपनी और भी प्रिय लगती हैं। साथ ही बहुत परिचित भी। इन कहावतों को सुनने, समझने और बरतने का काम कम-अधिक रूप में पडता रहा है। इसलिए यह अधिक परिचित और अपनी लगती है। पुस्तक की छपाई, गेटअप और कवर पर चुनडी, ये सब बहुत ही अच्छे और लुभावने हैं।

आशा है, तुम और घर के सब लोग प्रसन्न हो। तुम्हारे साथ पत्र-व्यवहार कम होता है। पर जब भी पत्र-व्यवहार होता है तो मन में नाना तरह के विचार भाव और स्मृतियां जागती हैं। साथ रहने और बैठने का भी मौका नहीं ही मिलता। बच्चों को बहुत-बहुत प्यार। उन लोगों से जान-पहिचान तो कुछ भी नहीं है पर मन की पहचान तो है ही और वह मेरे तक तो एक तरह से कौटुम्बिक-सा ही है। आदरणीय श्री पांडेजी को नमस्कार कहना।

'मरु भारती' बहुत सुन्दर निकलती है। उसके द्वारा राजस्थानी साहित्य की ही नहीं, हिन्दी की ही नहीं, भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि हो रही है। और कुछ अच्छी और अलभ्य चीजों का संग्रह और प्रकाशन भी।

"सुलतान निहालदे" हम लोगों ने बचपन में जोगियों से सुनी है। वर्षा ऋतु के सावन-भादो मास में जब राजस्थान के जोहड़े भर जाते थे और चारों ओर हरीतिमा का नया दृश्य बिछ जाता था, यह राजस्थानियों के लिए बहुत ही सुहावना होता था। उस समय जोहडों के किनारों पर गोठ-घुघरियां होती थीं तो इन जोगियों को बुलाकर निहालदे रात के ११-१२ बजे तक उन निस्तब्ध रातों में बहुत दूर-दूर तक सुनायी देती थी, तब एक अजीब समां बंध जाता था और मानसिक आह्लाद और एक ऐसा भाव उत्पन्न होता था जिसको सहज ही व्यक्त नहीं किया जा सकता।

अपने गाव नवलगढ मे सुरजा नाम का एक जोगी था जिसका गला बहुत मीठा था। उसकी आवाज बहुत बारीक और दूर तक सुनायी देती थी। इन बरसात के दो-तीन महीनो मे उसकी पूछ बहुत बढ जाती थी। सेठो-रइसो के अलावा शेखावाटी के ठाकुरों और राजाओ के बुलावे उसके लिए आते। और वह बेचारा किस-किस को राजी रखे; यह सवाल उसके सामने होता। हम लोगो ने उससे 'निहालदे' सुनी है। और उस बचपन की स्मृति में भी सुलतान के चरित्र की महत्ता, सत्यवादिता, परदुःख कातरता की जो छाप पडी, वह अमिट है। मरु भारती की 'सुलतान निहालदे' पढकर वे विस्मृत स्मृतियां ताजा हो जाती हैं।

पत्र बहुत लम्बा हो गया, होता जा रहा है। इसलिए समाप्त कर रहा हूँ। तुम्हारे साथ बैठने की या तुम्हे साथ बैठाने की इच्छा रहते हुए भी, ऐसा लगता है कि शायद यह होने वाली बात नही है। बस।

शुभेच्छु
सीताराम सेकसरिया

Phones : { Office : 22-6543
Resi. · 334094

21, Baranashi Ghose Street
CALCUTTA-7
10-5-56

प्रिय डॉ० महल,

कुछ दिनो से आपका कोई शुभ समाचार प्राप्त नहीं हुआ। मेरे पास हाल में 'मरु भारती' की वी० पी० पी० आई थी, उसे मैंने ले लिया था और उसे पढ़कर सन्तोष हुआ। आप लोगों का यह प्रयत्न स्तुत्य है।

आज एक विशेष आवश्यक विषय पर आपको यह पत्र लिखने की प्रेरणा हुई। मुझे यह जानकर बड़ा कष्ट होता है कि राजस्थानी भाषा को हमारी केन्द्रीय सरकार ने अब तक इसे अपना योग्य स्थान नहीं दिया जबकि इसका साहित्य किसी भी प्रान्तीय भाषा से कम तो है ही नहीं अपितु कुछ अंशों में बढ़कर ही है। हाल में मैंने 'सुन्दर-ग्रन्थावली' में मेरी प्रार्थना पर लिखी हुई विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की भूमिका को देखा। उन्होंने इसे बड़ा ही गौरवशाली स्थान दिया है। डॉ० ग्रियर्सन और सर आशुतोष मुकर्जी ने भी इसका बड़ा आदर किया है।

वर्तमान उपेक्षा का कारण मेरी समझ में तो यही हो सकता है कि इस

है कि हम लोग अपनी भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए कार्य रूप मे विशेष प्रगति नही कर रहे हैं। भारतवर्ष से अंग्रेज विदा हो गये पर आज भी अंग्रेजी सभ्यता का बोलबाला है। हमारी शिक्षा-प्रणाली ही ऐसी बन गयी है कि हमें अपनी संस्कृति के स्थान मे दूसरो की नकल करने मे ही अधिक आनन्द मिलता है। जिन बातो का आपके लेख मे उल्लेख है—उनको कार्य मे परिणत करने के लिए कितने छात्र तैयार हैं, यह समझने की आवश्यकता है। आज हमारी वीर-गाथा और सती-महिमा के उदाहरण विरल होते जाते हैं।

इस विषय मे मुझे एक बात विशेष रूप मे खटक रही है जो यहाँ लिख देना आवश्यक समझता हू। आप जानते हैं कि भारतीय संस्कृति के अनुसार कन्याओ का विवाह-संस्कार पिता-माता के लिए एक धार्मिक कर्त्तव्य समझा गया है पर हमारी दूषित दहेज-प्रथा इसे हमें निभाने नही देती। कृपया बता सकेंगे कि इस विषय मे विद्या विहार, पिलानी के छात्र-छात्राओ को क्या प्रेरणा दी जाती है? इसी प्रकार और भी बहुत-सी बातें हैं जिन पर विचार करना नितान्त आवश्यक है।

यो तो राजस्थान भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए भारत के अन्यान्य प्रान्तो मे सदा अग्रणी रहा पर आज उसे लोग पिछड़ा हुआ प्रान्त मानते हैं क्योंकि राजस्थान के लोगो मे जितनी कुरीतिया व रूढ़िया पाई जाती हैं, शायद ही दूसरे प्रान्तो मे दिखायी पड़ती हो।

अस्तु। पत्र लम्बा हो चुका है, इसलिए अधिक नही लिखूंगा जबकि आप जैसे विद्वान और सहृदय लोगो के लिए इशारा ही काफी है। त्रुटि के लिए क्षमा करें तथा अपने बहुमूल्य विचारो से अवगत कराने की कृपा करें। श्रद्धेय पाडेजी और गौड़जी को मेरे प्रणाम जनावें।

आशा है, आप मजे में है। कृपा तो आपकी है ही।

आपका प्रेमी
रामदेव चोखानी

डॉ० कन्हैयालाल सहल
पिलानी

B. P. Kedia
PRESIDENT
Jay Shree Tea & Industries Ltd.

Phone [Off 44-8951
[Res. 44-7755

INDUSTRY HOUSE
15th. FLOOR
10 CAMAC STREET
CALCUTTA-17

23/5/69

आदरणीय महन्तजी,

'मरु-भारती' के विषय मे मेरा पत्र मिला होगा। राजस्थानी भाषा, ख्यात, गीत, दूहे, सालिया, वाणी और कहावतो मे मुझे बचपन से ही बहुत रुचि रही है। मेरे स्व० पिताजी को भी इस विषय मे विशेष रुचि थी तथा वे इन बातो के बहुत अच्छे ज्ञाता थे।

यह तो विदित नही होता कि इनको किसने, कब तथा किन परिस्थितियो मे बनाया था लेकिन यह स्पष्ट है कि जिन लोगों ने इन्हे बनाया था, वे कोई खास विद्वान या भाषाविज्ञ नही थे। फिर भी, ऐसा लगता है कि उन्होंने जो कुछ कहा, वह उनकी अन्तरात्मा की आवाज थी, हृदय के उद्गार थे जो इतने पुराने होने पर भी उतने ही नवीन तथा प्रभावपूर्ण है तथा कालान्तर मे भी समय की गर्द से उनके अस्तित्व के धूमिल होने की आशंका नही है। न जाने, कवि राजिया को दुनिया की किस घोर स्वार्थपरता से पाला पड़ा था कि वह कह उठा—'मतलब की मनवार जगत जिमावै चूरमो, बिन मतलब मनवार, कोई न पूछे राजिया' कितना कटु सत्य है। स्वार्थ मानव की मूलभूत स्वाभाविक प्रवृत्ति है जो हर मनुष्य मे विद्यमान रहती है, स्वरूप उसका चाहे कैसा भी रहे। यहां तक कि वैरागी को भी मोक्ष की चाह रहती है, लालसा रहती है, इसलिए मै समझता हूं, वह भी स्वार्थ से दूर नही है बल्कि, उसे परिमार्जित स्वार्थ कहिए। कहने का तात्पर्य है कि उन्होंने जो कुछ कहा, वह सदा-सर्वदा रहने वाला विश्वव्यापी सत्य (Universal Truth) है जो सृष्टि के कायम रहने तक जीवित रहेगा।

सालियों, वाणी व ख्यात तो हिन्दुस्तान मे प्रायः समाप्त हो ही चुके है और मै समझता हूं, यदि गति रही तो दो चार पीढ़ी बाद राजस्थानी भाषा, गीत और कहावतें आदि भी संग्रहालयों मे ही उपलब्ध हो सकेंगी। क्योंकि राजस्थानियो मे भी आज कल की मिश्रित खिचड़ी हिन्दी बोलना फैशन बन गया है। वस्तुतः हिन्दु स्तान मे भी अंग्रेजी की तरह मम्मी कहना सिखाया जाता है जबकि वे यह भूल जाते है कि मां शब्द मे कितना ममत्व भरा है! गीत अभी भी थोड़े बहुत बचे है जो अब भी शुभ दिन, त्यौहारों

निवेदन किया था। कार्यवश मैं उस वचन को आज तक पूर्ण नहीं कर सका जिसके लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ। नीचे मेरे उद्गार रूप दो शब्द लिखकर भेजता हूँ।

आजकल कतिपय लोग राजस्थानी भाषा का सर्वमान्य स्वरूप निश्चित करना और फिर उस निश्चित स्वरूप के अनुसार नये साहित्य की रचना करना, कहा करते हैं। मैं इसे नितान्त अनुपयुक्त व अनावश्यक समझता हूँ। इस असमञ्जस में पड़ जाने से कार्यारम्भ करना ही कठिन हो जाएगा अतः इस झञ्झट में न पड़कर मारवाड़ी व राजस्थानी भाषा की उन्नति का प्रयत्न प्रारम्भ किया जावे। राजस्थानी भाषा को, क्या किसी भी भाषा को भी, निश्चित स्वरूप नहीं दिया जा सकता। भाषा सदा परिवर्तनशील व प्रगतिशील है। वह अपने आप अपना निश्चित स्वरूप बना लेगी। मारवाड़ी व राजस्थानी भाषा सब राजपूताना व मालवा के निवासियों के समझ में आती है। वक्ता का भाव समझने में श्रोता को अथवा लेखक का भाव समझने में पाठक को कोई बाधा, अड़चन नहीं आती। मारवाड़ी या राजस्थानी का ऐसा नमूना "चौवोली" नाम की पुस्तिका है जिसमें चार चुनी हुई कहानियां प्रकाशित की गया है। प्रत्येक कहानी का ध्येय एक निश्चित तत्त्व या (moral) रखा गया है जिसको सिद्ध करने पर बराबर व निरन्तर लक्ष्य रखा गया है। भाषा प्राचीन, परन्तु प्राञ्जल है और सरलता से व सहज में समझ में आने वाली है। यद्यपि इन कहानियों में ऐसी बातों का कहीं-कहीं उल्लेख आ गया है जो वास्तविक अनुभव में नहीं आती, तथापि उनको छोड़ दिया जावे तो भी कहानी का सार निकालने में कोई हानि की सम्भावना नहीं होती। सम्पादक-युगल ने कहानियों के नीचे लकीर देकर उनका भावानुवाद हिन्दीजों की सहायता के लिए देने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है, तथापि मारवाड़ियों या राजस्थानियों को उसकी आवश्यकता नहीं है, ऐसी मेरी सम्मति है।

भवदीय–गोविन्द

क. क्या मेरी रचनात्मक योजना पर आपकी समिति ने अब तक कुछ विचार कर राजस्थानी साहित्य की खोज का कुछ कार्यारम्भ किया ? कृपा कर सूचित कीजियेगा। यहाँ योग्य कार्य व सेवा लिखें। डिंगलकोष को छपाने के विषय में भी बिड़लाजी से बातचीत हुई ?

चिरगाँव (झाँसी)
१४-११-१९५०

प्रियवर सहलजी,

वन्दे ! पूज्य भैया के नाम लिखे गये कृपा-पत्र के साथ मुझे अपने नाम लिखा हुआ आपका कृपा-कार्ड भी मिल गया। धन्यवाद।

व विवाहादि अवसरों पर स्त्रियों द्वारा सामूहिक रूप से गाये जाते हैं लेकिन आजकल नववधुओं में इनके प्रति सामान्य भी रुचि, चाव व उत्साह नहीं देखा जाता है, इसलिए ये भी लुप्त हो जायेंगे। अतः इन पर कुछ काम होना चाहिए।

राजस्थान के कथन, कहावतें व लोकोक्तियाँ आदि ज्ञान की मोटी पोथियों में लिपटकर सजाने की चीज नहीं है, इनका व्यवहार-पक्ष भी इतना ही सबल है। मैंने अपने दैनिक जीवन में इनका खुलकर प्रयोग किया है तथा इनकी पूरी उपयोगिता उठाई है। मेरा अनुभव है कि अपने कथन में किसी कहावत या लोकोक्ति का पुट देने से बात की अच्छी पुष्टि व स्पष्टीकरण होता है, कथन में वजन हो जाता है जो निश्चित रूप से श्रोता को प्रभावित करता है। तर्क अकाट्य बन जाता है, विपक्षी को निरुत्तर करने में ये व्यवहारकुशल वाक्पटु का रामबाण सिद्ध होती हैं।

इन छोटी बातों में जो शिक्षा भरी है, वह शायद ही किसी स्कूल, कालेज में दी जाती होगी। आपकी दोनों पुस्तकें पढ़ने से कई कहावतों का स्पष्टीकरण हुआ है तथा कई नई चीजें सीखी हैं।

शुभ कामनाओं के साथ,

आपका

बी॰ पी॰ केडिया

डॉ॰ के॰ एल॰ सहल

सेक्रेटरी, बी॰ ई॰ टी॰, पिलानी।

॥ श्री दधिमती जयति ॥

Pt Govind Narayan Sharma
ASOPA B. A. M.R.A.S
Vidya-bhushan, Vidya nidhi, Sahitya-bhooshan,
Dadhimati-diwan, Retd. Asstt. Supdt. of customs &
Honorary Magistrate
Ex-Editor, Dadhimati."

Govind Bhawan
Jodhpur 20-9-1944

श्रीमान् मान्यवर महोदय-शुभाशीर्वाद—

आपकी भेजी हुई "चौबोली" की पुस्तिका गत ता॰ ६-२-४४ को मिली थी जिसके आलोचनात्मक दो शब्द लिख कर पीछे भेजने का मैंने आपकी सेवा में

निवेदन किया था। कार्यवश मैं उस वचन को आज तक पूर्ण नहीं कर सका जिसके लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ। नीचे मेरे उद्गार रूप दो शब्द लिखकर भेजता हूँ।

आजकल कतिपय लोग राजस्थानी भाषा का सर्वमान्य स्वरूप निश्चित करना और फिर उस निश्चित स्वरूप के अनुसार नये साहित्य की रचना करना, कहा करते हैं। मैं इसे नितान्त अनुपयुक्त व अनावश्यक समझता हूँ। इस असमञ्जस में पड़ जाने से कार्यारम्भ करना ही कठिन हो जाएगा, अतः इस झञ्झट में न पड़कर मारवाड़ी व राजस्थानी भाषा की उन्नति का प्रयत्न प्रारम्भ किया जावे। राजस्थानी भाषा को, क्या किसी भी भाषा को भी, निश्चित स्वरूप नहीं दिया जा सकता। भाषा सदा परिवर्तनशील व प्रगतिशील है। वह अपने आप अपना निश्चित स्वरूप बना लेगी। मारवाड़ी व राजस्थानी भाषा सब राजपूताना व मालवा के निवासियों के समझ में आती है। वक्ता का भाव समझने में श्रोता को अथवा लेखक का भाव समझने में पाठक को कोई बाधा, अड़चन नहीं आती। मारवाड़ी वा राजस्थानी का ऐसा नमूना "चौबोली" नाम की पुस्तिका है जिसमें चार चुनी हुई कहानियाँ प्रकाशित की गयी है। प्रत्येक कहानी का ध्येय एक निश्चित तत्त्व या (moral) रखा गया है जिसको सिद्ध करने पर बराबर व निरन्तर लक्ष्य रखा गया है। भाषा प्राचीन, परन्तु प्राञ्जल है और सरलता से व सहज में समझ में आने वाली है। यद्यपि इन कहानियों में ऐसी बातों का कहीं-कहीं उल्लेख आ गया है जो वास्तविक अनुभव में नहीं आती, तथापि उनको छोड़ दिया जावे तो भी कहानी का सार निकालने में कोई हानि की सम्भावना नहीं होती। सम्पादक-युगल ने कहानियों के नीचे लकीर देकर उनका भावानुवाद हिन्दीवालों की सहायता के लिए देने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है, तथापि मारवाड़ियों वा राजस्थानियों को उसकी आवश्यकता नहीं है, ऐसी मेरी सम्मति है।

भवदीय-गोविन्द

क. क्या मेरी रचनात्मक योजना पर आपकी समिति ने अब तक कुछ विचार कर राजस्थानी साहित्य की खोज का कुछ कार्यारम्भ किया? कृपा कर सूचित कीजियेगा। यहाँ योग्य कार्य व सेवा लिखें। डिङ्गलकोष को छपाने के विषय में भी बिड़लाजी से बातचीत हुई?

चिरगाँव (झाँसी)
१४-११-१९५०

प्रियवर सहलजी,

वन्दे! पूज्य भैया के नाम लिखे गये कृपा-पत्र के साथ मुझे अपने नाम लिखा हुआ आपका कृपा-कार्ड भी मिल गया। धन्यवाद।

पूज्य भैया बनारस गये हैं। आपके पत्र की सूचना उन्हें दे रहा हूँ। 'नवम सर्ग के काव्य वैभव' की रेडियो वाली आलोचना उस दिन संयोग से अचानक ही हम लोगों ने सुनली थी।

आप अपने निबन्ध-संग्रह में दो शब्द मुझ से लिखवाना चाहते हैं। इसे मैं अपने लिए सम्मान की बात समझता हूँ। मैं तो आपकी रचनाओं का नम्र पाठक हूँ। उन्हें इसलिए पढ़ता हूँ कि पढ़ने की उम्र थी, तब पढ़ नहीं सका तो अब इसी तरह पढ लूँ। आपका ज्ञान हृदय रस के निर्झर में उतर कर अपने को हीन अनुभव नहीं करता। वह यह अवसर नहीं छोड़ना चाहता कि अपने से बहुत बड़े से किसी ने बात की है। इसीलिए मैं उससे निभ जाता हूँ। पर आपके संग्रह पर दो शब्द लिखूँ तो क्या आपके प्रति न्याय कर सकूँगा? इधर मेरा स्वास्थ्य बहुत गिर गया है। रात में श्वास के कारण जो कष्ट प्रतिदिन उठाना पड़ता है, उसकी स्मृति भी कष्टकर होती है। फिर भी मुझे प्रसन्नता होगी, यदि आपकी आज्ञा का पालन करने योग्य मेरी स्थिति रही। आपके सग्रह के छपे फार्मों की प्रतीक्षा करता रहूँगा और कुछ लिख सका तो लिखने से जी न चुराऊँगा। असमर्थ होने पर तो आप क्षमा कर ही देंगे। यह भरोसा मुझे है।

आशा है, आप सानन्द हैं।

सादर—

आपका

सियारामशरण

चिरगाँव (झाँसी)

२९-५-१९५६

प्रिय सहलजी,

'मरु भारती' देख कर जो विचार आये, उन्हें अलग से लिख कर इस पत्र के साथ भेज रहा हूँ।

कई दिनो से एक बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता था। अभी चार छः दिन पहले 'वीणा' में आपका एक लेख 'हिन्दी साहित्य के नये माध्यम' पढा था। आपने अपने छोटे से लेख में हिन्दी के इतने कवि, उपन्यासकार (मनोवैज्ञानिक, मार्क्सवादी और ऐतिहासिक सब प्रकार के), कहानी-लेखक, आत्मकथाकार नाटककार, रेखाचित्रकार, नाट्यरूपककार, एकांकी रचयिता आदिको को स्मरण किया है कि आश्चर्य होता है। जिन लेखको की चर्चा आपने की है, वे विशिष्ट और

सुप्रशंसित है। पर उपर्युक्तो में से अधिकांश की प्रशंसा उनकी उस शैली और भावना के कारण की गई जान पड़ती है जिसे हमारे लेखकों ने बाहर के मनीषियों से लिया है। अच्छी वस्तु कहीं की हो, अच्छी लगती है। पर क्या ऐसी कोई अच्छी विचार-धारा इस देश में इधर तीस-चालीस बरस में प्रवाहित नहीं हुई जिसे हमारे समर्थ साहित्यकारों ने अपनी प्रतिभा से गतिमान किया हो? रवीन्द्रनाथ मेरे विचार में भारतीय भावधारा के कारण ही विदेशों में अपनाये गये थे। इधर गांधीजी की विचार-धारा भी कम महत्त्व की नहीं रही। जवाहरलाल उसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित कर भी रहे हैं। विनोबा का कार्य तो और भी आगे का है। ये विचार-धाराएं क्या हमारे साहित्यिकों को कहीं भी स्पर्श नहीं कर सकीं? मैं जितने आलोचनात्मक निबन्ध देखता हूँ, उनमें इस सबंध में नकारात्मक ही उत्तर मिलता है। मेरा विचार है, इन आलोचनाओं के कारण नया लेखक इसी बने-बनाये सुप्रशंसित पथ पर बढ़ने की प्रेरणा पा रहा है।

मैं सोचता हूँ, यह मेरा ऐसा प्रश्न है जिसका अर्थ कुछ दूसरा लगाया जा सकता है। मैंने अपने साहित्य में गांधीजी को समझने का प्रयत्न किया है और इन आलोचनाओं में मेरी किसी कृति का उल्लेख नहीं होता तो मेरे लिखने का उद्देश्य यह मान लिया जा सकता है कि मैं अपनी चर्चा चाहता हूँ। मैं अपनी चर्चा चाहूँ तो इसे स्वीकार करने में मुझे लज्जा नहीं होनी चाहिए। पर यहां मेरा वह उद्देश्य नहीं है। अभी हाल में मैंने प्रभाकर परीक्षा के लिए स्वीकृत एक हिन्दी साहित्य के इतिहास में पढ़ा है कि गांधीवादी होकर भी मैं अपने उपन्यासों में अहिंसा, सत्य और अस्तेय को भुला देता हूँ। एक अन्य सुप्रतिष्ठित कवि ने 'हिन्दी में गांधीवादी साहित्य' के नाम से एक रेडियो वार्ता प्रसारित की थी, उसमें बीसियों नाम थे, पर मेरा नाम नहीं था। इसलिए मैं मान लेता हूँ कि या तो मेरे साहित्य में कोई बहुत बड़ी कसर है या अभी इसके उपयुक्त समय ही नहीं है। और आपका स्नेह तो मैं जानता हूँ। आप जान बूझ कर मुझे नहीं भुला सकते। मैं तो आपसे इतना चाहता हूँ कि आप जैसे विद्वान् यह भी विवेचित करें कि भारतवर्ष में गांधीजी की जो ध्वनि आज के प्रशासन-सूत्र से भी दूर-दूर तक पहुँच रही है, क्यों वह हमारे आज के हिन्दी साहित्य में किसी समर्थ साहित्यकार के हृदय को नहीं छू सकी।

आशा है, मेरी धृष्टता के लिए आप मुझे क्षमा करेंगे।

आपका

सियारामशरण गुप्त

२१ कचहरी रोड,
दार्जिलिंग (भारत)
१२-८-६०

प्रिय श्री सहलजी,

'राजस्थानी कहावतें' द्वारा लोक साहित्य मे अपूर्व राजस्थानी की कहावतो का वैज्ञानिक विश्लेषण कर इस विषय मे आपने मार्ग-दर्शन किया है। राजस्थानी लोक-कथाएँ और उसमे अन्य भाषा की कथाओ की तुलना बड़ी ज्ञानवर्द्धक है। यह तो वस्तुतः स्वयं एक जीवन-साध्य विषय है। 'नटो तो कहो मत' छोटी पुस्तिका अपने विषय का सुन्दर परिचय देती है।

'निहालदे' का भाग मुझे सिंहलद्वीप मे मिल गया था। १६५० मे जब उसकी कुछ पंक्तियाँ मुझे सुनने को मिली, तभी से कुछ मे इसकी तरफ आकृष्ट हुआ। इसके अनेक टेपरिकार्डर होने चाहिए। यही क्यो, राजस्थान के अन्य पवाडो का भी प्रकाशित करने की आवश्यकता है। आपका ध्यान उधर गया है, यह शुभ शकुन है। मै २८ अक्तूबर को सिंहलद्वीप लौटूंगा।

आपका
राहुल सांकृत्यायन

डॉ० कन्हैयालाल सहल,
बिड़ला आर्ट्स कॉलेज
पिलानी

भारत कला भवन
बनारस

८ जून, १६५१

प्रियवर सहलजी,

भाई मैथिलीशरणजी ने लिखा है कि आप प्रसादजी के नियतिवाद पर मेरे विचार जानना चाहते हैं, अत: उसके सम्बन्ध मे जो कुछ मैं समझता हूँ, वह तो समयाभाव के कारण लिख नहीं सकूंगा, किन्तु एक विशेषज्ञ मित्र की व्याख्या भेज रहा हूँ जिससे मे बहुत कुछ सहमत हूँ।

प्रसादजी का नियतिवाद न प्रारब्धवाद है और न शैवागमों का शास्त्रीय वाद-विशेष; वह प्रसाद-साहित्य की एक अनूठी देन है। उसे समझने के लिए पश्चिमी नाटककारों की 'डेस्टिनी' और शैवागमों की नियति, दोनों का स्वरूप ध्यान में रखना पड़ता है। प्रसाद का लीलामय आनन्द और आधुनिक युग का विजयवाद 'आप्टीमिज्म' भी व्याख्या करने में सहायता देते हैं। अध्ययन की दृष्टि से प्रसादजी का नियतिवाद आधुनिक युग की साहित्यिक आवश्यकता है। उस पर विश्व-साहित्य और भारतीय परम्परा दोनों का प्रभाव है। उसमें अध्यात्म और इहलौकिकवाद, दोनों का समन्वय है। वह शास्त्र से ली हुई चिन्ताधारा नहीं है। उसमें कवि की शुद्ध अनुभूति है। वह प्रसादजी की अपनी विलक्षण वस्तु है जिसने आनंदवाद और कर्म-योग को पुष्ट किया है।

तुलनात्मक अध्ययन से ही नियति की व्याख्या स्पष्ट हो सकती है। पश्चिम में प्रायः नियति क्रूर देव पड़ती है। प्रसादजी की नियति पूर्ण लीलामयी है। वह करुणा और दया की मूर्ति है।

प्रसादजी के दो अमर वाक्य हैं: मनुष्य नियति का दास है, मनुष्य प्रकृति का अनुचर है।

आशा है, इन थोड़े-से शब्दों से आप का अभीष्ट सिद्ध हो जायेगा।

भवदीय,

राय कृष्णदास

प्रो॰ कन्हैयालाल सहल,

बिड़ला कॉलेज,

पिलानी, राजस्थान।

परिशिष्ट (ख)

डॉ० सहल की विभिन्न कृतियों की भूमिकाएँ

दृष्टिकोण

• सियारामशरण गुप्त

हिन्दी-साहित्य मे छोटे निबंध कम लिखे गये हैं। यह उसका उत्थान-काल है। ऐसी अवस्था मे गद्य के भाग्य मे प्रायः मास्टरी पड़ती है। मित्र बनकर बात करने का अवसर उसे कम मिलता है। गद्य-लेखक कहता है, तथाकथित कवि को काम नही है। वह स्वच्छन्द घूमता है तो घूमे। मुझे घर-गिरस्ती संभालनी है। जमकर न बैठूँगा तो कैसे चलेगा। उसकी बात समझ मे आती है। जान-बूझकर ही वह भारी काम अपनाता है। काव्य के माधुर्य और मर्म का जितना ज्ञान उसे है, कवि को भी कदाचित् उतना न हो। फिर भी उसे जो मार्ग ग्रहण करना पड़ता है, वह लंबा है और वहाँ के ऊँचे फल तोड़ लाने मे फिसल कर गिरने का संकट हर घड़ी उसके सामने रहता है।

बहुत पहले एक बार स्वर्गीय श्री गणेशशंकर विद्यार्थी से चर्चा चली थी। मैंने पूछा था—इतने लंबे-लंबे सम्पादकीय न लिखे जाएँ तो क्या ठीक न होगा? बात उनके साथ चल रही थी तो वह उनके द्वारा सम्पादित प्रताप को लेकर होनी ही चाहिए। समझ लीजिए, जब गणेशशंकर जैसे रचनाकार को उलाहना सुनना पड़ता है, तो दूसरो के विषय मे क्या कहा जाए? श्री विद्यार्थीजी ने उत्तर दिया था—जब एक-एक कालम के सम्पादकीय लिखे जाने लगेंगे तब समझा जायगा, पाठकों का स्तर उठ गया है। अभी तो उन्हें शिक्षित करने का भार भी हमारे ऊपर है। और हम जानते है, विद्यार्थीजी के उन बड़े-बड़े सम्पादकीयो ने कितना अधिक काम किया है।

लोक-कथाओं की कुछ रूढ़ियाँ

• डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

श्री कन्हैयालाल सहल लोक-साहित्य और वार्ता-शास्त्र के मनीषी विद्वान् हैं। लोकोक्तियों के सम्बन्ध में उन्होंने जो दीर्घकालीन अनुसंधान किया है, उससे हम सब प्रभावित हुए हैं। लोक-वार्ता-शास्त्र के अन्तर्गत लोक-कथाओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनुमान किया जाता है कि सारे देश में लोक-कथाओं की संख्या लगभग ३ सहस्र के होगी। इन कथाओं में रूपभेद होते हुए भी, इनके मूल में जो कथानक-रूढ़ियाँ हैं जिनसे कथाओं का ठाट निर्मित होता है, तुलना की दृष्टि से उनका महत्त्व सर्वोपरि है। सहलजी ने प्रस्तुत पुस्तक में राजस्थानीय लोक-कथाओं में अन्तर्निहित इसी प्रकार के कुछ मूल अभिप्रायों पर विचार किया है। उनका यह विवेचन मौलिक एवं मूल्यवान है।

पुस्तक का परिचय देते हुए उन्होंने यह भी आश्वासन दिया है कि इस रोचक विषय को उन्होंने अनुसंधान का क्षेत्र बनाया है। अतएव यह आशा होती है कि लोकोक्तियों के समान ही, वे लोक-कथाओं के मूल-अभिप्रायों या रूढ़ियों के विश्लेषण, वर्गीकरण, विवेचन को भी किसी दिन सर्वांगपूर्ण रूप में हिन्दी जगत् के लिए सुलभ बना सकेंगे।

वर्तमान युग में हम अध्ययन के एक ऐसे मोड़ पर आ पहुँचे हैं, जहाँ विश्व के अनेक देशों में उपलब्ध लोक-कथाओं का इसी प्रकार का तात्त्विक विचार करने की ओर विद्वानों का ध्यान गया है। ऊपर से देखने पर जो कहानियाँ केवल बालकों के मनोविनोद के लिए जान पड़ती हैं, उन्हें ही हम अभिप्रायों की दृष्टि से परखने लगते हैं तो उनमें सृष्टि-रचना के जाने-पहिचाने रहस्यों का दर्शन मिलने लगता है, और लोक-कहानियों के निर्माण में जो एक मौलिक एकता छिपी हुई है, वह हमें आश्चर्य में डाल देती है।

उदाहरण के लिए स्वर्गीय बाला शीर्षक के अन्तर्गत पुरूरवा और उर्वशी की कहानी का प्राचीन साहित्य के अनुसार विस्तृत वर्णन किया गया है। इसी कथानक को हम "हंसकुमारी" शीर्षक के अन्तर्गत उद्धृत पाते हैं। वस्तुतः कहानी के रमणीय पर्दे के नीचे मूल प्रश्न यह है कि उर्वशी कौन है? पुरूरवा कौन है? क्यों पुरूरवा उर्वशी को चाहता है? क्यों उर्वशी उसे नग्न न देखने की शर्त रखती है? उर्वशी के दोनों भेड़े कौन हैं? क्यों उर्वशी पुरूरवा को [illegible] बनाती है कि व

नित्य प्रति घी की एक बूँद खाकर जीवित रहेगी ? अवश्य ही जिस बुद्धिमान व्यक्ति ने इस कथा की रचना की, उसके मन में ये प्रश्न टकराए होंगे और कहानी का मनन करते ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं प्रश्नों के समाधान के लिए उसने इस सुन्दर कहानी का ठाट तैयार किया, जिसे एक बार सुन लेने पर भुलाया नहीं जा सकता। विश्व की जो समष्टिगत महती शक्ति है, वही उर्वशी है। एक केन्द्र में अभिव्यक्त जो प्राण-शक्ति है, उसका रूप पुरूरवा है। उर्वशी के बिना पुरूरवा का जीवन असंभव है, दोनों के सहवास या सम्मिलन में ही आयु नामक पुत्र का जन्म सम्भव है। आयु ही महाकाल या महती-प्राण-शक्ति का वह अंश है जो व्यष्टिगत केन्द्र को प्राप्त होता है। मनुष्य-शरीर या मनुष्य-जन्म एक यज्ञ है। यज्ञ को वैदिक भाषा में वस्त्र भी कहते हैं। यह ऐसा वस्त्र है जिसे स्वयं प्रकृति प्रत्येक के लिए मन, प्राण और पंचभूत, इन सात धागों से बुनती है। इसलिए यज्ञ को ऋग्वेद में सप्त तंतु कहा है। जब तक सुनहले रंग का यह वस्त्र सकुशल है, तभी तक जीवन है। इन सात तन्तुओं में से एक भी खंडित हो जाए तो वस्त्र क्षीण हो जाता है। यही पुरूरवा संज्ञक व्यष्टिगत प्राण की नग्नता है। यज्ञ से विरहित होना ही वास्तविक नग्नता है, जिसे उर्वशी सहन नहीं कर सकती। उर्वशी या समष्टिगत प्राण-शक्ति का इस शरीर के साथ तभी तक गठ-बंधन है जब तक मन, प्राण और पंचभूतों का यज्ञ सकुशल हो रहा है। एक के भी कुपित हो जाने से यज्ञ विध्वंस हो जाता है और पुरूरवा (प्राण) को नगा देखकर उर्वशी (शक्ति) न जाने कहाँ विलीन हो जाती है। आज तक विश्व में इतने प्राणी जन्मे हैं पर उर्वशी किसी के साथ सर्वदा नहीं रही। वह जिस घृत की एक बूँद प्रतिदिन खाने को प्रतिज्ञा करती है, वही मानवीय आयुष्य का अहोरात्र है। अहोरात्र सच्चे अर्थों में सूर्य रूपी संवत्सर की गणना में एक इकाई है। पृथ्वी पर अग्नि और द्युलोक में सूर्य, ये दोनों एक ही मूल तत्त्व के रूप हैं। जिस प्रकार संवत्सर सूर्य की संज्ञा है, उसी प्रकार अहोरात्र भी अग्नि का रूप है। एक दिन रात में हम शक्ति के जिस अंश का उपभोग करते हैं, उसी का उपलक्षण या प्रतीक घी की एक बूँद है। यजुर्वेद में कहा है कि घी साक्षात् अग्नि का रूप है। अग्नि में जल डालने से बुझ जाती है पर घृत की आहुति देने से वह प्रज्ज्वलित हो उठती है। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा है।

"एतद्वै अग्नेः प्रियं धाम यद् घृतम्"

अथवा

"आग्नेयं वै घृतम्"

समस्त सृष्टि में इस प्रकार से प्राणात्मक मौलिक घृत तत्त्व की निरन्तर वृष्टि हो रही है। जैसे चिकनाई की शक्ति से यंत्र चलता है, उसी प्रकार मानव अग्नि रूप घृत की शक्ति से यह शरीर-यंत्र संचालित हो रहा है। समस्त रसों का

धारण करके प्रकृति स्वयं जिस रेत तत्त्व का उत्पादन करती है, वह भी "रेतो वै आज्यं" परिभाषा के अनुसार घृत का ही रूप है। इस प्रकार प्रतिदिन अहोरात्र के चक्र में घृत की एक बूँद का आहार लेती हुई देवलोक की उर्वशी मर्त्यलोक के पुरूरवा के साथ निवास करती है। सचमुच अग्नि अमृत देव है जिसका मर्त्य में आधान हुआ है।

अन्नोदन और प्रवर्ग्य, स्थिति और गति, अदिति और दिति, अक्षिति और क्षिति, अमृत और मृत्यु, प्राण और अपान ये उर्वशी के दो भेद हैं जिनका पालन और संरक्षण करना प्रत्येक पुरूरवा का आवश्यक कर्त्तव्य है, यदि वह उर्वशी को अपने पास सकुशल रखना चाहता है।

इस प्रकार ऋग्वेद के युग में जो उर्वशी और पुरूरवा की लोक-कथा जन-जन में प्रचलित हुई और आज भी जो लोक में कई रूपान्तरों के साथ जीवित है, उसके मूल अभिप्रायों का विवेचन हमें उस देहली द्वार तक ले जाता है जिसके भीतर झाँक-कर देखने से सृष्टि-विद्या और मानव में चरितार्थ होने वाले उसके रूपों के मर्म को ही हम प्राप्त करते हैं।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि यद्यपि लोक-कथाओं का बहुव्यापी विस्तार देश-देश में फैला हुआ है किन्तु उसके मूल अभिप्रायों की व्याख्या करने और मर्म तक पहुँचने की जैसी कुंजी वैदिक साहित्य में सौभाग्य से सुरक्षित है, वैसी अन्यत्र प्राप्त नहीं होती। इस दृष्टि से हम अपनी संस्कृति के उन दो कूलों के निकट पहुँच जाते हैं जिनमें से एक लोक और दूसरा वेद है।

काशी विश्वविद्यालय
१३-९-६१

•••

समीक्षांजलि

• गुलाबराय

नाम करण के पूर्व ही मुझे इस नवजात-शिशु के दर्शन कराये गये हैं। इसका जन्म उस पुण्य-भूमि में हुआ है जहाँ कि साहित्य और दर्शन का मंगलमय संगम होता है। प्रस्तुत संग्रह के निबन्धों में कुछ तो सीधे साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ में विशिष्ट पुस्तकों की आलोचना है। इनमें प्रमुख हैं पंतजी का 'गुंजन' और सियारामशरणजी का 'बापू'। यह आलोचनाएँ मात्र की

अपेक्षा जीवन की मीमांसा से अधिक सम्बन्ध रखती है। लेखक के मत से गुंजन में छायावाद की प्रतीक-प्रधान कला अवश्य है; क्योंकि स्वयं गुंजन शब्द ही प्राणों की उन्मन गुंजन का प्रतीक है किन्तु इसमें पलायनवादी मनोवृत्ति नहीं है। इसमें जग-जीवन के प्रति अनुराग का सूत्रपात तो अवश्य ही हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि यह अनुराग बौद्धिक है अथवा हार्दिक, इस सम्बन्ध में यही कहना पड़ेगा कि यद्यपि हृदय के पारस स्पर्श बिना सिद्धान्त का लोहा कविता के स्वर्ण में परिणत नहीं होता तथापि इनकी मूल प्रेरणा बौद्धिक ही है। गुंजन की जीवन-मीमांसा में दो बातें मुख्य हैं—बन्धन में मुक्ति और सुख-दुःख का सम-विभाजन। बन्धन में मुक्ति मानना पलायनवाद की विपरीत मनोवृत्ति, जीवन-संघर्ष में प्रवेश का मूल मंत्र है। यद्यपि बन्धन में मुक्ति का आधार रवि बाबू की 'वैराग्य साधने ये मुक्ति से आमार नय' वाली कविता में है किन्तु सहलजी ने यह बतलाया है कि यह प्रवृत्ति बिल्कुल नई नहीं है। प्राचीन साहित्य में 'नाहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवं, कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्', यह कामना इस भावना का अच्छा उदाहरण है। वास्तव में यह भावना युग की वाणी है। इसी में देश के कल्याण की आशा है। सुख-दुःख के सम-विभाजन में ही सहलजी ने पंतजी के साम्यवाद का पूर्वरूप देखा है। लेख यद्यपि विविधविषयक हैं तथापि उनमें विचार की एक अन्विति है।

प्रस्तुत संग्रह के निबन्धों में यद्यपि पूर्व और पश्चिम के सिद्धान्तों का समावेश किया गया है तथापि उसमें प्रमुखता भारतीय सिद्धान्तों को ही दी गई है। फिर भी लेखक का दृष्टिकोण उदार और व्यापक है और उसी के अनुकूल शैली भी प्रसादमयी है। मुझे पूर्ण आशा है कि यह पुस्तक हमारे विद्यार्थियों को मननशील बनाने में सहायक होकर हिन्दी के निबन्ध-साहित्य में अपना उचित स्थान पाएगी।

गोमती-निवास
दिल्ली दरवाजा, आगरा।

••

आलोचना के पथ पर

• आचार्य नंददुलारे वाजपेयी

'आलोचना के पथ पर' हिन्दी के सुयोग्य समीक्षक श्री कन्हैयालाल सहल का नवीन निबन्ध-संग्रह है। समीक्षा-कार्य करते हुए साहित्य के जिन तात्विक प्रश्नों

और समस्याओं पर सहलजी की दृष्टि गई है, उनकी अत्यन्त सरल और सुस्पष्ट व्याख्या इन निबन्धों में की गई है। इस दृष्टि से पुस्तक का नाम सर्वथा सार्थक है। यही किसी साहित्यिक समस्या के उपस्थित होने पर यदि तद्विषयक कोई प्राचीन उल्लेख, निर्णय या सिद्धान्त सहलजी के सम्मुख आ गया है तो उसे भी उन्होंने 'आलोचना के पथ पर' अपने उपयोग में ले लिया है। भारतीय और विदेशी दोनों ही शास्त्रीय मतों को उन्होंने अपनाया है और हम देखते हैं कि आधुनिक हिन्दी-काव्य की समीक्षा-भूमि पर उक्त दोनों मतों का अनायास समन्वय किया है। ऐसा करते हुए, उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी साहित्यिक विचारधाराओं पर अपने अधिकार-पूर्ण अध्ययन का ही परिचय नहीं दिया, 'आलोचना के पथ पर' दोनों के समन्वय की भी सम्भावना प्रकट करदी है। इस प्रकार सहलजी ने साहित्यिक धरातल पर पूर्व और पश्चिम के आधार-समन्वय के उस प्रयत्न में अपना योग दिया है जो आज की एक प्रधान साहित्यिक आवश्यकता है।

सहलजी के निबन्धों में उनके स्वतन्त्र चिन्तन का पूरा परिचय मिलता है। हमारे लिए यह आवश्यक नहीं कि हम उनके सभी निर्णयों से सहमत हों। यदि हम उनके साथ अपना सम्पूर्ण मतैक्य स्थापित कर लेते, तब कदाचित् उनकी यथार्थ विशेषता न देख पाते। समीक्षा का कार्य विचारोत्तेजन और वैयक्तिक सत्य-दर्शन का कार्य है और ये दोनों ही तत्त्व सहलजी के निबन्धों में प्रचुरता से प्राप्त हैं। सहलजी ने अपने निबन्धों में जिन साहित्यिक मतों का उल्लेख किया है वे किसी सम्पूर्ण विचार-पद्धति के अंग बन कर नहीं आये हैं। वे प्राय प्रासंगिक हैं, अतएव लेखक को अपने विषय-निरूपण में स्वतन्त्र विचार-पथ ग्रहण करने का अधिक अवकाश रहा है।

कुछ निबन्धों में आधुनिक साहित्यिक पुस्तकों और रचनाओं—कामायनी, लहर, साकेत, गबन आदि के पक्ष विशेष की विवेचनात्मक चर्चा की गई है। इन्हें पढ़कर विवेच्य विषय की यथेष्ट जानकारी होती है और हम नये प्रकाश में उन कृतियों को देखते हैं। सहलजी की तथ्यग्राहिता और उद्भावना शक्ति इन निबन्धों में सर्वत्र प्रदर्शित हुई है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी समाज सहलजी के इस नवीन प्रकाशन का स्वागत करेगा और उनकी इस विद्वत्तापूर्ण भेंट के लिए उनका अनु-गृहीत होगा।

सागर विश्वविद्यालय
सागर।

•••

(परिशिष्ट ग)

डॉ० सहल के कतिपय निबंध और बाबू गुलाबराय†

१. काव्य में विराट्-भावना

अंग्रेजी साहित्य में विराट् और सौन्दर्य की भावनाओं (The Sublime and the Beautiful) का एक अच्छा साहित्य है। संस्कृत और हिन्दी में विराट्-भावना-सम्बन्धी साहित्य तो अवश्य है किन्तु इसका विवेचन कम हुआ है। 'नवरस' में नवरसेतर रस के अधिकरण में इसका थोड़ा-सा उल्लेख किया गया है। इसमें सौन्दर्य, भयानक और अद्भुत का मिश्रण बतलाया है। प्रस्तुत लेख के लेखक महोदय ने हिन्दी-साहित्य में विराट् भावना की ओर हिन्दी-साहित्यिकों का ध्यान आकर्षित कर एक नयी दिशा की ओर वर्तमान कवियों को अप्रस्तुत संकेत दिया है। आशा है, संस्कृत कवियों की भाँति हमारे हिन्दी कवि भी इस भावना को अधिक रूप में अपनाकर अपनी रचनाओं में व्यक्त करेंगे।

•••

† डॉ० कन्हैयालाल सहल के समीक्षात्मक निबन्ध 'साहित्य संदेश' में प्रकाशित हुआ करते थे। तब बाबू गुलाबराय इस पत्र के सम्पादक थे तो वे पत्र में प्रकाशित लेखों के साथ विषय तथा लेख के सम्बन्ध में अपनी टिप्पणी दिया करते थे। यहाँ डॉ० सहल के कतिपय निबंधों पर बाबू गुलाबराय की ये सम्पादकीय टिप्पणियाँ विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

—सम्पादक

२. आलोचना और मनोविश्लेषण

विकासवाद की भाँति आजकल फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र की सभ्य समाज में दुहाई दी जाती है। फ्रायड के कार्य की महत्ता स्वीकार करते हुए, विद्वान् लेखक ने उसकी सीमाएँ निर्धारित की हैं जिसके बाहर उसकी गति नहीं है। इसी के साथ उन्होंने आजकल के उपन्यास साहित्य के रचयिताओं को एक गहरी चेतावनी दी है, वह यह कि जीवन से मनोविज्ञान के सिद्धान्त निकलने चाहिए, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से जीवन नहीं। वास्तव में हो भी यही रहा है कि उपन्यासकार पाश्चात्य समाज में प्रचलित ग्रन्थियों (Complexes) के ढाँचों में प्रतिरिक्त जीवन ढाला जा रहा है। आजकल के उपन्यासों में भारत में जबरदस्ती इडीपस कम्प्लेक्स (Oedipus complex) अर्थात् माता के प्रति दमित काम-वासना के उदाहरण भी उपस्थित किये जाते हैं, कुछ-कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार रीतिकाल में नायिकाओं के उदाहरण। लेखक ने प्रायः फ्रायड के ही सिद्धान्त को लिया है। जिन बातों की व्याख्या फ्रायड से नहीं होती, उनकी व्याख्या एडलर के मनोविज्ञान (हीनता-ग्रन्थि) से हो जाती है। शेक्सपियर में हीनता-ग्रन्थि तो अवश्य थी ही और सम्भव है, कालिदास में भी हो। (यदि विद्योत्तमा वाली किंवदन्ती सत्य है) फिर उपनिषदों की लोक-एषणा भी बड़ी प्रबल है। कामवासना को भी हमें व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। भरत मुनि ने कहा है, जो कुछ पवित्र है, शृंगार से उपमा देने योग्य है।

•••

३. अलंकार और मनोविज्ञान

अलंकार और मनोविज्ञान एक बड़ा रोचक और महत्त्वपूर्ण विषय है। यद्यपि अब यह धारणा दूर होती जाती है कि अलंकार कोई ऐसी वस्तु नहीं जो पीछे से नगीने की भाँति रचना में जड़े जा सकें तथापि आजकल भी अलंकारों के समर्थकों में ऐसे लोग मिल जाते हैं जो अलंकारों को ऊपर की चीज समझते हैं। उनके लिए डॉ० नगेन्द्र का यह लेख नेत्रोन्मीलन का काम करेगा। विद्वान् लेखक ने यद्यपि अपनी अत्यधिक ईमानदारी के कारण यह माना है कि हमारे यहाँ अलंकारों का मनोवैज्ञानिक निरूपण नहीं हुआ किन्तु विद्वान् लेखक ने जो प्राचीन अलंकार-लक्षणों के उद्धरण दिये हैं, उनसे स्पष्ट हो जाता है कि हमारे आचार्यों की दृष्टि मनोवैज्ञानिक थी। वे उद्धरण बहुत मूल्यवान हैं। लेखक ने मनोभाव और अलंकारों का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है कि अलंकारों के मूल में कवि के हृदय का उल्लास पाया जाता है।

उसका साधारण ध्यान में भी न भरना उसे चमत्कारिकता की ओर ले जाता है। सहलजी ने अपने विवेचन में तीन मनोवैज्ञानिक आधार-स्तम्भों पर विशेष बल दिया है—(१) साम्य (२) विरोध (३) भावसाहचर्य। एक चौथा स्तम्भ और मान लें तो पूर्णता आ जाय। वह है औचित्य-शृंखला अथवा उसका आभास। इसमें सार, काव्यलिंग, प्रमाण आदि अलंकार आ सकते हैं। वैसे ये भावसाहचर्य के व्यापक अर्थ में आ सकते हैं किन्तु पूर्णता के लिए एक पृथक् स्तम्भ आवश्यक है।

•••

४. स्वभावोक्ति का अलंकारत्व

अलंकार-निर्णय की सीमा में 'स्वभावोक्ति' क्या है? सहल जी ने प्रस्तुत लेख में इस पर अपना दृष्टिकोण पेश किया है। कुन्तक, महिम भट्ट आदि प्राचीन आचार्यों के मत-वैभिन्य को सामने रखते हुए, लेखक इस पक्ष में है कि स्वभावोक्ति अलंकार है। जहाँ तक अलंकार की सार्थकता है, वह स्वाभाविक वस्तु को अपने उपकरणों से अलंकृत कर सकता है, स्वभाव को अलंकार नहीं बना सकता। ऐसा होने पर स्वभाव का महत्व ही नहीं रह जाता। हम सहलजी का दृष्टिकोण साहित्य-संसार के समक्ष रखते हुए प्रसन्नता का अनुभव करते हैं—प्रसन्नता का अनुभव इसलिए कि उनके दृष्टिकोण पर और भी 'दृष्टिकोण' सम्मुख आ सकते हैं। स्वभाव शब्द से जिस ध्वनि का भास होता है, वह अलंकार की कृत्रिमता की ध्वनि से सर्वथा भिन्नता रखती है। कुन्तक ने तथा वर्तमान काल में आचार्य शुक्ल ने ऐसी विचारधारा के आधार पर वक्रोक्ति का खण्डन किया। वक्रोक्तिकार स्वभावोक्ति को अलंकार मान भी कैसे सकते थे? यद्यपि हम भी अलकार्य वस्तुओं को अलंकार बनाने के पक्ष में नहीं हैं तथापि जिस प्रकार सरलता और सादगी भी एक प्रकार अलंकार हो जाता है, उसी प्रकार स्वभावोक्ति भी एक अलंकार हो सकता है। प्रत्येक स्वभाव की उक्ति अलकार न होगी वरन् स्वभाव ही जहाँ चमत्कारपूर्ण हो जाय, वहा उसको अलकार कहना सार्थक हो जाता है, यह दूसरा मत है।

•••

५. रसास्वाद और विघ्न

रसानुभूति कब और किस स्थिति में हो सकती है, यह केवल सैद्धांतिक प्रश्न ही नहीं है वरन् व्यावहारिक भी है। रसानुभूति के लिए एक विशेष मानसिक अवस्था चाहिए। उस अवस्था में कौन-कौन सी स्थितियां बाधक होती हैं, इस प्रश्न

पर विद्वान् लेखक ने नाट्यसूत्रों के व्याख्याता अभिनव गुप्त के आधार पर प्रकाश डाला है। इसमें कई सैद्धांतिक प्रश्नों का भी सम्बंध है।

•••

६ औचित्य-सिद्धांत

रस काव्य की आत्मा अवश्य है किन्तु जिस प्रकार प्राणों या जीवन के बिना शरीर में आत्मा नहीं रह सकती, उसी प्रकार औचित्य के बिना रस नहीं रह सकता। औचित्य के अभाव में ही रस का रसाभास हो जाता है। औचित्य और अनौचित्य, गुण, दोषों से सूक्ष्म और ऊपर की चीज है। गुण भी इसका शासन मानते हैं। 'स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते केशा: दन्ता: नखा: नरा:' की भांति गुण भी अनुचित स्थान में शोभा नहीं देते और उचित स्थान में दोष भी गुण हो जाते हैं। कुन्तक ने औचित्य के अतिरिक्त सौभाग्य (Aesthetic quality) को भी गुण माना है। औचित्य और अनौचित्य के विचार ने काव्य-शास्त्र के नियमों की अगतिशीलता और जड़ता को दूर कर दिया है। विदग्धता के लिए इसका ज्ञान आवश्यक है। हमारे यहां के आचार्यों ने इस ज्ञान को भी सदसद्विवेक बुद्धि (Conscience) मात्र का व्यापार नहीं रखा है वरन् इसका भी शास्त्रीय विवेचन किया है। वही विवेचन इस लेख में है।

•••

७. 'साधारणीकरण' का शास्त्रीय विवेचन

साधारणीकरण के सिद्धांत का संस्कृत समीक्षा में विशेष महत्व है क्योंकि उसका, काव्य की आत्मा रस की निष्पत्ति से सम्बंध है। साधारणीकरण के प्रश्न को उसके प्रकरण में रख कर रस-निष्पत्ति की पूरी समस्या पर प्रकाश डाला गया है जो रस के विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगी है। साधारणीकरण किसका होता है? इस सम्बंध में लेखक विभावादि एवं स्थायीभाव सभी का साधारणीकरण मानने के पक्ष में है।

•••

मैं देखता हूँ कि 'मरु भारती' को आपने नये साँचे में ढाल दिया है। उसका रूप संभ्रांत बन रहा है। शोध सामग्री भी बहुत अच्छी है। इसी प्रकार इसे राजस्थानी साहित्य, इतिहास और संस्कृति की खोज का माध्यम बनाइए।

काशी, ११-३-५३

—(स्व०) डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

'मरु-भारती' के प्रत्येक अंक में मैंने अवश्य कुछ न कुछ सामग्री पाई जो मेरे अध्ययन में उपयुक्त बनें। 'मरु भारती' प्राचीन राजस्थानी साहित्य, भाषा और संस्कृतिविषयक बहुत-सी मूल्यवान् सामग्री एवं अध्ययन प्रस्तुत करती है।

बम्बई, १-६-५५

—डॉ० हरिवल्लभ भायाणी

'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद' के कुछ अंश मैंने देखे, यह अपने ढंग की अनोखी पुस्तक है। ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्व से पूर्ण ऐसी पुस्तक ने हिन्दी तथा भारतीय साहित्य के गौरव बढ़ाने मे अंश ग्रहण किया है।

कलकत्ता, १५-४-१९४७

—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

इन प्रवादो मे जो विशेष बात मिलती हैं वह है मध्यकालीन भावना का रंग। इन्ही प्रवादो की सहायता से हमारे भावी उपन्यासकार मध्यकालीन राजस्थान के ऐतिहासिक उपन्यास लिख सकेंगे।

सीतामऊ (मालवा), २५-१०-४६

—डॉ० रघुवीरसिंह

•••

मैं देखता हूँ कि 'मरु भारती' को आपने नये साँचे में ढाल दिया है। [illegible] रूप सम्मान बन रहा है। और सामग्री भी बहुत अच्छी है। इसी प्रकार इसे [illegible] राजस्थानी साहित्य, इतिहास और संस्कृति की खोज का माध्यम बनाइए।

काशी, ११-३-५३

—(स्व०) डॉ० वासुदेवशरण

'मरु-भारती' के प्रत्येक अंक में मैंने अवश्य कुछ न कुछ सामग्री पाई जो मेरे अध्ययन में उपयुक्त बने। 'मरु भारती' प्राचीन राजस्थानी साहित्य, भाषा और संस्कृतिविषयक बहुत-सी मूल्यवान सामग्री एवं अध्ययन प्रस्तुत करती है।

बम्बई, १-६-५५

—डॉ० हरिवल्लभ भायाणी

'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद' के कुछ अंश मैंने देखे, यह अपने ढंग की अनोखी पुस्तक है। ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्त्व से पूर्ण ऐसी पुस्तक ने हिन्दी तथा भारतीय साहित्य के गौरव बढ़ाने में अंश ग्रहण किया है।

कलकत्ता, १५-४-१६४७

—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

इन प्रवादों में जो विशेष बात मिलती है वह है मध्यकालीन भावना का रंग। इन्ही प्रवादों की सहायता से हमारे भावी उपन्यासकार मध्यकालीन राजस्थान के ऐतिहासिक उपन्यास लिख सकेंगे।

सीतामऊ (मालवा), २५-१०-४६

—डॉ० रघुवीरसिंह

•••